श्रीमार्कण्डेयमहापुराणम्

[द्वितीय भाग]

पौराणिक तथा वैदिक अध्ययन एवं अनुसन्धान संस्थान

नैमिषारण्य • सीतापुर

अध्ययन-माला

[षष्ठ पुष्प]

महर्षिव्यासप्रणीतं

श्रीमार्कण्डेयमहापुराणम्

(४६-९३ अध्याय पर्यन्त)

[द्वितीय भाग]

प्रस्तावनाकार

श्री गौरीनाथ शास्त्री

हिन्दी-अनुवाद तथा पर्यालोचनकार

डा० सत्यव्रत सिंह

पौराणिक तथा वैदिक अध्ययन एवं अनुसन्धान संस्थान

नैमिषारण्य, सीतापुर

२०४२ वैक्रमाब्द १९०६ शकाब्द १९८५ खैस्ताब्द

प्रकाशक :-

निदेशक,

पौराणिक तथा वैदिक अध्ययन एवं अनुसन्धान-संस्थान,

नैमिषारण्य, सीतापुर।

प्रथम संस्करण, ११०० प्रतियाँ

विशिष्ट संस्करण : १२५-००, $ १२.००

सामान्य संस्करण : ६५-००, $ ६,००

मुद्रक :-

रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स

कमच्छा, वाराणसी

ĀDHYAYANA-MĀLĀ

[Vol. 6]

ŚRĪMĀRKAṆḌEYAMAHĀPURĀṆAM

(Upto Chapters 46-93)

[PART TWO]

With a Foreword
by
Gaurinath Sastri

Translated & Edited
BY
Dr. SATYAVRATA SINGH

INSTITUTE FOR PURANIC AND VEDIC
STUDIES AND RESEARCH
NAIMISHARANYA, SITAPUR

1985

ACKNOWLEDGEMENT

We are extremely grateful to Sir C. P. N. Singh, ex-Rajyapal, Uttar Pradesh, who was kind enough to move the State Government for a suitable grant towards the publication of our volumes. We are privileged to record our deep sense of gratitude for the all-round interest he had been taking for the growth and development of the Institute, physical and academic.

GAURINATH

PREFACE

The second part of the Mārkaṇḍeya Purāṇa containing chapters 46 to 93 is presented to the academic world. We are thankful to Professor Satyavrata Singh for the interest with which he has completed the task.

The press copy of the third part is being sent to the press for early publication.

August 5, 1985 GAURINATH

भूमिका

श्री मार्कण्डेयमहापुराण के प्रथम भाग में १ से ४५ अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित हो चुका है। यह द्वितीय भाग है, जिसमें ४६वें अध्याय से ९३वें अध्याय तक का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित हो रहा है। इस द्वितीय भाग के विविध विषयों में निम्नलिखित विषय बड़े महत्त्वपूर्ण हैं—

१. गङ्गावतरण।

२. स्वायंभुव मनुवंश।

३. मानव-सृष्टि।

४. पृथिवी का परिमाण।

५. स्वायंभुव मनु के अतिरिक्त स्वारोचिष औत्तम, तामस, चाक्षुष तथा रैवत प्रभृति मनुओं और उनके द्वारा प्रवर्तित मन्वन्तरों के आख्यान।

६. श्रीदेवीमाहात्म्य (८१वें अध्याय से ९३वें अध्याय पर्यन्त), जो कि कालान्तर में श्री दुर्गासप्तशती के नाम से भारत में प्रसिद्ध है।

इस भाग में अनूदित ४६ से ८१ अध्यायों के विषय में पुराणवित् श्री पार्जिटर का यह उल्लेख है कि इन अध्यायों के विषय मार्कण्डेयपुराण के तीसरे अंश के विषय हैं तथा ८१ से ९३ अध्याय में अन्तर्भूत 'देवी-माहात्म्य' प्रक्षिप्त है। इस उल्लेख की मान्यता का विवेचन 'महापुराणों में मार्कण्डेयपुराण का स्थान एवं महत्त्व' नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ में किया जायेगा, जो कि ९४ से १३७ अध्याय पर्यन्त तृतीय भाग के प्रकाशन के बाद प्रकाशित होगा।

आशा है विज्ञ पाठक मार्कण्डेयमहापुराण के अध्ययन-अनुशीलन से लाभान्वित होंगे।

विनीत
सत्यव्रत सिंह

विषयानुक्रमणिका

✲

पुराणपुरुष

श्रीमन्महर्षिवेदव्यासप्रणीतं

श्रीमार्कण्डेयपुराणम्

[द्वितीयो भागः]

* * *

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

क्रौष्टुकिरुवाच—

भगवंस्त्वण्डसम्भूतिर्यथावत् कथिता मम ।
ब्रह्माण्डे ब्रह्मणो जन्म तथा चोक्तं महात्मनः ॥१॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं त्वत्तो भृगुकुलोद्भव ।
यदा न सृष्टिर्भूतानामस्ति किन्नु न चास्ति वा ।
काले वै प्रलयस्यान्ते सर्वस्मिन्नुपसंहृते ॥२॥

मार्कण्डेय उवाच—

यदा तु प्रकृतौ याति लयं विश्वमिदं जगत् ।
तदोच्यते प्राकृतोऽयं विद्वद्भिः प्रतिसञ्चरः ॥३॥
स्वात्मन्यवस्थितेऽव्यक्ते विकारे प्रतिसंहृते ।
प्रकृतिः पुरुषश्चैव साधर्म्येणावतिष्ठतः ॥४॥

क्रौष्टुकि ने आगे कहा—

भगवन् ! आपने मुझे यह ठीक-ठीक बता दिया कि ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति कैसे हुई है और यह भी बता दिया कि ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा का आविर्भाव कैसे हुआ है। अब मैं, हे भार्गव महामुनिराज ! आप से यह जानना चाहता हूँ कि प्रलयान्त काल में जब समस्त सृष्टि का संहार हो जाता है और भूत-सृष्टि का अस्तित्व नहीं रहता, तब अन्य किसी वस्तु का अस्तित्व रहता है अथवा नहीं रहता ? ॥ १-२ ॥

महामुनि मार्कण्डेय की उक्ति—

जब यह समस्त जगत् (प्रलय काल में) प्रकृति में लीन हो जाता है, तब तत्त्वज्ञानी लोग, ऐसी स्थिति को, प्राकृत प्रलय कहा करते हैं ॥ ३ ॥

ऐसी स्थिति में अव्यक्त अपने वास्तविक स्वरूप (प्रकृतिरूप) में विराजमान हो जाता है और समस्त विकृतियाँ नष्ट हो जाती हैं। तब अपने-अपने धर्मों से विशिष्ट केवल प्रकृति और पुरुष ही एक समान निष्क्रिय अवशिष्ट रह जाते हैं ॥ ४ ॥

तदा तमश्च सत्त्वञ्च समत्वेन व्यवस्थितौ ।
अनुद्रिक्तावनूनौ च तत्प्रोतौ च परस्परम् ॥५॥

तिलेषु वा यथा तैलं घृतं पयसि वा स्थितम् ।
तथा तमसि सत्त्वे च रजोऽप्यनुसृतं स्थितम् ॥६॥

उत्पत्तिर्ब्रह्मणो यावदायुषो द्विपरार्द्धिकम् ।
तावद्दिनं परेशस्य तत्समा संयमे निशा ॥७॥

अहर्मुखे प्रबुद्धस्तु जगदादिरनादिमान् ।
सर्वहेतुरचिन्त्यात्मा परः कोऽप्यपरक्रियः ॥८॥

प्रकृतिं पुरुषञ्चैव प्राविश्याशु जगत्पतिः ।
क्षोभयामास योगेन परेण परमेश्वरः ॥९॥

यथा मदो नवस्त्रीणां यथा वा माधवानिलः ।
अनुप्रविष्टः क्षोभाय तथाऽसौ योगमूर्त्तिमान् ॥१०॥

प्रधाने क्षोभ्यमाने तु स देवो ब्रह्मसंज्ञितः ।
समुत्पन्नोऽण्डकोषस्थो यथा ते कथितं मया ॥११॥

उस स्थिति में तमस् और सत्त्व समानमात्रा में रहा करते हैं । न तो तमस् सत्त्व की अपेक्षा प्रबल होता है और न सत्त्व तमस् की अपेक्षा, दोनों समानमात्रा में रहते हैं और परस्पर एक दूसरे में ओतप्रोत से प्रतीत होते हैं ॥ ५ ॥

जैसे तिल के बीजों में तेल रहा करता है और जैसे दूध में घी रहा करता है, वैसे ही परस्पर संयुक्त तमस् तथा सत्त्व में रजस् भी अन्तर्लीन रूप से अवस्थित रहता है ॥ ६ ॥

सृष्टिकाल, जिसे ब्राह्मदिन कहते हैं, जिसमें सर्वप्रथम ब्रह्मा का आविर्भाव होता है, दो परार्द्धकाल का होता है, जो कि ब्रह्मा की आयु की अवधि है और प्रलयकाल, जिसे ब्राह्मरात्रि कहते हैं, इतने ही काल (दो परार्द्ध काल) की अवधि का होता है। वस्तुतः यह ब्रह्मा का दिन और ब्रह्मा की रात—दोनों परमेश्वर के ही दिन और रात्रिकाल हैं ॥ ७ ॥

जब ब्राह्मदिन प्रारम्भ होने लगता है तब इस जगत् के आदिकारण किन्तु स्वयं अनादि, समस्त सृष्टि के निदान, अचिन्त्यस्वरूप, अनिवर्चनीय तथा स्वयंभू परात्पर परमेश्वर जग जाते हैं। ये ही जगत्पति परमेश्वर प्रकृति और पुरुष में अन्तर्नियामक रूप से प्रविष्ट हो जाते हैं और अपने अलौकिक योगबल से दोनों को सक्रिय बना देते हैं। जैसे नवयौवना नारियों के हृदय में प्रेममद एवं वासन्तिक मादक वायु प्रविष्ट होकर उन्हें क्षुब्ध कर देते हैं, वैसे ही योगमूर्ति परमेश्वर भी प्रकृति और पुरुष में अन्तःप्रविष्ट होकर उन्हें क्षुब्ध कर देते हैं ॥ ८-१० ॥

जब प्रकृति में क्षोभ प्रारम्भ हो जाता है, तब उस देवतत्त्व की उत्पत्ति होती है, जैसा कि मैंने तुमसे कहा है, जो ब्रह्माण्ड-कोष में अवस्थित ब्रह्मा के नाम से जाना जाता है ॥ ११ ॥

स एव क्षोभकः पूर्वं स क्षोभ्यः प्रकृतेः पतिः ।
स सङ्कोचविकाशाभ्यां प्रधानत्वेऽपि च स्थितः ॥१२।

उत्पन्नः स जगद्योनिरगुणोऽपि रजोगुणम् ।
भुञ्जन् प्रवर्तते सर्गे ब्रह्मत्वं समुपाश्रितः ॥१३।

ब्रह्मत्वे स प्रजाः सृष्ट्वा ततः सत्त्वातिरेकवान् ।
विष्णुत्वमेत्य धर्मेण कुरुते परिपालनम् ॥१४।

ततस्तमोगुणोद्रिक्तो रुद्रत्वे चाखिलं जगत् ।
उपसंहृत्य वै शेते त्रैलोक्यं त्रिगुणोऽगुणः ॥१५।

यथा प्राग्व्यापकः क्षेत्री पालको लावकस्तथा ।
यथा स संज्ञामायाति ब्रह्मविष्णवीशकारिणीम् ॥१६।

ब्रह्मत्वे सृजते लोकान् रुद्रत्वे संहरत्यपि ।
विष्णुत्वे चाप्युदासीनस्तिस्रोऽवस्थाः स्वयम्भुवः ॥१७।

यही प्रकृति के पति ब्रह्मा प्रकृति के क्षोभक अर्थात् प्रकृति को क्षुब्ध करने वाले हैं और यही वस्तुतः सङ्कोच और विकास की शक्तिओं से समन्वित होकर प्रकृतिरूप में, जो क्षोभ्य है, अवस्थित रहा करते हैं ॥ १२ ॥

वस्तुतः ब्रह्म ही, जो कि सत्त्व-रजस्-तमस् के गुणों से अछूता है, जगद्योनि ब्रह्मा के रूप में आविर्भूत होता है और रजोगुण के भोग में प्रवृत्त होकर भूतसृष्टि प्रारम्भ कर देता है ॥ १३ ॥

रजोगुण के उद्रेकवश वह ब्रह्म ही ब्रह्मा के रूप में भूतभौतिक जगत् की सृष्टि करता है और सत्त्वगुण के उद्रिक्त होने पर वही विष्णुरूप धारण कर धर्मानुसार जगत्पालन का कार्य करता है ॥ १४ ॥

वही निर्गुण होने पर भी त्रिगुणात्मक ब्रह्म, तमोगुण का उद्रेक होने पर, रुद्र-रूप ग्रहण करता है और समस्त भूर्भुवःस्वर्लोकरूप त्रैलोक्यात्मक जगत् का अपने में उपसंहार अथवा विलय करके, मानों, निद्रानिमग्न हो जाता है ॥ १५ ॥

वस्तुतः सृष्टि के पहले से ही सर्वत्र व्यापक एक सद्रूप ब्रह्म ही क्षेत्री अर्थात् क्षेत्र अथवा प्रकृति का पति, जगत् का पालक और जगत् का संहारक है और इसीलिये उसके क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र-शिव—ये तीन नाम प्रसिद्ध हैं ॥ १६ ॥

स्वयंभू सद्रूप ब्रह्म की तीन अवस्थायें हैं—१ली) ब्रह्मा के रूप की, जिसमें वह लोक-सृष्टि करता है; २ री) विष्णु के रूप की, जिसमें वह उदासीन सा सृष्टि की रक्षा करता है और ३री) रुद्र के रूप की, जिसमें वह सृष्टि का संहार करता है ॥ १७ ॥

रजो ब्रह्मा तमो रुद्रो विष्णुः सत्त्वं जगत्पतिः ।
एत एव त्रयो देवा एत एव त्रयो गुणाः ॥१८॥

अन्योन्यमिथुना ह्येते अन्योन्याश्रयिणस्तथा ।
क्षणं वियोगो नह्येषां न त्यजन्ति परस्परम् ॥१९॥

एवं ब्रह्मा जगत्पूर्वो देवदेवश्चतुर्मुखः ।
रजोगुणं समाश्रित्य स्रष्टृत्वे स व्यवस्थितः ॥२०॥

हिरण्यगर्भो देवादिरनादिरुपचारतः ।
भूपद्मकर्णिकासंस्थो ब्रह्माग्रे समजायत ॥२१॥

तस्य वर्षशतं त्वेकं परमायुर्महात्मनः ।
ब्राह्म्येणैव हि मानेन तस्य संख्यां निबोध मे ॥२२॥

निमेषैर्दशभिः काष्ठा तथा पञ्चभिरुच्यते ।
कलास्त्रिंशच्च वै काष्ठा मुहूर्त्तं त्रिंशत्ताः कलाः ॥२३॥

ब्रह्मा, जो रजोगुण रूप है, रुद्र, जो तमोगुण रूप है और जगत्पालक विष्णु, जो सत्त्वगुणात्मक है—ये तीन ही वस्तुतः त्रिदेव हैं और ये ही तीन त्रिगुण हैं॥ १८ ॥

ब्रह्मा, रुद्र तथा विष्णु रूप ये रजस्तमस् तथा सत्त्व-स्वरूप गुण परस्पर एक दूसरे से सदा संयुक्त रहा करते हैं तथा परस्पर एक दूसरे का आश्रय लिया करते हैं। इन तीनों में, क्षणभर के लिए भी, एक दूसरे से वियोग नहीं होता और ये तीनों एक दूसरे का साथ कभी नहीं छोड़ते ॥ १९ ॥

इस प्रकार, जगत् की सृष्टि के पहले, देवों के देव, चतुर्मुख ब्रह्मा ही, रजोगुण का आश्रय लेकर जगत् के स्रष्टा के रूप में विराजमान रहते हैं ॥ २० ॥

वस्तुतः यह अनादि-अनन्त किन्तु उपचारवश आदिदेव हिरण्यगर्भ रूप ब्रह्म ही पृथिवीरूपी कमल की कर्णिका पर आसीन ब्रह्मा प्रजापति के रूप में सृष्टि के प्रारम्भ में आविर्भूत होता है ॥ २१ ॥

इस ब्रह्मारूपी महान् आत्मा की आयु की अवधि एक सौ वर्ष की मानी जाती है और इस एक सौ वर्ष की गणना मानववर्ष के परिमाण से नहीं, किन्तु ब्राह्मवर्ष के परिमाण से की जाती है, जिसके सम्बन्ध में मैं, जो कुछ कह रहा हूं, तुम सुनो और समझो ॥ २२ ॥

पन्द्रह निमेषों (आँख की पलकों के झपकने की काल-कलनाओं) की एक काष्ठा मानी गयी है, तीस काष्ठाओं की एक कला होती है और तीस ऐसी कलाओं को एक मुहूर्त कहा जाता है। मनुष्यों के एक दिन-रात में तीस मुहूर्त होते हैं और तीस दिन-रात

अहोरात्रं मुहूर्त्तानां नृणां त्रिंशत्तु वै स्मृतम् ।
अहोरात्रैश्च त्रिंशद्भिः पक्षौ द्वौ मास उच्यते ।।२४।

तैः षड्भिरयनं वर्षं द्वेऽयने दक्षिणोत्तरे ।
तद्देवानामहोरात्रं दिनं तत्रोत्तरायणम् ।।२५।

दिव्यैर्वर्षसहस्रैस्तु कृतत्रेतादिसंज्ञितम् ।
चतुर्युगं द्वादशभिस्तद्विभागं शृणुष्व मे ।।२६।

चत्वारि तु सहस्राणि वर्षाणां कृतमुच्यते ।
शतानि सन्ध्या चत्वारि सन्ध्यांशश्च तथाविधः ।।२७।

त्रेता त्रीणि सहस्राणि दिव्याब्दानां शतत्रयम् ।
तत्सन्ध्या तत्समा चैव सन्ध्यांशश्च तथाविधः ।।२८।

द्वापरं द्वे सहस्रे तु वर्षाणां द्वे शते तथा ।
तस्य सन्ध्या समाख्याता द्वे शताब्दे तदंशकः ।।२९।

कलिः सहस्रं दिव्यानामब्दानां द्विजसत्तम ।
सन्ध्या सन्ध्यांशकश्चैव शतकौ समुदाहृतौ ।।३०।

का एक मास होता है, जिसमें (पन्द्रह-पन्द्रह दिन के) दो पक्ष (कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष) होते हैं। ऐसे ६-६ मास के दो अयन (उत्तरायण और दक्षिणायन) मिला कर एक वर्ष बनता है। यह एक मानववर्ष देवों का एक अहोरात्र (दिनरात) कहा जाता है, जिसमें उत्तरायण एक देव-दिन है (और दक्षिणायन एक देव-रात्रि है)। ऐसे बारह हजार देव-वर्ष में एक चतुर्युग होता है, जिसके कृतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग तथा कलियुग—ये चार विभाग होते हैं, जिनके विषय में अब तुम मुझसे सुनो ॥ २३-२६ ॥

जिसको कृतयुग कहते हैं, वह चार हजार दैववर्ष का युग होता है और उसमें चार सौ दिव्यवर्षों के दोनों सन्ध्याकाल तथा उतने ही दिव्यवर्षों के संध्यांश-काल होते हैं ॥ २७ ॥

त्रेतायुग में तीन हजार दिव्यवर्ष होते हैं और उसमें तीन सौ दिव्य सन्ध्या तथा सन्ध्यांश-काल होता है ॥ २८ ॥

द्वापरयुग दो सहस्र दिव्यवर्ष वाला माना गया है और इसके संध्या तथा संध्यांश काल दो सौ दिव्यवर्षों के माने गये हैं ॥ २९ ॥

द्विजवर क्रौष्टुकि ! वह युग जिसे कलियुग कहते हैं, एक सहस्र दिव्यवर्षों का होता है और उसके सन्ध्या तथा सन्ध्यांश-काल एक सौ दिव्यवर्षों के होते हैं ॥ ३० ॥

एषा द्वादशसाहस्री युगाख्या कविभिः कृता ।
एतत् सहस्रगुणितमहो ब्राह्म्यमुदाहृतम् ॥३१॥

ब्रह्मणो दिवसे ब्रह्मन् मनवः स्युश्चतुर्दश ।
भवन्ति भागशस्तेषां सहस्रं तद्विभज्यते ॥३२॥

देवाः सप्तर्षयः सेन्द्रा मनुस्तत्सूनवो नृपाः ।
मनुना सह सृज्यन्ते संह्रियन्ते च पूर्ववत् ॥३३॥

चतुर्युगानां संख्याता साधिका ह्येकसप्ततिः ।
मन्वन्तरं तस्य संख्यां मानुषाब्दैर्निबोध मे ॥३४॥

त्रिंशत्कोट्यस्तु संपूर्णाः संख्याताः संख्यया द्विज ।
सप्तषष्टिस्तथान्यानि नियुतानि च संख्यया ॥३५॥

विंशतिश्च सहस्राणि कालोऽयं साधिकं विना ।
एतन्मन्वन्तरं प्रोक्तं दिव्यैर्वर्षैर्निबोध मे ॥३६॥

अष्टौ वर्षसहस्राणि दिव्यया संख्यया युतम् ।
द्विपञ्चाशत्तथान्यानि सहस्राण्यधिकानि तु ॥३७॥

क्रान्तदर्शी ऋषियों ने, इस प्रकार, युग को बारह हजार दिव्यवर्षों का काल कहा है। इसका एक सहस्रगुना जो समय होता है, वह एक ब्राह्मदिन माना जाता है ॥ ३१ ॥

ब्रह्मा के एक दिन में, क्रौष्टुकि द्विजराज ! विभाग के क्रम से चौदह मनु होते हैं और इनकी एक सहस्र (दिव्यवर्षों की) विभाग-कल्पना की गयी है ॥ ३२ ॥

प्रत्येक मनु के साथ इन्द्र समेत देवगण, सप्तर्षिगण, मनु तथा मनुपुत्र राजगण-इन सबकी सृष्टि होती है और प्रलयकाल में यथापूर्व मनु के साथ इन सबका भी प्रलय हो जाता है ॥ ३३ ॥

एक मन्वन्तर में चारों युगों के कुछ अधिक इकहत्तर (७१) आवर्तन होते हैं, जिनकी मानुषवर्ष के अनुसार जो गणना होती है, उसके विषय में तुम्हें बता रहा हूँ। द्विजवर क्रौष्टुकि ! गणना के अनुसार कुछ अधिक छोड़कर ३० करोड़ ६७ लाख २० हजार मानुषवर्षों का एक मन्वन्तर होता है। अब दिव्यवर्षों के मान की दृष्टि से जो कह रहा हूँ, उसे समझो ॥ ३४-३६ ॥

दिव्यवर्ष-मान के अनुसार एक मन्वन्तर ५२ हजार वर्ष अधिक ८०० सौ हजार वर्षों का होता है। इस काल का १४ गुना काल एक ब्राह्मदिन होता है, जिसका अन्त

चतुर्दशगुणो ह्येष कालो ब्राह्मचमहः स्मृतम् ।
तस्यान्ते प्रलयः प्रोक्तो ब्रह्मन् नैमित्तिको बुधैः ।।३८।
भूर्लोकोऽथ भुवर्लोकः स्वर्लोकश्च विनाशिनः ।
तथा विनाशमायान्ति महर्लोकश्च तिष्ठति ।।३९।
तद्वासिनोऽपि तापेन जनलोकं प्रयान्ति वै ।
एकार्णवे च त्रैलोक्ये ब्रह्मा स्वपिति वै निशि ।।४०।
तत्प्रमाणैव सा रात्रिस्तदन्ते सृज्यते पुनः ।
एवन्तु ब्रह्मणो वर्षमेकं वर्षशतन्तु तत् ।।४१।
शतं हि तस्य वर्षाणां परमित्यभिधीयते ।
पञ्चाशद्भिस्तथा वर्षैः परार्द्धमिति कीर्त्यते ।।४२।
एवमस्य परार्द्धन्तु व्यतीतं द्विजसत्तम ।
यस्यान्तेऽभून्महाकल्पः पाद्म इत्यभिविश्रुतः ।।४३।
द्वितीयस्य परार्द्धस्य वर्त्तमानस्य वै द्विज ।
वाराह इति कल्पोऽयं प्रथमः परिकल्पितः ।।४४।

।। इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे ब्रह्मायुप्रमाणो नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ।।

होने पर प्रलय हो जाता है, जिसे तत्त्वज्ञानियों के मत में नैमित्तिक प्रलय कहा जाता है ।। ३७-३८ ।।

भूर्लोक, भुवर्लोक तथा स्वर्लोक जो नाशवान् माने जाते हैं, प्रलयकाल में विनष्ट हो जाते हैं। प्रलय में भी वह लोक विनष्ट नहीं होता, जिसे महर्लोक कहते हैं। किन्तु महर्लोक के जो निवासी हैं, वे प्रलयानल के संताप के कारण जनलोक में चले जाते हैं। इस प्रकार जब त्रैलोक्य एकार्णवमय हो जाता है, तब ब्रह्मा की रात्रि होती है, जिसमें वे निद्रावस्था में विराजमान रहते हैं ।। ३९-४० ।।

ब्राह्मदिन का जो मान है, वही मान ब्राह्मरात्रि का भी है। इस ब्राह्मरात्रि के अवसान में सर्ग-क्रम का प्रारम्भ होता है। इस प्रकार एक ब्राह्मवर्ष व्यतीत होता है और सब मिलाकर ऐसे एक सौ वर्ष होते हैं। एक सौ ऐसे ब्राह्मवर्ष का नाम 'पर' है और जिसे 'परार्द्ध' कहा जाता है, वह ऐसे पचास ब्राह्मवर्षों की अवधि का होता है ।। ४१-४२ ।।

द्विजवर क्रौष्टुकि ! अब तक एक परार्द्ध ब्राह्मवर्ष बीत चुका है, जिसके अन्त में जो महाकल्प होता है, उसका प्रसिद्ध नाम 'पाद्म' महाकल्प है ।। ४३ ।।

द्विजराज ! अब तो ब्राह्मवर्ष का दूसरा परार्द्ध प्रारम्भ है, उसका प्रथमकल्प (अथवा चक्र) वाराहकल्प के रूप में परिकल्पित किया जाता है ।। ४४ ।।

✲

पर्यालोचन

(क) पुराणों के पाँच लक्षणों में 'सर्ग' और 'प्रतिसर्ग' अथवा सृष्टि और प्रलय के निरूपण भी अनिवार्य लक्षण हैं। पुराणों का आविर्भाव वेदार्थ-रहस्य के उद्घाटन और उपबृंहण के लिये है। सृष्टि और प्रलय के प्रतिपादन वेद के लक्षण नहीं हैं। वेद का परमार्थ तो धर्म तथा धर्मों का धर्म ब्रह्म है। ऐसी स्थिति में पुराणों में सर्ग और प्रतिसर्ग के प्रतिपादन का क्या अभिप्राय हो सकता है ? सर्ग अर्थात् जगत् की सृष्टि का वर्णन अन्ततोगत्वा जगत् के आदिकारण ब्रह्म अथवा सच्चिदानन्दघन आत्मतत्त्व के ज्ञान का उद्बोधन है। इसीलिए याज्ञवल्क्यस्मृति में आत्मज्ञान अथवा आत्मदर्शन को परमधर्म के रूप में निरूपित किया गया है, जैसा कि निम्नलिखित श्लोक (अ० १, ८) का स्पष्ट उल्लेख है—

'इज्याचारदमाहिंसा दानं स्वाध्यायकर्म च।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥'

याज्ञवल्क्यस्मृति की धर्मविषयक इस धारणा का आधार मनुस्मृति का निम्नलिखित श्लोक (अ० ६, ९२) है—

'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥'

इस श्लोक में 'विद्या' को इसीलिये धर्म माना गया है, क्योंकि विद्या का तात्पर्य शास्त्रग्रहण तथा शास्त्रार्थविबोधन नहीं, अपितु 'आत्मज्ञान' है। इस प्रकार 'सर्ग' और 'प्रतिसर्ग' के विवेचन का अन्तिम उद्देश्य आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मविज्ञान का आदेश अथवा उपदेश है। इस प्रकार यह मानने में कोई अनौचित्य नहीं है कि पुराणों में जो सर्ग-प्रतिसर्ग का प्रतिपादन है, वह आत्मतत्त्व के प्रतिपादन की पृष्ठभूमि है। जैसे ब्रह्ममीमांसादर्शन में ब्रह्म के लक्षण-निरूपण अथवा उपलक्षण-निर्देश के लिए सर्वप्रथम 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्र है और ब्रह्मजिज्ञासा के समाधान अथवा उपशमन के लिए 'जन्माद्यस्य यतः' दूसरा सूत्र है, वैसे ही पुराणों में भी ब्रह्मज्ञान अथवा आत्मज्ञान की जिज्ञासा के युक्तिसङ्गत समाधान के लिए ही सर्ग-प्रतिसर्ग का निरूपण है, न कि सर्ग-प्रतिसर्ग के निरूपण सर्ग-प्रतिसर्ग के निरूपण के लिए हैं। धर्म क्या है ? इस गम्भीर विषय के सम्बन्ध में महाभारत भी धर्म का अन्तिम अभिप्राय आत्मज्ञान ही मानता है—'आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्मः साधारणो नृप'। क्या ब्रह्ममीमांसादर्शन, क्या मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियाँ और क्या महाभारत सभी अन्ततोगत्वा नीचे उद्धृत उपनिषद् वाक्य को ही प्रामाणिक मानकर सर्ग-प्रतिसर्ग के मूलकारण ब्रह्म अथवा आत्मतत्त्व के निरूपण में प्रवृत्त हैं—

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्म।'

(ख) इस अध्याय के दूसरे श्लोक में ब्रह्मविज्ञानवेदी महामुनि मार्कण्डेय से उनके शिष्य क्रौष्टुकि मुनि का यह प्रश्न है—'प्रलयान्त काल में जब समस्त भूतसर्ग का संहार हो जाता है, तब किसी वस्तु का अस्तित्व रहता है अथवा नहीं रहता ? यह प्रश्न ऐसा आदिम महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, जिससे ऋग्वेदकालीन ऋषिगण के मन-मस्तिष्क भी उत्तेजित और उद्वेलित होते रहे हैं। ऋग्वेद का 'नासदीय सूक्त' इस प्रश्न और इसके समाधान का सूक्त है। नासदीय सूक्त में इस प्रश्न का जो समाधान है, वही समाधान पुराण-साहित्य को प्रभावित करने वाले आरण्यक तथा उपनिषद् साहित्य का प्राण है। प्रकृति में विकृति का विलय प्राकृत प्रतिसञ्चर अथवा प्राकृत प्रलय है। इस प्राकृत प्रलय में ब्रह्म अथवा आत्मा का प्रलय नहीं होता, क्योंकि वह कूटस्थ और शाश्वत है, अनादि और अनन्त है। यह ब्रह्म ही प्रलयान्तकाल में अपने सच्चिदानन्दघन स्वभाव में निर्विकार रूप से अवस्थित रहता है, जैसा कि नासदीय सूक्त (ऋग्वेद०, मं० १०, सू० १२९ मन्त्र ७) का उल्लेख है—

'इ॒यं विसृ॑ष्टि॒र्यत॑ आब॒भूव॒
यदि॑ वा द॒धे यदि॑ वा॒ न।
यो अ॒स्याध्य॑क्षः पर॒मे व्यो॑म॒न्
त्सो अ॒ङ्ग वे॑द॒ यदि॑ वा॒ न वेद॑॥'

यहां भी परतत्त्व के, अपने परमव्योम में विराजमान रहने की बात, एक महा-रहस्य के रूप में ही प्रतिपादित है, जिससे यही निष्कर्ष निकल सकता है कि परात्पर ब्रह्म अवाङ्मनसगोचर है, जैसा कि भगवत्पाद शङ्कर की सुनिश्चित मान्यता है।

प्रलयकाल में अपने शाश्वत अस्तित्व में अवस्थित शब्दब्रह्म (वाक्) के विषय में भी यही रहस्य ऋग्वेद (मं० १०, सू० १२५, मन्त्र ८) में ही स्पष्ट परिलक्षित होता है—

'अ॒हमे॒व वात इ॒व॒ प्रवा॑म्या-
रभमाणा॒ भु॒व॑नानि विश्वा॑।
प॒रो दि॒वा प॒र ए॒ना पृ॑थि॒व्यै-
तावती महि॒ना सं॑बभूव॥'

यहाँ मार्कण्डेय पुराण के इस अध्याय के दूसरे श्लोक में इसी रहस्य के उद्भेदन का प्रश्न है और इसी प्रश्न के समाधान में मार्कण्डेय महामुनि ने सृष्टि-प्रक्रिया का विश्लेषण किया है।

(ग) मार्कण्डेयपुराण के श्री पार्जिटरकृत अंग्रेजी अनुवाद में इस दूसरे श्लोक का अनुवाद ऐसा है, जिसमें यहाँ खण्ड 'ख' में प्रतिपादित वैदिक एवं पौराणिक ब्रह्म-विषयक रहस्य का कुछ भी संकेत नहीं मिलता। देखिये श्री पार्जिटर का अंग्रेजी अनुवाद—

'I wish to hear this from thee, 6 scion of Bhṛgu's race, when things are not created and nothing exists, everything having been destroyed by one time at the end of the dissolution of the universe.'

अर्थात् हे भृगुवंश के अवतंस महामुनि मार्कण्डेय ! मैं आपसे यह सुनना चाहता हूँ कि जब सृष्टि नहीं हुई है और किसी का भी अस्तित्व नहीं है, क्योंकि समस्त भूतजात जगत् के प्रलय में काल के द्वारा सर्वनाश में मिला दिया जाता है।

इस अनुवाद में 'यह सुनना चाहता हूँ' का कोई स्पष्टीकरण नहीं है कि 'क्या सुनना चाहता हूं।'

मार्कण्डेयपुराण के हिन्दी-अनुवाद भी इसी प्रकार संशयास्पद हैं, जैसा कि सनातन धर्म प्रेस मुरादाबाद से प्रकाशित श्री रामस्वरूपशर्मा के निम्नलिखित अनुवाद में स्पष्ट है—

'हे भृगुकुलोद्भव ! अब मैं आपसे यह सुनना चाहता हूँ कि प्रलय के अन्त में सब का संहार होने पर फिर भूतों की उत्पत्ति किस प्रकार से होती है ?'

वस्तुतः उपर्युक्त हिन्दी-अनुवाद इस अध्याय के दूसरे श्लोक-वाक्य के अभिप्राय का स्पर्श तक नहीं करता।

श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित पण्डित कन्हैयालाल कृत मार्कण्डेयपुराण के हिन्दी अनुवाद में यह श्लोक इस प्रकार अनूदित है—

'हे भृगुवंशोद्भव ! प्रलय के अवसान में समस्त संहार को प्राप्त होने पर जब सृष्टि का कुछ भी विद्यमान नहीं था, इसके पीछे फिर किस प्रकार से भूतगण की उत्पत्ति हुई ? यही विषय आपसे सुनने की अभिलाषा करता हूँ।'

इस अनुवाद में भी मूल प्रश्न का कोई सङ्केत नहीं है। श्यामकाशी प्रेस मथुरा से प्रकाशित श्रीवृन्दावनदास कृत अनुवाद भी मूलप्रश्न के प्रति मूक दिखाई देता है, जैसा कि नीचे लिखे अनुवाद-वाक्य से स्पष्ट है—

'हे भृगुकुल से उत्पन्न मार्कण्डेय जी ! अब आपसे यह सुनने की इच्छा करता हूँ कि प्रलयकाल के अन्त में जब कि सब का उपसंहार हो जाता है, जीवों की सृष्टि रहती है या नहीं ?'

साहित्य भण्डार-मेरठ से १९८३ में प्रकाशित डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री कृत मार्कण्डेयपुराण के अनुवाद में इस श्लोक का निम्नलिखित अनुवाद देखिए—

'हे भृगुवंशोत्पन्न ! अब मैं आपसे यह सुनना चाहता हूँ कि प्रलय काल के अन्त में सबका संहार हो जाने के बाद जब भूतों (प्राणियों) की सृष्टि नहीं रहती (तब पञ्च-भूतों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई) ?

यह अनुवाद श्लोक के अर्थ से बहुत दूर है, क्योंकि इसमें 'भूत' शब्द से 'प्राणी' का अर्थ लिया गया है और ऐसा प्रतीत होता है मानों पञ्चभूतों की उत्पत्ति का कारण भूतों (प्राणियों) की सृष्टि हो ! यहाँ तो अर्थ का अनर्थ स्पष्ट दिखाई देता है।

विद्वज्जन अपने विवेक से निर्णय कर सकते हैं कि इस श्लोक के प्रस्तुत अनुवाद में जो वेदोक्त ब्रह्म-रहस्य का उल्लेख है, वह समीचीन है अथवा नहीं।

(घ) इस अध्याय के ८वें से १०वें श्लोक में प्राकृत प्रलय के बाद सर्गक्रम का जो प्रतिपादन है, उसमें सांख्यदर्शन सम्मत प्रकृति और पुरुष तत्त्व का उल्लेख तो अवश्य है किन्तु अनादि-अनन्त परमात्मतत्त्व के द्वारा इन दोनों में अन्तःप्रवेश अथवा इन दोनों के अन्तर्नियमन के प्रतिपादन से सांख्यदर्शन का प्रतिबिम्ब मिट जाता है और उसके स्थान पर महामुनि मार्कण्डेय के महामाया-दर्शन का बिम्ब चमक उठता है। महामाया परब्रह्म की पराशक्ति है, जिसमें विशुद्ध सत्त्व प्रधान माया तथा मलिनसत्त्व प्रधान अविद्या-दोनों अन्तःस्यूत एवं अन्तर्भूत हैं। परमेश्वर का योग, जो कि प्रकृति और पुरुष का क्षोभक है, वस्तुतः वही माया अथवा विष्णुमाया है, जिसे मार्कण्डेयपुराण के देवीमाहात्म्य से सम्बद्ध ८१ से ९३ अध्यायों में विशद रूप से प्रदर्शित किया गया है। श्री पार्जिटर ने मार्कण्डेयपुराण के अपने अंग्रेजी अनुवाद के प्राक्कथन में यह उल्लेख किया है कि 'देवीमाहात्म्य' का समस्त सन्दर्भ प्रक्षिप्त है। किन्तु मार्कण्डेयपुराण के प्रारम्भ से ही महामाया की विविध लीलाओं का जो आभास मिलता है, उससे श्री पार्जिटर का मत अमान्य सिद्ध हो जाता है। श्रीमार्कण्डेयपुराण आरम्भ से अन्त तक 'महामाया' की महिमा का प्रतिपादक महापुराण है। इसी दृष्टि से मार्कण्डेयपुराण अन्य महापुराणों में एक विशिष्ट स्थान और महत्त्व रखता है।

पञ्चदशी के प्रथम प्रकरण (तत्त्वविवेकप्रकरण) के १५ वें और १६ वें श्लोकों में भी सत्त्वरजस्तमोमयी प्रकृति में चिदानन्दमय ब्रह्म के प्रतिबिम्बन का वर्णन है—

'चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता ।
तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा ॥
सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्या च ते मते ।
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः ॥'

यह वर्णन अन्ततोगत्वा मार्कण्डेयपुराण के महामाया-दर्शन का एक उपबृंहण-सा प्रतीत होता है।

(ङ) इस अध्याय का १९ वां श्लोक निम्नलिखित है—

'अन्योन्यमिथुना ह्येते अन्योन्याश्रयिणस्तथा ।
क्षणं वियोगो न ह्येषां न त्यजन्ति परस्परम् ॥

इस श्लोक के परिप्रेक्ष्य में सांख्यकारिका का निम्नलिखित श्लोक (सं० १२) तथा उसकी टीका में उद्धृत श्लोक द्रष्टव्य हैं—

"प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥
उभयोः सत्त्वरजसोर्मिथुनं तम उच्यते।
नैषामादिः सम्प्रयोगो वियोगो वोपलभ्यते ॥"

सांख्यकारिका, जो कि मार्कण्डेयपुराण की अपेक्षा, पुराणों के ऐतिह्यकारों को दृष्टि में, प्राचीन है तथा मार्कण्डेयपुराण—दोनों के अनुसार सत्त्व-रजस्-तमस् रूप गुण-त्रय की वृत्ति अथवा क्रिया एक समान है। इसका तात्पर्य यह है कि गुणत्रय स्वभावतः अन्योन्याभिभववृत्ति, अन्योन्याश्रयवृत्ति, अन्योन्यजननवृत्ति तथा अन्योन्यमिथुनवृत्ति हैं, इनमें उत्पत्ति रूप विकार नही होता और इनका परस्पर संयोग इनके स्वभाव की भाँति अनादि है।

सांख्यकारिका और मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय के ऊपर उद्धृत श्लोकों में भले ही तात्पर्य एक रूप हो, किन्तु मार्कण्डेयपुराण इस गुणत्रय की साम्यावस्था को सांख्यसम्मत प्रकृति-तत्त्व से एकरूप नहीं मानता। मार्कण्डेयपुराण की दृष्टि में इन तीनों गुणों का वास्तविक अभिप्राय इस अध्याय के नीचे लिखे श्लोक (संख्या १८) में प्रतिपादित है—

'रजो ब्रह्मा तमो रुद्रो विष्णुः सत्त्वं जगत्पतिः।
एत एव त्रयो देवा एत एव त्रयो गुणाः ॥'

अर्थात् रजोगुण ब्रह्मा का स्वरूप है, तमोगुण रुद्र का स्वरूप है और सत्त्वगुण विष्णु का स्वरूप है। ब्रह्मा-विष्णु-शिव (रुद्र) वस्तुतः एक अभिन्न तत्त्व हैं। इनमें जो भेद अव-भाषित होता है, वह इनमें अन्तःप्रविष्ट तथा इनके अन्तर्नियामक शक्तिमान् परब्रह्म तथा शक्तिस्वरूपा महामाया का लीला-विलास है। महामाया की दयादृष्टि से ही योगी-जन इस लीला-रहस्य का अभिज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और जीवन्मुक्त होकर संसार में निर्लिप्त-अनासक्त विचरण किया करते हैं।

॥ श्री मार्कण्डेयपुराण के "ब्रह्मायुःप्रमाण" नामक ४६ वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त ॥

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

क्रौष्टुकिरुवाच—

यथा ससर्ज वै ब्रह्मा भगवानादिकृत् प्रजाः।
प्रजापतिः पतिर्देवस्तन्मे विस्तरतो वद ॥१।

मार्कण्डेय उवाच—

कथयाम्येष ते ब्रह्मन् ससर्ज भगवान् यथा।
लोककृच्छाश्वतः कृत्स्नं जगत् स्थावरजङ्गमम् ॥२।
पद्मावसाने प्रलये निशासुप्तोत्थितः प्रभुः।
सत्त्वोद्रिक्तस्तदा ब्रह्मा शून्यं लोकमवैक्षत ॥३।
इमञ्चोदाहरन्त्यत्र श्लोकं नारायणं प्रति।
ब्रह्मस्वरूपिणं देवं जगतः प्रभवाप्ययम् ॥४।
आपो नारा वै तनव इत्यपां नाम शुश्रुम।
तासु शेते स यस्माच्च तेन नारायणः स्मृतः ॥५।

क्रौष्टुकि बोले—

गुरुवर ! आप मुझे विस्तार से बतावें कि भगवान् आदिसर्गकर्ता, देववर, जगत्पत्ति, ब्रह्मा प्रजापति ने किस प्रकार भूतजात की सृष्टि की ? ॥ १ ॥

महामुनि मार्कण्डेय की उक्ति—

द्विजवर क्रौष्टुकि ! मैं तुम्हें यह बता रहा हूँ कि किस प्रकार त्रैलोक्य के एकमात्र निर्माता कूटस्थ शाश्वत, भगवान् ने इस समस्त चराचरात्मक जगत् की रचना की। पाद्मकल्प के अन्त में होने वाले प्रलय में जब भगवान् रात में सोये की भाँति, दिन निकलते उठे, तब, उनका सत्त्व, रजस् और तमस् को अभिभूत कर प्रबल हो गया और वे ब्रह्मा के रूप में आविर्भूत होकर जब इधर-उधर दृष्टिपात करने लगे तब उन्हें समस्त लोक शून्य दिखाई दिया ॥ २-३ ॥

इसीलिए ज्ञानीजन साक्षात् ब्रह्मस्वरूप, देवाधिदेव तथा जगत् के उद्‌भव-विभव प्रलय के कारण भगवान् नारायण के लिए, एक श्लोक (स्तोत्र) कहा करते हैं। वह श्लोक यह है—जलराशि का नाम 'नार' है और समस्त जीवजन्तुओं के शरीर को भी नार कहते हैं। भगवान् इस द्विविध 'नार' में निद्रित रूप में अन्तर्व्याप्त हैं, इसीलिए उन्हें 'नारायण' माना जाता है ॥ ४-५ ॥

विबुद्धः सलिले तस्मिन् विज्ञायान्तर्गतां महीम् ।
अनुमानात् समुद्धारं कर्तुकामस्तदा क्षितेः ॥६॥

अकरोत् स तनूरन्याः कल्पादिषु यथा पुरा ।
मत्स्यकूर्मादिकास्तद्वद्वाराहं वपुरास्थितः ॥७॥

वेदयज्ञमयं दिव्यं वेदयज्ञमयो विभुः ।
रूपं कृत्वा विवेशाप्सु सर्वगः सर्वसम्भवः ॥८॥

समुद्धृत्य च पातालान्मुमोच सलिले भुवम् ।
जनलोकस्थितैः सिद्धैश्चिन्त्यमानो जगत्पतिः ॥९॥

तस्योपरि जलौघस्य महती नौरिव स्थिता ।
विततत्वात्तु देहस्य न मही याति संप्लवम् ॥१०॥

ततः क्षितिं समीकृत्य पृथिव्यां सोऽसृजद् गिरीन् ।
प्राक् सर्गे दह्यमाने तु तदा संवर्तकाग्निना ॥११॥

तेनाग्निना विशीर्णास्ते पर्वता भुवि सर्वशः ।
शैला एकार्णवे मग्ना वायुनापस्तु संहताः ॥१२॥

यही नारायण जब एकार्णवीभूत प्रलय में जगे, तब उन्होंने पृथिवी को जल के भीतर डूबी हुई देखा और उनके ईक्षण-सङ्कल्प से, उनमें पृथिवी को जल से ऊपर निकालने की इच्छा उत्पन्न हुई। जैसे वे भूतपूर्व महाकल्पों में, नाना प्रकार के मत्स्य तथा कूर्म प्रभृति रूपों में अवतीर्ण हुए थे वैसे ही इस कल्प में उन्होंने शूकर-रूप धारण किया। वेदरूप तथा यज्ञरूप विभवनशील भगवान् का यह वाराहरूप वेदमय तथा यज्ञमय था और अत्यन्त दिव्य था। इसी शूकररूप को धारण कर, उन्होंने, जो सर्वव्यापक तथा सर्वकारण हैं, प्रलयार्णव के भीतर प्रवेश किया और पाताल में धँसी पृथिवी को बाहर निकालकर जल के ऊपर स्थापित कर दिया। उनके इस अलौकिक कृत्य को देखकर जनलोक में विराजमान सिद्धगण उनके जगत्पति-रूप के मनन-चिन्तन में लीन हो गये ॥ ६-९ ॥

उनके द्वारा उस प्रलयजलराशि पर स्थापित पृथिवी एक अतिविशालकाय नौका की भाँति दिखाई पड़ी, जो जलप्लावन में डूब नहीं सकती थी, क्योंकि उसका आकार-प्रकार बहुत विस्तीर्ण था। भगवान् ने ही जहाँ-तहाँ ऊंची-नीची पृथिवी को समतल किया और उस पर पर्वतों की रचना की। भूतपूर्व महाकल्प के अन्त में जब प्रलयानल से समस्त जगत्सर्ग भस्मीभूत हो गया, तब पृथिवी पर जहाँ भी, जो भी पर्वत थे वे सबके सब, उसी प्रलयानल से शीर्ण-विशीर्ण हो गये और एकार्णवीभूत प्रलयजल-

निषक्ता यत्र यत्रासंस्तत्र तत्राचलाभवन् ।
भूविभागन्ततः कृत्वा सप्तद्वीपोपशोभितम् ॥१३॥
भूराद्यांश्चतुरो लोकान् पूर्ववत् समकल्पयत् ।
सृष्टिञ्चिन्तयतस्तस्य कल्पादिषु यथा पुरा ॥१४॥
अबुद्धिपूर्वकस्तस्मात् प्रादुर्भूतस्तमोमयः ।
तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञितः ॥१५॥
अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः ।
पञ्चधावस्थितः सर्गो ध्यायतोऽप्रतिबोधवान् ॥१६॥
बहिरन्तश्चाप्रकाशः संवृतात्मा नगात्मकः ।
मुख्या नगा यतश्चोक्ता मुख्यसर्गस्ततस्त्वयम् ॥१७॥
तं दृष्ट्वाऽसाधकं सर्गममन्यदपरं पुनः ।
तस्याभिध्यायतः सर्गं तिर्य्यक्स्रोतो ह्यवर्तत ॥१८॥

राशि में डूब गये। उसके बाद वायु के वेग से जहाँ-जहाँ जल घनीभूत हुआ, वहाँ-वहाँ डूबे हुए वे ही पर्वत पुनः अचल पर्वत रूप में प्रकट हो गये। तदनन्तर भगवान् ने पृथिवी का विभाजन किया और उसे सात द्वीपों से सुशोभित कर दिया। उन्होंने ही पूर्वकल्प की ही भाँति भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक और महर्लोक—इन चारों लोकों की सृष्टि की। जब भगवान् ने भूतपूर्व कल्पों की भाँति इस कल्प में सर्गनिर्माण का सङ्कल्प किया तब सृष्टि प्रारम्भ हो गई॥ १०-१४॥

भगवान् से जो सर्ग-क्रम निकला उसमें सर्वप्रथम तमःस्वरूपा अविद्या अथवा माया का प्रादुर्भाव हुआ और उसके बाद क्रमशः तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र तथा अन्धता-मिस्र की सृष्टि हुई। इन्हीं अविद्यादिपञ्चक को पञ्चपर्वा अविद्या कहते हैं, जो महान् आत्मतत्त्व है। बहुभवन की इच्छा के उन्मेष के वाद, इसी महान् आत्मा से पाँच प्रकार का उपर्युक्त तमोमय सर्ग-चक्र चला॥ १५॥

यह सर्ग बाहर और भीतर अप्रकाश अथवा अज्ञानमय था, इसमें आत्मतत्त्व का स्वरूप प्रच्छन्न था और यह अचर पदार्थों का सर्ग था। इस सर्ग का नाम मुख्यसर्ग है, क्योंकि अचर पदार्थों (पेड़-पौधों आदि) की ही उत्पत्ति को सर्वप्रथम उत्पत्ति कहा गया है। महान् आत्मा ने जब इस सर्ग को निष्फल अथवा किंकर्त्तव्यविमूढ़ देखा तब दूसरे प्रकार के सर्ग-निर्माण का सङ्कल्प किया। इस दूसरे प्रकार के सर्ग का सङ्कल्प करने के बाद जिस सर्ग का प्रादुर्भाव हुआ वह 'तिर्यक् स्रोतस्' नाम से जाना जाता है। इस सर्ग को 'तिर्यक् स्रोतस्' इसलिए कहते हैं, क्योंकि इसमें तमोबहुल ज्ञानरहित, पशु-पक्षी

यस्मात्तिर्य्यक्प्रवृत्तिः सा तिर्य्यक्स्रोतस्ततः स्मृतः।
पश्वादयस्ते विख्यातास्तमःप्राया ह्यवेदिनः ॥१९॥
उत्पथग्राहिनश्चैव तेऽज्ञाने ज्ञानमानिनः ।
अहंकृता अहंमाना अष्टाविंशद्विधात्मकाः ॥२०॥
अन्तःप्रकाशास्ते सर्वे आवृतास्तु परस्परम् ।
तमप्यसाधकं मत्वा ध्यायतोऽन्यस्ततोऽभवत् ॥२१॥
ऊर्ध्वस्रोतस्तृतीयस्तु सात्त्विकः समवर्तत ।
ते सुखप्रीतिबहुला बहिरन्तस्त्वनावृताः ॥२२॥
प्रकाशा बहिरन्तश्च ऊर्ध्वस्रोतःसमुद्भवाः ।
तुष्टात्मकस्तृतीयस्तु देवसर्गो हि स स्मृतः ॥२३॥
तस्मिन् सर्गेऽभवत् प्रीतिर्निष्पन्ने ब्रह्मणस्तदा ।
ततोऽन्यं स तदा दध्यौ साधकं सर्गमुत्तमम् ॥२४॥
तथाभिध्यायतस्तस्य सत्याभिध्यायिनस्ततः ।
प्रादुर्बभौ तदाव्यक्तादर्वाक्स्रोतस्तु साधकः ॥२५॥

आदि जीव-जन्तु उत्पन्न हुए, जैसा कि लोक में भी प्रसिद्ध है कि ये सब तिर्यग्योनि में जन्म लिए प्राणी हैं ॥ १६-१९ ॥

तिर्यक्स्रोतस् नामक सर्ग के ये पशु-पक्षी आदि जीव उन्मार्गगामी होते हैं, अज्ञानी होने पर भी अपने आपको ज्ञानी समझते हैं, इनमें अहंकार का भाव रहता है और अपने आपको बहुत बड़ा मानते हैं। ऐसे जीव २८ प्रकार के होते हैं। इनमें अन्तःसंज्ञा अथवा बाहर प्रकाशित न होने वाली चेतना रहती है और ये परस्पर एक दूसरे के ज्ञान-अभिज्ञान से रहित होते हैं। भगवान् ने जब इस तिर्यक्सर्ग को भी निष्प्रयोजन समझा तब उन्होंने तीसरे सर्ग का सङ्कल्प किया और यह तीसरा सर्ग प्रारम्भ हुआ ॥ २०-२१ ॥

यह तृतीय सर्ग ऊर्ध्वस्रोतस् सर्ग कहा जाता है, जो कि सात्त्विक होता है, सुख और आनन्द का अधिक अनुभव करता है और बाह्य तथा आभ्यन्तर—दोनों रूपों में अज्ञान से आच्छन्न नहीं होता। इस ऊर्ध्वस्रोतस् सर्ग के प्राणी, बाहर और भीतर, ज्ञान से पूर्ण होते हैं तथा आत्मसंतोषी होते हैं। इस तीसरे सर्ग का नाम देवसर्ग है ॥ २२-२३ ॥

यह देव-सृष्टि जब हो गई तब भगवान् बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने पुनः एक उत्तम सृष्टि की रचना का सङ्कल्प किया। सत्यसङ्कल्प भगवान् ने जब इस सर्ग-निर्माण का सङ्कल्प किया तब अव्यक्त का प्रादुर्भाव हुआ और उस अव्यक्त (प्रकृति) से अर्वाक्स्रोतस् नामक समस्त धर्म-कर्म संसाधक मानव-सर्ग निष्पन्न हुआ ॥ २४-२५ ॥

यस्मादर्व्वाग् व्यवर्तन्त ततोऽर्वाक्स्रोतसस्तु ते ।
ते च प्रकाशबहुलास्तमोद्रिक्ता रजोऽधिकाः ॥२६।
तस्मात् ते दुःखबहुला भूयोभूयश्च कारिणः ।
प्रकाशा बहिरन्तश्च मनुष्याः साधकाश्च ते ॥२७।
पञ्चमोऽनुग्रहः सर्गः स चतुर्द्धा व्यवस्थितः ।
विपर्य्ययेण सिद्धया च शान्त्या तुष्टया तथैव च॥२८।
निर्वृत्तं वर्तमानञ्च तेऽर्थं जानन्ति वै पुनः ।
भूतादिकानां भूतानां षष्ठः सर्ग स उच्यते ॥२९।
ते परिग्राहिणः सर्वे संविभागरतास्तथा ।
चोदनाश्चाप्यशीलाश्च ज्ञेया भूतादिकाश्च ते ॥३०।
प्रथमो महतः सर्गो विज्ञेयो ब्रह्मणस्तु सः ।
तन्मात्राणां द्वितीयस्तु भूतसर्गः स उच्यते ॥३१।

मानवसर्ग न तो ऊर्ध्व स्रोतःस्वरूप है और न तिर्यक् स्रोतःस्वरूप, जिसके कारण इसे अर्वाक्स्रोतस् का सर्ग कहा जाता है। इस सर्ग में उत्पन्न मनुष्ययोनि के प्राणियों में ज्ञान की प्रचुर मात्रा होती है, किन्तु तमोगुण भी प्रबल होता है और रजोगुण का भी आधिक्य होता है। इसी कारणवश, मानव-जीव दुःख का अनुभव करते हैं और निरन्तर विविध प्रकार के कार्यों में निरत रहते हैं। इस सर्ग में उत्पन्न जो मनुष्य नामक प्राणी हैं, उनमें भीतर और बाहर ज्ञान का आलोक रहा करता है और वे भगवान् के द्वारा निर्दिष्ट सभी कार्यों के साधक होते हैं ॥ २६-२७ ॥

पाँचवा जो सर्ग है जिसे अनुग्रह-सर्ग कहते हैं, वह चार रूपों अर्थात् मरणधर्मा मनुष्य से विपरीत स्थिति, समस्त कामनापूर्ति, आत्मशान्ति तथा आत्मसंतुष्टि में अव-स्थित है ॥ २८ ॥

इस सृष्टि में उत्पन्न जीव भूत तथा वर्तमान (एवं भावी) पदार्थों का ज्ञान रखने वाले होते हैं। इससे सर्वथा भिन्न जो षष्ठ सर्ग है वह पञ्चभूतों का सर्ग है और उनसे निष्पन्न भूतजात का सर्ग है ॥ २९ ॥

ये पञ्चभूत एक दूसरे के साथ आश्रयाश्रयिभाव से सम्बद्ध होते हैं, साथ ही साथ परस्पर अपने-अपने कार्यक्षेत्र के विभाजन में लगे रहते हैं, परस्पर एक दूसरे के प्रेरक होते हैं तथा अपने-अपने कार्यों के करने में उद्विग्न रहते हैं। इन्हें ही भूतादिक अथवा तामसिक सर्ग कहा जाता है ॥ ३० ॥

प्रथम सर्ग जो महत्तत्त्व का सर्ग है, वह साक्षात् (त्रिगुणातीत और त्रिगुणात्मक) ब्रह्म से आविर्भूत है। उनसे दूसरी सृष्टि, जो भूततन्मात्रापञ्चक की है, उसे भूतसर्ग कहते हैं ॥ ३१ ॥

वैकारिकस्तृतीयस्तु सर्गश्चैन्द्रियकः स्मृतः ।
इत्येष प्राकृतः सर्गः संभूतो बुद्धिपूर्वकः ॥३२।
मुख्यः सर्गश्चतुर्थस्तु मुख्या वै स्थावराः स्मृताः ।
तिर्य्यक्स्रोतस्तु यः प्रोक्तस्तिर्य्यग्योन्यः स पञ्चमः॥३३।
तथोर्ध्वस्रोतसां षष्ठो देवसर्गस्तु स स्मृतः ।
ततोऽर्वाक्स्रोतसां सर्गः सप्तमः स तु मानुषः ॥३४।
अष्टमोऽनुग्रहः सर्गः सात्त्विकस्तामसश्च सः ।
पञ्चैते वैकृताः सर्गाः प्राकृतास्तु त्रयः स्मृताः ॥३५।
प्राकृतो वैकृतश्चैव कौमारो नवमः स्मृतः ।
इत्येते वै समाख्याता नव सर्गाः प्रजापतेः ॥३६।

॥ इति श्री मार्कण्डेयपुराणे प्राकृतवैकृतसर्गो नाम सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

तृतीय सर्ग (सृष्टि) जिसे वैकारिक अथवा सात्त्विक कहते हैं, वह ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय—दस इन्द्रियों का सर्ग है। यह प्राकृतसर्ग है, जो बुद्धिपूर्वक निष्पन्न होता है ॥ ३२ ॥

चतुर्थ सर्ग, जिसे मुख्यसर्ग कहते हैं, स्थावर (वनस्पति-वानस्पत्यादि)पदार्थों की सृष्टि है, क्योंकि उन्हें ही (स्थूल सृष्टि की दृष्टि से) मुख्य कहा जाता है। पञ्चम सर्ग तिर्यक्स्रोतस् है, जिसमें पशु-पक्षी प्रभृति तिर्यग्योनि में जन्म के लिए प्राणी आते हैं ॥ ३३ ॥

षष्ठ सर्ग ऊर्ध्वस्रोतस् जीवों की सृष्टि है (और देवगण के ऊर्ध्वस्रोता कहे जाने के कारण) इसका नाम देवसर्ग है। सप्तम सर्ग अर्वाक्स्रोतः-स्वरूप जीवों का सर्ग है, जिसे मानुषसर्ग कहते हैं ॥ ३४ ॥

अष्टम सर्ग का नाम अनुग्रह-सर्ग है, जो कि सात्त्विक और तामसिक-दोनों प्रकारों का सर्ग है। इन अष्टविध सर्गों में पिछले पाँच सर्ग वैकृत सर्ग कहे जाते हैं और पहले के तीन सर्ग प्राकृत सर्ग माने जाते हैं ॥ ३५ ॥

इन तीन प्राकृत और पाँच वैकृत सर्गों के अतिरिक्त नवम सर्ग भी है, जिसे प्राकृत-वैकृत सर्ग अथवा कौमार सर्ग भी (ब्रह्मा के मानसपुत्रों का सर्ग) कहा गया है। इस प्रकार मैंने तुम्हें ब्रह्मा प्रजापति के नवसर्गों के सम्बन्ध में सब कुछ बता दिया ॥ ३६ ॥

पर्यालोचन

(क) इस अध्याय में नवविध सर्ग अथवा सृष्टि का वर्णन है। नवविध सर्ग में तीन प्रकार के सर्ग प्राकृत सर्ग बताए गये हैं और पांच प्रकार के सर्ग वैकृत सर्ग। एक और सर्ग है जो नवम सर्ग है, जिसका नाम कौमार सर्ग है। मार्कण्डेयपुराणकार का यह सर्ग-निरूपण सांख्यदर्शन के सर्ग-निरूपण से विलक्षण है, जिसका कारण यह है कि मार्कण्डेयपुराण की दृष्टि में सृष्टि-प्रक्रिया का सम्बन्ध मूल प्रकृति अथवा प्रधान से नहीं, अपितु परात्पर सच्चिदानन्दात्मक परब्रह्म से है, जो प्रकृति और पुरुष में अन्तर्व्याप्त है और दोनों का अन्तर्नियामक है। ब्रह्म ही वस्तुतः अपने बृंहण-सङ्कल्प से अपनी महामाया शक्ति से सम्बद्ध होता है और भूत-भौतिक किंवा चित्त-चैतसिक सर्ग के चक्र का सञ्चालक बन जाता है। प्रत्येक महाप्रलय के बाद सर्ग-प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, जिसका आदिकारण मायाशबलित ब्रह्म अथवा ब्रह्मशक्ति महामाया है। इस महामाया की ही महिमा से ब्रह्म ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव रूप में अपने आपको अवभासित करता है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव को त्रिदेव कहा जाता है, किन्तु अन्ततोगत्वा ये तीनों एक अनिर्देश्य, अवाङ्मनसगोचर परतत्त्व के ही विवर्त अथवा आभास हैं। सांख्यदर्शन का सत्त्वगुण ब्रह्मा की विशेषता है, रजोगुण विष्णु की विशेषता है और तमोगुण शिव अथवा रुद्र की विशेषता है। इससे यह स्पष्ट है कि पुराणसम्मत सर्गक्रम सांख्यदर्शन का अनुसरण नहीं करता, अपितु सांख्यदर्शन ही सर्गक्रम के सिद्धान्त में अपनी दृष्टि से पुराणप्रोक्त सर्ग-निरूपण का कुछ अंश अपना लेता है और कुछ अंश छोड़ देता है। इस दृष्टि से यदि इस अध्याय के ३१ वें श्लोक के अनुवाद को देखा जाय, जो चाहे पार्जिटर का हो, जो सर्वप्रथम अनुवाद है अथवा डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री का हो, जो नवीनतम अनुवाद है, तो ऐसा प्रतीत होता है मानों किसी भी अनुवादकार ने मार्कण्डेयपुराण के वास्तविक अभिप्राय पर मनन-चिन्तन नहीं किया है और जो अनुवाद किया है उसमें ४६ वें अध्याय के १६ वें तथा १७ वें श्लोकों का अभिप्राय भूलकर पूर्वापर प्रसङ्ग का परित्याग कर दिया है, जिससे अनुवाद में भ्रामकता उत्पन्न हो गई है। इस अध्याय का ३१ वां श्लोक निम्नलिखित है—

'प्रथमो महतः सर्गो विज्ञेयो ब्रह्मणस्तु सः।
तन्मात्राणां द्वितीयस्तु भूतसर्गः स उच्यते ॥

इस श्लोक का आचार्य बदरीनाथ शुक्ल, भूतपूर्व कुलपति-सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी द्वारा रचित 'मार्कण्डेयपुराण—एक अध्ययन' शीर्षक ग्रन्थ के पृष्ठ ८ पर निम्नलिखित अनुवाद द्रष्टव्य है—

'महान् ब्रह्मा की उत्पत्ति प्रथम अर्थात् ब्रह्मसर्ग है और तन्मात्र (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) की उत्पत्ति द्वितीय सर्ग है, जिसे भूतसर्ग कहा जाता है।

इस श्लोक के प्रायः सभी अन्य अनुवाद इसी प्रकार के हैं। जब मार्कण्डेय-पुराण के नवविध सर्ग-परिगणंन में 'ब्रह्मसर्ग' नामक प्रथम सर्ग का कोई नाम-निर्देश नहीं, तब यह निश्चित है कि इस श्लोक का अनुवाद भ्रामक है। यहाँ उल्लेखनीय है कि पुराणों का सर्गक्रम 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' की वैदिक-औपनिषदिक मान्यता की आधारशिला पर खड़ा है, जब कि सांख्य दर्शन का सर्गक्रम ब्रह्मनिरपेक्ष मूलप्रकृति की मान्यता पर खड़ा है। इसलिए 'प्रथमो महतः सर्गो विज्ञेयो ब्रह्मणस्तु सः' में महत्तत्त्व की सृष्टि का प्रारम्भ जगत् के जन्मादि के आदिकारण, सत्स्वरूप होने के नाते चिद्घन तथा चिद्घन होने के नाते आनन्दघन ब्रह्म के बृंहण-संकल्प से सम्बद्ध है, न कि अचेतन मूलप्रकृति से। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'महान् ब्रह्मा की उत्पत्ति प्रथम अथवा ब्रह्मसर्ग है' यह अनुवाद मार्कण्डेयपुराण की मान्यता के अनुसार युक्तिसङ्गत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि मार्कण्डेयपुराण में परिगणित नवविध सर्ग में 'ब्रह्मसर्ग' नामक सर्ग का परिगणन नहीं है।

(ख) इस अध्याय के १६ वें श्लोक में 'पञ्चपर्वा अविद्या' का जो वर्णन है, वह सांख्यकारिका तथा सांख्यतत्त्वकौमुदी (कारिका ४७) में निम्नलिखित रूप में है—

'पञ्च विपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात्।
अष्टाविंशतिभेदा　तुष्टिर्नवधाऽष्टधा　सिद्धिः॥'

'अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशा यथासंख्यं तमोमोहमहामोहतामिस्रान्धतामिस्र-संज्ञकाः पञ्च विपर्ययविशेषा विपर्ययप्रभवाणामस्मितादीनां विपर्ययस्वभावत्वात्, यद्वा यदविद्यया विपर्ययेणावधार्यते वस्तु अस्मितादयः तत्स्वभावाः सन्तस्तदभिनिविशन्ते। अत एव 'पञ्चपर्वा अविद्या' इत्याह भगवान् वार्षगण्यः।'

अर्थात् प्रत्ययसर्ग अथवा बुद्धिपूर्वक सर्ग से भिन्न जो पाँच विपर्यय अथवा अविद्या-पूर्वक सर्ग हैं, जिनमें—(१) अविद्या, (२) अस्मिता, (३) राग, (४) द्वेष तथा (५) अभिनिवेश आते है, उन्हीं को वार्षगण्य नामके सांख्यदर्शन के प्राचीन आचार्य ने 'पञ्चपर्वा-अविद्या' (वस्तुतः एक होने पर भी पांच शाखा वाली अविद्या) के नाम से स्मरण किया है। पुराणों में अविद्या को तमस्, अस्मिता को मोह, राग को महामोह, द्वेष को तामिस्र तथा अभिनिवेश को अन्धतामिस्र नाम से प्रतिपादित किया गया है, जैसा कि मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय के १५ वें श्लोक में स्पष्ट है।

सांख्यकारिका (संख्या ४८) की व्याख्या 'तत्त्वकौमुदी' में सर्वतन्त्रस्वतन्त्र श्री वाचस्पति मिश्र ने 'तमस्' प्रभृति पञ्चपर्वात्मक अविद्या का जो विशदीकरण किया है, जो कि मार्कण्डेयपुराण के अभिप्राय से बाहर नहीं है, वह इस प्रकार का है—

"तमसः अविद्याया अष्टविधः अष्टस्वव्यक्तमहदहङ्कारपञ्चतन्मात्रेष्वनात्मस्वात्मबुद्धिः अविद्या तमः, अष्टविधविषयत्वात्तस्याष्टविधत्वम्। 'मोहस्य च' इत्यत्रापि अष्टविधो भेद इति चकारेणानुषज्यते। देवा ह्यष्टविधमैश्वर्यमासाद्यामृतत्वाभिमानिनोऽणिमादिकमात्मीयं शाश्वतिकमभिमन्यन्त इति सेयमस्मिता मोहोऽष्टविधैश्वर्यविषयत्वात् 'अष्टविधः'। 'दशविधो महामोह' इति शब्दादिषु पञ्चसु दिव्यादिव्यतया दशविधेषु विषयेषु रञ्जनीयेषु रागः आसक्तिः महामोहः, स च दशविधविषयत्वाद् दशविधः। 'तामिस्रः' द्वेषः अष्टादशधा शब्दादयो दशविषया रञ्जनीयाः स्वरूपतः, ऐश्वर्यं त्वणिमादिकं न स्वरूपतो रञ्जनीयम्, किन्तु रञ्जनीयशब्दाद्युपायाः, ते च शब्दादय उपस्थिताः परस्परेणोपहन्यमानास्तदुपायाश्चाणिमादयः स्वरूपेणैव कोपनीया भवन्तीति शब्दादिभिर्दशभिः सहाणिमादिकमष्टादशधेति तद्विषयो द्वेषः तामिस्रोऽष्टादशविषयत्वादष्टादशधा इति। 'तथा भवत्यन्धतामिस्रः।' अभिनिवेशः अन्धतामिस्रः। 'तथा' इत्यनेन अष्टादशधा इत्यनुषज्यते। देवा खल्वणिमादिकमष्टविधमैश्वर्यमासाद्य दश शब्दादीन् विषयान् भुञ्जानाः 'शब्दादयो भोग्यास्तदुपायाश्चाणिमादयोऽस्माकमसुरादिभिर्मास्मोपघानिषत' इति बिभ्यति, तदिदं भयमभिनिवेशः अन्धतामिस्रोऽष्टादशविषयत्वात् 'अष्टादशधा' इति। सोऽयं पञ्चविकल्पो विपर्ययोऽवान्तरभेदाद् द्वाषष्टिरिति।"

इसका संक्षिप्त तात्पर्य यह है कि तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र जो कि क्रमशः अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश के प्राचीन संभवतः पौराणिक नाम हैं और पञ्चविकल्प विपर्ययरूप हैं, अवान्तर भेदों के कारण ६२ प्रकार के हो जाते हैं। यह पञ्चविकल्प विपर्यय अथवा पञ्चपर्वा अविद्या क्या देवलोक और क्या मानवलोक—सब पर प्रभावी है, सबको अपने वश में किए है।

(ग) सांख्यदर्शन के अनुसार पुरुषार्थरूप भोग की दृष्टि से भोग्य, भोगाधिकरण तथा भोगसाधन—ये तीन अपेक्षित हैं। भोग्य का अभिप्राय शब्दादिविषय, भोगाधिकरण का अभिप्राय स्थूल-सूक्ष्मरूप शरीर तथा भोगसाधन का अभिप्राय बाह्य एवं आभ्यन्तर करण है। शब्दादि रूप भोग तथा द्विविध शरीररूप भोगाधिकरण के लिए पञ्चतन्मात्र सर्ग अपेक्षित है और भोगसाधन के सम्पादन के लिए प्रत्यय सर्ग अपेक्षित है। इस द्विविध सर्ग के अतिरिक्त भूतादिसर्ग हैं, जिसमें— (१) ब्राह्म, (२) प्राजापत्य, (३) ऐन्द्र, (४) पैत्र, (५) गान्धर्व, (६) याक्ष, (७) राक्षस और (८) पैशाच—यह

अष्टविध दैवसर्ग है। 'तैर्यग्योन' सर्ग पाँच प्रकार का है, जिसमें पशु-मृग-पक्षी-सरीसृप तथा स्थावर—ये पाँच परिगणित किए जाते हैं। मानुष सर्ग एक प्रकार का ही है। यह भौतिक सर्ग, चैतन्य के उत्कर्ष-अपकर्ष के तारतम्य से ऊर्ध्व, अधः तथा मध्य भाव से तीन प्रकार का हो जाता है, जिसका निम्नलिखित सांख्यकारिका (संख्या ५४) में वर्णन किया हुआ है—

'ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः॥'

अर्थात् भूर्लोक में, जिसमें सप्तद्वीपा वसुन्धरा आ जाती है, पशुमृगादि में तमोगुण का उत्कर्ष रहता है और मनुष्य में रजोगुण का। भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक तथा तपोलोक में सत्त्वगुण का प्राबल्य होता है।

सांख्यदर्शन की लोकसृष्टिविषयक यही मान्यता मार्कण्डेयपुराण में पौराणिक शैली में प्रतिपादित है। यह भी सम्भव है कि पुराणप्रतिपादित सर्ग का ही सांख्यदर्शन में वैज्ञानिक वर्गीकरण किया गया हो।

॥ श्री मार्कण्डेयपुराण के 'प्राकृतवैकृत सर्ग' नामक ४७ वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त ॥

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

क्रौष्टुकिरुवाच—

समासात् कथिता सृष्टिः सम्यग् भगवता मम ।
देवादीनां भवं ब्रह्मन् विस्तरात्तु ब्रवीहि मे ॥१।

मार्कण्डेय उवाच—

कुशलाकुशलैर्ब्रह्मन् ! भाविता पूर्वकर्मभिः ।
ख्याता तथा ह्यनिर्मुक्ताः प्रलये ह्युपसंहृताः ॥२।
देवाद्याः स्थावरान्ताश्च प्रजा ब्रह्मंश्चतुर्विधाः ।
ब्रह्मणः कुर्वतः सृष्टिं जज्ञिरे मानसास्तदा ॥३।
ततो देवासुरान् पितॄन् मानुषांश्च चतुष्टयम् ।
सिसृक्षुरम्भांस्येतानि स्वमात्मानमयूयुजत् ॥४।
युक्तात्मनस्तमोमात्रा उद्रिक्ताऽभूत् प्रजापतेः ।
सिसृक्षोर्जघनात् पूर्वमसुरा जज्ञिरे ततः ॥५।

क्रौष्टुकि ने आगे कहा—

भगवन् ! आपने संक्षेप में, किन्तु समीचीन रूप से सृष्टि-क्रम का वर्णन कर दिया। अब, हे गुरुवर ! देवादि की उत्पत्ति के विषय में विस्तारपूर्वक मुझे बतावें ॥ १ ॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

द्विजवर क्रौष्टुकि ! पूर्वजन्मों में किए गये पुण्य-पाप के कर्मों के संस्कारों के फल-स्वरूप उत्पन्न जिन जीवों की मुक्ति नहीं हो सकी थी, उन सबका प्रलयकाल में संहार हो गया। उसके बाद जब ब्रह्मा प्रजापति सृष्टि करने लगे, तब देवादि स्थावर पर्यन्त चतुर्विध जोव उनकी मानस-सृष्टि के रूप में उत्पन्न हो गये ॥ २-३ ॥

जब यह मानस-सृष्टि हो गयी, तब अम्भःसंज्ञक देवगण, असुरगण, पितृगण, मानवगण की सृष्टि की इच्छा से ब्रह्मा ने अपने मन को समाहित किया ॥ ४ ॥

समाहितचित्त होने पर जब सृष्टि की इच्छा करने वाले ब्रह्मा प्रजापति में तमो-गुण की मात्रा प्रबल हो गयी, जिसके बाद उनके जघनभाग से सबसे पहले असुरगण का जन्म हुआ ॥ ५ ॥

उत्ससर्ज ततस्तान्तु तमोमात्रात्मिकां तनुम् ।
सापविद्धा तनुस्तेन सद्यो रात्रिरजायत ॥६।
अन्यां तनुमुपादाय सिसृक्षुः प्रीतिमाप सः ।
सत्त्वोद्रेकास्ततो देवा मुखतस्तस्य जज्ञिरे ॥७।
उत्ससर्ज च भूतेशस्तनुं तामप्यसौ विभुः ।
सा चापविद्धा दिवसं सत्त्वप्रायमजायत ॥८।
सत्त्वमात्रात्मिकामेव ततोऽन्यां जगृहे तनुम् ।
पितृवन्मन्यमानस्य पितरस्तस्य जज्ञिरे ॥९।
सृष्ट्वा पितृनुत्ससर्ज तनुं तामपि स प्रभुः ।
सा चोत्सृष्टाऽभवत् सन्ध्या दिननक्तान्तरस्थिता॥१०।
रजोमात्रात्मिकामन्यां तनुं भेजेऽथ स प्रभुः ।
ततो मनुष्याः सम्भूता रजोमात्रासमुद्भवाः ॥११।
सृष्ट्वा मनुष्यान् स विभुरुत्ससर्ज तनुं ततः ।
ज्योत्स्ना समभवत् सा च नक्तान्तेऽहर्मुखे च या॥१२।

उसके बाद ब्रह्मा प्रजापति ने अपने तमोबहुल शरीर का परित्याग कर दिया और जब उनका यह शरीर छूट गया, तब अविलम्ब रात्रि उत्पन्न हो गयी ॥ ६ ॥

उन्होंने पुनः सृष्टि करने की इच्छा से दूसरा शरीर धारण किया, जिससे उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और उनके मुख से सत्त्वगुण बहुल देववृन्द उत्पन्न हो गये ॥ ७ ॥

प्रजापति ब्रह्मा ने उस शरीर को भी छोड़ दिया और जब उनका वह शरीर उनसे पृथक् हो गया तो सत्त्वात्मक दिन उत्पन्न हो गया ॥ ८ ॥

तदनन्तर, उन्होंने सत्त्वगुणात्मक अन्य शरीर धारण किया और अपने आपको जगत्पिता मानने के नाते उनके उन शरीर से पितृगण का जन्म हुआ ॥ ९ ॥

पितृगण की सृष्टि करने के बाद प्रजापति ब्रह्मा ने अपने उस शरीर का भी परित्याग कर दिया और उनसे पृथक् हुए उनके उस शरीर से दिन और रात की मध्यवर्तिनी संध्या ने जन्म लिया ॥ १० ॥

तत्पश्चात् उन्होंने रजोगुणात्मक शरीर धारण किया और उनके उस शरीर से मनुष्यों की सृष्टि हुई, जिन्हें रजोमात्रा से समुद्भूत माना जाता है ॥ ११ ॥

मानव-सृष्टि करने के बाद ब्रह्मा ने अपने रजोमात्रात्मक शरीर का परित्याग कर दिया और उनके उस परित्यक्त शरीर से रात्रि के अवसान और दिन के आरम्भ की ज्योत्स्ना प्रभात-वेला का जन्म हुआ ॥ १२ ॥

इत्येतास्तनवस्तस्य देवदेवस्य धीमतः।
ख्याता रात्र्यहनी चैव सन्ध्या ज्योत्स्ना च वै द्विज।। १३।
ज्योत्स्ना सन्ध्या तथैवाहः सत्त्वमात्रात्मकं त्रयम्।
तमोमात्रात्मिका रात्रिः सा वै तस्मात् त्रियामिका ।।१४।
तस्माद् देवा दिवा रात्रावसुरास्तु बलान्विताः।
ज्योत्स्नागमे च मनुजाः सन्ध्यायां पितरस्तथा ।।१५।
भवन्ति बलिनोऽधृष्या विपक्षाणां न संशयः ।
तद्विपर्य्ययमासाद्य प्रयान्ति च विपर्य्ययम् ।।१६।
ज्योत्स्ना रात्र्यहनी सन्ध्या चत्वार्य्येतानि वै प्रभोः।
ब्रह्मणस्तु शरीराणि त्रिगुणोपश्रितानि तु ।।१७।
चत्वार्य्येतान्यथोत्पाद्य तनुमन्यां प्रजापतिः ।
रजस्तमोमयीं रात्रौ जगृहे क्षुत्तृडन्वितः ।।१८।

इस प्रकार देवाधिदेव, महाबुद्धि, ब्रह्मा प्रजापति के शरीर के रूप में रात्रि, दिन, संध्या और ज्योत्स्ना की लोकप्रसिद्धि प्रारम्भ हुई ॥ १३ ॥

इन चारों में ज्योत्स्ना (प्रभातवेला), सन्ध्या तथा दिन—ये तीन तो सत्त्वमात्रात्मक हैं और रात्रि तमोमात्रात्मिका है, जिसके कारण उसे त्रियामा कहा जाता है ॥ १४ ॥

इसीलिए दिन में देवगण अधिक प्रबल रहते हैं और रात्रि में असुरगण का बल बहुत बढ़ जाता है। जब ज्योत्स्ना (उषा-वेला) निकलती है तब मनुष्यों की शक्ति बढ़ जाती है और जब सन्ध्या होती है तो पितृगण शक्तिमान् हो जाते हैं ॥ १५ ॥

इसमें कोई सन्देह नहीं कि ज्योत्स्नागम में मनुष्यगण और संध्यागम में पितृगण बलशाली हो जाते हैं, जिसके कारण उनके शत्रु उन्हें पराभूत नहीं कर पाते। किन्तु कालविपर्यय हो जाने पर इन दोनों (मनुष्यों और पितरों) की शक्ति में विपर्यय हो जाता है ॥ १६ ॥

वस्तुतः ज्योत्स्ना, रात, दिन तथा संध्या—ये चारों सर्वेश्वर ब्रह्मा के त्रिगुणात्मक शरीर रूप हैं ॥ १७ ॥

इन चारों को उत्पन्न कर चुकने पर क्षुधा तथा तृषा से युक्त प्रजापति ब्रह्मा ने रात्रि में अन्य शरीर धारण किया, जो रजस्तमोमय था ॥ १८ ॥

तदन्धकारे क्षुत्क्षामानसृजद् भगवानजः ।
विरूपान् श्मश्रुलानत्तुमारब्धास्ते च तां तनुम् ॥१९।
रक्षाम इति तेभ्योऽन्ये य ऊचुस्ते तु राक्षसाः ।
खादाम इति ये चोचुस्तें यक्षा यक्षणात् द्विज ॥२०।
तान् दृष्ट्वा ह्यप्रियेणास्य केशाः शीर्य्यन्त वेधसः ।
समारोहणहीनाश्च शिरसो ब्रह्मणस्तु ते ॥२१।
सर्पणात्तेऽभवन् सर्पा हीनत्वादहयः स्मृताः ।
सर्पान् दृष्ट्वा ततः क्रोधात् क्रोधात्मानो विनिर्ममे ॥२२।
वर्णेन कपिलेनोग्रास्ते भूताः पिशिताशनाः ।
ध्यायतो गां ततस्तस्य गन्धर्वा जज्ञिरे सुताः ॥२३।

अनादि प्रजापति ब्रह्मा ने, उस संतमसावृत रात्रि में, ऐसे जीवों की सृष्टि की जो भूख-प्यास से विह्वल बने रहते थे, अत्यन्त कुरूप थे और बहुत बढ़ी दाढ़ी-मूंछ वाले थे। उत्पन्न होने के बाद इन जीवों ने अपने जनक ब्रह्मा के शरीर का भक्षण करना प्रारम्भ कर दिया ॥ १९ ॥

इन जीवों में, जिन्होंने, ब्रह्मा के उस रजस्तमोमय शरीर का भक्षण करने वालों से यह कहा कि 'वे ब्रह्मा के शरीर की रक्षा करेंगे' वे राक्षस कहलाए और जिन्होंने यह कहा कि 'वे ब्रह्मा के शरीर का यक्षण अथवा भक्षण कर लेंगे' वे यक्ष कहे गये,·क्योंकि यक्ष वे जीव हैं जो यक्षण अथवा भक्षण करने वाले हैं ॥ २० ॥

ऐसे जीवों को उत्पन्न देखकर प्रजापति ब्रह्मा बड़े दुःखी हुए और उनके सिर के केश टूट-टूट कर नीचे गिर पड़े और फिर वे केश उनके सिर पर नहीं चढ़ सके ॥ २१ ॥

इसीलिए ब्रह्मा के सिर के ये केश इधर-उधर सर्पण अथवा सरकते चलने के कारण सर्परूप में उत्पन्न हुए। सर्प को जो 'अहि' कहा जाता है, वह इसीलिए कहा जाता है, क्योंकि ब्रह्मा के सिर के केश जो गिरे और सर्परूप में परिणत हो गये वे पुनः उनके सिर पर समारोहण के सामर्थ्य में हीन हो गये। इन सर्पों अथवा अहिगण को देखकर ब्रह्मा प्रजापति क्रोधाविष्ट हो गये और उन्होंने ऐसे जीवों की सृष्टि प्रारम्भ कर दी जो महाक्रोधी-साक्षाद् क्रोधमूर्ति थे ॥ २२ ॥

ये महाक्रोधी जीव ऐसे थे जो कपिल वर्ण के थे, बड़े उग्र स्वभाव के थे और मांसभक्षी थे। ब्रह्मा ने वाक् अथवा वाणी का ध्यान किया और उनके इस ध्यान से उनके जो पुत्र हुए वे गन्धर्व कहलाये ॥ २३ ॥

जज्ञिरे पिबतो वाचं गन्धर्वास्तेन ते स्मृताः ।
अष्टास्वेतासु सृष्टासु देवयोनिषु स प्रभुः ॥२४।
ततः स्वदेहतोऽन्यानि वयांसि पशवोऽसृजत् ।
मुखतोऽजाः ससर्ज्जाथ वक्षसश्चावयोऽसृजत् ॥२५।
गावश्चैवोदराद् ब्रह्मा पार्श्वाभ्याञ्च विनिर्ममे ।
पद्भ्याञ्चाश्वान् स मातङ्गान् रासभान् शशकान् मृगान्॥२६।
उष्ट्रानश्वतरांश्चैव नानारूपाश्च जातयः ।
ओषध्यः फलमूलिन्यो रोमभ्यस्तस्य जज्ञिरे ॥२७।
एवं पश्वोषधीः सृष्ट्वा ह्ययजच्चाध्वरे विभुः ।
तस्मादादौ तु कल्पस्य त्रेतायुगमुखे तदा ॥२८।
गौरजः पुरुषो मेषो अश्वाश्वतरगर्दभाः ।
एतान् ग्राम्यान् पशूनाहुरारण्यांश्च निबोध मे ॥२९।
श्वापदं द्विखुरं हस्ती वानराः पक्षिपञ्चमाः ।
औदकाः पशवः षष्ठाः सप्तमास्तु सरीसृपाः ॥३०।

अथवा ऐसे भी मान सकते हैं कि ब्रह्मा प्रजापति ने (धेनुरूपा) वाग्देवी का जो दुग्धामृत पान किया अथवा उसने कण्ठ से सङ्गीत ध्वनि की, उसके बाद उनसे जो उत्पन्न हुए वे ही गन्धर्व कहे गये। इन अष्टविध देवयोनियों में, जिनकी सृष्टि हुई, वही हिरण्यगर्भ ब्रह्मा प्रजापति अन्तर्नियामक रूप से अन्तर्व्याप्त हैं। उसके बाद उन्होंने अपने शरीर से अन्य पशु-पक्षी आदि जीवों की सृष्टि की। जैसे कि अपने मुख से अज अथवा बकरों की सृष्टि की, अपने वक्षःस्थल से अवि अथवा भेड़ों की सृष्टि की, अपने उदर से गौ की सृष्टि की और अपने दोनों पार्श्वभागों तथा दोनों चरणों से घोड़े, हाथी, गधे, खरहे, हिरण, ऊंट और खच्चर आदि पशुओं की सृष्टि की तथा उनकी रोमराशि से फल और मूल वाली नानाभांति की ओषधियों की सृष्टि हुई॥ २४-२७ ॥

इस प्रकार पशुओं और ओषधियों की सृष्टि कर लेने के बाद स्वयंभू सर्वेश्वर ब्रह्मा ने यज्ञ किया, जिसका अनुष्ठान इस कल्प के आदिकाल में, त्रेतायुग के प्रारम्भ में हुआ। ब्रह्मा प्रजापति ने जिन पशुओं की सृष्टि की उनमें गौ, बकरे, भेड़े, घोड़े, खच्चर और गधे—ये सब ऐसे पशु हैं, जिन्हें ग्राम्यपशु कहते हैं, क्योंकि लोग इन्हें पालते-पोसते हैं। अब जो वन्य-पशु हैं, उनके विषय में सुनो-समझो। वन्य-पशुओं में ये पशु आते हैं— (१) अन्य वन्यपशुओं को मार कर खाने वाले सिंह, व्याघ्र, चीते आदि, (२) दो खुर वाले पशु, (३) हाथी, (४) वन्दर, (५) नाना प्रकार के गिद्ध-चील प्रभृति पक्षी, (६) जल में रहने वाले मगर आदि जानवर, (७) रेंगने वाले सांप-बिच्छू आदि जन्तु॥ २८-३० ॥

गायत्रीञ्च ऋचञ्चैव त्रिवृत् सोमं रथन्तरम् ।
अग्निष्टोमञ्च यज्ञानां निर्म्ममे प्रथमान्मुखात् ॥३१॥
यजूंषि त्रैष्टुभं छन्दः स्तोमं पञ्चदशन्तथा ।
बृहत् साम तथोक्थञ्च दक्षिणादसृजन्मुखात् ॥३२॥
सामानि जगतीच्छन्दः स्तोमं पञ्चदशन्तथा ।
वैरूपमतिरात्रञ्च निर्ममे पश्चिमान्मुखात् ॥३३॥
एकविंशमथर्व्वाणमाप्तोर्य्यामाणमेव च ।
अनुष्टुभं सवैराजमुत्तरादसृजन्मुखात् ॥३४॥
विद्युतोऽशनिमेघाश्च रोहितेन्द्रधनूंषि च ।
वयांसि च ससर्ज्जादौ कल्पस्य भगवान् विभुः ॥३५॥
उच्चावचानि भूतानि गात्रेभ्यस्तस्य जज्ञिरे ।
सृष्ट्वा चतुष्टयं पूर्वं देवासुरपितॄन् प्रजाः ॥३६॥
ततोऽसृजत् स भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
यक्षान् पिशाचान् गन्धर्व्वांस्तथैवाप्सरसाङ्गणान्॥३७॥

चतुर्मुख ब्रह्मा ने अपने प्रथम मुख से गायत्री, ऋग्वेद, त्रिवृत्सोम (स्तोत्र साधन-भूत ऋचाओं का समूह) रथन्तर साम और यज्ञों में अग्निष्टोम (सोमयाग संस्था विशेष)—इन सब की सृष्टि की ॥ ३१ ॥

अपने दक्षिण मुख से उन्होंने यजुर्वेद, त्रिष्टुप् छन्द, पञ्चदशस्तोत्र, बृहत्साम तथा उक्थ (सोमयाग संस्था विशेष) उत्पन्न किए ॥ ३२ ॥

उनके पश्चिम मुख से सामवेद के गेय मन्त्र, जगती छन्द १५ मन्त्रात्मक स्तोम वैरूप साम तथा अतिरात्र (सात सोमसंस्थ याग का एक भाग विशेष) उत्पन्न हुए ॥३३॥

उन्होंने अपने उत्तर मुख से २१ स्तोम, आथर्वण वेद आप्तोर्याम (सोमसंस्था) तथा विराट् छन्द के साथ-साथ (अथवा वैराजसाम के साथ-साथ) अनुष्टुप् छन्द की उत्पत्ति की ॥ ३४ ॥

भगवान् प्रजापति ब्रह्मा ने, कल्प के आरम्भ में, विद्युत्, वज्र, मेघ, रङ्गविरङ्ग के इन्द्रधनुष तथा नाना प्रकार के पक्षियों की सृष्टि की ॥ ३५ ॥

उनके शरीर से और भी उत्कृष्ट-निकृष्ट नानाप्रकार के जीव-जन्तु उत्पन्न हुए। देव-असुर-पितर तथा मनुष्य रूप चतुर्विध जीवों की सृष्टि उन्होंने इसके पहले ही कर दी थी। इस चतुर्विध देवादि-सृष्टि के बाद उन्होंने नाना प्रकार के चर-अचर जीव उत्पन्न किए। इनके अतिरिक्त यक्ष, पिशाच, गन्धर्व, देवाङ्गनावृन्द, नर, किन्नर, राक्षस,

नरकिन्नररक्षांसि वयःपशुमृगोरगान् ।
अव्ययञ्च व्ययञ्चैव यदिदं स्थाणुजङ्गमम् ।।३८।

तेषां ये यानि कर्माणि प्राक् सृष्टेः प्रतिपेदिरे ।
तान्येव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः ।।३९।

हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते ।
तद्भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात्तत्तस्य रोचते ।।४०।

इन्द्रियार्थेषु भूतेषु शरीरेषु च स प्रभुः ।
नानात्वं विनियोगञ्च धातैव व्यदधात् स्वयम् ।।४१।

नाम रूपञ्च भूतानां कृत्यानाञ्च प्रपञ्चनम् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनाञ्चकार सः ।।४२।

ऋषीणां नामधेयानि याश्च देवेषु सृष्टयः ।
शर्वर्य्यन्ते प्रसूतानामन्येषाञ्च ददाति सः ।।४३।

पक्षी, पशु, वन्यजीव तथा सर्प—ये सब उन्हीं से उत्पन्न हुए। इस प्रकार इस जगत् में जो भी स्थावर और जङ्गम तथा स्थायी (प्रवाह नित्य) और अस्थायी (नश्वर) पदार्थ हैं, वे सब उन्हीं प्रजापति ब्रह्मा की सृष्टि हैं ॥ ३६-३८ ॥

इन समस्त जीव-जन्तुओं के, पूर्व सृष्टि में, जो भी धर्म-कर्म थे, वे ही सृष्टि-परम्परा में उन जीव-जन्तुओं के लिए निर्धारित धर्म-कर्म रहा करते हैं ॥ ३९ ॥

ब्रह्मा प्रजापति को इस बात से प्रसन्नता होती है कि उनके द्वारा उत्पादित जीव-जन्तु हिंस्र और अहिंस्र, मृदु और क्रूर, धर्म और अधर्म तथा सत्य और असत्य स्वभाव के अपने-अपने अनुकूल धर्म-कर्मों में प्रवृत्तिशील रहते हैं ॥ ४० ॥

वस्तुतः सृष्टिकर्ता ब्रह्मा प्रजापति ने ही समस्त जीव-जन्तुओं के इन्द्रिय-गोचर पदार्थ, इन्द्रियों के विषय भोग तथा विभिन्न शरीरों में विभिन्नता तथा विविध प्रकार की कर्मकुशलता भी उत्पन्न की ॥ ४१ ॥

भूतजात के नाम और रूप, समस्त जीववर्ग के धर्म-कर्म-प्रपञ्च तथा देववर्ग के भी नाम-रूपादि उन्हीं के द्वारा वेद के शब्दों के आधार पर, सृष्टि के आदि में ही, बनाए गये ॥ ४२ ॥

उन्होंने ही ऋषिगण को उनके नाम प्रदान किए, उन्होंने ही देव-सर्ग के देवों के नाम निर्धारित किए तथा ब्राह्मरात्रि के अन्त में उत्पन्न समस्त जीव-जन्तुओं के जो भी नामादि हैं, वे उन्हीं के द्वारा प्रदत्त हैं ॥ ४३ ॥

यथर्त्तावृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्य्यये ।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ॥४४।
एवंविधाः सृष्टयस्तु ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः ।
शर्वर्य्यन्ते प्रबुद्धस्य कल्पे कल्पे भवन्ति वै ॥४५।

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे सृष्टिप्रकरणनामाष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ।

जैसे भिन्न-भिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न ऋतु-चिह्न प्रकट होते हैं तथा ऋतुपरिवर्तनों में उनमें भी परिवर्तन होते हैं, वैसे ही युग के आरम्भ में उत्पन्न समस्त जागतिक पदार्थों में उनके अपने-अपने चिह्न तथा अपने-अपने रूप में परिवर्तित हुआ करते हैं ॥ ४४ ॥

ब्राह्मरात्रि का अवसान हो जाने पर, प्रत्येक कल्प में जागृत अवस्था में विराजमान प्रजापति ब्रह्मा की यही सृष्टि परम्परा है (जिसका मैंने वर्णन किया है) ॥ ४५ ॥

❋

पर्यालोचन

(क) सर्ग अथवा जगत् की सृष्टि का वर्णन समस्त महापुराणों की प्रमुख विशेषता है। मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय में पूर्वाध्याय से सर्गक्रम का वर्णन किया गया है। पुराण-सम्मत सर्गक्रम आधुनिक अतिप्रगतिशील विज्ञान के द्वारा प्रमाणित नहीं हो सकता, क्योंकि विज्ञान केवल पञ्चभूततत्त्व के विवेक-विश्लेषण और उससे प्राप्त ज्ञान के बल पर प्रलयङ्कर अस्त्र-शस्त्रों के आविष्कार में लगा है, जब कि पुराण-सम्मत सर्गक्रम परात्पर ब्रह्मात्मतत्त्व से प्रारम्भ होता है और परात्पर ब्रह्मात्मभाव की साधना और भावना में समाप्त होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रतिपादित जगत्सृष्टि के बहुत से सिद्धान्त वेद-पुराण में सांकेतिक भाषा में प्रतिपादित हैं। वैदिक-पौराणिक युग में आर्षदृष्टि से सब कुछ देखा गया था। पुराणों में ही यह प्रतिपादित है कि आर्षदृष्टि क्रमशः लुप्त होती गई। आर्षदृष्टि का स्थान चर्मचक्षु तथा उसके सहायक उपकरणों ने ले लिया। इनकी जहाँ तक गति-सीमा हो सकती है वहाँ तक आधुनिक विज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता चला जा रहा है। यह सब पौराणिक भाषा में कालधर्म कहा जाता है। इसे विश्वव्यापी मान्यता मिल रही है। मिलनी भी चाहिए। किन्तु इससे यह निर्णय नहीं कर लेना चाहिये कि वेद-पुराण-सम्मत अध्यात्मदृष्टि अथवा आर्षदृष्टि हेय है। मानव यदि अपना आध्यात्मिक उत्थान कर सके तो उसे आर्षदृष्टि की प्राप्ति अवश्य हो सकती है, जिसके बलपर वह सर्व-साधारण के लिए अदृष्ट अथवा अदृश्य सत्ता की अनुभूति में समर्थ हो सकता है और उसके हृदय में वेद-पुराण-सम्मत परतत्त्व में विश्वास दृढ़मूल हो सकता है। जब जगत् की सृष्टि हुई है तब उसकी प्रतिसृष्टि अथवा उसका प्रलय तो अवश्यंभावी है। यह प्रलय आज का विज्ञान करे अथवा प्राकृतिक नियम करे—बात परिणाम की दृष्टि से एक सी ही है।

(ख) इस अध्याय का ४० वाँ श्लोक उद्धरणीय है—

'हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते ।
तद्भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात्तत् तस्य रोचते ॥'

इस श्लोक के परिप्रेक्ष्य में मनुस्मृति (अध्याय १.२९) का निम्नलिखित श्लोक भी द्रष्टव्य है—

'हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते ।
यद् यस्य सोऽदधात् सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत् ॥'

ऐसा प्रतीत होता है मानों मार्कण्डेयपुराणकार मनुस्मृति के सृष्टिवर्णन को अपने स्मृति-कोश में सुरक्षित रखे हुए हैं। मार्कण्डेयपुराण के उपर्युक्त ४० वें श्लोक तथा मनुस्मृति के उपर्युक्त प्रथमाध्याय के २९ वें श्लोक का तात्पर्य एक ही है। दोनों में प्राणिमात्र के पुनर्जन्म, पुनर्जन्म-प्रवाह के मूलस्रोत पाप-पुण्यकर्म तथा तदनुसार सर्गक्रम का प्रतिपादन स्पष्टतया परिलक्षित होता है।

मनुस्मृति का निम्नोद्धृत श्लोक (१.२१) देखिये—

'सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥'

और इस श्लोक के साथ मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय के ४२ वें श्लोक के शब्दार्थ-साम्य पर ध्यान दीजिए—

'नामरूपं च भूतानां कृत्यानाञ्च प्रपञ्चनम् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकार सः ॥'

इससे यह स्पष्ट है कि मनुस्मृति-प्रतिपादित सर्ग मार्कण्डेयपुराण के सर्ग-निरूपण का आधार है ।

मनुस्मृति का ही निम्नांकित श्लोक (१.३०) भी द्रष्टव्य है—

'यथर्तुलिङ्गान्यृतवः स्वयमेवर्तुपर्यये ।
स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः ॥'

अर्थात् जैसे ऋतुओं के परिवर्तन के साथ-साथ उनके विविध कुसुमोद्भव प्रभृति चिह्नों में भी परिवर्तन स्वाभाविक है, वैसे ही शरीरी जीव का भी पूर्वजन्मार्जित पाप-पुण्य के अनुसार अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त होना स्वाभाविक है ।

मार्कण्डेयपुराण के इसी अध्याय का निम्नाङ्कित ४४ वां श्लोक मनुस्मृति के उपर्युक्त श्लोक (१.३०) का रूपान्तर प्रतीत होता है—

'यथर्त्तावृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये ।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ॥'

(ग) ऐतिह्यक्रम की दृष्टि से प्राचीन 'विष्णुपुराण' का यह श्लोक-सन्दर्भ (अध्याय ५ २६-६५) उद्धरणीय है—

'कर्मभिर्भाविताः पूर्वैः कुशलाकुशलैस्तु ताः ।
ख्यात्या तया ह्यनिर्मुक्ताः संहारे ह्युपसंहृताः ॥

स्थावरान्ताः सुराद्यास्तु प्रजा ब्रह्मंश्चतुर्विधाः ।
ब्रह्मणः कुर्वतः सृष्टिं जज्ञिरे मानसास्तु ताः ॥

ततो देवासुरपितॄन् मानुषांश्च चतुष्टयम् ।
सिसृक्षुरम्भांस्येतानि स्वमात्मानमयूयुजत् ॥

युक्तात्मनस्तमोमात्रा उद्रिक्ताऽभूत् प्रजापते ।
सिसृक्षोर्जघनात् पूर्वमसुरा जज्ञिरे ततः ॥

उत्ससर्ज ततस्तान्तु तमोमात्रात्मिकां तनुम् ।
सा तु त्यक्ता ततस्तेन मैत्रेयाऽभूद् विभावरी ॥

सिसृक्षुरन्यदेहस्थः प्रीतिमाप ततः सुराः ।
सत्त्वोद्रिक्ताः समुद्भूता मुखतो ब्रह्मणो द्विज ॥

त्यक्ता तु सा तनुस्तेन सत्त्वप्रायमभूद् दिनम् ।
ततो हि बलिनो रात्रावसुरा देवता दिवा ॥

सत्त्वमात्रात्मिकामेव ततोऽन्यां जगृहे तनुम् ।
पितृवन्मन्यमानस्य पितरस्तस्य जज्ञिरे ॥

उत्ससर्ज पितॄन् सृष्ट्वा ततस्तामपि स प्रभुः ।
सा चोत्सृष्टाऽभवत् सन्ध्या दिननक्तान्तरस्थितिः ॥

रजोमात्रात्मिकामन्यां जगृहे स तनुं ततः ।
रजोमात्रोत्कटा जाता मनुष्या द्विजसत्तम ॥

तामप्याशु स तत्याज तनुं सद्यः प्रजापतिः ।
ज्योत्स्ना समभवत् सापि प्राक्सन्ध्या याऽभिधीयते ॥

ज्योत्स्नायामेव बलिनो मनुष्याः पितरस्तथा ।
मैत्रेय सन्ध्यासमये तस्मादेते भवन्ति वै ॥

ज्योत्स्ना रात्र्यहनी सन्ध्या चत्वार्येतानि वै प्रभोः ।
ब्रह्मणस्तु शरीराणि त्रिगुणोपाश्रयाणि तु ॥

रजोमात्रात्मिकामेष ततोऽन्यां जगृहे तनुम् ।
ततः क्षुद् ब्रह्मणो जाता जज्ञे कोपस्तया ततः ॥

क्षुत्क्षामानन्धकारेऽथ सोऽसृजद् भगवांस्ततः ।
विरूपाः श्मश्रुला जातास्तेऽभ्यधावंस्ततः प्रभुम् ॥

मैवं भो रक्ष्यतामेष यैरुक्तं राक्षसास्तु ते ।
ऊचुः खादाम इत्यन्ये ये ते यक्षास्तु जक्षणात् ॥

अप्रियानथ तान् दृष्ट्वा केशाः शीर्यन्त वेधसः ।
हीनाश्च शिरसो भूयः समारोहन्त तच्छिरः ॥

सर्पणात्तेऽभवन् सर्पाः हीनत्वादहयः स्मृताः ।
ततः क्रुद्धो जगत्स्रष्टा क्रोधात्मनो विनिर्ममे ॥

वर्णेन कपिशेनोग्रा भूतास्ते पिशिताशनाः ।
धयन्तो गां समुत्पन्ना गन्धर्वास्तस्य तत्क्षणात् ॥

पिबन्तो जज्ञिरे वाचं गन्धर्वास्तेन ते द्विज ।
एतानि स्रष्ट्वा भगवान् ब्रह्मा तच्छक्तिनोदितः ॥

ततः स्वच्छन्दतोऽन्यानि वयांसि वयसोऽसृजत् ।
अवयो वक्षसश्चक्रे मुखतोऽजाः स सृष्टवान् ॥

सृष्टवानुदराद् गाश्च पार्श्वभ्यां च प्रजापतिः ।
पद्भ्यामश्वान् स मातङ्गान् शरभान् गवयान् मृगान् ॥

उष्ट्रानश्वतरांश्चैव न्यङ्कूनन्यांश्च जातयः ।
ओषध्यः फलमूलिन्यो रोमभ्यस्तस्य जज्ञिरे ॥

त्रेतायुगमुखे ब्रह्मा कल्पस्यादौ द्विजोत्तम ।
सृष्ट्वा पश्वोषधीः सम्यग् युयोज स तदाध्वरे ॥

गौरजः पुरुषा मेषा अश्वा अश्वतराः खराः ।
एतान् ग्राम्यान् पशून् प्राहुरारण्यांश्च निबोध मे ॥

श्वापदो द्विखुरो हस्ती वानरः पक्षिपञ्चमः ।
औदकाः पशवः षष्ठाः सप्तमास्तु सरीसृपाः ॥

गायत्रं च ऋचश्चैव त्रिवृत्स्तोमं रथन्तरम् ।
अग्निष्टोमञ्च यज्ञानां निर्ममे प्रथमान्मुखात् ॥

यजूंषि त्रैष्टुभं छन्दस्तोमं सप्तदशं तथा ।
वैरूपमतिरात्रं च पश्चिमादसृजन्मुखात् ॥

एकविंशमथर्वाणमाप्तोर्यामाणमेव च ।
अनुष्टुभं च वैराजमुत्तरादसृजन्मुखात् ॥

उच्चावचानि भूतानि गात्रेभ्यस्तस्य जज्ञिरे ।
देवासुरपितॄन् सृष्ट्वा मनुष्यांश्च प्रजापतिः ॥

ततः पुनः ससर्जादौ स कल्पस्य पितामहः ।
यक्षान् पिशाचान् गन्धर्वांस्तथैवाप्सरसां गणान् ॥

नरकिन्नररक्षांसि वयःपशुमृगोरगान् ।
अव्ययं च व्ययं चैव यदिदं स्थाणुजङ्गमम् ॥

तत् ससर्ज तदा ब्रह्मा भगवानादिकृद् विभुः ।
तेषां ये यानि कर्माणि प्राक् सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे ॥

तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः ।
हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते ।
तद्भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात्तत् तस्य रोचते ॥

इन्द्रियार्थेषु भूतेषु शरीरेषु च स प्रभुः ।
नानात्वं विनियोगञ्च धातैव व्यसृजत् स्वयम् ॥

नाम रूपं च भूतानां कृत्यानाञ्च प्रपञ्चनम् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकार सः ॥

ऋषीणां नामधेयानि यथावेदश्रुतानि वै।
यथानियोगयोग्यानि सर्वेषामपि सोऽकरोत्॥
यथर्त्तावृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु॥
करोत्येवंविधां सृष्टिं कल्पादौ स पुनः पुनः।
सिसृक्षाशक्तियुक्तोऽसौ सृज्यशक्तिप्रचोदितः॥'

इस श्लोक-सन्दर्भ पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मार्कण्डेयपुराण का यह अध्याय विष्णुपुराण की सर्गविषयक मान्यता से ही प्रभावित नहीं, अपितु सर्गनिरूपक शब्दार्थयोजना से भी पूर्णतया प्रभावित है। मनुस्मृति की छाप जैसे हम पहले मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय के श्लोकों पर देख चुके हैं, वैसे ही विष्णुपुराण के भी कुछ श्लोकों पर स्पष्ट दिखाई देती है।

(घ) इस अध्याय का चतुर्थ श्लोक इस प्रकार का है—

'ततो देवासुरान् पितॄन् मानुषांश्च चतुष्टयम्।
सिसृक्षुरम्भांस्येतानि स्वमात्मानमयूयुजत्॥'

इस श्लोक का श्री पार्जिटर-कृत अंग्रेजी अनुवाद निम्नलिखित है—

'Then being desirous of creating the four classes of beings namely, the gods, the Asuras and the Pitris and mankind, he infused himself in (for united himself with) the waters.'

'अर्थात् देव-असुर-पितृगण तथा मानव जाति के जीवों की सृष्टि करने के इच्छुक ब्रह्मा ने अपने आपको जल से संयुक्त कर दिया।'

इस श्लोक का इसी प्रकार का अनुवाद मार्कण्डेयपुराण के हिन्दी-अनुवाद वाले संस्करणों में दिखाई देता है, जैसे कि श्यामकाशी प्रेस मथुरा से सन् १९४१ में प्रकाशित श्रीवृन्दावनदास के भाषाटीका सहित मार्कण्डेयपुराण के संस्करण के नीचे लिखे अनुवाद से स्पष्ट है—

'इसके अनन्तर देवता-असुर-पितर और मनुष्य—इन चार प्रकार की सृष्टि रचने की इच्छा से ब्रह्मा ने जल के साथ अपनी आत्मा को जोड़ दिया।'

मार्कण्डेयपुराण के, १९८३ में, साहित्य भण्डार, मेरठ से प्रकाशित डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री-कृत अनुवाद में, जो निम्नलिखित है, यही बात दिखायी देती है—

'तब सुर, असुर, पितृगण और मनुष्य इन चार प्रकार की सृष्टि के सृजन की इच्छा से, उन्होंने, अपने अंश को जल में प्रक्षिप्त किया।'

डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री के अनुवाद में यह पता नहीं चलता कि 'अपने अंश' का अर्थ मार्कण्डेयपुराण के श्लोक के किस शब्द का अर्थ अथवा अभिप्राय है।

वस्तुतः अंग्रेजी और हिन्दी के इस श्लोक के सभी अनुवाद 'अम्भांसि' इस श्रुति-पद के अर्थ से अपरिचित हैं। श्री श्रीधर स्वामी के विष्णुपुराण के पञ्चम अध्याय के २८ वें श्लोक में निम्नलिखित श्रुतिवचन उद्धृत है—

'तानि वा एतानि चत्वार्यम्भांसि देवा मनुष्या पितरोऽसुराः' इस श्रुतिवचन से यह सिद्ध है कि देव-मनुष्य-पितृगण तथा असुर—इन चारों की 'अम्भस्' संज्ञा है अथवा इन चारों का नाम 'अम्भस्' है। मार्कण्डेयपुराण के ४ थे श्लोक में 'अम्भांसि' शब्द इसी श्रुतिवचन का शब्द है। अनुवादकारों ने 'अम्भांसि' शब्द को 'अम्भसि' शब्द के रूप में मान लिया है और इसीलिए इस श्लोक के अंग्रेजी और हिन्दी के अनुवाद भ्रामक सिद्ध होते हैं।

॥ श्री मार्कण्डेयपुराण के 'सृष्टिप्रकरण' नामक ४८ वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त ॥

ऊनपञ्चाशोऽध्यायः

कौष्टुकिरुवाच—

अर्व्वाक्स्रोतस्तु कथितो भवता यस्तु मानुषः ।
ब्रह्मन् ! विस्तरतो ब्रूहि ब्रह्मा समसृजद्यथा ॥१॥
यथा च वर्णानसृजद्यद् गुणांश्च महामते ।
यच्च येषां स्मृतं कर्म विप्रादीनां वदस्व तत् ॥२॥

मार्कण्डेय उवाच—

ब्रह्मणः सृजतः पूर्वं सत्याभिध्यायिनस्तथा ।
मिथुनानां सहस्रन्तु मुखात् सोऽथासृजन्मुने ॥३॥
जातास्ते ह्युपपद्यन्ते सत्त्वोद्रिक्ताः स्वतेजसः ।
सहस्रमन्यद्वक्षस्तो मिथुनानां ससर्ज ह ॥४॥
ते सर्वे रजसोद्रिक्ताः शुष्मिणश्चाप्यमर्षिणः ।
ससर्जान्यत् सहस्रन्तु द्वन्द्वानामूरुतः पुनः ॥५॥

क्रौष्टुकि ने पूछा—

भगवन् ! आपने अर्वाक्स्रोतस् मानुष-सृष्टि के विषय में संक्षेप में कहा । अब महामति गुरुवर ! विस्तार के साथ बतावें कि ब्रह्मा प्रजापति ने कैसे यह मानुष की सृष्टि की ? कैसे चातुर्वर्ण्य की सृष्टि हुई, क्या चातुर्वर्ण्य के गुण हैं ? और ब्राह्मणादि चारों वर्णों के क्या धर्म-कर्म हैं ? ॥ १-२ ॥

महामुनि मार्कण्डेय की उक्ति—

सत्यसङ्कल्प-शील ब्रह्मा प्रजापति ने जब सृष्टि का प्रारम्भ किया, तब उन्होंने सर्वप्रथम, अपने मुख से सहस्रसंख्यक मिथुनों (स्त्री-पुरुषों के जोड़ों) की सृष्टि की ॥३ ॥

ये मिथुन जन्म लेते ही अत्यन्त सात्त्विक तथा परम तेजस्वी हुए । इसके बाद उन्होंने अपने वक्षःस्थल से अन्य सहस्रों मिथुनों (स्त्री-पुरुषों के जोड़ों) की सृष्टि की ॥ ४ ॥

उनकी इस सृष्टि के ये मिथुन अत्यधिक रजोगुणी थे, अत्यधिक बलशाली थे और स्वभावतः अहंकारी थे । इस सृष्टि के बाद उन्होंने अपने ऊरुभाग से दूसरे प्रकार के सहस्रों मिथुनों की सृष्टि की ॥ ५ ॥

रजस्तमोभ्यामुद्रिक्ता ईहाशीलास्तु ते स्मृताः ।
पद्भ्यां सहस्रमन्यच्च मिथुनानां ससर्ज ह ॥६।
उद्रिक्तास्तमसा सर्वे निःश्रीका ह्यल्पचेतसः ।
ततः संहर्षमाणास्ते द्वन्द्वोत्पन्नास्तु प्राणिनः ॥७।
अन्योन्यहृच्छ्रयाविष्टा मैथुनायोपचक्रमुः ।
ततः प्रभृति कल्पेऽस्मिन् मिथुनानां हि सम्भवः ॥८।
मासि मास्यार्तवं यत् तु न तदासीत्तु योषिताम् ।
तस्मात्तदा न सुषुवुः सेवितैरपि मैथुनैः ॥९।
आयुषोऽन्ते प्रसूयन्ते मिथुनान्येव ताः सकृत् ।
ततः प्रभृति कल्पेऽस्मिन् मिथुनानां हि सम्भवः ॥१०।
ध्यानेन मनसा तासां प्रजानां जायते सकृत् ।
शब्दादिर्विषयः शुद्धः प्रत्येकं पञ्चलक्षणः ॥११।
इत्येषा मानुषी सृष्टिर्या पूर्वं वै प्रजापतेः ।
तस्यान्ववायसम्भूता यैरिदं पूरितं जगत् ॥१२।

उनके ऊरुद्वय से उत्पन्न ये मिथुन रजोगुणी एवं तमोगुणी हुए तथा इनमें ईहा अथवा लौकिक सुखभोग की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई। ब्रह्मा ने इसके बाद अपने चरणों से और सहस्रों मिथुनों की सृष्टि की ॥ ६ ॥

उनके चरणों से उत्पन्न ये मिथुन अत्यधिक तमोगुणी, निःश्रीक (निर्धन) तथा क्षुद्रबुद्धि के थे। ये सब मिथुन प्राणी कामोद्रेक के कारण बहुत अधिक आनन्दित होने लगे ॥ ७ ॥

इन मिथुनों (स्त्री-पुरुषों के जोड़ों) के हृदय में एक दूसरे के साथ कामसुखभोग का आवेश बढ़ने लगा और ये मैथुन क्रिया में लग गये। तब से लेकर इस कल्प में जो भी सृष्टि होने लगी वह मिथुनों की ही सृष्टि थी ॥ ८ ॥

उस समय स्त्रियों में प्रतिमास मासिक धर्म नहीं होता था, जिसके कारण मैथुन कर्म में लिप्त होने पर भी सन्तानोत्पत्ति की संभावना नहीं थी ॥ ९ ॥

प्रायः आयु के अन्त में ही, इन मिथुनों से, एक बार सन्तानोत्पत्ति होती रही और वह भी मिथुनों (एक साथ लड़का-लड़की) की ही उत्पत्ति थी। तव से लेकर इस कल्प में, मैथुनकर्म से मिथुनों का ही जन्म होता रहा ॥ १० ॥

उस समय, जो मानव उत्पन्न हुए, वे अपने मनःसंकल्प से ही पञ्चविध शब्दादि विषय का शुद्ध-सात्त्विक अनुभव करते रहे। यह मानुष-सृष्टि प्रजापति ब्रह्मा की प्रथम सृष्टि थी, जिसके बाद मानव-मिथुनों का ऐसा सृष्टि-क्रम चला जिससे समस्त जगत् मनुष्यों से भर गया। मानवजाति के ये प्राणी नदी, नद, समुद्र तथा पर्वत—सर्वत्र

सरित्सरःसमुद्रांश्च सेवन्ते पर्वतानपि ।
तास्तदा ह्यल्पशीतोष्णा युगे तस्मिश्चरन्ति वै ॥१३॥
तृप्तिं स्वाभाविकीं प्राप्ता विषयेषु महामते ।
न तासां प्रतिघातोऽस्ति न द्वेषो नापि मत्सरः ॥१४॥
पर्वतोदधिसेविन्यो ह्यनिकेतास्तु सर्वशः ।
ता वै निष्कामचारिण्यो नित्यं मुदितमानसाः ॥१५॥
पिशाचोरगरक्षांसि तथा मत्सरिणो जनाः ।
पशवः पक्षिणश्चैव नक्रा मत्स्याः सरीसृपाः ॥१६॥
अवारका ह्यण्डजा वा ते ह्यधर्मप्रसूतयः ।
न मूलफलपुष्पाणि नार्तवा वत्सराणि च ॥१७॥
सर्वकालसुखः कालो नात्यर्थं घर्मशीतता ।
कालेन गच्छता तेषां चित्रा सिद्धिरजायत ॥१८॥
ततश्च तेषां पूर्वाह्णे मध्याह्ने च वितृप्तता ।
पुनस्तथेच्छतां तृप्तिरनायासेन साभवत् ॥१९॥

निवास करने लगे। वह युग ऐसा था जिसमें न शीतबाधा थी और न तापबाधा और इसलिए ब्रह्मा से उत्पन्न ये मानव-प्राणी सर्वत्र स्वच्छन्द विचरण करते रहे। महाबुद्धिमान् क्रौष्टुकि ! उस युग के ये मानव सांसारिक विषयों में स्वभावतः संतृप्त थे, उनकी कामनाओं का कहीं प्रतिघात अथवा रोक नहीं था तथा उनमें न तो एक दूसरे के प्रति द्वेष था और न मात्सर्य था। ये मानव अनिकेत थे, अर्थात् अपने आवास के लिए गृहनिर्माण नहीं करते थे, अपितु जहाँ-तहाँ पर्वतों पर, तथा समुद्र तटों पर रहा करते थे। इन मानवों में किसी प्रकार की कामना नहीं थी, जिसके कारण वे सदा प्रसन्नचित्त रहा करते थे ॥ ११-१५ ॥

उन्हें पिशाच, सर्प, राक्षस, मात्सर्य रखने वाले जीव, पशु, पक्षी, मगर, मत्स्य, रेंगनेवाले विषैले जन्तु, (पूर्वजन्म के पाप के कारण) तिर्यग्योनि में उत्पन्न जीव, फल-मूल-फूल, ऋतुपरिवर्तन तथा वर्ष-परिवर्तन—इनमें से किसी से भी कोई कष्ट नहीं पहुँचता था। वह युग ऐसा था जिसमें सभी समय सुख ही सुख उपलब्ध होता था, क्योंकि तब न तो बहुत अधिक गर्मी होती थी और न बहुत अधिक ठण्ढ़क ही होती थी। जैसे-जैसे समय बीतता गया, वैसे-वैसे उन्हें आश्चर्यजनक सिद्धियां भी प्राप्त होती गयीं ॥ १६-१८ ॥

इन मानव जीवों को, पूर्वाह्ण तथा मध्याह्न-काल में, अतृप्ति (भूख-प्यास आदि) का अनुभव होता था, किन्तु अनायास, केवल इच्छा करने से ही, इन्हें तृप्ति भी मिल जाती थी। जब ये इच्छा करते थे तब इनके मन में आयास उत्पन्न हो जाता था।

इच्छताञ्च तथायासो मनसः समजायत ।
अपां सौक्ष्म्यं ततस्तासां सिद्धिर्नानारसोल्लसा ॥२०॥
समजायत चैवान्या सर्वकामप्रदायिनी ।
असंस्कार्य्यैः शरीरैश्च प्रजास्ताः स्थिरयौवनाः ॥२१॥
तासां विना तु संकल्पं जायन्ते मिथुनाः प्रजाः ।
समं जन्म च रूपञ्च म्रियन्ते चैव ताः समम् ॥२२॥
अनिच्छाद्वेषसंयुक्ता वर्तन्ते तु परस्परम् ।
तुल्यरूपायुषः सर्वा अधमोत्तमतां विना ॥२३॥
चत्वारि तु सहस्राणि वर्षाणां मानुषाणि तु ।
आयुः प्रमाणं जीवन्ति न च क्लेशाद्विपत्तयः ॥२४॥
क्वचित् क्वचित् पुनः साभूत् क्षितिर्भाग्येन सर्वशः ।
कालेन गच्छता नाशमुपयान्ति यथा प्रजाः ॥२५॥
तथा ताः क्रमशो नाशं जग्मुः सर्वत्र सिद्धयः ।
तासु सर्वासु नष्टासु नभसः प्रच्युता नराः ॥२६॥
प्रायशः कल्पवृक्षास्ते संभूता गृहसंज्ञिताः ।
सर्वे प्रत्युपभोगाश्च तासां तेभ्यः प्रजायते ॥२७॥

किन्तु उस युग में जल अत्यन्त शुद्ध था, जिसके कारण नानाप्रकार के आनन्दोल्लास वाली तथा समस्त मनोरथों को पूर्ण करने वाली सिद्धि अथवा पूर्णता भी उन्हें प्राप्त थी। यद्यपि वे अपने अङ्ग-प्रत्यङ्ग को संस्कृत-सुशोभित नहीं करते थे, किन्तु वे चिर-यौवन का आनन्द अवश्य भोगते थे। किसी सङ्कल्प के बिना ही उनकी जो सन्तति होती थी वह मिथुन-सन्तति होती थी और यह मिथुन-सन्तति एक साथ ही उत्पन्न होती थी, एक समान ही रूप-सौन्दर्य वाली होती थी और एक साथ ही मरती भी थी। मिथुनसृष्टि के ये मानव-जीव, राग-द्वेष रहित होकर परस्पर मिलकर रहा करते थे। आयु और इनके रूप – दोनों एक समान होते थे और इनमें ऊँच-नीच का कोई भेद-भाव नहीं होता था। मानुषवर्ष गणना की दृष्टि से इनकी आयु का प्रमाण ४००० वर्ष का होता था और इन्हें किसी प्रकार के क्लेश से कोई कष्ट नहीं होता था ॥ १९-२४ ॥

उस युग में पृथिवी यत्र-तत्र-सर्वत्र सौभाग्यशालिनी थी, किन्तु जैसे-जैसे वह युग बीतता गया, मानुष-प्रजा का नाश प्रारम्भ हो गया। मानुष-प्रजा के नाश के साथ-साथ उसकी सभी आश्चर्यजनक सिद्धियाँ भी नष्ट हो गयीं और जब ये सिद्धियाँ नष्ट हो गयीं तब वे मानुष-जीव आकाशलोक से नीचे गिर पड़े। उस समय जो कल्पवृक्ष उत्पन्न हो चुके थे वे ही उस मानुषी प्रजा के गृह थे और उन्हीं कल्पवृक्षों से उसके समस्त सुख-भोग के पदार्थ उत्पन्न हो जाते थे ॥ २५-२७ ॥

वर्तयन्ति स्म तेभ्यस्तास्त्रेतायुगमुखे तदा ।
ततः कालेन वै रागस्तासामाकस्मिकोऽभवत् ॥२८।

मासि मास्यार्तवोत्पत्त्या गर्भोत्पत्तिः पुनः पुनः ।
रागोत्पत्त्या ततस्तासां वृक्षास्ते गृहसंज्ञिताः ॥२६।

ब्रह्मन्नन्वपरेषान्तु पेतुः शाखा महीरुहाम् ।
वस्त्राणि च प्रसूयन्ते फलेष्वाभरणानि च ॥३०।

तेष्वेव जायते तेषां गन्धवर्णरसान्वितम् ।
अमाक्षिकं महावीर्य्यं पुटके पुटके मधु ॥३१।

तेन वा वर्तयन्ति स्म मुखे त्रेतायुगस्य वै ।
ततः कालान्तरेणैव पुनर्लोभान्वितास्तु ताः ॥३२।

वृक्षांस्ताः पर्य्यगृह्णन्त ममत्वाविष्टचेतसः ।
नेशुस्तेनापचारेण तेऽपि तासां महीरुहाः ॥३३।

ततो द्वन्द्वान्यजायन्त शीतोष्णक्षुन्मुखानि वै ।
तास्तद्द्वन्द्वोपघातार्थं चक्रुः पूर्वं पुराणि तु ॥३४।

ब्रह्मज्ञ कौष्टुकि ! वह युग त्रेतायुग का प्रारम्भ काल था और उसी युग में यह मानुषी-प्रजा उन कल्पवृक्षों से अपना जीवन धारण करती थी। समय के वीतते-चलते उस मानुषी प्रजा के हृदय में अकस्मात् राग उत्पन्न हो गया। प्रतिमास नारियों को मासिक धर्म होने लगा तथा बार-बार गर्भ रहने लगा और सन्तानोत्पत्ति होने लगी, जिसके कारण कल्पवृक्षों को गृह कहा जाने लगा। कल्पवृक्ष के अतिरिक्त अन्य वृक्षों की शाखायें टूट कर नीचे गिरने लगीं और उन वृक्षों के वल्कलों से वस्त्र तथा उनके फलों से आभूषण बनने लगे। साथ ही साथ उन्हीं वृक्षों के पत्र-पुटों में बिना मधुमक्खियों के ही सुगन्धित, सुन्दर, सरस तथा महाशक्तिवर्धक मधु (शहद) की उत्पत्ति होने लगी ॥ २८-३१ ॥

त्रेतायुग के प्रारम्भ-काल में मनुष्य जाति के जीव उसी मधु के सेवन से जीवन-धारण करने लगे, किन्तु समय बदला और उन लोगों के हृदय में लोभ घर करने लगा ॥ ३२ ॥

ममत्व (लोभ) के भूत से आविष्ट-हृदय उस मानुषी-प्रजा ने उन वृक्षों पर अपना स्वत्व जमा लिया और उसके इस दुष्कर्म के कारण वे वृक्ष नष्ट हो गये ॥ ३३ ॥

उसके बाद गर्मी-सर्दी, भूख-प्यास आदि के द्वन्द्व उत्पन्न हो गये, जिनके आघातों के निवारण के लिये, लोगों ने, सबसे पहले पुर-निर्माण प्रारम्भ किया ॥ ३४ ॥

मरुधन्वसु दुर्गेषु पर्व्वतेषु दरीषु च ।
संश्रयन्ति च दुर्गाणि वार्क्षं पार्व्वतमौदकम् ।।३५।
कृत्रिमञ्च तथा दुर्गं मित्वा मित्वात्मनोऽङ्गुलैः ।
मानार्थानि प्रमाणानि तास्तु पूर्वं प्रचक्रिरे ।।३६।
परमाणुः परं सूक्ष्मं त्रषरेणुर्महीरजः ।
बालाग्रञ्चैव लिक्षां च यूकां चाथ यवोदरम् ।।३७।
क्रमादष्टगुणान्याहुर्यवानष्टौ तथाङ्गुलम् ।
षडङ्गुलं पदं तच्च वितस्तिर्द्विगुणं स्मृतम् ।।३८।
द्वे वितस्ती तथा हस्तो ब्राह्मचतीर्थादिवेष्टनः ।
चतुर्हस्तं धनुर्दण्डो नाडिकायुगमेव च ।।३९।
धनुषां द्वे सहस्रे तु गव्यूतिस्तच्चतुर्गुणम् ।
प्रोक्तञ्च योजनं प्राज्ञैः संख्यानार्थमिदं परम् ।।४०।
चतुर्णामथ दुर्गाणां स्वसमुत्थानि त्रीणि तु ।
चतुर्थं कृत्रिमं दुर्गं ते चक्रुर्यत्नतस्तु वै ।।४१।

मानव जाति के इन जीवों ने मरुभूमि में, दुर्गम स्थानों पर, पर्वतों पर तथा पर्वतों की कन्दराओं में, पुर निर्माण किया । तब वे लोग वन्य दुर्गों में, पर्वत शिखर पर बने दुर्गों में तथा नदी-तट पर या जलाशय के मध्य में बने दुर्गों में (परस्पर संघर्ष के भय से) निवास करने लगे ।। ३५ ।।

उन्होंने वन्य-दुर्ग, पर्वत-दुर्ग तथा जल-दुर्ग, जो कि कृत्रिम दुर्ग थे, अपनी अंगुलियों के नाम से नाप-नाप कर बनाये । इन कृत्रिम दुर्गों के नाप के लिये उन्होंने पहले माप का निर्माण किया ।। ३६ ।।

उन लोगों ने परमसूक्ष्म परमाणु, त्रसरेणु, रजःकण, केशाग्रभाग, लिक्षा (लीख) यूका (जूं) तथा यवोदर (जौ का पेट)—इनमें क्रमशः पहले के बाद आने वालों को आठगुने बड़े माने, एक सीध में रखे आठ जौ के दानों को एक अंगुल माना, ६ अंगुल को पद माना, पद का दुगुना एक वितस्ति (बित्ता) माना, दो वितस्ति (बित्ता) को एक हस्त (हाथ) माना, जो ब्राह्मतीर्थादि से वेष्टित दोनों हाथों के फैलाये पंजों का नाप था, चार हस्त के नाप का नाम एक धनुष रखा, दो नालिकाओं के नाप को एक दण्ड माना, दो सहस्र धनुष को एक 'गव्यूति' माना और चतुर्गुण गव्यूति को एक योजन माना । इस प्रकार उस युग के बुद्धिमान् व्यक्तियों ने भूमि माप के लिये ये उपर्युक्त उत्तरोत्तर अधिक मापों की गणना निकाली ।। ३७-४० ।।

उपर्युक्त चतुर्विध दुर्गों में तीन तो नैसर्गिक थे और एक कृत्रिम था, जिसका उन लोगों ने बड़े प्रयत्न से निर्माण किया । द्विजोत्तम क्रौष्टुकि ! उस युग के मनुष्यों ने

पुरञ्च खेटकञ्चैव तद्वद् द्रोणीमुखं द्विज ।
शाखानगरकञ्चापि तथा कर्वटकं द्रमी ।।४२।
ग्रामं सघोषविन्यासं तेषु चावसथान् पृथक् ।
सोत्सेधवप्रकारञ्च सर्वतः परिखावृतम् ।।४३।
योजनार्द्धार्द्धविष्कम्भमष्टभागायतं पुरम् ।
प्रागुदक्प्रवणं शस्तं शुद्धवंशबहिर्गमम् ।।४४।
तदर्द्धेन तथा खेटं तत्पादेन च कर्व्वटम् ।
न्यूनं द्रोणीमुखं तस्मादन्तभागेन चोच्यते ।।४५।
प्राकारपरिखाहीनं पुरं खर्वटमुच्यते ।
शाखानगरकञ्चान्यन्मन्त्रिसामन्तभुक्तिमत् ।।४६।
तथा शूद्रजनप्रायाः स्वसमृद्धिकृषीबलाः ।
क्षेत्रोपभोग्यभूमध्ये वसतिर्ग्रामसंज्ञिता ।।४७।

अन्य अनेक प्रकार के सामूहिक आवास के निर्माण किये जिनमें पुर, खेटक, द्रोणमुख, शाखानगर, कर्वटक (खर्वटक), द्रमी तथा घोष (गोष्ठ) विन्यास से युक्त ग्राम आदि थे। इनमें चारों वर्णों के आवास के उपयुक्त निवास-स्थान निर्धारित किये गये थे और सुरक्षा की दृष्टि से इनके चारों ओर ऊँचे-ऊँचे प्राचीर-प्राकार बनाये गये थे, जो चारों ओर से परिखाओं से घिरे थे ।। ४१-४३ ।।

मनुष्यों के जिन निवास-स्थानों का नाम 'पुर' था, वह एक चौथाई योजन का क्षेत्र घेरता था, चारों दिशाओं और चारों दिक्कोणों में फैला रहता था, पूर्वदिशा में किसी नदी-नद की ओर ढालू होता था तथा कुलीन लोगों के आवास एवं प्रवेश-निष्कास के उपयुक्त होने के कारण सर्वोत्तम माना जाता था। जिसे 'खेट' कहते थे वह पुर से छोटा, वस्तुतः पुर का आधा होता था और कर्वट (खर्वट) खेट से छोटा वस्तुतः उसका आधा होता था। इस खर्वट की अपेक्षा बहुत कम क्षेत्र में बना मानुष-निवास द्रोणीमुख (अथवा द्रोणमुख) कहलाता था ।। ४४-४५ ।।

खर्वट भी एक प्रकार का पुर ही होता था, किन्तु ऐसा पुर जिसके चतुर्दिक् प्राकार और परिखा का निर्माण नहीं किया जाता था। जिसे 'शाखानगर' कहते थे, वे मन्त्रिगण तथा सामन्त-संघ के सुखावास के लिये बनाये जाते थे ।। ४६ ।।

इसी प्रकार, बहुसंख्यक शूद्रजन तथा कृषिकर्म से समृद्ध कृषक लोगों के लिये कृषि-योग्य भूमिभाग के मध्य में जो आवास बनाये जाते थे, उन्हें ग्राम कहा जाता था ।। ४७ ।।

अन्यस्मान्नगरादेर्या कार्य्यमुद्दिश्य मानवैः ।
क्रियते वसतिः सा वै विज्ञेया वसतिर्नरैः ॥४८।

दुष्टप्रायो विना क्षेत्रैः परभूमिचरो बली ।
ग्राम एव द्रमीसंज्ञो राजवल्लभसंश्रयः ॥४९।

शकटारूढभाण्डैश्च गोपालैर्विपणं विना ।
गोसमूहैस्तथा घोषो यत्रेच्छाभूमिकेतनः ॥५०।

त एवं नगरादींस्तु कृत्वा वासार्थमात्मनः ।
निकेतनानि द्वन्द्वानां चक्रुरावसथाय वै ॥५१।

गृहाकारा यथा पूर्वं तेषामासन्महीरुहाः ।
तथा संस्मृत्य तत्सर्वं चक्रुर्वेश्मानि ताः प्रजाः ॥५२॥

वृक्षस्यैवङ्गताः शाखास्तथैवञ्चापरा गताः ।
नताश्चैवोन्नताश्चैव तद्वच्छाखाः प्रचक्रिरे ॥५३।

अपने-अपने कार्यों से, अन्य नगरों से आये मनुष्यों के लिये जिन आवास-स्थलों का निर्माण होता था, उसे लोग 'वसति' (बस्ती, पड़ाव, सराय) कहा करते थे ॥ ४८ ॥

जिसे 'द्रमी' नाम दिया गया था वे ग्राम ही थे, किन्तु ऐसे ग्राम थे जहाँ दुष्ट लोग रहा करते थे, कृषिकर्म नहीं होता था, 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के नियम के अनुसार बलवान् लोग दूसरे निर्बल लोगों की भूमि पर अधिकार जमा कर रहा करते थे और साथ ही साथ राजा के कृपापात्र राजसेवक आदि भी रहा करते थे ॥ ४९ ॥

'घोष' ग्वालों की बस्ती का नाम था। वहाँ गो-समूह रहा करता था, जो जहाँ रहना चाहे वहीं अपना आवास बना लेता था और बाजार की वस्तुओं को छोड़कर, बैलगाड़ियों पर दुग्ध-घृत आदि के भाण्ड लदे दिखायी दिया करते थे ॥ ५० ॥

इस प्रकार उस युग के मनुष्यों ने अपने निवास के लिये नगर आदि के निर्माण किये और विवाहित नर-नारिओं के रहने के लिये घर बनाये ॥ ५१ ॥

जैसे इन आवास स्थानों के निर्माण के पहले गृहाकार कल्पवृक्ष ही उनके आवास स्थान थे, वैसे ही, उन्हीं वृक्षों की रचना का स्मरण कर, उन्होंने अपने-अपने गृह निर्माण किये। जैसे वृक्षों की कुछ शाखाएँ एक दिशा में होती हैं, कुछ शाखायें दूसरी दिशाओं में चली जाती हैं और कुछ शाखाएँ नीची और ऊँची होती हैं, वैसे ही मनुष्यों ने वृक्षों की ही संरचना के अनुसार अपने गृहावासों में भी चतुर्दिक् कक्षों के

याः शाखाः कल्पवृक्षाणां पूर्वमासन् द्विजोत्तम।
ता एव शाखा गेहानां शालात्वं तेन तासु तत् ॥५४।
कृत्वा द्वन्द्वोपघातन्ते वार्त्तोपायमचिन्तयन्।
नष्टेषु मधुना सार्द्धं कल्पवृक्षेष्वशेषतः ॥५५।
विषादव्याकुलास्ता वै प्रजास्तृष्णाक्षुधार्दिताः।
ततः प्रादुर्बभौ तासां सिद्धिस्त्रेतामुखे तदा ॥५६।
वार्त्तास्वसाधिता ह्यन्या वृष्टिस्तासां निकामतः।
तासां वृष्टयुदकानीह यानि निम्नगतानि वै ॥५७।
वृष्टयावरुद्धैरभवत् स्रोतः खातानि निम्नगाः।
ये पुरस्तादपां स्तोका आपन्नाः पृथिवीतले ॥५८।
ततो भूमेश्च संयोगादोषध्यस्तास्तदाभवन्।
अफालकृष्टाश्चानुप्ता ग्राम्यारण्याश्चतुर्दश ॥५९।
ऋतुपुष्पफलाश्चैव वृक्षा गुल्माश्च जज्ञिरे।
प्रादुर्भावस्तु त्रेतायामाद्योऽयमौषधस्य तु ॥६०।

निर्माण किये। द्विजोत्तम क्रौष्टुकि ! पहले, कल्पवृक्षों की जैसी शाखाएँ लोगों के आवास के काम में आती थीं, वैसी ही शाखाये उनके घरों में भी शाला अथवा कक्ष के रूप में दिखायी देती थीं॥ ५२-५४॥

जब स्वयं उत्पन्न मधु के साथ-साथ सबके सब कल्पवृक्ष भी नष्ट हो गये, तब उपर्युक्त नगरादि निर्माण के द्वारा पारस्परिक संघर्ष का प्रतिकार कर लेने के बाद, मानव-जीवों में जीवन-यापन के साधन की चिन्ता उत्पन्न हो गयी। भूख और प्यास से व्याकुल मानवजाति बहुत अधिक दुःख से विह्वल हो गयी। उसके बाद, त्रेतायुग के आरम्भ में उसमें कार्यकुशलता का प्रादुर्भाव हुआ॥ ५५-५६॥

उसने अपने जीवन-यापन के साधन कृषिकर्मादि स्वयं खोज लिये और उसके सिद्ध होने के लिये भरपूर वर्षा भी प्रारम्भ हो गयी। वर्षा का जो जल ढालू स्थानों पर गिरा वह गहरे जलाशयों के रूप में बदल गया, जिससे उसका इधर-उधर प्रवाह रुक गया। वर्षा की जो जलधाराएँ पहले भूतल पर गिरी थीं वे नदियाँ बन गयीं। इसके भूमि के साथ जल के मेल से औषधियाँ उत्पन्न हुईं, जो कि खेत में हल चलाये बिना और बिना बीज के ही उत्पन्न हुई थीं, जिनमें ग्राम्य और आरण्य नामक औषधि भेद से ओषधिओं के चौदह प्रकार थे॥ ५७-५९॥

साथ ही साथ, प्रत्येक ऋतु के फूल और फल वाले वृक्ष तथा लता-वनस्पतिओं के समूह उत्पन्न हो गये। त्रेयायुग में औषधिओं का यही आदिम आविर्भाव था॥ ६०॥

तेनौषधेन वर्त्तन्ते प्रजास्त्रेतायुगे मुने ।
रागलोभौ समासाद्य प्रजाश्चाकस्मिकौ तदा ॥६१।
ततस्ताः पर्य्यगृह्णन्त नदीक्षेत्राणि पर्वतान् ।
वृक्षगुल्मौषधीश्चैवमात्मन्यायाद्यथाबलम् ॥६२।
तेन दोषेण ता नेशुरौषध्यो मिषतां द्विज ।
अग्रसद् भूर्युगपत्तास्तदौषध्यो महामते ॥६३।
पुनस्तासु प्रणष्टासु विभ्रान्तास्ताः पुनः प्रजाः ।
ब्रह्माणं शरणं जग्मुः क्षुधार्त्ताः परमेष्ठिनम् ॥६४।
स चापि तत्त्वतो ज्ञात्वा तदा ग्रस्तां वसुन्धराम् ।
वत्सं कृत्वा सुमेरुन्तु दुदोह भगवान् विभुः ॥६५।
दुग्धेयं गौस्तदा तेन शस्यानि पृथिवीतले ।
जज्ञिरे तानि बीजानि ग्राम्यारण्यास्तु ताः पुनः ॥६६।
ओषध्यः फलपाकान्ता गणाः सप्तदश स्मृताः ।
व्रीहयश्च यवाश्चैव गोधूमा अणवस्तिलाः ॥६७।

क्रौष्टुकि मुनि ! त्रेतायुग में मानुषी-प्रजाएँ इन्हीं वनस्पति-औषधिओं से जीवन-निर्वाह करने लगीं। कालान्तर में उन मानुषी-प्रजाओं के हृदय में अकस्मात् राग और लोभ उत्पन्न हो गये, जिसे वे अपनाए रहीं ॥ ६१ ॥

राग-लोभ के कारण, उस समय, मनुष्यों ने अपने बल के अनुसार, मनमाने ढंग से, नदी-क्षेत्रों, पर्वतों-वृक्षों तथा औषधि-वनस्पतिओं पर अपने-अपने अधिकार जमा लिये ॥ ६२ ॥

महामति द्विजोत्तम क्रौष्टुकि ! उनके इस अपराध के कारण, पलक मारते, ये सब औषधियाँ नष्ट हो गयीं, जिससे ऐसा प्रतीत होने लगा मानों पृथिवी ने ही उन औषधिओं को एक साथ निगल लिया हो ॥ ६३ ॥

जब सब औषधियाँ नष्ट हो गयीं, तब मानव-प्रजा पुनः व्याकुल होकर भटकने लगी और भूख से पीड़ित हो परमेष्ठी ब्रह्मा प्रजापति की शरण ली ॥ ६४ ॥

स्वयंभू भगवान् ब्रह्मा ने जब यह निःसंदिग्ध रूप से जान लिया कि वसुन्धरा विपद्ग्रस्त हो गयी, तब उन्होंने सुमेरु पर्वत को बछड़ा बनाकर वसुन्धरा-रूपिणी गौ का दूध दुहा ॥ ६५ ॥

जब वसुन्धरा-रूपिणी गौ का दूध दुहा गया, तब पृथिवी तल पर बीज उत्पन्न हो गये, जिनसे ग्राम्य तथा आरण्य प्रकार की सभी औषधियाँ निकल पड़ीं ॥ ६६ ॥

ये औषधि-वनस्पतियाँ जैसा कि लोग जानते हैं सत्रह प्रकार की हैं, जो फल के पक जाने पर समाप्त हो जाती हैं। इनके इन प्रकारों में धान, जौ, गेहूँ, अणु (काकुन),

प्रियङ्गवो ह्युदाराश्च कोरदूषाः सचीनकाः ।
माषा मुद्गा मसूराश्च निष्पावाः सकुलत्थकाः ।।६८।
आढकाश्चणकाश्चैव गणाः सप्तदश स्मृताः ।
इत्येता ओषधीनान्तु ग्राम्याणां जातयः पुरा ।।६९।
ओषध्यो यज्ञियाश्चैव ग्राम्यारण्याश्चतुर्दश ।
व्रीहयश्च यवाश्चैव गोधूमा अणवस्तिलाः ।।७०।
प्रियङ्गुसप्तमा ह्येते अष्टमास्तु कुलत्थकाः ।
श्यामाकास्त्वथ नीवारा यत्तिला सगवेधुकाः ।।७१।
कुरुविन्दा मर्कटकास्तथा वेणुयवाश्च ये ।
ग्राम्यारण्याः स्मृता ह्येता ओषध्यश्च चतुर्दश ।।७२।
यदा प्रसृष्टा ओषध्यो न प्ररोहन्ति ताः पुनः ।
ततः स तासां वृद्धयर्थं वार्त्तोपायञ्चकार ह ।।७३।
ब्रह्मा स्वयम्भूर्भगवान् हस्तसिद्धिञ्च कर्मजाम् ।
ततः प्रभृत्यथौषध्यः कृष्टपच्यास्तु जज्ञिरे ।।७४।
संसिद्धायान्तु वार्त्तायां ततस्तासां स्वयं प्रभुः ।
मर्य्यादां स्थापयामास यथान्यायं यथागुणम् ।।७५।

तिल, प्रियङ्गु, उदार, कोदो, चीना, उड़द, मूँग, मसूर, राजमाष, कुलथी, मटर, चना आदि आते हैं। पहले युग में ग्राम्य ओषधि-वनस्पतियों की ये ही जातियाँ-प्रजातियाँ थीं। यज्ञीय ओषधि-वनस्पतियाँ, जो खेतों में बोयी जाती हैं तथा वनों में स्वयं पैदा जाती हैं, चौदह प्रकार की हैं, जिनमें धान, जौ, गेहूँ, अणु (काकुन), तिल, प्रियङ्गु और कुलत्थ (कुलथी), सांवा, नीवार (जङ्गली घास) जङ्गली तिल, गवेधुक (जङ्गली धान या जौ), कुरुविन्द, मर्कटक (संभवतः पहाड़ी भट्ट) तथा वेणुयव (बड़े जौ की प्रजाति)— ये सब गिने जाते हैं। ये सब चौदह औषधि-वनस्पतियाँ ग्राम्य भी हैं, अर्थात् खेतों में भी बोयी जाती हैं और वनों में अपने आप भी उत्पन्न हो जाती हैं ।। ६७-७२ ।।

जब बोयी गयी उपर्युक्त औषधि-वनस्पतियों के बीज फिर बोये जाने पर अंकुरित नहीं हुए, तब ब्रह्मा प्रजापति ने उनकी अंकुरादि रूप में वृद्धि के लिए कृषि के उपायों की सृष्टि की ।। ७३ ।।

स्वयंभू भगवान् ब्रह्मा ने कृषिकर्म में मनुष्यों के हस्त-कौशल की रचना की, जिसके बाद ये औषधि-वनस्पतियाँ खेतों में जमने-पकने लगीं ।। ७४ ।।

जब कृषिकर्म में सिद्धि मिल गई, तब स्वयंभू प्रजापति ब्रह्मा ने न्यायानुसार तथा गुणानुसार उस मानुषी-प्रजा की मर्यादा स्थापित की ।। ७५ ।।

वर्णानामाश्रमाणाञ्च धर्मान् धर्मभृतांवर ।
लोकानां सर्ववर्णानां सम्यग्धर्मार्थपालिनाम् ॥७६॥
प्राजापत्यं ब्राह्मणानां स्मृतं स्थानं क्रियावताम् ।
स्थानमैन्द्रं क्षत्रियाणां संग्रामेष्वपलायिनाम् ॥७७॥
वैश्यानां मारुतं स्थानं स्वधर्ममनुवर्तताम् ।
गान्धर्वं शूद्रजातीनां परिचर्य्यानुवर्तताम् ॥७८॥
अष्टाशीतिसहस्राणामृषीणामूद्ध्वरेतसाम् ।
स्मृतं तेषान्तु यत् स्थानं तदेव गुरुवासिनाम् ॥७९॥
सप्तर्षीणान्तु यत् स्थानं स्मृतं तद्वै वनौकसाम् ।
प्राजापत्यं गृहस्थानां न्यासिनां ब्रह्मणः क्षयम् ।
योगिनाममृतं स्थानमिति वै स्थानकल्पना ॥८०॥

॥ इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे सृष्टिप्रकरणे एकोनपञ्चाशदध्यायः ॥

धर्मज्ञश्रेष्ठ क्रौष्टुकि ! ब्रह्मा प्रजापति ने भूलोकवर्ती समीचीन रूप से धर्म तथा अर्थ के सेवक समस्त वर्णों के लिए वर्णों तथा आश्रमों के धर्मों का निर्धारण किया। क्रियावान् ब्राह्मणों का जो स्थान है उसे प्राजापत्य स्थान कहा गया है, युद्धभूमि से पलायन न करने वाले क्षत्रियों का स्थान ऐन्द्र कहा जाता है, वाणिज्यादि धर्म का पालन करने वाले वैश्यों के स्थान का नाम वायव्य स्थान है और तीनों श्रेष्ठ वर्णों की परिचर्या करने वाले शूद्रजाति के लोगों का स्थान गान्धर्वस्थान कहा जाता है ॥ ७६-७८ ॥

अट्ठासी हजार ऊर्ध्वरेता ऋषिओं का जो स्थान है वही नैष्ठिक ब्रह्मचर्यव्रत के पालन करने वालों का भी स्थान है ॥७९॥

सप्तर्षियों का जो स्थान है वह वानप्रस्थियों का भी स्थान है, गृहस्थों का स्थान प्राजापत्य स्थान कहा जाता है, संन्यासियों का स्थान ब्रह्मलोक है और योगीजन का जो स्थान है वह अमृत स्थान अथवा मोक्षधाम माना जाता है—इसे आप स्थानपरिकल्पना की बात समझिये ॥ ८० ॥

पर्यालोचन

(क) मार्कण्डेय पुराण के इस अध्याय और उससे प्राचीन विष्णुपुराण के ६ठे अध्याय के, जिसके विविध सन्दर्भ निम्नलिखित हैं, शब्दार्थयोजना-साम्य तथा तात्पर्य-योजना-साम्य देखने योग्य हैं। विष्णुपुराण में श्रोता तथा वक्ता क्रमशः मैत्रेय और पराशर हैं—

मैत्रेय उवाच—

अर्वाक्स्रोतस्तु कथितो भवता यस्तु मानुषः।
ब्रह्मन् विस्तरतो ब्रूहि ब्रह्मा तमसृजद् यथा ॥

यथा च वर्णानसृजद् यद्गुणाश्च महामुने।
यच्च तेषां स्मृतं कर्म विप्रादीनां तदुच्यताम् ॥

पराशर उवाच—

'सत्याभिध्यायिनः पूर्वं सिसृक्षोर्ब्रह्मणो जगत्।
अजायन्त द्विजश्रेष्ठ सत्त्वोद्रिक्ता मुखात् प्रजाः ॥

वक्षसो रजसोद्रिक्तास्तथा वै ब्रह्मणोऽभवन्।
रजसा तमसा चैव समुद्रिक्तास्तथोरुजाः ॥

पद्भ्यामन्याः प्रजा ब्रह्मा ससर्ज द्विजसत्तम।
तमःप्रधानास्ताः सर्वाश्चातुर्वर्ण्यमिदं ततः ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च द्विजसत्तम।
पादोरुवक्षःस्थलतो मुखतश्च समुद्गताः ॥'

'व्रीहयश्च यवाश्चैव गोधूमा अणवस्तिलाः।
प्रियङ्गवो ह्युदाराश्च कोरदूषाः सचीकणाः ॥

माषा मुद्गा मसूराश्च निष्पावाः सकुलत्थकाः।
आढक्यश्चणकाश्चैव गणाः सप्तदश स्मृताः ॥

इत्येताश्चौषधीनान्तु ग्राम्याणां जातयो मुने।
ओषध्यो यज्ञियाश्चैव ग्राम्यारण्याश्चतुर्दश ॥

व्रीहयः सयवा माषा गोधूमा अणवस्तिलाः।
प्रियङ्गुसप्तमा ह्येता अष्टमास्तु कुलत्थकाः ॥

श्यामाकास्त्वथ नीवारा जर्तिला सगवेधुकाः।
तथा वेणुयवाः प्रोक्तास्तद्वन्मर्कटका मुने ॥'

'संसिद्धायां तु वार्तायां प्रजाः सृष्ट्वा प्रजापतिः।
मर्यादां स्थापयामास यथास्थानं यथागुणम् ॥

वर्णानामाश्रमाणाञ्च धर्मान् धर्मभृतांवर ।
लोकांश्च सर्ववर्णानां सम्यग् धर्मानुपालिनाम् ॥

प्राजापत्यं ब्राह्मणानां स्मृतं स्थानं क्रियावताम् ।
स्थानमैन्द्रं क्षत्रियाणां संग्रामेष्वनिर्वातिनाम् ॥

वैश्यानां मारुतं स्थानं स्वधर्ममनुवर्तिनाम् ।
गान्धर्वं शूद्रजातीनां परिचर्यानुवर्तिनाम् ॥

अष्टाशीतिसहस्राणि मुनीनामूर्ध्वरेतसाम् ।
स्मृतं तेषां मरुत्स्थानं तदेव गुरुवासिनाम् ॥

सप्तर्षीणां तु यत् स्थानं स्मृतं तद्वै वनौकसाम् ।
प्राजापत्यं गृहस्थानां न्यासिनां ब्रह्मसंज्ञितम् ॥
योगिनाममृतं स्थानं यद् विष्णोः परमं पदम् ।'

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि विष्णुपुराण के वक्ता और श्रोता (पराशर तथा मैत्रेय) मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय में वक्ता और श्रोता (महामुनि मार्कण्डेय तथा क्रौष्टुकि) से भिन्न हैं, किन्तु दोनों पुराणों में जिज्ञासा तथा समाधान एकरूप हैं और शब्दार्थ-विन्यास भी एक समान है। इससे यह अनुमान होता है कि अष्टादश महापुराण, संभवतः वेदचतुष्टय की भाँति अपने उद्भव-काल में व्यस्त नहीं थे, अपितु एकशब्द राशिरूप थे। कालान्तर में जैसे यज्ञयाग की प्रक्रिया की दृष्टि से, एक वेद चतुर्वेद रूप में प्रकाशित किये गये, वैसे ही शैव-शाक्त-वैष्णवादि सम्प्रदायभेद की दृष्टि से, एक पुराण अष्टादश महापुराण के रूप में व्यस्त किये गए। सर्ग-प्रतिसर्ग प्रभृति पुराण के पञ्चलक्षण सभी पुराणों में घटित हों इसलिये कहीं सर्ग संबन्धी वर्ण्य विषयक, कहीं प्रतिसर्ग विषयक वर्ण्य वस्तु-तत्त्व भिन्न-भिन्न शब्दार्थयोजना की अपेक्षा, अविकल-रूप से अथवा यत्र-तत्र कुछ परिवर्तन के साथ, एकरूप की शब्दार्थयोजना में ही निबद्ध रहने दिये गए।

(ख) मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय का सर्गवर्णन हो अथवा (क) में उद्धृत विष्णुपुराण का सर्गवर्णन हो, दोनों ऋग्वेद के पुरुषसूक्त (मं० १०, अ० ७ सू० ९०) के पौराणिक शैली में उपबृंहण अथवा विशदीकरण से प्रतीत होते हैं। जैसे ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में एक सत्तत्त्व से सृष्टि का आविर्भाव वर्णित है और सृष्टि के आविर्भाव में चतुर्वेदी तथा वर्णचतुष्टय का भी आविर्भाव माना गया है, वैसे ही विष्णुमहापुराण और मार्कण्डेयमहापुराण में भी एक सत्तत्त्व से ही इन्हीं के आविर्भाव का उपबृंहण किया गया है। जैसे भौतिक जगत् की रचना के वर्णन में ऋग्वेद के पुरुषसूक्त के ऋषि की अभिरुचि नहीं है, वैसे ही विष्णुपुराण और मार्कण्डेयपुराण में भी भौतिक जगत् की संरचना के वर्णन में पुराणकार की अभिरुचि नहीं दिखायी देती। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त का निम्नलिखित मन्त्र (मं० १२) उद्धरणीय है, क्योंकि इसी का विविध प्रकार से दोनों पुराणों में विशद व्याख्यान है—

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥'

ऋग्वेद में सहस्रशीर्ष, सहस्रपाद तथा सर्वव्यापक 'पुरुष' के ही मुख, बाहु, ऊरु तथा चरण रूप में ब्राह्मण, क्षत्रिय (राजन्य), वैश्य तथा शूद्र की परिकल्पना की गयी है। मार्कण्डेयपुराण में जो ब्रह्मा प्रजापति हैं, वे इस 'पुरुष' के ही प्रतिनिधि रूप में चातुर्वर्ण्य के स्रष्टा प्रतिपादित किये गये हैं। यह प्रतिपादन उपर्युक्त ऋचा का एक उपबृंहण ही है। इसी प्रकार सृष्टि-प्रकरण से ही सम्बद्ध इस अध्याय के पहले अर्थात् ४८ वें अध्याय के निम्नलिखित श्लोक (३१-३४) द्रष्टव्य हैं—

'गायत्रीं च ऋचं चैव त्रिवृत् सोमं रथन्तरम्।
अग्निष्टोमं च यज्ञानां निर्ममे प्रथमान्मुखात्॥

यजूंषि त्रैष्टुभं छन्दः स्तोमं पञ्चदशं तथा।
बृहत्साम तथोक्थं च दक्षिणादसृजन्मुखात्॥

सामानि जगतीच्छन्दः स्तोमं पञ्चदशं तथा।
वैरूपमतिरात्रञ्च निर्ममे पश्चिमान्मुखात्॥

एकविंशमथर्वाणमाप्तोर्यामाणमेव च।
अनुष्टुभं सवैराजमुत्तरादसृजन्मुखात्॥'

ये श्लोक वस्तुतः ऋग्वेद के पुरुषसूक्त के निम्नलिखित मन्त्र (सं० ९) के उपबृंहण का ही तात्पर्य रखते हैं—

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत॥

इन सबकी सृष्टि का प्रयोजन यज्ञानुष्ठान और उसके द्वारा यजनीय 'पुरुष' का आराधन ही था। वर्णधर्म और आश्रमधर्म की व्यवस्था की स्थापना यज्ञानुष्ठान के महनीय कर्म के सुचारु रूप से संचालन के लिये ही हुई थी। यज्ञ ही सर्वप्रथम उत्पन्न मानव का प्रथम एवं परम धर्म था। मार्कण्डेयपुराण के ४८, ४९ अध्यायों में, निम्नलिखित पुरुषसूक्त के मन्त्र (सं० १६) की गूंज रह-रह कर सुनायी देती है—

'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥'

(ग) सृष्टिक्रमविषयक मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय के श्लोक वायुपुराण के सर्गविषयक निम्नलिखित श्लोकों (३५-१६७ के बीच) से पूर्णतया प्रभावित प्रतीत होते हैं।

'ततः सर्गे ह्यवष्टब्धे सिसृक्षोर्ब्रह्मणस्तु वै।
प्रजास्ता ध्यायतस्तस्य सत्याभिध्यायिनस्तदा॥

मिथुनानां सहस्रं तु सोऽसृजद्वै मुखात्तदा।
जनास्ते ह्युपपद्यन्ते सत्त्वोद्रिक्ताः सुचेतसः॥

सहस्रमन्यद्वक्षस्तो मिथुनानां ससर्ज ह।
ते सर्वे रजसोद्रिक्ताः शुष्मिणश्चाप्यशुष्मिणः॥

सृष्ट्वा सहस्रमन्यत्तु द्वन्द्वानामूरुतः पुनः।
रजस्तमोभ्यामुद्रिक्ता ईहाशीलास्तु ते स्मृताः॥

पद्भ्यां सहस्रमन्यत्तु मिथुनानां ससर्ज ह।
उद्रिक्तास्तमसा सर्वे निःश्रीका ह्यल्पचेतसः॥

ततो वै हर्षमानास्ते द्वन्द्वोत्पन्नास्तु प्राणिनः।
अन्योन्यहृच्छयाविष्टा मैथुनायोपचक्रमुः॥

ततः प्रभृति कल्पेऽस्मिन् मिथुनोत्पत्तिरुच्यते।
मासि मास्यार्त्तवं यद्यत्तदा नासीद्धि योषिताम्॥

तस्मात्तदा न सुषुवुः सेवितैरपि मैथुनैः।
आयुषोऽन्ते प्रसूयन्ते मिथुनान्येव तेऽसकृत्॥....
ततः प्रभृति कल्पेऽस्मिन् मिथुनानां हि सम्भवः॥

ध्याते तु मनसा तासां प्रजानां जायतेऽसकृत्।
शब्दादिविषयः शुद्धः प्रत्येकं पञ्चलक्षणः॥

इत्येवं मनसा पूर्वं प्राक्सृष्टिर्या प्रजापतेः।
तस्यान्ववाये संभूता यैरिदं पूरितं जगत्॥

सरित्सरःसमुद्रांश्च सेवन्ते पर्वतानपि।
तदा नात्यम्बु शीतोष्णं युगे तस्मिन् चरन्ति वै॥....

पर्वतोदधिसेविन्यो ह्यनिकेताश्रयास्तु ताः।
विशोकाः सत्त्वबहुला एकान्तसुखितप्रजाः॥....

सर्वकामसुखः कालो नात्यर्थं ह्युष्णशीतता।
मनोऽभिलषिताः कामास्तासां सर्वत्र सर्वदा॥....

असंस्कार्यैः शरीरैश्च प्रजास्ताः स्थिरयौवनाः।
तासां विशुद्धात् सङ्कल्पाज्जायन्ते मिथुनाः प्रजाः॥

समं जन्म च रूपञ्च म्रियन्ते चैव ताः समम् ।।....
सकृदेव तथा वृष्ट्या संयुक्ते पृथिवीतले ।
प्रादुरासंस्तदा तासां वृक्षास्तु गृहसंज्ञिताः ।।

सर्वप्रत्युपभोगस्तु तासां तेभ्यः प्रजायते ।
वर्तयन्ति हितेभ्यस्तास्त्रेतायुगमुखे प्रजाः ।।

ततः कालेन महता तासामेव विपर्ययात् ।
रागलोभात्मको भावस्तदा ह्याकस्मिकोऽभवत् ।।

यत्तद्भवति नारीणां जीवितान्ते तदार्त्तवम् ।
तदा तद्वै न भवति पुनर्युगबलेन तु ।।

तासां पुनः प्रवृत्तं तु मासे मासे तदार्त्तवम् ।
ततस्तेनैव योगेन वर्ततां मिथुने तदा ।।

तासां तत्कालभावित्वान्मासि मास्युपगच्छताम् ।
अकाले ह्यार्तवोत्पत्तिर्गर्भोत्पत्तिरजायत ।।....

प्रादुर्बभूवुस्तासां च वृक्षास्ते गृहसंज्ञिताः ।
वस्त्राणि च प्रसूयन्ते फलान्याभरणानि च ।।

तेष्वेव जायते तासां गन्धवर्णरसान्वितम् ।
अमाक्षिकं महावीर्यं पुटके पुटके मधु ।।

तेन ता वर्तयन्ति स्म मुखे त्रेतायुगस्य च ।
दृष्टतुष्टास्तया सिद्ध्या प्रजा वै विगतज्वराः ।।

पुनः कालान्तरेणैव पुनर्लोभावृतास्तु ताः ।
वृक्षांस्तान् पर्यगृह्णन्त मधु वा माक्षिकं बलात् ।।

तासां तेनापचारेण पुनर्लोभकृतेन वै ।
प्रणष्टा मधुना सार्द्धं कल्पवृक्षाः क्वचित् क्वचित् ।।....

मरुधन्वसु निम्नेषु पर्वतेषु नदीषु च ।
संश्रयन्ति च दुर्गाणि धान्वनं शाश्वतोदकम् ।।....

बुद्ध्यान्विष्य यथान्यायं वृक्षशाखा यथा गताः ।
तथा कृतास्तु वै शाखास्तस्माच्छालास्तु ताः स्मृताः ।।....

कृत्वा द्वन्द्वोपघातांस्तान् वार्तोपायमचिन्तयन् ।
नष्टेषु मधुना सार्द्धं कल्पवृक्षेषु वै तदा ।
विषादव्याकुलास्ता वै प्रजास्तृष्णाक्षुधात्मिकाः ।।

ततः प्रादुर्बभौ तासां सिद्धिस्त्रेतायुगे पुनः।
वार्तार्थसाधिकाऽप्यन्या वृत्तिस्तासां हि कामतः॥

तासां वृष्ट्युदकानीह यानि निम्नैर्गतानि तु।
वृष्ट्या तदभवत् स्रोतः खातानि निम्नगाः स्मृताः॥

एवं नद्यः प्रवृत्तास्तु द्वितीये वृष्टिसर्जने।
ये परस्तादपां स्तोका आपन्ना पृथिवीतले॥

अपां भूमेश्च संयोगादोषध्यस्तासु चाऽभवन्।
पुष्पमूलफलिन्यस्तु ओषध्यस्ताः प्रजज्ञिरे॥

अफालकृष्टाश्चानुप्ता ग्राम्याऽरण्याश्चतुर्दश।
ऋतुपुष्पफलाश्चैव वृक्षा गुल्माश्च जज्ञिरे॥

प्रादुर्भावश्च त्रेतायां वार्तायामौषधस्य तु।
तेनौषधेन वर्तन्ते प्रजास्त्रेतायुगे तदा॥

ततः पुनरभूत्तासां रागो लोभश्च सर्वशः।
अवश्यम्भाविनार्थेन त्रेतायुगवशेन तु॥

ततस्ता पर्यगृह्णन्त नदीक्षेत्राणि पर्वतान्।
वृक्षान् गुल्मौषधीश्चैव प्रसह्य तु यथाबलम्॥····

तेन दोषेण तेषां ता ओषध्यो मिषतां तदा।
प्रणष्टा ह्रियमाणा वै मुष्टिभ्यां सिकता यथा॥···
ग्रस्ताः पृथिव्या ओषध्यो ज्ञात्वा प्रत्यदुहत् पुनः॥

कृत्वा वत्सं सुमेरुं तु दुदोह पृथिवीमिमाम्।
दुग्धेयं गौस्तदा तेन बीजानि पृथिवीतले॥

जज्ञिरे तानि बीजानि ग्राम्यारण्यास्तु ताः पुनः।
ओषध्यः फलपाकान्ताः सप्त सप्तदशास्तु ताः॥

व्रीहयश्च यवाश्चैव गोधूमा अणवस्तिलाः।
प्रियङ्गवो ह्युदाराश्च कारुषाश्च सतीनकाः॥

माषा मुद्गा मसूराश्च निष्पावाः सकुलत्थकाः।
आढक्यश्चणकाश्चैव सप्त सप्तदशाः स्मृताः॥

इत्येता ओषधीनां तु ग्राम्याणां जातयः स्मृताः।
ओषध्यो यज्ञियाश्चैव ग्राम्यारण्याश्चतुर्दश॥

व्रीहयः सयवा माषा गोधूमा अणवस्तिलाः।
प्रियङ्गुसप्तमा ह्येते अष्टमी तु कुलत्थिका॥

श्यामाकास्त्वथ नीवारा जर्तिलाः सगवेधुकाः ।
कुरुविन्दा वेणुयवास्तथा मर्कटकाश्च ये ॥
ग्राम्यारण्याः स्मृता ह्येता ओषध्यस्तु चतुर्दश ।
....

यदा प्रसृष्टा ओषध्यो न प्ररोहन्ति ताः पुनः ॥
ततः स तासां वृत्त्यर्थं वार्तोपायं चकार ह ।
ब्रह्मा स्वयंभूर्भगवान् दृष्ट्वा सिद्धिं तु कर्मजाम् ॥
ततः प्रभृत्यथौषध्यः कृष्टपच्यास्तु जज्ञिरे ।
संसिद्धायां तु वार्तायां ततस्तासां स्वयम्भुवः ।
मर्यादाः स्थापयामास यथारब्धाः परस्परम् ॥
....

प्राजापत्यं ब्राह्मणानां स्मृतं स्थानं क्रियावताम् ।
स्थानमैन्द्रं क्षत्रियाणां संग्रामेष्वपलायिनाम् ॥
वैश्यानां मारुतं स्थानं स्वधर्ममुपजीविनाम् ।
गान्धर्वं शूद्रजातीनां प्रतिचारेण तिष्ठताम् ॥

उपर्युक्त तीनों पुराणों के श्लोक-सन्दर्भों पर दृष्टिपात करने से ऐसा प्रतीत होता है, मानों विष्णुपुराण की सर्गविषयक मान्यता वायुपुराण में संक्रान्त हुई और वायुपुराण की सर्गसम्बन्धी मान्यता के विशद वर्णन का अविकल रूप से अथवा अत्यल्प शब्द-परिवर्तन के साथ मार्कण्डेयपुराण में संक्रमण हुआ। मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय में वायुपुराण के श्लोक-सन्दर्भ जिस रूप में आये हैं, उसे देखने से ऐसा अनुभव होता है कि मार्कण्डेयपुराण की उपलब्ध पुस्तकों में बहुत से श्लोक-सन्दर्भ, जो कि वापुपुराण से लिए जा सकते थे, छूट गये हैं या छोड़ दिये गये हैं। ऐसी ही वात अन्य अध्यायों के सम्बन्ध में भी लागू हो सकती है। इस प्रकार ९००० श्लोकों वाले प्राचीन मार्कण्डेय पुराण की आजकल उपलब्ध संस्करणों में ६००० श्लोकों में परिसमाप्ति की समस्या का कुछ समाधान मिल जाता है।

(घ) मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय से मानुषी सृष्टि में मानव-संस्कृति के क्रमिक उद्भव और विकास पर बड़ा विशद प्रकाश पड़ता है। पहले मानव वृक्षों की छाया में अपना आवास बनाकर प्रसन्नचित्त रहा करते थे। उनके हृदय में राग-द्वेष, लोभ-मोह, के बीज नहीं पड़े थे। जब इनके बीज पड़ गये, तब चातुर्वर्ण्य तथा चातुराश्रम्य की महत्त्वपूर्ण व्यवस्था बनी। कृषिकर्म तथा वाणिज्य का उद्भव-विकास हुआ। राजधर्म तथा प्रजाधर्म की व्यवस्था निकली। वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में एकरसता अथवा निर्विरोधिता की स्थापना हुई। वृक्षों की छाया के आवास ग्राम-नगर प्रभृति वास्तुकला के निर्माणों के रूप में परिणत हुए। सरल जीवन में जटिलता आयी, जो कि युगपरिवर्तन के साथ स्वाभाविक थी।

(ङ) इस अध्याय में वृक्षच्छाया रूपी प्राचीनतम आवासों से वास्तु निर्माण के उद्भव और विकास की जो संक्षिप्त सूचना है, वह प्राचीन भारतीय वास्तुकला और वास्तुविज्ञान के ऐतिह्यकारों की दृष्टि में भी मान्य है। भारतीय वास्तुकला के किसी भी ऐतिह्यकार ने पुराणों में अन्तर्निहित वास्तुकला के उद्भव-विकास पर ध्यान नहीं दिया है। किन्तु पुराणों का इस दृष्टि से परिशीलन आवश्यक है। जैसे-जैसे आधुनिक विद्वत्समाज पुराणों से अधिकाधिक परिचित होता जायगा, वैसे-वैसे भारतीय सभ्यता और संस्कृति की कुछ लुप्त कड़ियाँ पकड़ में आती जायेंगी। तब भारतीय संस्कृति और भारतीय सभ्यता का जो इतिहास लिखा जायेगा, वह प्राचीन भारतीय साहित्य के द्वारा पूर्णतया प्रमाणित और सत्यापित होगा। यह एक आवश्यक कार्य है। 'एक भारतीयात्मता' जो आजकल 'एकात्मता' के आयोजनों में झलकायी जाती है, अपने विशद और विशुद्धरूप में आविर्भूत हो जायेगी। सुधी जनों का ध्यान इस ओर आकृष्ट होगा—ऐसी आशा करना अनुचित नहीं।

॥ श्री मार्कण्डेयपुराण के 'सृष्टिप्रकरण' से सम्बद्ध ४९ वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त ॥

पञ्चाशोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

ततोऽभिध्यायतस्तस्य जज्ञिरे मानसीः प्रजाः ।
तच्छरीरसमुत्पन्नैः कार्य्यैस्तैः कारणैः सह ॥१॥
क्षेत्रज्ञाः समवर्त्तन्त गात्रेभ्यस्तस्य धीमतः ।
ते सर्वे समवर्त्तन्त ये मया प्रागुदाहृताः ॥२॥
देवाद्याः स्थावरान्ताश्च त्रैगुण्यविषयाः स्मृताः ।
एवंभूतानि सृष्टानि स्थावराणि चराणि च ॥३॥
यदास्य ताः प्रजाः सर्वा न व्यवर्द्धन्त धीमतः ।
अथान्यान्मानसान् पुत्रान् सदृशानात्मनोऽसृजत् ॥४॥
भृगुं पुलस्त्यं पुलहं क्रतुमङ्गिरसन्तथा ।
मरीचिं दक्षमत्रिञ्च वसिष्टञ्चैव मानसम् ॥५॥
नव ब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयङ्गताः ।
ततोऽसृजत् पुनर्ब्रह्मा रुद्रं क्रोधात्मसम्भवम् ॥६॥

महामुनि मार्कण्डेय ने आगे कहा—

उसके बाद ब्रह्मा प्रजापति ने पुनः सृष्टि का सङ्कल्प किया और सङ्कल्प के साथ उन्होंने मानसी सृष्टि की, जो कि उनके शरीर से ही उत्पन्न हुई और उसीसे उनके विविध धर्म-कर्म और उनके सम्पादन के साधन भी उत्पन्न हुये ॥ १ ॥

महाबुद्धिमान् ब्रह्मा के ही शरीर से वे क्षेत्रज्ञ अथवा जीव उत्पन्न हुए, जिनके विषय में मैंने पहले ही सब कुछ कह दिया है ॥ २ ॥

ये क्षेत्रज्ञ देवों से आरम्भ कर वृक्षादिपर्यन्त थे, जो कि सत्त्व-रजस्-तमस् इन गुणत्रय से ओतप्रोत थे। चराचर सृष्टि जो त्रैगुण्यात्मक है, इसी प्रकार हुई ॥ ३ ॥

जब ब्रह्मा प्रजापति ने यह देखा कि उनकी मानसी क्षेत्रज्ञ-सृष्टि आगे नहीं बढ़ रही है, तब उन्होंने अपने समान अन्य मानस-पुत्रों को उत्पन्न किया ॥ ४ ॥

पुराणों में जिन्हें नवविध (नौ प्रकार के) ब्रह्मा के रूप में निर्धारित किया गया है, वे ब्रह्मा के ही मानस-पुत्र हैं, जिनमें भृगु, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अङ्गिरा, मरीचि, दक्ष अत्रि तथा वसिष्ठ—इन नौ को गिना जाता है। इन नौ मानस-पुत्रों की सृष्टि के बाद ब्रह्मा ने पुनः अपने क्रोधाकुल मन से रुद्र की सृष्टि की ॥ ५-६ ॥

सङ्कल्पञ्चैव धर्मञ्च पूर्वेषामपि पूर्वजम् ।
सनन्दनादयो ये च पूर्वं सृष्टाः स्वयंभुवा ॥७॥

न ते लोकेषु सज्जन्तो निरपेक्षाः समाहिताः ।
सर्वे तेऽनागतज्ञाना वीतरागा विमत्सराः ॥८॥

तेष्वेवं निरपेक्षेषु लोकसृष्टौ महात्मनः ।
ब्रह्मणोऽभून्महाक्रोधस्तत्रोत्पन्नोऽर्कसन्निभः ॥९॥

अर्द्धनारीनरवपुः पुरुषोऽतिशरीरवान् ।
विभजात्मानमित्युक्त्वा स तदान्तर्दधे ततः ॥१०॥

स चोक्तो वै पृथक् स्त्रीत्वं पुरुषत्वं तथाकरोत् ।
बिभेद पुरुषत्वञ्च दशधा चैकधा तु सः ॥११॥

सौम्यासौम्यैस्तथा शान्तैः पुंस्त्वं स्त्रीत्वञ्च स प्रभुः ।
बिभेद बहुधा देवः पुरुषैरसितैः सितैः ॥१२॥

ततो ब्रह्मात्मसम्भूतं पूर्वं स्वायम्भुवं प्रभुः ।
आत्मनः सदृशं कृत्वा प्रजापालो मनुं द्विज ॥१३॥

किन्तु इन नव मानस-पुत्रों और रुद्र की सृष्टि के भी पहले स्वयंभू प्रजापति ने उनके पूर्वज सङ्कल्प और धर्म की सृष्टि की थी। सनन्दन प्रभृति, जिनकी सृष्टि उन्होंने पहले की थी, ऐसे निकले जो कि लौकिक सुखभोग में अनासक्त, लौकिक सुखभोग के प्रति निरपेक्ष तथा समाहितचित्त थे और सब के सब स्वाभाविक ज्ञान से सम्पन्न, वीत-राग तथा ईर्ष्याद्वेष के भावों से अछूते थे ॥ ७-८ ॥

जब ब्रह्मा ने इन मानसपुत्रों की लोक-सृष्टि के चक्र को आगे चलाने में निरपेक्ष देखा, तब उन्हें बहुत अधिक क्रोध हुआ, जिससे एक सूर्य सदृश तेजोमय, विशालकाय, अर्द्धनारीश्वर रूप प्रादुर्भूत हुआ। ब्रह्मा उससे यह कह कर कि वह अपने स्त्रीपुंमय शरीर का विभाजन कर दे, अन्तर्हित हो गए। ब्रह्मा के कहने के अनुसार उसने अपने आपको स्त्रीभाग तथा पुरुषभाग में विभक्त कर दिया और पुरुषभाग के इग्यारह भाग कर दिए ॥ ९-११ ॥

ब्रह्मा प्रजापति ने स्त्री और पुरुष—दोनों के स्वभाव सौम्य और असौम्य रूप से दो प्रकार के बना दिये तथा पुरुषों के गौरवर्ण और कृष्णवर्ण आदि भेदों से अनेक भेद कर दिए ॥ १२ ॥

जगदीश्वर, प्रजापति ब्रह्मा ने अपने ऊपर अपनी प्रजा के पालन का भार उठाया और अपने आत्मसंभूत स्वायंभुव मनु नामक पुत्र को, सर्वप्रथम, अपने सदृश बनाया।

शतरूपाञ्च तां नारीं तपोनिर्धूतकल्मषाम् ।
स्वायम्भुवो मनुर्देवः पत्नीत्वे जगृहे विभुः ॥१४॥
तस्माच्च पुरुषात् पुत्रौ शतरूपा व्यजायत ।
प्रियव्रतोत्तानपादौ प्रख्यातावात्मकर्मभिः ॥१५॥
कन्ये द्वे च तथा ऋद्धिं प्रसूतिश्च ततः पिता ।
ददौ प्रसूतिं दक्षाय तथा ऋद्धिं रुचेः पुरा ॥१६॥
प्रजापतिः स जग्राह तयोर्यज्ञः सदक्षिणः ।
पुत्रो जज्ञे महाभाग ! दम्पतीमिथुनं ततः ॥१७॥
यज्ञस्य दक्षिणायान्तु पुत्रा द्वादश जज्ञिरे ।
यामा इति समाख्याता देवाः स्वायम्भुवोऽन्तरे ॥१८॥
तस्य पुत्रास्तु यज्ञस्य दक्षिणायां सभास्वराः ।
प्रसूत्याञ्च तथा दक्षश्चतस्रो विंशतिस्तथा ॥१९॥

साथ ही साथ शतरूपा नाम की नारी की भी सृष्टि की, जो कि तपश्चरण से निष्कलुष थी। स्वायंभुव मनु ने उस शतरूपा को ही अपनी धर्मपत्नी के रूप में ग्रहण किया ॥ १३-१४ ॥

स्वायंभुव मनु से शतरूपा ने दो पुत्रों को जन्म दिया, जिनके नाम प्रियव्रत और उत्तानपाद थे और जो अपने-अपने कर्मों के कारण लोक में बहुत प्रसिद्ध हुए ॥ १५ ॥

स्वायंभुव मनु और शतरूपा की ऋद्धि और प्रसूति नाम की दो कन्याएँ भी हुईं। स्वायंभुव मनु ने, जो कि उनके पिता थे, पहले ही प्रसूति नाम की कन्या को दक्ष के लिए तथा ऋद्धि नाम की कन्या को रुचि के लिए दे दिया ॥ १६ ॥

प्रजापति रुचि ने ऋद्धि को पत्नी रूप में स्वीकार किया और इन दोनों से यज्ञ नाम का पुत्र तथा दक्षिणा नाम की पुत्री का जन्म हुआ। इसके बाद यज्ञ और दक्षिणा दम्पति-मिथुन (पति-पत्नी-युगल) के रूप में रहने लगे ॥ १७ ॥

दक्षिणा से यज्ञ ने बारह पुत्र उत्पन्न किये, जिन्हें स्वायंभुव मन्वन्तर के याम नामक द्वादश देव कहा जाता है ॥ १८ ॥

दक्षिणा से यज्ञ के जो पुत्र जन्म लिए थे वे बड़े तेजस्वी थे। प्रसूति नाम से भी दक्ष की सन्तति हुई जो संख्या में चौबीस थी ॥ १९ ॥

ससर्ज्ज कन्यास्तासाञ्च सम्यङ्नामानि मे शृणु ।
श्रद्धा लक्ष्मीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिर्मेधा क्रिया तथा ।।२०।
बुद्धिर्लज्जा वपुः शान्तिः सिद्धिः कीर्त्तिस्त्रयोदशी ।
पत्न्यर्थे प्रतिजग्राह धर्मो दाक्षायणीः प्रभुः ।।२१।
ताभ्यः शिष्टा यवीयस्य एकादश सुलोचनाः ।
ख्यातिः सत्यथ सम्भूतिः स्मृतिः प्रीतिस्तथा क्षमा ।।२२।
सन्ततिश्चानसूया च ऊर्ज्जा स्वाहा स्वधा तथा ।
भृगुर्भवो मरीचिश्च तथा चैवाङ्गिरा मुनिः ।।२३।
पुलस्त्यः पुलहश्चैव क्रतुश्च ऋषयस्तथा ।
वसिष्ठोऽत्रिस्तथा वह्निः पितरश्च यथाक्रमम् ।।२४।
ख्यात्याद्या जगृहुः कन्या मुनयो मुनिसत्तमाः ।
श्रद्धा कामं श्रीश्च दर्पं नियमं धृतिरात्मजम् ।।२५।
सन्तोषञ्च तथा तुष्टिर्लोभं पुष्टिरजायत ।
मेधा श्रुतं क्रिया दण्डं नयं विनयमेव च ।।२६।
बोधं बुद्धिस्तथा लज्जा विनयं वपुरात्मजम् ।
व्यवसायं प्रजज्ञे वै क्षेमं शान्तिरसूयत ।।२७।

दक्ष की यह सन्तति चौबीस कन्याएँ थीं, जिनके नाम सुनो जिन्हें मैं तुम्हें बता रहा हूँ। इन चौबीस कन्याओं के नाम ये थे—१) श्रद्धा, २) लक्ष्मी, ३) धृति, ४) तुष्टि, ५) पुष्टि, ६) मेधा, ७) क्रिया, ८) बुद्धि, ९) लज्जा, १०) वपु, ११) शान्ति, १२) सिद्धि तथा १३) कीर्ति। धर्म ने दक्ष प्रजापति की इन सभी कन्याओं से विवाह कर अपनी धर्मपत्नी बना लिया ॥ २०-२१ ॥

इन कन्याओं के बाद इनसे छोटी इग्यारह सुन्दर कन्याएँ बच गयीं थीं, जिनमें १ली) ख्याति, २री) सती, ३री) संभूति, ४थी) स्मृति, ५वीं) प्रीति, ६ठीं) क्षमा, ७वीं) सन्तति, ८वीं) अनसूया, ९वीं) ऊर्जा, १०वीं) स्वाहा तथा ११वीं) स्वधा नाम की थीं। इन ख्याति आदि इग्यारह कन्याओं से क्रमशः १) मुनि भृगु, २) मुनि भव, ३) मुनि मरीचि, ४) अङ्गिरा मुनि, ५) ऋषि पुलस्त्य, ६) ऋषि पुलह, ७) ऋषि क्रतु ८) महर्षि वसिष्ठ, ९) महर्षि अत्रि, १०) महर्षि वह्नि तथा ११) पितरों ने विवाह कर लिया। इन चौबीस कन्याओं में से श्रद्धा ने काम को, श्री ने दर्प को तथा धृति ने नियम को पुत्ररूप में उत्पन्न किया ॥ २२-२५ ॥

इसी प्रकार, तुष्टि ने सन्तोष तथा पुष्टि ने लोभ को पुत्ररूप में जन्म दिया। मेधा से श्रुत, क्रिया से दण्ड, नय और विनय, बुद्धि से बोध, लज्जा से विनय, वपुष् से

सुखं सिद्धिर्यशः कीर्तिरित्येते धर्मयोनयः ।
कामादतिमुदं हर्षं धर्मपौत्रमसूयत ॥२८॥
हिंसा भार्य्या त्वधर्मस्य तस्यां जज्ञे तथानृतम् ।
कन्या च निर्ऋतिस्तस्यां सुतौ द्वौ नरकं भयम् ॥२९॥
माया च वेदना चैव मिथुनं द्वयमेतयोः ।
तयोर्जज्ञेऽथ वै माया मृत्युं भूतापहारिणम् ॥३०॥
वेदनात्मसुतश्चापि दुःखं जज्ञेऽथ रौरवात् ।
मृत्योर्व्याधि-जरा-शोक-तृष्णा-क्रोधाश्च जज्ञिरे ॥३१॥
दुःखोद्भवाः स्मृता ह्येते सर्वे वाधर्मलक्षणाः ।
नैषां भार्य्यास्ति पुत्रो वा सर्वे ते ह्यूर्द्ध्वरेतसः ॥३२॥
निर्ऋतिश्च तथा चान्या मृत्योर्भार्य्याभवन्मुने ।
अलक्ष्मीर्नाम तस्याञ्च मृत्योः पुत्राश्चतुर्दश ॥३३॥

व्यवसाय, शान्ति से क्षेम, सिद्धि से सुख और कीर्ति से यश—ये पुत्ररूप में उत्पन्न हुए । ये सब धर्म की सन्ततियाँ हैं । काम ने (संभवतः रति से) धर्म के पौत्ररूप में अत्यन्त आनन्दमय हर्ष को जन्म दिया ॥ २६-२८ ॥

अधर्म की पत्नी का नाम हिंसा था, जिसके गर्भ से अनृत नाम का पुत्र और निर्ऋति नाम की पुत्री की उत्पत्ति हुई । निर्ऋति ने नरक और भय नाम के दो पुत्रों को जन्म दिया ॥ २९ ॥

इसी निर्ऋति से माया और वेदना नामक कन्यामिथुन (एक साथ उत्पन्न दो पुत्रियों) की सृष्टि हुई । नरक तथा भय नामक पुत्र-मिथुन तथा माया और वेदना नामक कन्या-मिथुन—ये क्रमशः दाम्पत्य-बन्धन में बंध गये । इन मिथुनों में माया ने मृत्यु नामक पुत्र को जन्म दिया, जो कि भूतमात्र के प्राणों का संहारक हुआ ॥ ३० ॥

रौरव नरक नामक पति से वेदना का पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम दुःख पड़ा और माया के पुत्र मृत्यु से व्याधि, जरा, शोक, तृष्णा तथा क्रोध नाम की सन्ततियाँ उत्पन्न हुईं ॥ ३१ ॥

यह मृत्यु की सन्तति पुराणों में दुःख से उद्भूत मानी जाती हैं और इन सबमें अधर्म के लक्षण पाये जाते हैं । इन सन्तति में जो पुत्र हैं, उनकी कोई पत्नी नहीं है और जो पुत्रियां हैं, उनके कोई पुत्र नहीं । इसलिए इस मृत्यु-सन्तान को ऊर्ध्वरेता (अथवा ब्रह्मचर्यनिष्ठ) कहा जाया करता है ॥ ३२ ॥

मुनिवर क्रौष्टुकि ! मृत्यु की एक पत्नी निर्ऋति थी और दूसरी पत्नी अलक्ष्मी थी । इस अलक्ष्मी के गर्भ से मृत्यु के चौदह पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ३३ ॥

अलक्ष्मीपुत्रका ह्येते मृत्योरादेशकारिणः ।
विनाशकालेषु नरान् भजन्त्येते शृणुष्व तान् ।।३४।
इन्द्रियेषु दशस्वेते तथा मनसि च स्थिताः ।
स्वे स्वे नरं स्त्रियं वापि विषये योजयन्ति हि ।।३५।
अथेन्द्रियाणि चाक्रम्य रागक्रोधादिभिर्नरान् ।
योजयन्ति यथा हानिं यान्त्यधर्मादिभिर्द्विज ।।३६।
अहङ्कारगतश्चान्यस्तथान्यो बुद्धिसंस्थितः ।
विनाशाय नराः स्त्रीणां यतन्ते मोहसंश्रिताः ।।३७।
तथैवान्यो गृहे पुंसां दुःसहो नाम विश्रुतः ।
क्षुत्क्षामोऽधोमुखो नग्नश्चीरी काकसमस्वनः ।।३८।
स सर्वान् खादितुं सृष्टो ब्रह्मणा तमसो निधिः ।
दंष्ट्राकरालमत्यर्थं विवृतास्यं सुभैरवम् ।।३९।
तमत्तुकाममाहेदं ब्रह्मा लोकपितामहः ।
सर्वब्रह्ममयः शुद्धः कारणं जगतोऽव्ययः ।।४० ।

अलक्ष्मी के ये प्रिय पुत्र अपने पिता मृत्युदेव के आज्ञाकारी हैं और विनाशकाल के उपस्थित होने पर मानवों के सङ्ग-साथ लग जाते हैं। इनके सम्बन्ध में जो कह रहा हूँ सुनिए। ये अलक्ष्मी-पुत्र मनुष्य की पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों तथा उनके मन में निवास करते हैं और स्त्री तथा पुरुष दोनों को उनके विषय-भोगों में लगाया करते हैं। द्विजवर क्रौष्टुकि ! ये अलक्ष्मी-पुत्र मनुष्यों की इन्द्रियों पर आक्रमण करते हैं और राग-द्वेष, क्रोधादि को उनके साथ संयुक्त कर देते हैं, जिसके कारण मनुष्य अधर्माचरण में प्रवृत्त होकर बहुत हानि उठाया करते हैं ।। ३४-३६ ।।

अलक्ष्मी का (इन उपर्युक्त इग्यारह पुत्रों के अतिरिक्त) बारहवाँ पुत्र अहंकार के सङ्ग रहा करता है और तेरहवाँ बुद्धि के सङ्ग, जिसके परिणाम-स्वरूप पुरुष मोह के वशीभूत होकर नारियों के विनाश का प्रयत्न किया करते हैं ।। ३७ ।।

अलक्ष्मी का चौदहवाँ पुत्र; जिसका नाम 'दुःसह' है, मनुष्यों के गृहों में निवास करता है। यह भूख से दुर्बल शरीर, मुंह नीचे लटकाये, नङ्गा, चीथड़े लपेटे और कौए की सी कर्कश बोली वाला है। वस्तुतः यह तमोगुण की निधि है और इसकी सृष्टि ब्रह्मा प्रजापति ने सबका भक्षण करने के लिए की है। लोकपितामह ब्रह्मा ने, जो साक्षात् परब्रह्म स्वरूप, परमशुद्ध, जगत् कारण तथा अविनाशी है, उस विकराल दांतों वाले, बहुत अधिक मुंह बाये तथा बीभत्स रूप वाले 'दुःसह' को, सर्वभक्षण के लिए इच्छुक देख कर यह कहा ।। ३८-४० ।।

ब्रह्मोवाच—

नात्तव्यन्ते जगदिदं जहि कोपं शमं व्रज।
त्यजैनान्तामसीं वृत्तिमपास्य रजसः कलाम् ॥४१॥

दुःसह उवाच—

क्षुत्क्षामोऽस्मि जगन्नाथ ! पिपासुश्चापि दुर्बलः।
कथं तृप्तिमियान्नाथ ! भवेयं बलवान् कथम्।
कश्चाश्रयो ममाख्याहि वर्तेयं यत्र निर्वृतः ॥४२॥

ब्रह्मोवाच—

तवाश्रयो गृहं पुंसां जनश्चाधार्मिको बलम्।
पुष्टिं नित्यक्रियाहान्या भवान् वत्स ! गमिष्यति ॥४३॥
वृथास्फोटाश्च ते वस्त्रमाहारञ्च ददामि ते।
क्षतं कीटावपन्नञ्च तथा श्वभिरवेक्षितम् ॥४४॥
भग्नभाण्डगतन्तद्वन्मुखवातोपशामितम्।
उच्छिष्टापक्वमास्विन्नमवलीढमसंस्कृतम् ॥४५॥

ब्रह्मा प्रजापति की उक्ति--

अरे दुःसह ! इस जगत् को अपना ग्रास न बना। क्रोध छोड़। शान्त हो जा। रजोगुण के अंश हटाकर अपनी इस तामसी वृत्ति-प्रवृत्ति का परित्याग कर दे ॥ ४१ ॥

दुःसह बोला—

हे जगन्नाथ ! मैं भूख से बिलबिला रहा हूँ और मुझे प्यास लगी हुई है, मुझे कैसे तृप्ति मिले ! कैसे मैं बलवान् हो जाऊँ ? मैं कहां आश्रय लूं, जहां शान्तिपूर्वक मैं जी सकूँ ? कृपया इनके विषय में मुझे बता दें ॥ ४२ ॥

ब्रह्मा की उक्ति—

तुम्हारा आश्रय मनुष्य के गृह हैं, अधर्माचरण में लगे लोग तुम्हारे बल हैं। वत्स दुःसह ! मनुष्यों में नित्य धर्म-कर्म की हानि से तुम्हें पुष्टि प्राप्त हो गई ॥ ४३ ॥

तुम्हारे शरीर में अकारण निकले फोड़े-फफोले तुम्हारे वस्त्र का काम करेंगे। तुम्हारे भोजन के लिए मैं ऐसे पदार्थ दे रहा हूँ, जो क्षतिग्रस्त हो गये हों, जिनमें कीड़े लग गये हों तथा जिन्हें कुत्तों ने ललचायी आंखों से देखा हो ॥ ४४ ॥

तुम्हारी पुष्टि के लिए मैं जो भक्ष्य दे रहा हूँ वे ये हैं—टूटे-फूटे बर्तनों में रखे, मुंह की हवा से ठंढा किये, जूठे, कच्चे, पसीना गिरने से गीले, कुत्ते-बिल्ली के द्वारा चाटे गये, अच्छी तरह न पकाये गये, फटे-चिटे आसनों पर बैठे लोगों के द्वारा खाने के बाद

भग्नासनस्थितैर्भुक्तमासन्नागतमेव च ।
विदिङ्मुखं सन्ध्ययोश्च नृत्यवाद्यस्वनाकुलम् ।।४६।
उदक्योपहतं भुक्तमुदक्या दृष्टमेव च ।
यच्चोपघातवत् किञ्चिद् भक्ष्यं पेयमथापि वा ।।४७।
एतानि तव पुष्टयर्थमन्यच्चापि ददामि ते ।
अश्रद्धया हुतं दत्तमस्नातैर्यदवज्ञया ।।४८।
यन्नाम्बुपूर्वकं क्षिप्तमनर्थीकृतमेव च ।
त्यक्तुमाविष्कृतं यत् तु दत्तं चैवातिविस्मयात् ।।४९।
दुष्टं क्रुद्धार्तदत्तञ्च यक्ष तद्भागि तत् फलम् ।
यच्च पौनर्भवः किञ्चित् करोत्यामुष्मिकं क्रमम् ।।५०।
यच्च पौनर्भवा योषित् तद्यक्ष ! तव तृप्तये ।
कन्याशुल्कोपधानाय समुपास्ते धनक्रियाः ।।५१।
तथैव यक्ष ! पुष्टयर्थमसच्छास्त्रक्रियाश्च याः ।
यच्चार्थनिर्वृतं किञ्चिदधीतं यन्न सत्यतः ।।५२।

बचे, कहीं आस-पास से लाकर एकत्र किए, अनिर्दिष्ट दिग्भागों में रखे, प्रातःकाल और सायंकाल की सन्ध्याओं में नाचने-गाने-बजाने की ध्वनि के कारण व्यग्रता के उत्पादक, रजस्वला स्त्री से छुए गये, खाये गये अथवा देखे गये और इन सबके अतिरिक्त जो भी भक्ष्य अथवा पेय दूषित हो गये हों। इनके अतिरिक्त भी, अरे यक्ष ! मैं तुम्हारे भक्ष्य और पेय के लिये बहुत वस्तुएँ दे रहा हूँ ।। ४५-४७ ।।

तुम्हें जो दे रहा हूँ, वे ये वस्तुएँ हैं—विना स्नान-ध्यान किये लोगों द्वारा अश्रद्धापूर्वक अथवा तिरस्कारपूर्वक दिये यज्ञान्न, जल-प्रोक्षण के बिना यों ही तेरे खाने के लिये फेंके गये खाद्य पदार्थ, भोजन के सर्वथा अयोग्य भक्ष्य, फेंकने के लिए रखे गये अन्न, दाता के द्वारा बहुत गर्वपूर्वक दिये गये भोज्य, दूषित खाद्य पदार्थ तथा क्रोध अथवा कष्ट में पड़े लोगों द्वारा दिये गये खाद्यान्न, जिनके दान का फल दाता को ही मिलता है। तुम्हारी तृप्ति के लिये मैं कुछ और भी देता हूँ, जैसे कि विधवा होने के बाद पुनः विवाहित स्त्री के पुत्र द्वारा परलोक के लिए किए गए धर्म-कर्म से सम्बद्ध दान की वस्तुएँ और पुनर्विवाहित विधवा की पुत्री के द्वारा पारलौकिक सुख-प्राप्ति के निमित्त किए-करवाए गए अनुष्ठानों से सम्बद्ध दान-दक्षिणा की वस्तुएँ। तुम्हारी पुष्टि के लिए तुम्हें ऐसे लोगों को दे रहा हूँ, जो विवाह करने के पूर्व प्राप्त कन्याशुल्क से धनोपार्जन करते हैं और असच्छास्त्रों में प्रतिपादित क्रियाओं के अनुष्ठान में लगे रहते हैं। तुम्हारी सिद्धि के लिए स्वाध्याय (वेद) का अर्थज्ञान रहित अध्ययन दे रहा हूँ और ऐसा स्वाध्यायाध्ययन दे रहा हूँ, जो वस्तुतः असत्याध्ययन है। साथ ही साथ तुम्हारी तृप्ति-तुष्टि-सिद्धि के लिए उचित समय का भी निर्देश कर रहा हूँ ।। ४८-५२ ।।

तत सर्वं तव कालांश्च ददामि तव सिद्धये ।
गुर्व्विण्यभिगमे सन्ध्यानित्यकार्य्यव्यतिक्रमे ॥५३॥
असच्छास्त्रक्रियालापदूषितेषु च दुःसह ।
तवाभिभवसामर्थ्यं भविष्यति सदा नृषु ॥५४॥
पङ्क्तिभेदे वृथापाके पाकभेदे तथा क्रिया ।
नित्यञ्च गेहकलहे भविता वसतिस्तव ॥५५॥
अपोष्यमाणे च तथा भृत्ये गोवाहनादिके ।
असन्ध्याभ्युक्षितागारे काले त्वत्तो भयं नृणाम् ॥५६॥
नक्षत्रग्रहपीडासु त्रिविधोत्पातदर्शने ।
अशान्तिकपरान् यक्ष ! नरानभिभविष्यसि ॥५७॥
वृथोपवासिनो मर्त्या द्यूतस्त्रीषु सदा रताः ।
त्वद्भाषणोपकर्त्तारो वैडालव्रतिकाश्च ये ॥५८॥
अब्रह्मचारिणाधीतमिज्या चाविदुषा कृता ।
तपोवने ग्राम्यभुजां तथैवानिर्जितात्मनाम् ॥५९॥

अरे दुःसह ! तुम्हारा विजय-सामर्थ्य ऐसे लोगों पर सदा सफल होगा, जो गर्भिणी स्त्री से सहवास करते हों, संध्या-वन्दन प्रभृति नित्यकर्मों के अनुष्ठानों में व्यतिक्रम करते हों और जिनके हृदय असच्छास्त्र, असत्कर्म तथा असत्प्रलाप से दूषित हो गये हों ॥ ५३-५४ ॥

तुम्हारे कर्त्तव्य मनुष्यों में वैर-वैमनस्य उत्पन्न करना, केवल अपने पेट भरने के लिये भोजन बनाना और दूसरों की पाकक्रिया में गड़बड़ी पैदा करना होगा। तुम्हारे निवास का स्थान वे घर होंगे, जहाँ नित्य कलह होते हों ॥ ५५ ॥

ऐसे समय में लोग तुमसे भयभीत हुआ करेंगे, जब वे अपने भृत्यों तथा अपने गोधन किंवा वाहनोपयुक्त अश्वादि का भरण-पोषण न कर रहे हों और जब वे प्रातः और सायं—दोनों सन्ध्या कालों में अपने आवासस्थानों को जलादि से प्रक्षालित न कर रहे हों ॥ ५६ ॥

अरे यक्ष दुःसह ! सूर्य-चन्द्रादि के ग्रहण के समय तथा आधिभौतिक-आधिदैविक एवं आध्यात्मिक उत्पातों के दर्शन के समय शान्तिक कर्म का अनुष्ठान न करने वाले लोगों पर तेरे पराक्रम का प्रभाव पड़ा करेगा ॥ ५७ ॥

तेरे कहने के अनुसार वे लोग आचरण किया करेंगे, जो उपवास का ढोंग रचते हों, जुआ खेलने में सदा लगे रहते हों, सदा स्त्री-प्रसङ्ग करने में उद्यत रहते हों और वैडालव्रतिक (धर्मध्वजी) हों। तुम्हें वे सब फल प्राप्त होंगे, जो बिना ब्रह्मचर्य-पालन के वेदाध्ययन के फल हैं, बिना यज्ञानुष्ठान के कर्मज्ञान के यज्ञ-याग के ढोंग करने

ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां शूद्राणाञ्च स्वकर्मतः ।
परिच्युतानां या चेष्टा परलोकार्थमीप्सताम् ॥६०।
तस्याश्च यत् फलं सर्वं तत् ते यक्ष ! भविष्यति ।
अन्यच्च ते प्रयच्छामि पुष्टचर्थं सन्निबोध तत् ॥६१।
भवतो वैश्वदेवान्ते नामोच्चारणपूर्वकम् ।
एतत् तवेति दास्यन्ति भवतो बलिमूर्ज्जितम् ॥६२।
यः संस्कृताशी विधिवच्छुचिरन्तस्तथा बहिः ।
अलोलुपो जितस्त्रीकस्तद्गेहमपवर्जय ॥६३।
पूज्यन्ते हव्यकव्याभ्यां देवताः पितरस्तथा ।
यामयोऽतिथयश्चापि तद्गेहं यक्ष ! वर्जय ॥६४।
यत्र मैत्री गृहे बालवृद्धयोषिन्नरेषु च ।
तथा स्वजनवर्गेषु गृहं तच्चापि वर्जय ॥६५।
योषितोऽभिरता यत्र न बहिर्गमनोत्सुकाः ।
लज्जान्विताः सदा गेहं यक्ष ! तत् परिवर्जय ॥६६।

के फल हैं, तपोवन में निवास करते हुए अभक्ष्य-भक्षण करने के फल हैं, विषयभागों में निरत इन्द्रियों के वश में रहने के फल हैं और अपने-अपने कर्मों से च्युत ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य और शूद्र वर्ण के लोगों द्वारा स्वर्गप्राप्ति की चेष्टाओं के फल हैं। तेरी पुष्टि के लिए तुझे कुछ और भी दे रहा हूँ, जिसे अच्छी तरह समझ ले ॥ ५८-६१ ॥

बलिवैश्वदेव यज्ञ के अन्त में, तेरे नामोच्चार के साथ, 'यह दुःसह यक्ष के लिये है' ऐसा कह कर, तेरे लिये जो बलि-प्रदान होगा, वह प्रचुर मात्रा में होगा ॥ ६२ ॥

तू उस घर में कभी न जाना, जहाँ रहने वाले यज्ञ-संस्कृत अन्न का विधिवत् भोजन करते हों, बाह्य तथा आभ्यन्तर शुद्धि से शुद्ध-पवित्र हों, लोभी न हों और नारी-परायण (अजितेन्द्रिय) न हों ॥ ६३ ॥

तू उस घर में भी न घुसना जहाँ देवों और पितरों की हव्य-कव्य के द्वारा अर्चा-पूजा होती हो और जहाँ कुल से सम्बद्ध नारियों और अतिथि-महानुभावों का सम्मान-सत्कार होता हो ॥ ६४ ॥

उस घर में भी तू प्रवेश न करना, जहाँ रहने वाले बच्चों-बूढ़ों-स्त्रियों और पुरुषों में परस्पर मैत्रीभाव हो और स्वजनवर्ग के प्रति भी मित्रता का व्यवहार होता हो ॥ ६५ ॥

यक्ष ! तू उस घर में कभी न जाना, जहाँ रहने वाली नारियाँ पति-पुत्र-प्रेम में प्रसन्न रहती हों, कहीं बाहर जाने के लिए उत्कण्ठित न होती हों और लज्जावती हों ॥ ६६ ॥

वयःसम्बन्धयोग्यानि शयनान्यशनानि च ।
यत्र गेहे त्वया यक्ष ! तद्वर्ज्यं वचनान्मम ।।६७।

यत्र कारुणिका नित्यं साधुकर्मण्यवस्थिताः ।
सामान्योपस्करैर्युक्तास्त्यजेथा यक्ष ! तद्गृहम् ।।६८।

यत्रासनस्थास्तिष्ठत्सु गुरु-वृद्ध-द्विजातिषु ।
न तिष्ठन्ति गृहं तच्च वर्ज्यं यक्ष ! त्वया सदा ।।६९।

तरुगुल्मादिभिर्द्वारं न विद्धं यस्य वेश्मनः ।
मर्मभेदोऽथवा पुंसस्तच्छ्रेयो भवनं न ते ।।७०।

देवतापितृभृत्यानामतिथीनाञ्च वर्तनम् ।
यस्यावशिष्टेनान्नेन पुंसस्तस्य गृहं त्यज ।।७१।

सत्यवाक्यान् क्षमाशीलानहिंस्रान्नानुतापिनः ।
पुरुषानीदृशान् यक्ष ! त्यजेथाश्चानसूयकान् ।।७२।

मेरे आदेशानुसर तू उस घर में भी प्रवेश न करना, जहाँ अवस्था तथा सम्बन्ध के अनुरूप शयन और आसन की व्यवस्था स्थापित हो ॥ ६७ ॥

यक्ष ! उस घर में जाना भी तू छोड़ देना, जहाँ रहने वाले दयार्द्रहृदय हों, सदाचार-परायण हों तथा जीवन-यापन के साधारण साधन रखते हों ॥ ६८ ॥

यक्ष ! तू उस घर में प्रवेश करना भी बंद कर देना, जहाँ गुरुजन, वृद्ध तथा विप्र के खड़े रहते ओर लोग आसन पर न बैठा करते हों अथवा गुरुजनादि के आसनस्थ रहते ओर लोग आसन पर न बैठते हों ॥ ६९ ॥

तुम्हारे लिये उस भवन में प्रवेश भी श्रेयस्कर नहीं, जिसके द्वार पेड़-पौधे तथा लतागुल्मों से आच्छन्न न हों और जहाँ रहने वाले परस्पर मर्मान्तिक वचन तथा कर्म में प्रवृत्त न होते हों ॥ ७० ॥

तू उस व्यक्ति का भी घर छोड़ दे, जो अपने अन्न से देवों पितरों भृत्यों तथा अतिथियों का तर्पण करता हो और उसके बाद अवशिष्ट अन्न से अपना भरण-पोषण करता हो ॥ ७१ ॥

यक्ष ! तू ऐसे लोगों के पास न फटकना जो सत्यवादी हों, क्षमाशील हों, अहिंसक हों, किसी दुष्कर्म के लिये पश्चात्ताप न करते हों और परनिन्दा से विमुख रहते हों ॥ ७२ ॥

भर्तृशुश्रूषणे युक्तामसत्स्त्रीसङ्गवर्जिताम् ।
कुटुम्बभर्तृशेषान्नपुष्टाञ्च त्यज योषितम् ॥७३॥
यजनाध्ययनाभ्यासदानासक्तमतिं सदा ।
याजनाध्यापनादानकृतवृत्तिं द्विजं त्यज ॥७४॥
दानाध्ययनयज्ञेषु सदोद्युक्तञ्च दुःसह ।
क्षत्रियं त्यज सच्छुल्कशस्त्राजीवात्तवेतनम् ॥७५॥
त्रिभिः पूर्वगुणैर्युक्तं पाशुपाल्य-वणिज्ययोः ।
कृषेश्चावाप्तवृत्तिञ्च त्यज वैश्यमकल्मषम् ॥७६॥
दानेज्या-द्विजशुश्रूषा-तत्परं यक्ष ! सन्त्यज ।
शूद्रञ्च ब्राह्मणादीनां शुश्रूषावृत्तिपोषकम् ॥७७॥
श्रुतिस्मृत्यविरोधेन कृतवृत्तिर्गृहे गृही ।
यत्र तत्र च तत्पत्नी तस्यैवानुगतात्मिका ॥७८॥

तू उस नारी के पास भी न पहुँचना, जो पति की सेवाशुश्रूषा में लगी रहती हो, असदाचार वाली स्त्रियों का सङ्ग-साथ न करती हो और अपने पति तथा परिवार के भोजन कर लेने के बाद अवशिष्ट भोजन करने में प्रसन्न रहा करती हो ॥ ७३ ॥

तू उस ब्राह्मण से सदा दूर रहा कर, जिसकी बुद्धि यज्ञानुष्ठान, वेदाध्ययन, वेदार्थचिन्तन तथा दानकर्म में लगी रहती हो और जिसकी जीविका ऋत्विक्-कर्म, वेदाध्यापन तथा दान-ग्रहण से चला करती हों ॥ ७४ ॥

अरे दुःसह यक्ष ! तू उस क्षत्रिय के समीप कभी न जाना, जो दान देने, स्वाध्याय के अध्ययन करने और यज्ञानुष्ठान में सदा तत्पर रहता हो और जिसकी जीविका अपनी प्रजा से शास्त्रविहित कर-ग्रहण करने तथा शस्त्रधारण से राजा द्वारा प्राप्त वेतन से चलती हो ॥ ७५ ॥

तू उस वैश्य को छोड़ देना, जो दानशीलता, वेदाध्ययन-परायणता तथा यज्ञानुष्ठान-तत्परता के पूर्वोक्त तीन गुणों से युक्त हो, जिसकी जीविका पशुपालन, वाणिज्य तथा कृषिकर्म से चलती हो और जिसमें छल-छद्म का कोई कालुष्य न हो ॥ ७६ ॥

अरे यक्ष ! तू उस शूद्र का भी परित्याग कर दे, जो दान, यज्ञ तथा द्विजशुश्रूषा में तत्पर रहता हो और जिसकी जीविका ब्राह्मणादि की सेवा-शुश्रूषा पर निर्भर हो ॥ ७७ ॥

यक्ष ! तू उस घर की ओर आँख उठा कर भी न देखना, जहाँ रहने वाला गृहस्थ श्रुति और स्मृति की आज्ञा-अनुज्ञा के अनुसार जीविका के लिए धनोपार्जन

यत्र पुत्रो गुरोः पूजां देवानाञ्च तथा पितुः।
पत्नी च भर्तुः कुरुते तत्रालक्ष्मीभयं कुतः ॥७९॥
सदानुलिप्तं सन्ध्यासु गृहमम्बुसमुक्षितम्।
कृतपुष्पबलिं यक्ष! न त्वं शक्नोषि वीक्षितुम् ॥८०॥
भास्करादृष्टशय्यानि नित्याग्निसलिलानि च।
सूर्य्यावलोकदीपानि लक्ष्म्या गेहानि भाजनम् ॥८१॥
यत्रोक्षा चन्दनं वीणा आदर्शो मधुसर्पिषी।
विषाज्यताम्रपात्राणि तद्गृहं न तवाश्रयः ॥८२॥
यत्र कण्टकिनो वृक्षा यत्र निष्पाववल्लरी।
भार्य्या पुनर्भूर्वल्मीकस्तद्यक्ष! तव मन्दिरम् ॥८३॥
यस्मिन् गृहे नराः पञ्च स्त्रीत्रयं तावतीश्च गाः।
अन्धकारेन्धनाग्निश्च तद्गृहं वसतिस्तव ॥८४॥

करता हो, जिसकी धर्मपत्नी सदा उसका अनुगमन करने वाली हो, जिसका पुत्र गुरु, देवता तथा पिता की पूजा करने वाला हो और जिसकी पुत्रवधू अपने पति की सेवा में लगी रहती हो। ऐसे घर में अलक्ष्मी अथवा दरिद्रता का भय कहाँ ? उस घर में जो लिपा-पुता साफ-सुथरा रहता हो, प्रातः तथा सायं–दोनों सन्ध्याकालों में जलप्रोक्षण से पवित्र किया जाता हो और जहाँ देवपूजन के निमित्त पुष्पोपहार तथा भूतबलि के कार्य सम्पन्न किये जाते हों, अलक्ष्मी (दरिद्रता) का भय कदापि नहीं घुस सकता ॥ ७८-८० ॥

लक्ष्मी के निवास के योग्य वे घर होते हैं, जहाँ सूर्य की किरणें गृहवासियों की शय्या पर नहीं पड़ा करती, जहाँ नित्य अग्नि प्रज्वलित रहती है, जहाँ पर्याप्त जल रखा रहता है और जहाँ सूर्य भगवान् को आरती दिखायी जाया करती है ॥ ८१ ॥

अरे दुःसह ! वह घर भी तेरा आश्रय-स्थान नहीं, जहाँ वृषभ (बैल) बंधा हो, चन्दन रखा हो, वीणा दिखायी देती हो, दर्पण रखा हो, मधुपूर्ण तथा घृतपूर्ण पात्र पड़े हों और जहाँ विष के लिए तथा यज्ञार्थ घृत के लिए ताम्रपात्र अलग-अलग रखे हों ॥ ८२ ॥

तेरा मन्दिर तो वह घर है, जहाँ कटीले पेड़-पौध जमें हों, जहाँ निष्पाव की लताएँ फैली हों, जहाँ की गृहिणी पुनर्विवाहित विधवा स्त्री हो और जहाँ दीमक के बनाये ढूह पड़े हों ॥ ८३ ॥

तुम्हारे रहने योग्य वह घर है, जहाँ पाँच पुरुष और तीन स्त्रियों का निवास हो, जहाँ तीन गाएँ बँधी हों और जहाँ भोजन बनाने के लिए अंधेरे में इन्धन जलाया जाया करता हो ॥ ८४ ॥

एकच्छागं द्विवालेयं त्रिगवं पञ्चमाहिषम् ।
षडश्वं सप्तमातङ्गं गृहं यक्षाशु शोषय ॥८५॥
कुद्दालदात्रपिटकं तद्वत् स्थाल्यादिभाजनम् ।
यत्र तत्रैव क्षिप्तानि तव दद्युः प्रतिश्रयम् ॥८६॥
मुसलोलूखले स्त्रीणामास्या तद्वदुदुम्बरे ।
अवस्करे मन्त्रणञ्च यक्षैतदुपकृत् तव ॥८७॥
लङ्घ्यन्ते यत्र धान्यानि पक्वापक्वानि वेश्मनि ।
तद्वच्छास्त्राणि तत्र त्वं यथेष्टं चर दुःसह ॥८८॥
स्थालीपिधाने यत्राग्निर्दत्तो दर्व्वीफलेन वा ।
गृहे तत्र दुरिष्टानामशेषाणां समाश्रयः ॥८९॥
मानुषास्थि गृहे यत्र दिवारात्रं मृतस्थितिः ।
तत्र यक्ष ! तवावासस्तथान्येषाञ्च रक्षसाम् ॥९०॥
अदत्त्वा भुञ्जते ये वै बन्धोः पिण्डं तथोदकम् ।
सपिण्डान् सोदकांश्चैव तत्काले तान् नरान् भज ॥९१॥

यक्ष ! तू उस घर का शीघ्र शोषण कर, जहाँ एक बकरी, दो गधे, तीन गाय, पाँच भैंस, छः घोड़े और सात हाथी दिखायी पड़े ॥ ८५ ॥

तुझे वे घर शरण देंगे, जिनमें कुदाली, खुरपी, पेटारी, थाली आदि बर्तन इधर-उधर फेंके दिखायी पड़े ॥ ८६ ॥

अरे यक्ष ! तुम्हारे लिये वे घर बड़े उपकरी हैं जहाँ मूसर, ओखर, गूलर के बने चौखट तथा कूड़ा-कर्कट की जगहों पर स्त्रियों की बैठक और इधर-उधर की बात-चीत होती हो ॥ ८७ ॥

अरे दुःसह ! तू उन घरों में स्वच्छन्द रूप से विचरण कर, जहाँ लोग भोजन के लिये पकाए गए या खेतों से लाकर रखे गये धान्य लाँघा करते हों और साथ ही साथ जहाँ धर्मशास्त्रों की आज्ञा का उल्लंघन किया जाया करता हो ॥ ८८ ॥

वह घर सभी प्रकार के अपशकुनों का आवास है, जिसमें पतीली के ढक्कन पर आग पड़ी हो या कलछुल से उठाकर उस पर आग रखती जाती हो ॥ ८९ ॥

जिस घर में मनुष्य की हड्डी पड़ी हो और दिन-रात कोई शव पड़ा हो, वहाँ अरे यक्ष ! तुम्हारा और तुम्हारे साथ और राक्षसों का डेरा डालना ठीक है ॥ ९० ॥

दुःसह ! तुम उन मनुष्यों के साथ उस समय रहो, जब वे अपने बन्धु-बान्धवों के लिए पिण्डदान तथा जलाञ्जलि दिये बिना भोजन करते हों और अपने सपिण्डों तथा समानोदकों को भोजन न कराते हों ॥ ९१ ॥

यत्र पद्ममहापद्मौ सुरभिर्मोदकाशिनी ।
वृषभैरावतौ यत्र कल्प्यन्ते तद्गृहं त्यज ॥९२।
अशस्त्रा देवता यत्र सशस्त्राश्चाहवं विना ।
कल्प्यन्ते मनुजैरर्च्यास्तत् परित्यज मन्दिरम् ॥९३।
पौरजानपदैर्यत्र प्राक्प्रसिद्धमहोत्सवाः ।
क्रियन्ते पूर्ववद् गेहे न त्वं तत्र गृहे चर ॥९४।
शूर्पवातघटाम्भोभिः स्नानं वस्त्राम्बुविप्रुषैः ।
नखाग्रसलिलैश्चैव तान् याहि हतलक्षणान् ॥९५।
देशाचारान् समयान् ज्ञातिधर्मं
जपं होमं मङ्गलं देवतेष्टिम् ।
सम्यक्शौचं विधिवल्लोकवादान्
पुंसस्त्वया कुर्वतो माऽस्तु सङ्गः ॥९६।

यक्ष ! तू उस घर में जाना छोड़ देना, जिसकी दीवारों पर पद्म, महापद्म, प्रसन्नमुख वाली गौ, वृषभ तथा ऐरावत हाथी के भित्तिचित्र दिखायी देते हों ॥ ९२ ॥

तू उस घर को भी छोड़ देना, जिसमें लोग पूजा के लिए ऐसी देवमूर्तियाँ दीवालों पर बनाते हों, जिनके हाथों में या तो शस्त्र न हों अथवा यदि शस्त्र हों तो युद्ध का कोई दृश्य न दिखाया गया हो ॥ ९३ ॥

तू उस घर में कभी विचरण न करना, जहाँ पौर-जानपद लोग प्राचीन काल के प्रसिद्ध महोत्सवों का, पहले जैसा, आयोजन किया करते हों ॥ ९४ ॥

तू उन अभागे लोगों के पास जा, जो सूप के फटकने से पैदा हुई हवा लगने से ही मान लेते हों कि स्नान हो गया, जो यदि सचमुच स्नान करते हों तो घड़े में रखे पानी से स्नान करते हों, जो कपड़े निचोड़ने में गिरी पानी की बूँदों से देह पोंछ लेते हों और नख के अग्रभाग से छिड़के गये पानी के छींटों से ही स्नान-क्रिया की समाप्ति समझ लेते हों ॥ ९५ ॥

ऐसे लोगों का सङ्ग-साथ तेरे लिये वर्जित है, जो लोकाचार, शास्त्रविहित आचार, कुलधर्म, जप, होम, माङ्गलिक कार्य, देवयज्ञ, समीचीन रूप से बाह्याभ्यन्तर-शुद्धि—इन सब कार्यों में लगे रहते हैं और अपने (सदाचार विषयक) वार्तालाप से लोगों के (अनर्गल) आलाप-संलाप को नियन्त्रित किया करते हैं ॥ ९६ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

इत्युक्त्वा दुःसहं ब्रह्मा तत्रैवान्तरधीयत।
चकार शासनं सोऽपि तथा पङ्कजजन्मनः ॥९७।

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे यक्षानुशासनो नाम पञ्चाशोऽध्यायः।

महामुनि मार्कण्डेय ने कहा—

ब्रह्मा ने दुःसह को ये सब बातें बतायीं और उसके बाद वे अन्तर्हित हो गए। दुःसह ने भी पद्मयोनि ब्रह्मा प्रजापति के आदेश के ही अनुसार अपना आचार-व्यवहार बना लिया॥ ९७॥

पर्यालोचन

(क) मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय के श्लोकों को ध्यान में रखकर श्रीविष्णु-पुराण के प्रथम अंश के सप्तम अध्याय के नीचे लिखे श्लोकों पर दृष्टिपात कीजिए—

'ततोऽभिध्यायतस्तस्य जज्ञिरे मानसाः प्रजाः।
तच्छरीरसमुत्पन्नैः कार्यैस्तैः करणैः सह॥

क्षेत्रज्ञाः समवर्तन्त गात्रेभ्यस्तस्य धीमतः।
ते सर्वे समवर्तन्त ये मया प्रागुदाहृताः॥

देवाद्याः स्थावरान्ताश्च त्रैगुण्यविषये स्थिताः।
एवंभूतानि सृष्टानि चराणि स्थावराणि च॥

यदास्य ताः प्रजाः सर्वा न व्यवर्धन्त धीमतः।
अथान्यान् मानसान् पुत्रान् सदृशानात्मनोऽसृजत्॥

भृगुं पुलस्त्यं पुलहं क्रतुमङ्गिरसं तथा।
मरीचिं दक्षमत्रिञ्च वसिष्ठं चैव मानसान्॥

नव ब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः।
ख्यातिं भूतिं च संभूतिं क्षमां प्रीतिं तथैव च॥

सन्नतिं च तथैवोर्ज्जामनसूयां तथैव च।
प्रसूतिं च ततः सृष्ट्वा ददौ तेषां महात्मनाम्॥

पत्न्यो भवध्वमित्युक्त्वा तेषामेव तु दत्तवान्।
सनन्दनादयो ये च पूर्वसृष्टास्तु वेधसा॥

न ते लोकेष्वसज्जन्त निरपेक्षाः प्रजासु ते।
सर्वे तेऽभ्यागतज्ञाना वीतरागा विमत्सराः॥

तेष्वेवं निरपेक्षेषु लोकसृष्टौ महात्मनः।
ब्रह्मणोऽभून्महान् क्रोधस्त्रैलोक्यदहनक्षमः॥
....

भ्रुकुटिकुटिलात्तस्य ललाटात् क्रोधदीपितात्।
समुत्पन्नस्तदा रुद्रो मध्याह्नार्कसमप्रभः॥

अर्धनारीनरवपुः प्रचण्डोऽतिशरीरवान्।
विभजात्मानमित्युक्त्वा तं ब्रह्माऽन्तर्दधे ततः॥

तथोक्तोऽसौ द्विधा स्त्रीत्वं पुरुषत्वं तथाकरोत्।
बिभेद पुरुषत्वं च दशधा चैकधा पुनः॥

सौम्यासौम्यैस्तदा शान्ताशान्तैः स्त्रीत्वं च स प्रभुः।
बिभेद बहुधा देवः स्वरूपैरसितैः सितैः॥

ततो ब्रह्मात्मसंभूतं पूर्वं स्वायम्भुवं प्रभुः ।
आत्मानमेव कृतवान् प्राजापाल्ये मनुं द्विज ॥

शतरूपां च तां नारीं तपोनिर्धूतकल्मषाम् ।
स्वायम्भुवो मनुर्देवः पत्नीत्वे जगृहे प्रभुः ॥

तस्मात्तु पुरुषाद् देवी शतरूपा व्यजायत ।
प्रियव्रतोत्तानपादौ प्रसूत्याकूतिसंज्ञितम् ॥

कन्याद्वयं च धर्मज्ञ रूपौदार्यगुणान्वितम् ।
ददौ प्रसूतिं दक्षाय आकूतिं रुचये पुरा ॥

प्रजापतिः स जग्राह तयोर्जज्ञे सदक्षिणः ।
पुत्रो यज्ञो महाभाग दम्पत्योर्मिथुनं ततः ॥

यज्ञस्य दक्षिणायां तु पुत्रा द्वादश जज्ञिरे ।
यामा इति समाख्याता देवाः स्वायम्भुवे मनौ ॥

प्रसूत्यां च तथा दक्षश्चतस्रो विंशतिस्तथा ।
ससर्ज कन्यास्तासां च सम्यङ्नामानि मे श्रृणु ॥

श्रद्धा लक्ष्मीर्धृतिस्तुष्टिर्मेधा पुष्टिस्तथा क्रिया ।
बुद्धिर्लज्जा वपुः शान्तिः सिद्धिः कीर्तिस्त्रयोदशी ॥

पत्न्यर्थं प्रतिजग्राह धर्मो दाक्षायणीः प्रभुः ।
ताभ्यः शिष्टा यवीयस्य एकादश सुलोचनाः ॥

ख्यातिस्सत्यथ संभूतिः स्मृतिः प्रीतिः क्षमा तथा ।
सन्ततिश्चानसूया च ऊर्ज्जा स्वाहा स्वधा तथा ॥

भृगुर्भवो मरीचिश्च तथा चैवाङ्गिरा मुनिः ।
पुलस्त्यः पुलहश्चैव क्रतुश्चर्षिवरस्तथा ॥

अत्रिर्वसिष्ठो वह्निश्च पितरश्च यथाक्रमम् ।
ख्यात्याद्याः जगृहुः कन्या मुनयो मुनिसत्तम ॥

श्रद्धा कामं चला दर्पं नियमं धृतिरात्मजम् ।
सन्तोषञ्च तथा तुष्टिर्लोभं पुष्टिरसूयत ।
मेधा श्रुतं क्रिया दण्डं नयं विनयमेव च ॥

बोधं बुद्धिस्तथा लज्जा विनयं वपुरात्मजम् ।
व्यवसायं प्रजज्ञे वै क्षेमं शान्तिरसूयत ॥

सुखं सिद्धिर्यशः कीर्तिरित्येते धर्मसूनवः ।
कामाद्रतिः सुतं हर्षं धर्मपौत्रमसूयत ॥

हिंसा भार्या त्वधर्मस्य ततो जज्ञे तथाऽनृतम् ।
कन्या च निकृतिस्ताभ्यां भयं नरकमेव च ॥

माया च वेदना चैव मिथुनं त्विदमेतयोः ।
तयोर्जज्ञेऽथ वै माया मृत्युं भूतापहारिणम् ॥

वेदना स्वसुतं चापि दुःखं जज्ञेऽथ रौरवात् ।
मृत्योर्व्याधिजराशोकतृष्णाक्रोधाश्च जज्ञिरे ॥

दुःखोत्तराः स्मृता ह्येते सर्वे चाधर्मलक्षणाः ।
नैषां पुत्रोऽस्ति वै भार्या ते सर्वे ह्यूर्ध्वरेतसः ॥'

दोनों पुराणों के श्लोकों में शब्दार्थ-विन्यास की प्रायः बहुत अधिक समानता है। मार्कण्डेयपुराणकार ने, सम्भवतः, यहाँ शब्दापहरण और अर्थापहरण नहीं किया है, अपितु विष्णुपुराण को प्रमाण मानकर, ब्रह्मा प्रजापति की मानसी-सृष्टि के प्रकरण को अविकल रूप से अपना लिया है। पुराणों के युग में आधुनिक लेखन शैली अथवा मुद्रण-प्रणाली का सर्वथा अभाव था और इसलिए उद्धृत संदर्भ का सूचक चिह्नों द्वारा अङ्कन भी असम्भव था।

. (ख) मार्कण्डेयपुराण की अपेक्षा पुराण-क्रम-गणना में प्राचीन वायुपुराण का भी निम्नलिखित देवसृष्टि-वर्णनविषयक प्रकरण का सन्दर्भ उद्धरणीय है, जो कि ब्रह्मा प्रजापति की मानसी-सृष्टि से सम्बद्ध है—

'ततोऽभिध्यायतस्तस्य जज्ञिरे मानसी प्रजाः ।
तच्छरीरसमुत्पन्नैः कार्यैस्तैः कारणैः सह ॥

क्षेत्रज्ञाः समवर्तन्त गात्रेभ्यस्तस्य धीमतः ।
ततो देवासुरपितॄन् मानवञ्च चतुष्टयम् ॥
सिसृक्षुरम्भांस्येतानि(तांश्च)स्वात्मना समयूयुजत् ॥
....

एवम्भूतानि सृष्टानि चराणि स्थावराणि च ।
यदाऽस्य ताः प्रजाः सृष्टा न व्यवर्धन्त धीमतः ॥

तदान्यान् मानसान् पुत्रान् सदृशानात्मनोऽसृजत् ।
भृगुं पुलस्त्यं पुलहं क्रतुमङ्गिरसं तथा ॥
मरीचिं दक्षमत्रिञ्च वसिष्ठं चैव मानसम् ॥

नव ब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः ।
....

ततोऽसृजत् पुनर्ब्रह्मा रुद्रं रोषात्मसम्भवम् ।
सङ्कल्पं चैवं धर्मं च पूर्वेषामपि पूर्वजः ॥

अग्रे ससर्ज वै ब्रह्मा मानसानात्मनः समान् ।
सनन्दनं ससनकं विद्वांसं च सनातनम् ।
न ते लोकेषु सज्जन्ते निरपेक्षाः सनातनाः ॥

सर्वे ते ह्यागतज्ञाना वीतरागा विमत्सराः ।
तेष्वेवं निरपेक्षेषु लोकवृत्तानुकारणात् ॥

हिरण्यगर्भो भगवान् परमेष्ठी ह्यचिन्तयत् ।
तस्य रोषात्समुत्पन्नः पुरुषोऽर्कसमद्युतिः ।
अर्द्धनारीनरवपुस्तेजसा ज्वलनोपमः ॥

सर्वं तेजोमयं जातमादित्यसमतेजसम् ।
विभजात्मानमित्युक्त्वा तत्रैवान्तरधीयत ॥

एवमुक्त्वा द्विधाभूतः पृथक् स्त्री पुरुषः पृथक् ।
स चैकादशधा जज्ञे अर्द्धमात्मानमीश्वरः ॥
....

स वैराजः प्रजासर्गः स सर्गे पुरुषो मनुः ।
वैराजात्पुरुषाद् वीराच्छतरूपा व्यजायत ॥

प्रियव्रतोत्तानपादौ पुत्रौ पुत्रवतां वरौ ।
कन्ये द्वे च महाभागे याभ्यां जाताः प्रजास्त्विमाः ॥

देवी नाम्ना तथाकूतिः प्रसूतिश्चैव ते शुभे ।
स्वायम्भुवः प्रसूतिं तु दक्षाय व्यसृजत् प्रभुः ॥

प्राणो दक्षस्तु विज्ञेयः सङ्कल्पो मनुरुच्यते ।
....

रुचेः प्रजापतेश्चैव आकूतिं प्रत्यपादयत् ॥
आकूत्यां मिथुनं जज्ञे मानसस्य रुचेः शुभम् ।
यज्ञश्च दक्षिणा चैव यमकौ संबभूवतुः ॥

यज्ञस्य दक्षिणायाञ्च पुत्रा द्वादश जज्ञिरे ।
यामा इति समाख्याता देवाः स्वायम्भुवेऽन्तरे ॥
....

तस्यां कन्याश्चतुर्विंशद्दक्षस्त्वजनयत् प्रभुः ।
सर्वास्ताश्च महाभागाः सर्वाः कमललोचनाः ॥

योगपत्न्यश्च तास्सर्वाः सर्वास्ता योगमातरः ।
श्रद्धा लक्ष्मीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिर्मेधा क्रिया तथा ॥
बुद्धिर्लज्जा वपुः शान्तिः सिद्धिः कीर्तिस्त्रयोदशी ॥

पत्न्यर्थे प्रतिजग्राह धर्मो दाक्षायणीः प्रभुः ।
....

ताभ्यः शिष्टा यवीयस्य एकादश सुलोचनाः ।
ख्यातिः सत्यथ सम्भूतिः स्मृतिः प्रीतिः क्षमा तथा ॥

सन्नतिश्चानसूया च ऊर्ज्जा स्वाहा स्वधा तथा ।
तास्ततः प्रत्यपद्यन्त पुनरन्ये महर्षयः ॥
रुद्रो भृगुर्मरीचिश्च अङ्गिरा पुलहः क्रतुः ।
पुलस्त्योऽत्रिर्वसिष्ठश्च पितरोऽग्निस्तथैव च ॥
....

श्रद्धा कामं विजज्ञे वै दर्पो लक्ष्मीसुतः स्मृतः ।
धृत्यास्तु नियमः पुत्रस्तुष्ट्याः सन्तोष उच्यते ॥
पुष्ट्या लाभः सुतश्चापि मेधापुत्रः श्रुतस्तथा ।
क्रियायास्तु नयः प्रोक्तो दण्डः समय एव च ॥
बुद्धेर्बोधः सुतश्चापि अप्रमादश्च तावुभौ ।
लज्जाया विनयः पुत्रो व्यवसायो वपुःसुतः ॥
क्षेमः शान्तिसुतश्चापि सुखं सिद्धेर्व्यजायत ।
यशः कीर्तेः सुतश्चापि इत्येते धर्मसूनवः ॥
....

जज्ञे हिंसा त्वधर्माद्वै निकृतिश्चानृतावुभौ ।
निकृत्यानृतयोर्जज्ञे भयं नरक एव च ॥
माया च वेदना चापि मिथुनद्वयमेतयोः ।
भयाज्जज्ञेऽथ सा माया मृत्युं भूतापहारिणम् ॥
वेदनायास्ततश्चापि दुःखं जज्ञेऽथ रौरवात् ।
मृत्योर्व्याधिजराशोकाः क्रोधोऽसूया च जज्ञिरे ॥
दुःखान्तराः स्मृता ह्येते सर्वे चाधर्मलक्षणाः ॥'

मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय के बहुत अधिक श्लोक उपर्युक्त वायुपुराण के श्लोकों से, शब्द और अर्थ—दोनों की दृष्टि से, मिलते-जुलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानों मार्कण्डेयपुराणकार ने इन श्लोकों को तो अविकल रूप से अपना लिया है और कुछ श्लोकों के अभिप्राय अपनी शब्दार्थयोजना द्वारा प्रकाशित किया है।

(ग) इस अध्याय में 'यक्षानुशासन' से सम्बद्ध लोकाचार और लोक-विश्वास की कुछ ऐसी बातें हैं, जो आज भी भारत के ग्राम्य-जीवन में पुराणों की प्राचीन लोक-मर्यादा के अनुपालन को प्रमाणित करती हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है—

'यत्र पद्ममहापद्मौ सुरभिर्मोदकाशिनी ।
वृषभैरावतौ यत्र कल्प्यन्ते तद्गृहं त्यज ॥'

अर्थात् अरे यक्ष ! तू उस घर में जाना छोड़ देना, जिसकी दीवारों पर पद्म, महापद्म, प्रसन्नमुखवाली गौ, वृषभ तथा ऐरावत हाथी के भित्तिचित्र दिखायी देते हों।'

आज भी प्रायः भारत के चतुर्दिक् ग्रामों में बने आवास गृहों के बाहर कमल, गौ, वृषभ तथा हाथी आदि के चित्र देखे जा सकते हैं। इन चित्रों की रचना के पीछे जो भावना अथवा धारणा है, वह यही है कि ये चित्र शुभ शकुन के सूचक चित्र हैं और इनके रहने से भूत-प्रेतादि बाधा का निराकरण होता है।

इसी प्रकार वसन्तोत्सव, शारदोत्सव, दीपोत्सव आदि के आयोजन भी पौराणिक परम्परा की ही देन हैं। इन उत्सवों के आयोजन माङ्गलिक माने जाते हैं। इनके माङ्गलिक माने जाने का अभिप्राय यही है कि इनके द्वारा आधिभौतिक-आधिदैविक विपदाओं पर विजय पायी जा सकती है।

साथ ही साथ यक्ष के प्रवेश के योग्य जनावासों का जो निर्देश है, वह भी आजकल ग्राम्य-जीवन में लोक-विश्वास में स्पष्ट परिलक्षित होता है। इस अध्याय के श्लोकों (८६-८७) में जो यह उल्लेख है कि जिन घरों में कुदाली, खुरपी, पेटारी और थाली आदि पात्र इधर-उधर अस्त-व्यस्त पड़े हों और जिन घरों की स्त्रियाँ मूसर, ओखर तथा कूड़ा-करकट की ढेर पर बैठ कर इधर-उधर की गप मारती हों, वे घर अशुभ के आवास हैं, वह आज भी ग्रामीण जनता के विश्वासों में जीवित-जागृत हैं। आज भी लोग ऐसे दृश्य देखकर नाक-भौं सिकोड़ते हैं। इसी प्रकार शुभाशुभ-सूचक अनेकानेक उल्लेख, जो कि इस अध्याय के यक्षानुशासन के प्रकरण में मिलते हैं, आजकल भी ग्राम्य-जीवन में पुराणों के हितोपदेश के रूप में मान्य हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो पुराणों से अपरिचित भी भारत का ग्रामीण जनता पुराणों की प्रवहमान मर्यादा का पालन करती आ रही है और करती चली जायेगी।

॥ श्री मार्कण्डेयपुराण के 'यक्षानुशासन' नामक ५० वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त ॥

एकपञ्चाशोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

दुःसहस्याभवद्भार्य्या निर्माष्टिर्नाम नामतः ।
जाता कलेस्तु भार्य्यायामृतौ चाण्डालदर्शनात् ।।१।
तयोरपत्यान्यभवन् जगद्व्यापीनि षोडश ।
अष्टौ कुमाराः कन्याश्च तथाष्टावतिभीषणाः ।।२।
दन्ताकृष्टिस्तथोक्तिश्च परिवर्तस्तथापरः ।
अङ्गध्रुक् शकुनिश्चैव गण्डप्रान्तरतिस्तथा ।।३।
गर्भहा सस्यहा चान्यः कुमारास्तनयास्तयोः ।
कन्याश्चान्यास्तथैवाष्टौ तासां नामानि मे शृणु ।।४।
नियोजिका वै प्रथमा तथैवान्या विरोधिनी ।
स्वयंहारकरी चैव भ्रामणी ऋतुहारिका ।।५।
स्मृतिबीजहरे चान्ये तयोः कन्येऽतिदारुणे ।
विद्वेषण्यष्टमी नाम कन्या लोकभयावहा ।।६।

महामुनि मार्कण्डेय ने आगे कहा—

द्विजोत्तम क्रौष्टुकि ! दुःसह यक्ष की एक पत्नी थी, जिसका नाम निर्माष्टि था। इसका जन्म कलि की पत्नी के गर्भ से तब हुआ था, जब उसने अपने मासिक-धर्म के समय किसी चाण्डाल को देखा था। इन दोनों से सोलह सन्तानों का जन्म हुआ था जो समस्त विश्व में व्याप्त थे। इनमें आठ पुत्र थे और आठ पुत्रियाँ थीं और ये सब बड़े भीषण और बीभत्स थे। उनकी इन सन्तानों में जो आठ पुत्र थे, उनके नाम सुनो—१ला) दन्ताकृष्टि, २रा) उक्ति, ३रा) परिवर्त, ४था) अङ्गध्रुक्, ५वां) शकुनि, ६ठा) गण्डप्रान्तरति, ७वां) गर्भहा और ८वां) सस्यहा। इनकी आठ जो पुत्रियाँ थीं, उनके नाम भी सुन लो—१ली) नियोजिका, २री) विरोधिनी, ३री) स्वयंहारकरी, ४थी) भ्रामणी, ५वीं) ऋतुहारिका, ६ठी) स्मृतिहरा (स्मृतिहरी, स्मृतिहारिका) और ७वीं) बीजहरा (बीजहरी, बीजहारिका) बड़ी दारुण अथवा क्रूरहृदय थीं और ८वीं) अर्थात् विद्वेषणी तो लोक के लिए बड़ी भयावह थी। इन कन्याओं के जो कर्म हैं, उनके संबन्ध में मैं बताऊंगा और उनके द्वारा उत्पादित दोषों के प्रशमन के उपाय भी बताऊंगा।

एतासां कर्म वक्ष्यामि दोषप्रशमनञ्च यत् ।
अष्टानाञ्च कुमाराणां श्रूयतां द्विजसत्तम ।।७।
दन्ताकृष्टिः प्रसुप्तानां बालानां दशनस्थितः ।
करोति दन्तसंघर्षं चिकीर्षुर्दुःसहागमम् ।।८।
तस्योपशमनं कार्य्यं सुप्तस्य सितसर्षपैः ।
शयनस्योपरि क्षिप्तैर्मानुषैर्दशनोपरि ।।९।
सुवर्च्चलौषधीस्नानात्तथा सच्छास्त्रकीर्त्तनात् ।
उष्ट्रकण्टकखड्गास्थि-क्षौमवस्त्रविधारणात् ।।१०।
तिष्ठत्यन्यकुमारस्तु तथास्त्वित्यसकृद् ब्रुवन् ।
शुभाशुभे नृणां युङ्क्ते तथोक्तिस्तच्च नान्यथा ।।११।
तस्माददुष्टं मङ्गल्यं वक्तव्यं पण्डितैः सदा ।
दुष्टे श्रुते तथैवोक्ते कीर्त्तनीयो जनार्दनः ।।१२।
चराचरगुरुर्ब्रह्मा या यस्य कुलदेवता ।
अन्यगर्भे परान् गर्भान् सदैव परिवर्त्तयन् ।।१३।

पहले दुःसह और निर्माष्टि के आठ पुत्रों के कर्म और उनके द्वारा उत्पादित दोषों की शान्ति के उपाय बता रहा हूँ। सुनो ।। १-७ ।।

पहला पुत्र 'दन्ताकृष्टि' सोये हुए बच्चों के दाँत में अवस्थित रहता था और दाँतों से सङ्घर्ष करता था, जिसके कारण उनके दाँत बड़े कष्ट से निकल पाते थे। बच्चों के इस रोग-दोष के उपशमन के लिए, उनके पिता को यह करना चाहिये कि जब बच्चे पालने पर सोये हों, तब सफेद सरसों के दाने उनके दाँतों पर छींट दें ।। ८-९ ।।

इसके अतिरिक्त, सुवर्चला नाम की औषधि मिलाए पानी से स्नान कराने, सच्छास्त्रों के पाठ-पारायण करने तथा हाथ में ऊंट, साही और गैंडे की हड्डी बाँधने एवं क्षौमवस्त्र धारण कराने से भी इस दोष की शान्ति की जा सकती। दूसरा 'उक्ति' नाम का पुत्र बार-बार 'तथास्तु' (हाँ, बहुत ठीक) बोलता रहता है और मनुष्यों को पुण्य-पाप के कर्मों में लगाये रहता है और उसकी बात निष्फल नहीं होती। इस दोष के उपशमन के लिए बुद्धिमान् लोगों को सदा निर्दुष्ट और माङ्गलिक वचन बोलना चाहिए। यदि मुँह से दुर्वचन निकल जाय या किसी का दुर्वचन कानों में पड़ जाय तो भगवान् विष्णु अथवा चराचर गुरु ब्रह्मा या अपने कुलदेवता के नाम का जप-कीर्तन करना चाहिये ।। १०-१२ ।।

तीसरे 'परिवर्त' नाम के पुत्र का काम किसी नारी के गर्भस्थ शिशु को दूसरी नारी के गर्भस्थ शिशु के रूप में परिवर्तित कर देना और कुछ कहने के. इच्छुक किसी

रतिमाप्नोति वाक्यञ्च विवक्षोरन्यदेव यत् ।
परिवर्त्तकसंज्ञोऽयं तस्यापि सितसर्षपैः ॥१४॥
रक्षोघ्नमन्त्रजप्यैश्च रक्षां कुर्वीत तत्त्ववित् ।
अन्यश्चानिलवन्नृणामङ्गेषु स्फुरणोदितम् ॥१५॥
शुभाशुभं समाचष्टे कुशैस्तस्याङ्गताडनम् ।
काकादिपक्षिसंस्थोऽन्यः श्वादेरङ्गगतोऽपि वा ॥१६॥
शुभाशुभञ्च शकुनिः कुमारोऽन्यो ब्रवीति वै ।
तत्रापि दुष्टे व्याक्षेपः प्रारम्भत्याग एव च ॥१७॥
शुभे द्रुततरं कार्य्यमिति प्राह प्रजापतिः ।
गण्डान्तेषु स्थितश्चान्यो मुहूर्त्तार्द्धं द्विजोत्तम ॥१८॥
सर्वारम्भान् कुमारोऽत्ति शस्तताञ्चानसूयताम् ।
विप्रोक्त्या देवतास्तुत्या मूलोत्खातेन च द्विज ॥१९॥
गोमूत्रसर्षपस्नानैस्तदृक्षग्रहपूजनैः ।
पुनश्च धर्मोपनिषत्करणैः शास्त्रदर्शनैः ॥२०॥

की अच्छी बात को बुरी बात के रूप में बदल देना है। इन दोनों कामों में उसे बड़ा आनन्द मिलता है। इससे रक्षाविधान के लिए बुद्धिमान् लोगों को सफेद सरसों के दानों को बिखेरना तथा रक्षोघ्न मन्त्रों का जप करना आवश्यक है। चौथा 'अङ्गध्रुक्' नामक पुत्र लोगों के अङ्गों में वायु के प्रकोप के समान फड़कन पैदा करके उन्हें अनेक भावी शुभाशुभ की सूचना दे देता है। इससे रक्षा का उपाय कुश से अङ्गताडन है। पाँचवा 'शकुनि' नाम का पुत्र कौऐ प्रभृति कर्कश बोली वाले पक्षिओं अथवा रोने वाले कुत्तों के शरीर में रहता है और मनुष्यों को उनके भावी शुभाशुभ की सूचना दिया करता है। इससे रक्षा का उपाय अशुभ के घटित होने पर अभीष्ट कार्य में विलम्ब कर देना या प्रारम्भ किए कार्य का परित्याग कर देना है और शुभ घटना होने पर यथाशीघ्र कार्य सम्पन्न कर लेना है, जैसा कि ब्रह्मा प्रजापति का ही कहना है ॥ १३-१७ ॥

द्विजवर क्रौष्टुकि ! 'गण्डप्रान्तरति' नाम का छठा दुःसह-पुत्र ऐसा है, जो आधे मुहूर्त भर भी यदि किसी के गाल पर बैठ जाय तो वह उस मनुष्य के सभी कर्मानुष्ठान मानो खा लेता है (नष्ट कर देता है) और लोक में उसकी प्रशंसा तथा उनके परनिन्दा-वर्जन के स्वभाव को भी समाप्त कर देता है। इसके द्वारा उत्पादित दोष, द्विजवर ! इन उपायों से शान्त किए जा सकते हैं—ब्राह्मण के आशीर्वचन से, देवों के स्तवन से, कन्दमूल के उखाड़ने से, गोमूत्र में पिसे सरसों के तेल लगा कर स्नान करने से, ग्रह-नक्षत्रों के पूजन से, धर्म के तथा उपनिषदों के उपदेशानुसार आचरण करने से, शास्त्रों

अवज्ञया जन्मनश्च प्रशमं याति गण्डवान् ।
गर्भे स्त्रीणां तथाऽन्यस्तु फलनाशी सुदारुणः ॥२१॥
तस्य रक्षा सदा कार्य्या नित्यं शौचनिषेवणात् ।
प्रसिद्धमन्त्रलिखनाच्छस्तमाल्यादिधारणात् ॥२२॥
विशुद्धगेहावसथादनायासाच्च वै द्विज ।
तथैव सस्यहा चान्यः सस्यर्द्धिमुपहन्ति यः ॥२३॥
तस्यापि रक्षां कुर्वीत जीर्णोपानद्विधारणात् ।
तथापसव्यगमनाच्चाण्डालस्य प्रवेशनात् ॥२४॥
बहिर्बलिप्रदानाच्च सोमाम्बुपरिकीर्त्तनात् ।
परदारपरद्रव्यहरणादिषु मानवान् ॥२५॥
नियोजयति चैवान्यान् कन्या सा च नियोजिका ।
तस्याः पवित्रपठनात् क्रोधलोभादिवर्जनात् ॥२६॥
नियोजयति मामिष्टविरोधाच्च विवर्जनम् ।
आक्रुष्टोऽन्येन मन्येत ताडितो वा नियोजिका ॥२७॥
नियोजयत्येनमिति न गच्छेत्तद्वशं बुधः ।
परदारादिसंसर्गे चित्तमात्मानमेव च ॥२८॥

के अध्ययन-मनन से और संसार में जन्म-ग्रहण के प्रति तिरस्कार की भावना करने से। सातवाँ 'गर्भहा' (गर्भघाती) नाम का जो दुःसह का पुत्र है, वह स्त्रियों के गर्भ में प्रविष्ट होकर भ्रूण का नाश कर देता है और बड़ा क्रूर है। उससे बचने के लिए सदा मन-वचन-कर्म में शुद्धता का आधान, प्रसिद्ध मन्त्रों का लेखन, प्रशस्त माल्यादि माङ्गलिक पदार्थों का उपभोग, पवित्र गृह में आवास तथा व्यग्रता का परित्याग—ये उपाय आवश्यक हैं। आठवाँ दुःसह-पुत्र 'सस्यहा' (सस्यघाती) है, जो कि शस्यसमृद्धि का शत्रु है। इससे रक्षा करने के लिए फटे-चिटे जूते पहनने, बायीं ओर से रास्ते पर चलने-फिरने, खेत में चाण्डाल को प्रविष्ट कराने, घर के बाहर बलि प्रदान करने तथा सोम-रस के गुण-कीर्तन करने के उपायों को अपनाना चाहिए। इसी प्रकार दुःसह की पहली 'नियोजिका' नाम की कन्या वह है, जो मनुष्यों को परनारी तथा परद्रव्य के अपहरण प्रभृति दुष्कर्मों में प्रवृत्त कराती है। इससे अपने बचाव के लिए पवित्र वेद-मन्त्रों तथा देव-स्तोत्रों का पाठ करना, क्रोधलोभादि का परित्याग करना और 'यही दुष्टा मेरे अभीष्ट के विरोध में मुझे दुष्कर्मों में प्रवृत्त कर रही है' इस भाव से भावित होना—ये बातें आवश्यक हैं। यदि कोई आक्रोश में आकर उल्टी-सीधी बातें कहे या मार-पीट करे, तो यही सोचना चाहिए कि इसी नियोजिका ने उस व्यक्ति को ऐसा करने के लिए प्रेरित किया होगा और इसलिए उसके वश में आकर स्वयं न तो आक्रोश की बात

नियोजयत्यत्र सा मामिति प्राज्ञो विचिन्तयेत् ।
विरोधं कुरुते चान्या दम्पत्योः प्रीयमाणयोः ॥२९॥

बन्धूनां सुहृदां पित्रोः पुत्रैः सावर्णिकैश्च या ।
विरोधिनी सा तद्रक्षां कुर्वीत बलिकर्मणा ॥३०॥

तथातिवादसहनाच्छास्त्राचारनिषेवणात् ।
धान्यं खलाद् गृहाद् गोभ्यः पयः सर्पिस्तथापरा ॥३१॥

समृद्धिमृद्धिमद्द्रव्यादपहन्ति च कन्यका ।
सा स्वयंहारिकेत्युक्ता सदान्तर्धानतत्परा ॥३२॥

महानसादर्द्धसिद्धमन्नागारस्थितं तथा ।
परिविश्यमाणञ्च सदा सार्द्धं भुङ्क्ते च भुञ्जता ॥३३॥

उच्छेषणं मनुष्याणां हरत्यन्नञ्च दुर्हरा ।
कर्मान्तागारशालाभ्यः सिद्धर्द्धिं हरति द्विज ॥३४॥

करनी चाहिये और न आक्रोश में आकर मार-पीट करनी चाहिये । बुद्धिमान् मनुष्य को यह सोचना चाहिए कि लोक-जीवन में परस्त्री-प्रसङ्ग, परद्रव्यापहरण प्रभृति जो दुष्कर्म हैं उनके प्रति यदि उसके मन में प्रवृत्ति उत्पन्न हो रही है, तो वह इसी नियोजिका के द्वारा करायी जा रही है । 'विरोधिनी' नामकी दूसरी कन्या वह है, जो कि परस्पर प्रेमपूर्वक रहने वाले पति-पत्नी में, वन्धु-बान्धवों में, मित्रों में, माता-पिता और पुत्र में तथा एक वर्ण के ही व्यक्तियों में विरोध वैमनस्य के भाव पैदा किया करती है । इससे रक्षा का विधान बलिकर्म का अनुष्ठान है ॥ १८-३० ॥

किसी के डाँट-डपट के सहने के सामर्थ्य का हृदय में आधान और शास्त्रविहित आचार का अनुसरण भी इससे (विरोधिनी से) बचाव के उपाय हैं । 'स्वयंहारकरी' नाम वाली तीसरी जो दुःसह पुत्री कही जाती है, उसका काम खलिहानों और घरों से अन्न का अपहरण है, गौओं से उनके दूध और घी का अपहरण है और समृद्धि के साधनभूत पदार्थों से उनकी समृद्धि-शक्ति का अपहरण है । यह अपना काम करके सदा अविलम्ब अन्तर्हित हो जाया करती है ॥ ३१-३२ ॥

इस 'स्वयंहारिका' के और भी अनेकों दुष्कर्म हैं, जैसे कि रसोईघर से आधे पके अन्न का अपहरण और अन्नागार में रखे अन्न का अपहरण । यह परोसे गये भक्ष्य-भोज्य को, उसके भोजन करने वाले मनुष्य के साथ खाया करती है । यह ऐसी दुष्ट चोर है कि मनुष्यों द्वारा भोजन किये जाने के वाद वचे-खुचे भोजन चुरा लेती है और इसके अतिरिक्त रसोईघर में पके-पकाये रखे अन्न भी उठा ले जाती है । द्विजवर क्रौष्टुकि ! यह खनिज द्रव्यों की शोधनशालाओं और गृहस्थों के आवास-कक्षों से, उनमें संगृहीत

गोस्त्रीस्तनेभ्यश्च पयः क्षीरहारी सदैव सा ।
दध्नो घृतं तिलात्तैलं सुरागारात्तथा सुराम् ॥३५॥
रागं कुसुम्भकादीनां कार्पासात् सूत्रमेव च ।
सा स्वयंहारिका नाम हरत्यविरतं द्विज ॥३६॥
कुर्य्याच्छिखण्डिनोर्द्वन्द्वं रक्षार्थं कृत्रिमां स्त्रियम् ।
रक्षाश्चैव गृहे लेख्या वर्ज्याचो च्छिष्टता तथा ॥३७॥
होमाग्निदेवताधूपभस्मना च परिष्क्रिया ।
कार्य्या क्षीरादिभाण्डानामेवं तद्रक्षणं स्मृतम् ॥३८॥
उद्वेगं जनयत्यन्या एकस्थाननिवासिनः ।
पुरुषस्य तु या प्रोक्ता भ्रामणी सा तु कन्यका ॥३९॥
तस्याथ रक्षां कुर्वीत विक्षिप्तैः सितसर्षपैः ।
आसने शयने चोर्व्यां यत्रास्ते स तु मानवः ॥४०॥
चिन्तयेच्च नरः पापा मामेषा दुष्टचेतना ।
भ्रामयत्यसकृज्जप्यं भुवः सूक्तं समाधिना ॥४१॥
स्त्रीणां पुष्पं हरत्यन्या प्रवृत्तं सा तु कन्यका ।
तथाऽप्रवृत्तं सा ज्ञेया दौःसहा ऋतुहारिका ॥४२॥

धन-समृद्धि का अपहरण कर लेती है। यह गायों और स्त्रियों के स्तनों से दूध भी चुरा ले जाती है। दही से घी की चोरी, तिल से तेल की चोरी, मदिरालय से मदिरा की चोरी, सुन्दर सुगन्धित केसर आदि के फूलों से उनके रङ्ग की चोरी और कपास के पौधों से सूत की चोरी—यही स्वयंहारिका—'जैसा नाम वैसा काम' की लोकोक्ति के अनुसार निरन्तर किया करती है। इससे रक्षा के लिए मोरों के जोड़ों और काल्पनिक स्त्रियों के चित्र तथा घर में मांगलिक अल्पना की रचना करनी चाहिए तथा सदा उच्छिष्टता अथवा जूठन का वर्जन करना चाहिए। इससे, दूध-दही आदि के बर्तनों को बचाने के लिए, उन्हें होम की अग्नि और देवता के लिए जलाए धूप की राख से माँजना-धोना चाहिए। चौथी दुःसह-पुत्री, जिसे 'भ्रामणी' कहते हैं, एक स्थान पर रहने वाले मनुष्य के मन में उद्वेग उत्पन्न किया करती है,(जिसके कारण वह व्यर्थ इधर-उधर घूमना-फिरना चाहता है)। उसे बचाव का उपाय यह है कि जहाँ वह उद्विग्न मनुष्य रहता हो, वहां उसके आसन पर, उसकी शय्या पर और नीचे जमीन पर सफेद रङ्ग के सरसों के दाने छींटे जांय। साथ ही साथ (भ्रामणी द्वारा) और उद्भ्रान्त बताए गए मनुष्य को. यह सोचकर कि यही पाप करने वाली दुष्टा (भ्रामणी) उसे उद्विग्न कर रही है, बड़े एकाग्रमन से पृथिवी-सूक्त का बार-बार जप करना चाहिये। पांचवी दुःसह-पुत्री 'ऋतुहारिका' कही जाती है। उसका काम स्त्रियों के प्रारब्ध मासिकधर्म का अपहरण

कुर्वीत तीर्थदेवौकश्चैत्यपर्वतसानुषु ।
नदीसङ्गमखातेषु स्नपनं तत्प्रशान्तये ।।४३।
मन्त्रवित् कृततत्त्वज्ञः पर्वसूषसि च द्विज ।
चिकित्साज्ञश्च वै वैद्यः संप्रयुक्तैर्वरौषधैः ।।४४।
स्मृतिञ्चापहरत्यन्या स्त्रीणां सा स्मृतिहारिका ।
विविक्तदेशसेवित्वात्तस्याश्चोपशमो भवेत् ।।४५।
बीजापहारिणी चान्या स्त्रीपुंसोरतिभीषणा ।
मेध्यान्नभोजनैः स्नानैस्तस्याश्चोपशमो भवेत ।।४६।
अष्टमी द्वेषणी नाम कन्या लोकभयावहा ।
या करोति जनद्विष्टं नरं नारीमथापि वा ।।४७।
मधुक्षीरघृताक्तांस्तु शान्त्यर्थं होमयेत्तिलान् ।
कुर्वीत मित्रविन्दाञ्च तथेष्टिन्तत् प्रशान्तये ।।४८।
एतेषान्तु कुमाराणां कन्यानां द्विजसत्तम ।
अष्टात्रिंशदपत्यानि तेषां नामानि मे शृणु ।।४९।

अथवा उनके मासिकधर्म का अवरोधन है। इस उपद्रव के उपशमन के लिए स्त्रियों को पवित्र तीर्थस्थलों, देवालयों, चैत्यों और पर्वत-शिखरों के जलाशयों, नदियों के सङ्गमों तथा पवित्र वापी-तटाकों में स्नान करवाना चाहिये ।। ३३-४३ ।।

इसके अतिरिक्त, मन्त्र-तन्त्र के जानने वाले और उनके प्रयोग में कुशल लोगों के द्वारा 'ऋतुहारिका' से त्रस्त नारियों की रक्षा के लिए, उन्हें (नारियों के) प्रत्येक मास के चार पर्वों में, सूर्योदय के पहले, स्नान करने के लिए बाध्य करवाना चाहिए और मासिकधर्म के लोप अथवा अवरोध की चिकित्सा के जानकार वैद्यों के द्वारा भी बताई औषधियों से मिले जल से स्नान करवाना चाहिए। दुःसह की छठी पुत्री 'स्मृतहारिका' कही जाती है, क्योंकि वह स्त्रियों की स्मरण-शक्ति चुरा लेती है। स्त्रियों के इस उपद्रव की शान्ति एकान्तस्थान के सेवन से सम्भव है ।। ४४-४५ ।।

सातवीं दुःसह-पुत्री बीजापहारिणी (बीजहरी, बीजापहारिका) है, जिसका काम नर-नारियों के बीज (रज और वीर्य) का अपहरण करना है और इस कारण यह बड़ी भयङ्कर है। इसका उपशमन पवित्र अन्न के भोजन तथा पवित्र जल से स्नान के द्वारा किया जाता है ।। ४६ ।।

आठवीं दुःसह-पुत्री, जिसका नाम 'द्वेषणी' है, लोकजीवन के लिए भयावह है, क्योंकि यह स्त्री और पुरुष—दोनों को, लोगों के विद्वेष का पात्र बना देती है। इसकी प्रशान्ति के लिए मधु-क्षीर तथा घृत में मिलाए तिलों के द्वारा होम करना चाहिए। इसकी शान्ति के लिए मित्रविन्दा नाम की इष्टि भी करनी चाहिए ।। ४७-४८ ।।

द्विजोत्तम क्रौष्टुकि ! दुःसह के ये जो पुत्र और पुत्रियाँ हैं, उनकी सन्तान-संख्या अड़तीस है। उनके नाम मैं सुना रहा हूँ ।। ४९ ।।

दन्ताकृष्टेरभूत् कन्या विजल्पा कलहा तथा ।
अवज्ञानृतदुष्टोक्तिर्विजल्पा तत्प्रशान्तये ॥५०॥

तामेव चिन्तयेत् प्राज्ञः प्रयतश्च गृही भवेत् ।
कलहा कलहं गेहे करोत्यविरतं नृणाम् ॥५१॥

कुटुम्बनाशहेतुः सा तत्प्रशान्ति निशामय ।
दूर्वाङ्कुरान्मधुघृतक्षीराक्तान् बलिकर्मणि ॥५२॥
विक्षिपेज्जुहुयाच्चैवानलं मित्रञ्च कीर्तयेत् ।
भूतानां मातृभिः सार्द्धं बालकानान्तु शान्तये ॥५३॥
विद्यानां तपसाञ्चैव संयमस्य यमस्य च ।
कृष्यां वाणिज्यलाभे च शान्ति कुर्वन्तु मे सदा ॥५४॥
पूजिताश्च यथान्यायं तुष्टि गच्छन्तु सर्वशः ।
कुष्माण्डा यातुधानाश्च ये चान्ये गणसंज्ञिताः ॥५५॥
महादेवप्रसादेन महेश्वरमतेन च ।
सर्व एते नृणां नित्यं तुष्टिमाशु व्रजन्तु ते ॥५६॥

'दन्ताकृष्टि' की दो कन्याएँ हैं, जिनके नाम 'विजल्पा' और 'कलहा' हैं। 'विजल्पा' का काम मनुष्यों में परस्पर अवज्ञा का भाव उत्पन्न करना है और उन्हें असत्य बोलने तथा मुँह से दुर्वचन निकालने के लिए प्रेरित करना है। इस दोष के प्रशमन के लिए बुद्धिमान् गृहस्थ मनुष्य को विजल्पा के विषय में सोचना-समझना चाहिए और संयतेन्द्रिय हो रहना चाहिए। 'कलहा' मनुष्यों के घरों में निरन्तर कलह उत्पन्न किया करती हैं और इस प्रकार परिवार के विनाश का कारण बन जाती है। इसकी शान्ति के उपाय बता रहा हूँ, जिसे ध्यान देकर सुनो—शहद, घी और दूध में भिगोए नए-नए दूर्वादलों को बलि में डाल देना चाहिए तथा उन्हीं से होम करना चाहिये। कलह द्वारा उत्पादित, समस्त प्राणियों तथा माताओं के साथ बच्चों के उपद्रवों की शान्ति के लिए, गृहस्थों को अग्नि और मित्र—इन दोनों देवों का नाम-कीर्तन तथा गुणकीर्तन करना चाहिए और उनसे प्रार्थना करना चाहिए कि वे उनके विद्योपार्जन, उनके तपश्चरण, उनके संयमपालन, उनके यमानुष्ठान, उनके कृषिकर्म और उनके वाणिज्यलाभ में कहलोत्पादित विघ्नों से उनकी रक्षा करें। साथ ही साथ, गृहस्थों को कुष्माण्डों, यातुधानों तथा अन्य शिवगणों की विधिवत् पूजा करनी चाहिए और उनसे प्रार्थना करनी चाहिए कि वे सब उन पर प्रसन्न रहें और शङ्कर भगवान् की कृपा से तथा उनकी अनुमति से यथाशीघ्र प्रसन्न होकर वे सब लोगों का कल्याण करें। गृहस्थों को उनसे यह भी प्रार्थना के रूप में निवेदन करना चाहिए कि वे उन पर

तुष्टाः सर्वं निरस्यन्तु दुष्कृतं दुरनुष्ठितम् ।
महापातकजं सर्वं यच्चान्यद्विघ्नकारणम् ॥५७॥
तेषामेव प्रसादेन विघ्ना नश्यन्तु सर्वशः ।
उद्वाहेषु च सर्वेषु वृद्धिकर्मसु चैव हि ॥५८॥
पुण्यानुष्ठानयोगेषु गुरुदेवार्चनेषु च ।
जपयज्ञविधानेषु यात्रासु च चतुर्दश ॥५९॥
शरीरारोग्यभोग्येषु सुखदानधनेषु च ।
वृद्धबालातुरेष्वेव शान्तिं कुर्वन्तु मे सदा ॥६०॥
सोमाम्बुपौ तथाम्भोधिः सविता चानिलानलौ ।
तथोक्तेः कालजिह्वोऽभूत् पुत्रस्तालनिकेतनः ॥६१॥
स येषां रसनासंस्थस्तानसाधून् विबाधते ।
परिवर्तसुतौ द्वौ तु विरूपविकृतौ द्विज ॥६२॥
तौ तु वृक्षाग्रपरिखाप्राकाराम्भोधिसंश्रयौ ।
गुर्विण्याः परिवर्तन्तौ कुरुतः पादपाणिषु ॥६३॥
क्रौष्टुके परिवर्तस्स्यात् गर्भस्यान्योदरात्ततः ।
न वृक्षं चैव नैवाद्रिं न प्राकारं महोदधिम् ॥६४॥

प्रसन्न होकर उनके सभी दुष्कर्मों तथा दुराचरणों को उनसे दूर हटा दें। गृहस्थों को इन शिवगणों से यही याचना करनी चाहिए कि उनके द्वारा किये गए महापापों के जो भी फल हों और उनके लोकजीवन में जो भी अन्य विघ्न-बाधाओं के कारण हों, वे सब उन्हीं की कृपा से नष्ट हो जाँय। विवाहोत्सवों में, अन्य समस्त माङ्गलिक कार्यों में, पुण्यानुष्ठानों में, गुरुपूजनों में, देवार्चनों में, जपकर्मों में, यज्ञविधानों में, चौदह प्रकार की यात्राओं में, शरीर के आरोग्य और सुखभोगों में, प्रसन्नतापूर्वक दान देने में, आयास-प्रयास रहित धनोपार्जन में तथा वृद्ध-बाल और रुग्ण व्यक्ति के दुःख-संतापों के निवारण में इन्हीं शिवगणों से प्रार्थना करनी चाहिए कि वे सदा कल्याण करें ॥ ५०-६० ॥

साथ ही साथ चन्द्र, सूर्य, समुद्र, सविता, वायु तथा अग्नि से भी प्रार्थना करनी चाहिए कि वे 'कलहा' के द्वारा उत्पादित विघ्नों को शान्त करें। अब, दुःसह का 'उक्ति' नाम का जो दूसरा पुत्र था, उसके विषय में सुनो। 'उक्ति' का एक पुत्र हुआ, जिसका नाम 'कालजिह्व' पड़ा। वह ताड के पेड़ों पर रहा करता था। किन्तु जब वह लोगों की जिह्वा पर रहने लगा, तब उन्हें दुर्भाषी दुष्ट बनाने लगा और दुःख देने लगा। द्विजवर क्रौष्टुकि ! दुःसह के तीसरे पुत्र 'परिवर्त' के विरूप और विकृत नामक दो पुत्र हुए। इन दोनों ने वृक्ष के अग्रभाग, परिखा, प्राकार और समुद्र को अपना आवास

परिखां वा समाक्रामेदबला गर्भधारिणी ।
अङ्गध्रुक् तनयं लेभे पिशुनं नाम नामतः ।।६५।
सोऽस्थिमज्जागतः पुंसां बलमत्त्यजितात्मनाम् ।
श्येन-काक-कपोतांश्च गृध्रोलूकैश्च वै सुतान् ।।६६।
अवाप शकुनिः पञ्च जगृहुस्तान् सुरासुराः ।
श्येनं जग्राह मृत्युश्च काकं कालो गृहीतवान् ।।६७।
उलूकं निर्ऋतिश्चैव जग्राहातिभयावहम् ।
गृध्रं व्याधिस्तदीशोऽथ कपोतं च स्वयं यमः ।।६८।
एतेषामेव चैवोक्ता भूताः पापोपपादने ।
तस्माच्छ्येनादयो यस्य निलीयेयुः शिरस्यथ ।।६९।
तेनात्मरक्षणायालं शान्तिं कुर्य्याद्विजोत्तम ।
गेहे प्रसूतिरेतेषां तद्वन्नीडनिवेशनम् ।।७०।
नरस्तं वर्जयेद् गेहं कपोताक्रान्तमस्तकम् ।
श्येनः कपोतो गृध्रश्च काकोलूकौ गृहे द्विज ।।७१।
प्रविष्टः कथयेदन्तं वसतां तत्र वेश्मनि ।
ईदृक् परित्यजेद् गेहं शान्तिं कुर्य्याच्च पण्डितः ।।७२।

बनाया। इनका काम गर्भिणी स्त्री के हाथ और पैर को विकृत बनाना था। ये गर्भवती नारियों के गर्भों में उलट-फेर कर देते थे। इसलिए गर्भवती नारी के लिए पेड़ पर चढ़ना, पहाड़ पर चढ़ना, प्राकार पर चढ़ना, समुद्रयात्रा करना और परिखा लाँघना निषिद्ध माना गया है। दुःसह का जो चौथा पुत्र 'अङ्गध्रुक्' था, उसके पुत्र का नाम पिशुन था। पिशुन अजितेन्द्रिय मनुष्यों की अस्थि और मज्जा में अन्तःप्रविष्ट होकर उनके शारीरिक बल को खा जाता है। पाँचवें दुःसह पुत्र शकुनि के पाँच पुत्र हुए—पहला) श्येन (बाज), दूसरा) काक (कौआ), तीसरा) कपोत (कबूतर), चौथा) गृध्र (गिद्ध) और पाँचवां) उलूक (उल्लू)। इन शकुनिपुत्रों को देवों और दानवों ने ले लिया। मृत्यु ने 'श्येन' को अपनाया, काल ने काक को अपनाया, निर्ऋति ने अतिभयावह उलूक को अपनाया, व्याधि ने गृध्र को अपनाया और व्याधि के ईश्वर यम ने कपोत को अपना लिया। इनसे जो पापात्मा उत्पन्न हुए, वे लोगों में पापबुद्धि उत्पन्न करने लगे। द्विजोत्तम क्रौष्टुकि। इसीलिए यह माना गया है कि श्येन (बाज) आदि जिसके सिर पर बैठ जाँय, उसे आत्म-रक्षा के लिए शान्तिकर्म का अनुष्ठान करना चाहिए। जिस घर में इन श्येनादि के बच्चे पैदा हों और उनके घोसले बन गये हों

स्वप्नेऽपि हि कपोतस्य दर्शनं न प्रशस्यते ।
षडपत्यानि कथ्यन्ते गण्डप्रान्तरतेस्तथा ।।७३।

स्त्रीणां रजस्यवस्थानं तेषां कालांश्च मे शृणु ।
चत्वार्य्यहानि पूर्वाणि तथैवान्यत् त्रयोदश ।।७४।

एकादश तथैवान्यदपत्यं तस्य वै दिने ।
अन्यद्दिनाभिगमने श्राद्धदाने तथापरे ।।७५।

पर्व्वस्वथान्यत् तस्मात्तु वर्ज्यान्येतानि पण्डितैः ।
गर्भहन्तुः सुतो निघ्नो मोहनी चापि कन्यका ।।७६।

प्रविश्य गर्भमत्त्येको भुक्त्वा मोहयतेऽपरा ।
जायन्ते मोहनात्तस्याः सर्पमण्डूककच्छपाः ।।७७।

सरीसृपाणि चान्यानि पुरीषमथवा पुनः ।
षण्मासान् गुर्विणीं मांसमश्नुवानामसंयताम् ।।७८।

अथवा जिस घर के ऊपर कपोत बैठ गया हो, उस घर को छोड़ देने में ही मनुष्य का कल्याण है। जिस घर में बाज, कबूतर, गिद्ध, कौआ और उल्लू—इन पाँचों में से कोई घुस जाय, तो यह समझ लेना चाहिये कि उस घर में रहने वालों का अन्तकाल आ पहुँचा है। बुद्धिमान् व्यक्ति के लिए ऐसे घर को छोड़ देना ही अच्छा है, अथवा (यदि उसमें रहना ही पड़े तो) शान्तिकर्म का अनुष्ठान करना आवश्यक है। स्वप्न में भी कबूतर का दर्शन बड़ा अशुभ माना गया है। अब दुःसह के छठे पुत्र 'गण्डप्रान्तरति' के विषय में सुनो, जिसकी ६ सन्तानें हैं।। ६१-७३ ।।

इनके रहने का स्थान स्त्रियों का रज है। किन-किन समयों में इनके काम होते हैं, उसके विषय में मुझसे सुन लो। इसकी एक सन्तान स्त्रियों के रजस्वला होने के बाद के चार दिनों तक उनके रज में निवास करती है, दूसरी का इग्यारहवें और तेरहवें दिन स्त्री-रज में निवास होता है, तीसरी का स्त्री-रज में निवास दिनोदय के समय होता है, चौथी और पाँचवीं श्राद्धदान के समय स्त्री-रज में निवास करती है और छठीं के स्त्री-रज में निवास का समय पर्वकाल होता है। इसलिए बुद्धिमान् गृहस्थ को इन उपर्युक्त समयों में स्त्री-प्रसङ्ग का परित्याग करना चाहिये। दुःसह का गर्भहा (गर्भहन्ता, गर्भघाती) नाम का जो सातवाँ पुत्र है, उसके पुत्र का नाम 'निघ्न' है और उसकी पुत्री का नाम 'मोहनी' है। 'निघ्न' तो स्त्रीगर्भ में प्रविष्ट होकर गर्भ का भक्षण करता है और उसके गर्भभक्षण कर लेने के बाद 'मोहनी' स्त्री को मोहित कर देती है। उसके द्वारा मोहित स्त्री के पेट से साँप, मेंढक, कछुआ, रेंगने वाले और जन्तु अथवा विष्ठा की उत्पत्ति होती है। यही 'निघ्न' ऐसी गर्भिणी स्त्री के गर्भ में रहा करता है, जो गर्भधारण के बाद ६ महीने तक मांस भक्षण करती है, जिसका मन पर-पुरुष की

वृक्षच्छायाश्रयां रात्रावथवा त्रिचतुष्पथे ।
श्मशानकटभूमिष्ठामुत्तरीयविवर्जिताम् ॥७९॥
रुदमानां निशीथेऽथ आविशेत्तामसौ स्त्रियम् ।
शस्यहन्तुस्तथैवैकः क्षुद्रको नाम नामतः ॥८०॥
शस्यर्द्धिं स सदा हन्ति लब्ध्वा रन्ध्रं शृणुष्व तत् ।
अमङ्गल्यदिनारम्भे अतृप्तो वपते च यः ॥८१॥
क्षेत्रेष्वनुप्रवेशं वै करोत्यन्तोपसङ्गिषु ।
तस्मात् कल्पः सुप्रशस्ते दिनेऽभ्यर्च्य निशाकरम् ॥८२॥
कुर्य्यादारम्भमुप्तिश्च हृष्टस्तुष्टः सहायवान् ।
नियोजिकेति या कन्या दुःसहस्य मयोदिता ॥८३॥
जातं प्रचोदिकासंज्ञं तस्याः कन्याचतुष्टयम् ।
मत्तोन्मत्तप्रमत्तास्तु नरान् नारीस्तु ताः सदा ॥८४॥
समाविशन्ति नाशाय चोदयन्तीह दारुणम् ।
अधर्मं धर्मरूपेण कामश्चाकामरूपिणम् ॥८५॥

ओर खिंचता रहता है, जो रात में तिराहे या चौराहे पर पेड़ की छाया में बैठा करती हैं, जो श्मशान में और दुर्गन्धयुक्त भूमि पर आसन जमाया करती है और जिसका सिर उत्तरीय-रहित निर्वस्त्र रहा करता है ॥ ७४-७९ ॥

यह 'निघ्न' उस स्त्री के गर्भ में भी प्रविष्ट हो जाता है, जो रात में रोया करती है। आठवें शस्यहा (शस्यहन्ता, शस्यघाती) नाम के दुःसह-पुत्र का एक पुत्र है, जिसका नाम 'क्षुद्रक' है। यह मौका पाते ही खेतों में लहलहाते पौधों पर आघात करता है। ऐसा करने के अवसर उसे तब मिलते हैं, जब कृषक लोग स्वयं असन्तुष्ट रहते अशुभ दिनों में खेतों में बीज बोया करते हैं। ऐसे अशुभ दिनों में यह बीज बोये खेतों के चतुर्दिक् अवस्थित रहता है और खेतों में भी प्रविष्ट हो जाता है। इससे रक्षा का विधान यह है कि कृषकों को शुभ दिन में, चन्द्रदेव की पूजा करके, कृषिकर्म प्रारम्भ करना चाहिये और प्रसन्नचित्त होकर तथा मन में सन्तोष रख कर, सेवकों को साथ लेकर, खेतों में बीज बोना चाहिये। मैंने दुःसह की जिस पुत्री का नाम 'नियोजिका' कहा है, उससे चार पुत्रियां पैदा हुईं, जिनमें पहली का नाम प्रचोदिका, दूसरी का नाम मत्ता, तीसरी का नाम उन्मत्ता और चौथी का नाम प्रमत्ता है। ये चारों सदा स्त्रियों और पुरुषों के शरीर में प्रवेश किया करती हैं और उनके नाश के लिये, बड़ी क्रूरता

अनर्थञ्चार्थरूपेण मोक्षञ्चामोक्षरूपिणम् ।
दुर्विनीता विना शौचं दर्शयन्ति पृथङ्नरान् ॥८६।
भ्रश्यन्त्याभिः प्रविष्टाभिः पुरुषार्थात् पृथङ्नराः ।
तासां प्रवेशश्च गृहे संध्यारक्ते ह्यथाम्बरे ॥८७।
धाताविधात्रोश्च बलिर्यत्र काले न दीयते ।
भुञ्जतां पिबतां वापि सङ्गिभिर्जलविप्रुषैः ॥८८।
नवनारीषु संक्रान्तिस्तासामाश्वभिजायते ।
विरोधिन्यास्त्रयः पुत्राश्चोदको ग्राहकस्तथा ॥८९।
तमःप्रच्छादकश्चान्यस्तत्स्वरूपं शृणुष्व मे ।
प्रदीपतैलसंसर्गदूषिते लङ्घिते खले ॥९०॥
मुषलोलूखले यत्र पादुके वासने स्त्रियः ।
शूर्पदात्रादिकं यत्र पदाकृष्य तथासनम् ॥९१।
यत्रोपलिप्तश्चानर्च्य विहारः क्रियते गृहे ।
दर्व्वीमुखेन यत्राग्निराहृतोऽन्यत्र नीयते ॥९२।

से उन्हें प्रेरित किया करती हैं और ऐसी दुष्टा हैं कि अधर्म को धर्म-रूप में, अकाम (व्यभिचार) को काम-रूप में, अनर्थ को अर्थ-रूप में और अमोक्ष (संसार-बन्धन) को मोक्षरूप में उन लोगों के लिए प्रदर्शित किया करती हैं, जो अशुद्ध आचार-व्यवहार वाले पामरप्राय हुआ करते हैं ॥ ८०-८६ ॥

जब नियोजिका की ये प्रचोदिकादि चारों पुत्रियाँ किसी के तन-मन में प्रविष्ट हो जाती है, तब उनके प्रवेश से उस पामर जन के चारों पुरुषार्थ नष्ट हो जाते हैं। इनका लोगों के घरों में प्रवेश सन्ध्याकालीन आकाश की लालिमा के समय होता है। उनका उस समय में भी घरों में प्रवेश होता है, जब उसमें रहने वाले लोग धाता और विधाता के लिए बलि-प्रदान नहीं करते हैं। ये उन घरों में भी प्रविष्ट हो जाती हैं, जिनमें भोजन करके पानी पीने वाले लोगों के ओठों में पानी की बूंदे सटी दिखायी देती हैं। युवतियों में इनका संक्रमण तो बहुत शीघ्र हुआ करता है। 'विरोधिनी' (नियोजिका की दूसरी पुत्री) के तीन पुत्र हैं—पहला चोदक, दूसरा ग्राहक और तीसरा तमःप्रच्छादक। इनके स्वरूप के विषय में मुझसे सुनो। विरोधिनी के ये पुत्र उन घरों में प्रवेश करके अपना पराक्रम दिखाते हैं, जहाँ खरल, मूसर, ओखर, खड़ाऊँ तथा उत्तरीय-अधरीय वस्त्र दीपक की बत्ती से गिरे तेल से गन्दे दिखायी देते हैं अथवा घर के लोगों द्वारा लांघे जाया करते हैं, जहाँ स्त्रियां अपने पैरों से सूप, हँसुआ, कुल्हाड़ी आदि अपनी ओर खींच कर उन पर बैठा करती हैं, जहाँ लिपी-पुती जगहों पर घर के लोग विना देवार्चन किये विहार करते दिखायी देते हैं और जहाँ कलछुल

विरोधिनीसुतास्तत्र विजृम्भन्ते प्रचोदिताः ।
एको जिह्वागतः पुंसां स्त्रीणाञ्चालीकसत्यवान् ॥९३॥
चोदको नाम स प्रोक्तः पैशुन्यं कुरुते गृहे ।
अवधानगतश्चान्यः श्रवणस्थोऽतिदुर्म्मतिः ॥९४॥
करोति ग्रहणन्तेषां वचसां ग्राहकस्तु सः ।
आक्रम्यान्यो मनो नृणां तमसाच्छाद्य दुर्मतिः ॥९५॥
क्रोधं जनयते यस्तु तमःप्रच्छादकस्तु सः ।
स्वयंहार्य्यास्तु चौर्य्येण जनितन्तनयत्रयम् ॥९६॥
सर्वहार्य्यर्द्धहारी च वीर्य्यहारी तथैव च ।
अनाचान्तगृहेष्वेते मन्दाचारगृहेषु च ॥९७॥
अप्रक्षालितपादेषु प्रविशत्सु महानसम् ।
खलेषु गोष्ठेषु च वै द्रोहो येषु गृहेषु वै ॥९८॥
तेषु सर्वे यथान्यायं विहरन्ति रमन्ति च ।
भ्रामण्यास्तनयस्त्वेकः काकजङ्घ इति स्मृतः ॥९९॥
तेनाविष्टो रतिं सर्वो नैव प्राप्नोति वै पुरे ।
भुञ्जन् यो गायते मैत्रे गायते हसते च यः ॥१००॥

से उठाकर आग को एक जगह से दूसरी जगह ले जाया जाता है। इन विरोधिनी-पुत्रों में 'चोदक' नाम का पुत्र वह है, जो पुरुषों और स्त्रियों की जिह्वा पर आसन जमा कर झूठ-सच बकवास करवाया करता है और घरों में रहने वाले लोगों से एक दूसरे की चुगलखोरीं करवाया करता है। 'ग्राहक' नाम का जो विरोधिनी-पुत्र है, वह बड़ा दुष्ट है, क्योंकि वह बड़ी सावधानी से लोगों के कानों में बैठ जाता है और उनकी बातें पकड़ा करता है, (जिससे वे परस्पर झगड़ा करने पर उतारू हो जांय)। तीसरा विरोधिनी-पुत्र, जिसका नाम तमःप्रच्छादक है, वह दुर्मति है और मनुष्यों के मन पर आक्रमण कर उसे (मन को) अज्ञानान्धकार से आच्छन्न कर देता है तथा उसमें (मन में) क्रोध का भाव उत्पन्न कर देता है। 'स्वयंहारी' नाम की दुःसह पुत्री के तीन अवैध पुत्र हैं—पहला सर्वहारी, दूसरा अर्द्धहारी और तीसरा वीर्यहारी। ये तीनों उन घरों में विहरण और रमण करते हैं, जहाँ रहने वाले लोग भोजन के बाद आचमन से मुख-शुद्धि नहीं करते, जहाँ रहने वाले लोगों के आचार-व्यवहार बड़े क्षुद्र होते हैं, जहाँ घर के लोग विना पैर धोये रसोई घर में प्रविष्ट हो जाने के अभ्यस्त हैं और जहाँ खलिहानों और गोष्ठों को लेकर घर के लोग एक दूसरे के शत्रु बन जाते हैं। भ्रामणी नाम की जो दुःसह-पुत्री है, उसका 'काकजङ्घ' नाम का एक पुत्र है, जिससे आविष्ट होने पर लोगों का मन अपने नगर में नहीं लगता। इससे आविष्ट व्यक्ति भोजन करते हुए,

सन्ध्यामैथुनिनञ्चैव नरमाविशति द्विज ।
कन्यात्रयं प्रसूता सा या कन्या ऋतुहारिणी ॥१०१।
एका कुचहरा कन्या अन्या व्यञ्जनहारिका ।
तृतीया तु समाख्याता कन्यका जातहारिणी ॥१०२।
यस्या न क्रियते सर्वः सम्यग् वैवाहिको विधिः ।
कालातीतोऽथवा तस्या हरत्येका कुचद्वयम् ॥१०३
सम्यक् श्राद्धमदत्त्वा च तथानर्च्य च मातरम् ।
विवाहितायाः कन्याया हरति व्यञ्जनं तथा ॥१०४।
अग्न्यम्बुशून्ये च तथा विधूपे सूतिकागृहे ।
अदीपशस्त्रमुसले भूतिसर्षपवर्जिते ॥१०५।
अनुप्रविश्य सा जातमपहृत्यात्मसम्भवम् ।
क्षणप्रसविनी बालं तत्रैवोत्सृजते द्विज ॥१०६।
सा जातहारिणो नाम सुघोरा पिशिताशना ।
तस्मात् संरक्षणं कार्य्यं यत्नतः सूतिकागृहे ॥१०७।

अपने साथ बैठे मित्र को, गाना सुनाने लगता है और बीच-बीच में हँसने लगता है। दुःसह की 'ऋतुहारिणी' नाम की जो पुत्री है, जिसकी तीन पुत्रियाँ हैं, द्विजवर क्रौष्टुकि ! वह सन्ध्यावेला में मैथुन-कर्म में लिप्त मनुष्यों में प्रविष्ट हो जाती हैं। इसकी तीन पुत्रियों में पहली का नाम 'कुचहरा' (कुचहारिणी), दूसरी का नाम 'व्यञ्जनहारिका' (व्यञ्जनहरा) और तीसरी का नाम 'जातहारिणी' (जातहरा) है। इनमें 'कुचहारिणी' का काम उस युवती के दोनों कुचों (स्तनों) का अपहरण है, जिसका विवाह विधिवत् न किया गया हो अथवा विवाहोचित समय के बीत जाने पर किया गया हो ॥ ८७-१०३ ॥

दूसरी अर्थात् 'व्यञ्जनहारिणी' का काम उस विवाहित कन्या के मासिकधर्म का अपहरण है, जिसका विवाह वृद्धि-श्राद्ध में विधिवत् दान दिये बिना तथा उसकी माता का सम्मान-सत्कार किये बिना कर दिया गया हो। तीसरी, जिसका नाम 'जातहारिणी' है, बड़ी भयङ्कर और मांसभक्षण में प्रसन्न रहती है। यह ऐसे सूतिकागृह में प्रविष्ट हो जाती है, जहाँ अग्नि और जल नहीं रखे रहते, जहाँ धूप नहीं जलाई जाती, जहाँ दीपक, शस्त्र और मूसल—नहीं रखे जाते और न जहाँ भस्म तथा सरसों के दाने बिखेरे दिखाई देते हैं। वहाँ (सूतिका गृह में) प्रविष्ट होकर, वह, जो एक क्षण में प्रसव कर देती है, नवजात शिशु को चुरा लेती है और उसके स्थान पर अपने सद्यःप्रसूत शिशु को छोड़कर खिसक जाती है। इसलिये यह अत्यावश्यक है कि सूतिकागृह की प्रयत्नपूर्वक सर्वविध सुरक्षा की जाय ॥ १०४-१०७ ॥

स्मृतिञ्चाप्रयतानाञ्च शून्यागारनिषेवणात् ।
अपहन्ति सुतस्तस्याः प्रचण्डो नाम नामतः ॥१०८॥
पौत्रेभ्यस्तस्य संभूता लीकाः शतसहस्रशः ।
चण्डालयोनयश्चाष्टौ दण्डपाशातिभीषणाः ॥१०९॥
क्षुधाविष्टास्ततो लीकास्ताश्च चण्डालयोनयः ।
अभ्यधावन्त चान्योन्यमत्तुकामाः परस्परम् ॥११०॥
प्रचण्डो वारयित्वा तु तास्ताश्चण्डालयोनयः ।
समये स्थापयामास यादृशे तादृशं श्रृणु ॥१११॥
अद्यप्रभृति लीकानामावासं यो हि दास्यति ।
दण्डं तस्याहमतुलं पातयिष्ये न संशयः ॥११२॥
चण्डालयोन्योऽवसथे लीका या प्रसविष्यति ।
तस्याश्च सन्ततिः पूर्व्वा सा च सद्यो नशिष्यति ॥११३॥
प्रसूते कन्यके द्वे तु स्त्रीपुंसोर्बीजहारिणी ।
वातरूपामरूपाञ्च तस्याः प्रहरणन्तु ते ॥११४॥

दुःसह की 'स्मृतिहारिका' नाम की पुत्री का 'प्रचण्ड' नाम का एक पुत्र है, जिसका काम शून्यागार प्रेमी, असंयतेन्द्रिय पुरुष की स्मृति का नाश करना है ॥ १०८॥

इस प्रचण्ड के जो पौत्र हैं, उनसे लाखों की संख्या में 'लीका' की उत्पत्ति हुई है और आठ चाण्डाल भी उत्पन्न हुए हैं। जिनके हाथ दण्ड और पाश पकड़े रहते हैं जिनके कारण वे बड़े भयङ्कर लगा करते हैं। भूख से व्याकुल असंख्य लीकाएँ और आठों चाण्डाल एक दूसरे को खा जाने के लिए एक दूसरे की ओर दौड़ा करते हैं। प्रचण्ड लीकाओं और चाण्डालों—दोनों को ऐसा करने से रोका करता है और उनके लिए उसने जिस प्रकार के समय अथवा संविदा की स्थापना की है, उसके विषय में सुन लो ॥ १०९-१११ ॥

आज से जो भी लीकाओं के लिये आवास देगा, उसे मैं निःसंदिग्ध रूप से एक अनूठे ढंग से दण्डित करूँगा ॥ ११२ ॥

जो लीका चाण्डाल के घर में बच्चा देगी, वह (चाण्डाल) और उसकी पहली सन्तति अविलम्ब काल के गाल में चली जायेगी ॥ ११३ ॥

दुःसह की 'बीजहारिणी' नाम की पुत्री से, जिसका नाम उसके काम अर्थात् स्त्री और पुरुष के रज और वीर्य के अपहरण के अनुसार पड़ा है, वातरूपा और अरूपा नाम की दो कन्याओं का जन्म हुआ है, जो कि बीजहारिणी के अस्त्र रूप में काम आती

वातरूपा निषेकान्ते सा यस्मै क्षिपते सुतम् ।
स पुमान् वातशुक्रत्वं प्रयाति वनितापि वा ।।११५।

तथैव गच्छतः सद्यो निर्बीजत्वमरूपया ।
अस्नाताशी नरो यो वै तथैव पिशिताशनः ।।११६।

विद्वेषिणी तु या कन्या भृकुटीकुटिलानना ।
तस्या द्वौ तनयौ पुंसामपकारप्रकाशकौ ।।११७।

निर्बीजत्वं नरो याति नारी वा शौचवर्ज्जिता ।
पैशुन्याभिरतं लोलमसज्जननिषेवणम् ।।११८।

पुरुषद्वेषिणञ्चैतौ नरमाक्रम्य तिष्ठतः ।
मात्रा भ्रात्रा तथा मित्रैरभीष्टैः स्वजनैः परैः ।।११९।

विद्विष्टो नाशमायाति पुरुषो धर्मतोऽर्थतः ।
एकस्तु स्वगुणांल्लोके प्रकाशयति पापकृत् ।।१२०।

हैं। स्त्री के गर्भधारण के बाद जिस पुरुष की सन्तति के रूप में वातरूपा अपनी सन्तान रख देती है, उस पुरुष और उसकी स्त्री—दोनों को वात-व्याधि के फलस्वरूप वीर्यनाश और मसिकधर्म के अवरोध के रोग पकड़ लेते हैं। इसी प्रकार अरूपा के द्वारा, दो प्रकार के स्त्री-पुरुष, अर्थात् वे जो बिना स्नान किये भोजन किया करते हैं और वे जो मांसभक्षण के अभ्यस्त हैं, रजोनाश और वीर्यनाश के रोग से ग्रस्त बना दिये जाते हैं। दुःसह की विरोधिनी नाम की पुत्री के, जिसका मुँह उसके भृकुटिभङ्ग से भीषण लगा करता है, उसके दो पुत्र हैं—पहला अपकार और दूसरा प्रकाशक। इनके संसर्ग से शौचाचार से रहित स्त्री और पुरुष निर्वीर्य हो जाते हैं। ये दोनों ऐसे पुरुष पर आक्रमण करते और उस पर सवार रहा करते हैं, जो चुगलखोरी में लगा रहता है, स्वभाव से चपल होता है; दुर्जनों के संग का प्रेमी होता है और सज्जनों से द्वेष करता है। इनके संसर्गवश मनुष्य अपनी माँ, अपने भाई, अपने मित्र, अपने अभीष्ट जन तथा अन्य लोगों का विद्वेष-पात्र बन जाता है और उसके धर्म और अर्थ—दोनों नाश में मिल जाते हैं। इन दोनों में से एक अर्थात् प्रकाशक बड़ा पापी है, क्योंकि वह लोक में अपना ही गुणकीर्तन करता है तथा दूसरा ओर लोगों के गुणों के नगण्य बना देता है

द्वितीयस्तु गुणान् मैत्रीं लोकस्थामपकर्षति ।
इत्येते दौःसहाः सर्वे यक्ष्मणः सन्ततावथ ।
पापाचाराः समाख्याता यैर्व्याप्तमखिलं जगत् ॥१२१॥

॥ इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे दुःसहोत्पत्तिसमापनं नामैकपञ्चाशोऽध्यायः ।

और साथ ही साथ लोगों के परस्पर मैत्रीभाव को भी उनसे दूर कर देता है। ये ही सब दुःसह की सन्तानें हैं, जो कि उसकी सन्तान-परम्परा में महापापी हैं, जिनसे यह समस्त जगत् व्याप्त है ॥ ११४-१२१ ॥

पर्यालोचन

(क) इस अध्याय में 'दुःसह' और उसकी पत्नी 'निर्माष्टि' की सन्ततियों, उनके द्वारा मानवजीवन में उपस्थापित की जाने वाली विविध विघ्नबाधाओं तथा उनके प्रशमन के विधि-विधानों का जो वर्णन है। वह आज भी भारत के ग्रामीण जनसमाज में व्याप्त लोक-विश्वास, जिसे नयी रोशनी के लोग अन्धविश्वास का नाम देते हैं, के विश्लेषण से प्रमाणित होता है। अथर्ववेद में 'निर्ऋति' नाम की पापदेवी के कई मन्त्रों में उल्लेख हैं। इन उल्लेखों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि विद्या और अविद्या, लक्ष्मी और अलक्ष्मी दोनों रूपों में अपने स्वरूप को अवभासित करने वाली महामाया ही 'निर्ऋति' के रूप में भी प्रतिभासित होती है। इसलिये अथर्ववेद की 'निर्ऋति' से मार्कण्डेयपुराण की 'निर्माष्टि' की रूपरेखा की अभिव्यक्ति मानने में कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती। वैदिक ऋषि जैसे आथर्वण मन्त्रों से निर्ऋति की प्रार्थना करते हैं कि वह उनके बालकों की दन्त-पीडा हरण करे और उनकी जीवन-रक्षा करे, वैसे ही पौराणिक मुनि भी निर्ऋति रूपधारिणी महामाया से अपनी सर्वविध रक्षा की याचना-प्रार्थना करते प्रतीत होते हैं। वैदिक लोक-विश्वास पौराणिक लोक-विश्वास के रूप में संक्रान्त हुआ है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

(ख) भारत की ग्रामीण जनता में, शिशुओं के दाँत निकलने में जो कष्ट होते हैं, उनके निवारण के लिए कई प्रकार के टोना-टोटका प्रचलित हैं, जिनमें सरसों के दानों का प्रयोग भी होता है। यही बात 'दन्ताकृष्टि' नाम के दुःसह पुत्र के द्वारा उत्पादित शिशु-क्लेश तथा उसके उपचार के रूप में इस अध्याय के ८ से १० श्लोकों में कही गयी है। दुःसह यक्ष के 'उक्ति', परिवर्त', अङ्गध्रुक्', 'शकुनि' तथा 'गण्डप्रान्तरति' नाम के जो पाँच पुत्र बताए गए हैं और उनके द्वारा उत्पादित जनजीवन के जो ताप-सन्ताप गिनाए गए हैं, वे सब पापदेवता के पापकर्म हैं, जिनके प्रकोप के प्रशमन के लिए प्रतिपादित उपाय आज भी किसी न किसी रूप में अपनाए जाते हैं। दुःसह-पुत्र 'गर्भहा' (गर्भघातक) तथा 'सस्यहा' (सस्यघातक) पौराणिक जन-विश्वास के दो पापदेव हैं, किन्तु आज भी भारत में इन पापदेवों की मान्यता दृढ़मूल है और इनसे रक्षा के पुराण-प्रतिपादित जो उपाय हैं, वे आज भी किसी न किसी रूप में हमारे ग्रामीण जन-समाज में मान्यता रखते हैं। आधुनिक विकसित चिकित्सा विज्ञान से इन पापदेवों की पौराणिक मान्यता को कड़ी ठोकर लगी है, किन्तु यह भी एक सत्य है कि आधुनिक विकसित चिकित्सा-विज्ञान भी इन आपदाओं के समूलोन्मूलन में सर्वथा सशक्त नहीं है। इसीलिए लोग साधु-सन्तों और फकीरों की शरण लेते हैं और उनके द्वारा निर्दिष्ट टोने-टोटकों का प्रयोग करते हैं। इन टोने-टोटकों से भले ही शत-प्रतिशत लाभ न हो हो, किन्तु यदि कुछ भी लाभ न होता तो जनसमाज इनसे उद्विग्न होकर इन्हें विस्मृति के गर्त में गिरा देता। कुछ प्रतिशत लाभ अवश्य होता है, इसीलिए आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान, चाहे वह मानव-रोगों के निराकरण का विज्ञान हो अथवा कृषि-वनस्पति के रोगों के निराकरण का विज्ञान हो, इन टोने-टाटकों की मान्यता को जड़ से उखाड़ फेकनें में समर्थ नहीं हो पाया है।

(ग) मानव की पापात्मक प्रवृत्तियों की 'नियोजिका', 'विरोधिनी' आदि 'दुःसह' यक्ष और 'निर्माष्टि' की पुत्रियों के रूप में कल्पना एक प्रतीक-कल्पना है, जिसमें एकमात्र निःसारता नहीं, अपितु कुछ न कुछ साक्ष्य अवश्य है। इन पापदेवियों द्वारा उत्पादित लोक-सन्ताप के उपशमन के लिए न तो शल्यचिकित्सा में कोई शक्ति है और न औषधि-विज्ञान में। मानसिक व्याधियों के निदानार्थ परामनोवैज्ञानिक चिकित्सा का विकास हो रहा है। पौराणिक लोक-विश्वास परामनोविज्ञान की नींव है, जिस पर मनोवैज्ञानिक चिकित्सा का भवन खड़ा हो रहा है, जिसे मानव के आधुनिक भौतिक और बौद्धिक विकास की देन मान सकते हैं। पुराणों की अन्धविश्वास सी मानी जाने वाली इन मान्यताओं का वास्तविक महत्त्व भले न माना जाए, ऐतिहासिक महत्त्व तो मानना ही पड़ेगा।

श्री मार्कण्डेयपुराण का 'दौःसहोत्पत्तिसमापन' नामक ५१वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी अनुवाद समाप्त।

द्विपञ्चाशोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

इत्येष तामसः सर्गो ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः ।
रुद्रसर्गं प्रवक्ष्यामि तन्मे निगदतः शृणु ॥१॥
तनयाश्च तथैवाष्टौ पत्न्यः पुत्राश्च ते तथा ।
कल्पादावात्मनस्तुल्यं सुतं प्रध्यायतः प्रभोः ॥२॥
प्रादुरासीदथाङ्केऽस्य कुमारो नीललोहितः ।
रुरोद सुस्वरं सोऽथ द्रवंश्च द्विजसत्तम ॥३॥
किं रोदिषीति तं ब्रह्मा रुदन्तं प्रत्युवाच ह ।
नाम देहीति तं सोऽथ प्रत्युवाच जगत्पतिम् ॥४॥
रुद्रस्त्वं देव ! नाम्नासि मा रोदीर्धैर्य्यमावह ।
एवमुक्तस्ततः सोऽथ सप्तकृत्वो रुरोद ह ॥५॥
ततोऽन्यानि ददौ तस्मै सप्त नामानि वै प्रभुः ।
स्थानानि चैषामष्टानां पत्नीः पुत्रांश्च वै द्विज ॥६॥

मैंने अब तक, क्रौष्टुकि ! अव्यक्त जन्मा ब्रह्मा की तामस सृष्टि का वर्णन किया है। अब मैं रुद्रसर्ग (रुद्र की सृष्टि) के विषय में बताऊँगा, ध्यान देकर सुनो ॥ १ ॥

जब कल्प के प्रारम्भ में भगवान् ब्रह्मा ने अपने समान पुत्र के सम्बन्ध में संकल्प किया, तब आठ पुत्र, उनकी पत्नियाँ और उनकी सन्तानें प्रादुर्भूत हुईं और उनकी गोद में एक 'नीललोहित' बालक आ बैठा और इधर-उधर भागते-फिरते बड़ी मधुर ध्वनि में रोने लगा। रोने वाले उस बालक से ब्रह्मा ने पूछा—'तू क्यों रो रहा है।' ब्रह्मा के द्वारा ऐसा पूछे जाने पर उसने जगत्पति ब्रह्मा से कहा—'मुझे मेरा नाम दीजिये।' ब्रह्मा ने उससे कहा—बच्चे ! तुम देव हो, तुम्हारा नाम 'रुद्र' है। मत रोओ, धैर्य रखो। ऐसा कहे जाने पर वह बालक सात बार रोया। उसे चुप कराने के लिये, ब्रह्मा ने उसके और सात नाम बताये और इन आठ पुत्रों के लिए स्थान तथा उनकी पत्नियों और पुत्रों को भी उत्पन्न कर उन्हें दे दिया। पितामह ब्रह्मा ने पहले रुद्र नाम के अतिरिक्त उनके ये नाम कहे—दूसरा भव, तीसरा शर्व, चौथा ईशान, पाँचवां पशुपति, छठवां भीम, सातवां उग्र, आठवां महादेव। इस प्रकार ब्रह्मा ने आठों कुमारों

भवं शर्वं तथेशानं तथा पशुपतिं प्रभुः ।
भीममुग्रं महादेवमुवाच स पितामहः ॥७॥
चक्रे नामान्यथैतानि स्थानान्येषाञ्चकार ह ।
सूर्य्यो जलं मही वह्निर्व्वायुराकाशमेव च ॥८॥
दीक्षितो ब्राह्मणः सोम इत्येतास्तनवः क्रमात् ।
सुवर्चला तथैवोमा विकेशी चापरा स्वधा ॥९॥
स्वाहा दिशस्तथा दीक्षा रोहिणी च यथाक्रमम् ।
सूर्य्यादीनां द्विजश्रेष्ठ ! रुद्राद्यैर्नामभिः सह ॥१०॥
शनैश्चरस्तथा शुक्रो लोहिताङ्गो मनोजवः ।
स्कन्दः सर्गोऽथ सन्तानो बुधश्चानुक्रमात् सुतः ॥११॥
एवम्प्रकारो रुद्रोऽसौ सतीं भार्य्यामविन्दत ।
दक्षकोपाच्च तत्याज सा सती स्वं कलेवरम् ॥१२॥
हिमवद्दुहिता साभून्मेनायां द्विजसत्तम ।
तस्या भ्राता तु मैनाकः सखाम्भोधेरनुत्तमः ॥१३॥
उपयेमे पुनश्चैनामनन्यां भगवान् भवः ।
देवौ धाताविधातारौ भृगोः ख्यातिरसूयत ॥१४॥

के नामकरण के बाद इनके स्थान भी बना दिये, जैसे कि पहला सूर्य, दूसरा जल, तीसरा पृथिवी, चौथा वह्नि, पाँचवां वायु, छठवाँ आकाश, सातवां दीक्षित ब्राह्मण और आठवां चन्द्र। इन कुमारों को क्रमशः ये पत्नियां भी दीं—पहली सुवर्चला, दूसरी उमा, तीसरी विकेशी, चौथी स्वधा, पाँचवीं स्वाहा, छठवीं दिशा, सातवीं दीक्षा और आठवीं रोहिणी। इस प्रकार ब्रह्मा ने उन कुमारों को उनकी उपर्युक्त आठ पत्नियों के साथ उन्हें आठ नाम आठ स्थान प्रदान कर दिये। इनके अतिरिक्त ब्रह्मा से क्रमशः शनैश्चर,, शुक्र, लोहिताङ्ग, मनोजव, स्कन्द, सर्ग सन्तान और बुध—ये सात और पुत्र आविर्भूत हुए। रोने के कारण नीललोहित कुमार 'रुद्र' ने अपनी पत्नी के रूप में सती को प्राप्त किया। इस सती ने अपने पिता दक्ष के क्रोध के कारण अपना शरीर छोड़ दिया ॥ २-१२ ॥

द्विजवर क्रौष्टुकि ! इस सती ने हिमालय की मेना नाम की पत्नी के गर्भ से पुनर्जन्म लिया और उसके भाई मैनाक ने भी जन्म लिया, जो कि समुद्र का सबसे प्रिय मित्र था। भगवान् भव ने पुनः (उमा रूप में) उत्पन्न सती से विवाह किया। भृगु की पत्नी 'ख्याति' के धाता और विधाता नाम के दो देव पुत्र-रूप में उत्पन्न हुए। देवाधिदेव

श्रियश्च देवदेवस्य पत्नी नारायणस्य या ।
आयतिर्नियतिश्चैव मेरोः कन्ये महात्मनः ।।१५।
धाताविधात्रोस्ते भार्य्ये तयोर्ज्जातौ सुतावुभौ ।
प्राणश्चैव मृकण्डुश्च पिता मम महायशाः ।।१६।
मनस्विन्यामहं तस्मात् पुत्रो वेदशिरा मम ।
धूम्रवत्यां समभवत् प्राणस्यापि निबोध मे ।।१७।
प्राणस्य द्युतिमान् पुत्र उत्पन्नस्तस्य चात्मजः ।
अजराश्च तयोः पुत्राः पौत्राश्च बहवोऽभवन् ।।१८।
पत्नी मरीचेः सम्भूतिः पौर्णमासमसूयत ।
विरजाः पर्वतश्चैव तस्य पुत्रौ महात्मनः ।।१९।
तयोः पुत्रांस्तु वक्ष्येऽहं वंशसंकीर्त्तने द्विज ।
स्मृतिश्चाङ्गिरसः पत्नी प्रसूता कन्यकास्तथा ।।२०।
सिनीवाली कुहूश्चैव राका भानुमती तथा ।
अनसूया तथैवात्रेर्जज्ञे पुत्रानकल्मषान् ।।२१।
सोमं दुर्वाससञ्चैव दत्तात्रेयञ्च योगिनम् ।
प्रीत्यां पुलस्त्यभार्य्यायां दत्तोऽन्यस्तत्सुतोऽभवत् ।।२२।

नारायण की पत्नी के रूप में श्री (लक्ष्मी) की सृष्टि हुई। महात्मा मेरु की दो कन्याएँ उत्पन्न हुईं—पहली आयति और दूसरी नियति। ये दोनों कन्याएँ क्रमशः धाता और विधाता की धर्मपत्नियाँ बनीं। धाता तथा विधाता की इन धर्मपत्नियों ने एक-एक पुत्र को जन्म दिया, जिनमें आयति से धाता का पुत्र 'प्राण' उत्पन्न हुआ और विधाता से नियति के पुत्र-रूप में मेरे (मार्कण्डेय के) महायशस्वी पिता मृकण्डु का जन्म हुआ। मृकण्डु से उनकी धर्मपत्नी मनस्विनी के पुत्र-रूप में मैं (मार्कण्डेय) उत्पन्न हुआ। मेरा भी वेदशिरस् नाम का पुत्र हुआ। प्राण ने अपनी धर्मपत्नी से 'द्युतिमान्' नामक पुत्र उत्पन्न किया। प्राण और मृकण्डु के अनेकों पुत्र और अनेकों पौत्र थे और वे सभी अजर-अमर हुए ॥ १३-१८ ॥

मरीचि की पत्नी संभूति थी, जिससे पौर्णमास नाम के पुत्र का जन्म हुआ। पौर्णमास महात्मा था और उसके विरजस् और पर्वत नाम के दो पुत्र हुए। इस वंश-परम्परा के सङ्कीर्तन में, द्विजवर क्रौष्टुकि! मैं इन दोनों (विरजस् और पर्वत) के पुत्रों के विषय में बता रहा हूँ। अङ्गिरा की पत्नी स्मृति हुई, जिससे चार कन्याएँ अर्थात् पहली सिनीवाली, दूसरी कुहू, तीसरी राका और चौथी भानुमती उत्पन्न हुईं। अत्रि की पत्नी अनसूया थी। अनसूया ने तीन महापुण्यात्मा पुत्रों को जन्म दिया, जिनमें पहले का नाम सोम, दूसरे का नाम दुर्वासा और तीसरे का नाम महायोगी दत्तात्रेय था। पुलस्त्य

पूर्वजन्मनि सोऽगस्त्यः स्मृतः स्वायम्भुवेऽन्तरे ।
कर्दमश्चार्ववीरश्च सहिष्णुश्च सुतत्रयम् ॥२३॥
क्षमा तु सुषुवे भार्य्या पुलहस्य प्रजापतेः ।
क्रतोस्तु सन्नतिर्भार्य्या बालखिल्यानसूयत ॥२४॥
षष्टिर्यानि सहस्राणि ऋषीणामूर्ध्वरेतसाम् ।
ऊर्ज्जायान्तु वसिष्ठस्य सप्ताजायन्त वै सुताः ॥२५॥
रजोगात्रोर्द्ध्वबाहुश्च सबलश्चानघस्तथा ।
सुतपाः शुक्ल इत्येते सर्वे सप्तर्षयः स्मृताः ॥२६॥
योऽसावग्निरभीमानी ब्रह्मणस्तनयोऽग्रजः ।
तस्मात् स्वाहा सुतान् लेभे त्रीनुदारौजसो द्विज ॥२७॥
पावकं पवमानञ्च शुचिञ्चापि जलाशिनम् ।
तेषान्तु सन्ततावन्ये चत्वारिंशच्च पञ्च च ॥२८॥
कथ्यन्ते बहुशश्चैते पिता पुत्रत्रयञ्च यत् ।
एवमेकोनपञ्चाशद् दुर्जयाः परिकीर्तिताः ॥२९॥
पितरो ब्रह्मणा सृष्टा ये व्याख्याता मया तव ।
अग्निष्वात्ता बर्हिषदोऽनग्नयः साग्नयश्च ये ॥३०॥

की पत्नी प्रीति थी और उन दोनों का दत्त नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ। स्वायम्भुव मन्वन्तर में, इसी दत्त का पूर्वजन्म का नाम अगस्त्य था। प्रजापति पुलह की पत्नी क्षमा थी, जिसने कर्दम, अर्ववीर और सहिष्णु नाम के तीन पुत्रों को जन्म दिया। ऋतु की पत्नी सन्नति थी, जिसने बालखिल्यों को जन्म दिया ॥ १९-२४ ॥

ये बालखिल्य साठ हजार थे और सभी ऊर्ध्वरेता अर्थात् बाल-ब्रह्मचारी थे। वसिष्ठ की धर्मपत्नी ऊर्जा थी, जिससे सात पुत्र जन्म लिए, जिनके नाम रजस्, गात्र, ऊर्ध्वबाहु, सबल, अनघ, सुतपस् और शुक्ल थे। इन्हीं सात वसिष्ठ-पुत्रों को सप्तर्षि के रूप में स्मरण किया जाता है ॥ २५-२६ ॥

द्विजवर क्रोष्टुकि ! ब्रह्मा का जो प्रथम महाभिमानी अग्नि नाम का पुत्र था, उसकी पत्नी स्वाहा थी। अग्नि से स्वाहा ने तीन महातेजस्वी पुत्र पाए, जिनमें पहले का नाम पावक, दूसरे का नाम पवमान और तीसरे का नाम जलाशी (जल का भक्षण-कर्ता) शुचि था। इन तीनों की सन्तति-परम्परा में पैंतालीस गिने जाते हैं। ये पैंतालीस, इनके पिता और तीन और पुत्र—सब मिला कर उनचास (४९) ऐसे हैं, जो अजेय हैं। ब्रह्मा प्रजापति ने जिन पितरों की सृष्टि की, जिनके विषय में मैं कह चुका हूँ, वे ये हैं—प्रथम अग्निष्वात्ता, द्वितीय बर्हिषत्, तृतीय अनग्नि और चतुर्थ साग्नि। इनसे स्वधा

तेभ्यः स्वधा सुते जज्ञे मेनां वै धारिणीं तथा ।
ते उभे ब्रह्मवादिन्यौ योगिन्यौ चाप्युभे द्विज ।।३१।
उत्तमज्ञानसंपन्ने सर्वैः समुदिते गुणैः ।
इत्येषा दक्षकन्यानां कथिताऽपत्यसंततिः ।
श्रद्धावान् संस्मरन्नित्यं प्रजावानभिजायते ।।३२।

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे रुद्रसर्गाभिधानो नाम द्विपञ्चाशोऽध्यायः ।

ने मेना और धारिणी नाम की दो पुत्रियों को जन्म दिया। ये दोनों ब्रह्मवादिनी तथा योगिनी हैं। साथ ही साथ ये दोनों परमज्ञानसम्पन्न तथा सर्वगुण-सम्पन्न हैं। इस प्रकार मैंने दक्ष प्रजापति की कन्याओं की सन्तति-परम्परा बता दी। जो भी श्रद्धालु इनका नाम-स्मरण करे वह पुत्र-पौत्रों वाला होता है। (यह अन्तिम ३२वां श्लोक श्री पार्जिटर कृत अंग्रेजी अनुवाद के मूलभूत मार्कण्डेयपुराण में नहीं है) ।। २७-३२ ।।

पर्यालोचन

(क) इस अध्याय का नाम 'रुद्रसर्गाभिधान' है। इसका आरम्भ रुद्र के आविर्भाव के वर्णन से होता है। मार्कण्डेयपुराण का रुद्र-सर्ग-वर्णन विष्णुपुराण के 'रौद्र-सृष्टि-वर्णन' (अंश प्रथम, अध्याय ८, श्लोक १-१५) से, शब्द और अर्थ—दोनों की दृष्टि से, बहुत अधिक मेल खाता है, विष्णुपुराण का रौद्र-सृष्टि-वर्णन निम्नलिखित है—

'कथितस्तामसः सर्गो ब्रह्मणस्ते महामुने।
रुद्रसर्गं प्रवक्ष्यामि तन्मे निगदतः शृणु॥

कल्पादावात्मनस्तुल्यं सुतं प्राध्यायतस्ततः।
प्रादुरासीत् प्रभोरङ्के कुमारो नीललोहितः॥

रुरोद सुस्वरं सोऽथ प्राद्रवद् द्विजसत्तम।
किं त्वं रोदिषि तं ब्रह्मा रुदन्तं प्रत्युवाच ह॥

नाम देहीति तं सोऽथ प्रत्युवाच प्रजापतिः।
रुद्रस्त्वं देव नाम्नासि मा रोदीर्धैर्यमावह॥

एवमुक्तः पुनः सोऽथ सप्तकृत्वो रुदोद वै।
ततोऽन्यानि ददौ तस्मै सप्तनामानि वै प्रभुः॥

स्थानानि चैषामष्टानां पत्नीः पुत्रांश्च स प्रभुः।
भवं शर्वमथेशानं तथा पशुपतिं द्विज॥

भीममुग्रं महादेवमुवाच स पितामहः।
चक्रे नामान्यथैतानि स्थानान्येषां चकार सः॥

सूर्यो जलं मही वायुर्वह्निराकाशमेव च।
दीक्षितो ब्राह्मणः सोम इत्येतास्तनवः क्रमात्॥

सुवर्चला तथैवोषा विकेशी चापरा शिवा।
स्वाहा दिशस्तथा दीक्षा रोहिणी च यथाक्रमम्॥

सूर्यादीनां द्विजश्रेष्ठ रुद्राद्यैर्नामभिः सह।
पत्न्यः स्मृता महाभाग तदपत्यानि मे शृणु॥

एषां सूतिप्रसूतिभ्यामिदमापूरितं जगत्।
शनैश्चरस्तथा शुक्रो लोहिताङ्गो मनोजवः॥

स्कन्दः सर्गोऽथ सन्तानो बुधश्चानुक्रमात् सुताः।
एवं प्रकारो रुद्रोऽसौ सतीं भार्यामनिन्दिताम्॥

उपयेमे दुहितरं दक्षस्यैव प्रजापतेः।
दक्षकोपाच्च तत्याज सा सती स्वकलेवरम्॥

हिमवद्दुहिता साऽभून्मेनायां द्विजसत्तम।
उपयेमे पुनश्चोमामनन्यां भगवान् हरः॥

देवौ धातृविधातारौ भृगोः ख्यातिरसूयत।
श्रियञ्च देवदेवस्य पत्नी नारायणस्य या॥

दोनों पुराणों के रुद्र-सर्ग-विषयक वर्णन में शब्दार्थ-विन्यास का जो साम्य है, उसका कारण सम्भवतः मार्कण्डेयपुराणकार द्वारा विष्णुपुराण की प्रामाणिकता की मान्यता है।

(ख) इस अध्याय के १४-१६ श्लोकों में महामुनि मार्कण्डेय के सम्बन्ध में उल्लेख है, जिसके अनुसार वे महायशस्वी मृकण्डु ऋषि के पुत्र थे और उनकी माता का नाम मनस्विनी था। मृकण्डु मुनि के पिता साक्षात् 'विधाता' थे और उनकी माता का नाम 'नियति' था। महामुनि मार्कण्डेय के पुत्र का नाम 'वेदशिरस्' था। इस उल्लेख में महामुनि-परम्परा में मार्कण्डेय का महत्त्वपूर्ण स्थान सुरक्षित दिखायी देता है। आजकल उपलब्ध मार्कण्डेयपुराण भले ही उनकी कृति न हो, किन्तु उन्हीं की आध्यात्मिक सिद्धि और साधना की कालान्तर में निर्मित शब्दमूर्ति आजकल उपलब्ध मार्कण्डेयपुराण के रूप में दृष्टिगत होती है।

(ग) ऋग्वेद और यजुर्वेद में रुद्र-देवता से सम्बद्ध अनेकों सूक्त और मन्त्र आते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में 'रुद्र' शब्द की व्युत्पत्ति बतायी गयी है। रोदन अथवा रोने के कारण 'रुद्र' का रुद्र नाम पड़ा—यह उल्लेख वेदों में भी आता है। इस प्रकार 'रुद्र' का वैदिक उपबृंहण ब्राह्मणों में और लौकिक उपबृंहण पुराणों में यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। वेद-वाङ्मय की रुद्रविषयक मान्यताओं का पुराण-वाङ्मय में आना इस बात को सिद्ध करता है कि वैदिक और पौराणिक साहित्य के बीच में कोई अन्य साहित्य नहीं आता, जिसके द्वारा वैदिक मान्यताओं के धारा-प्रवाह में कोई व्यवधान उपस्थित हो सके। एक अविच्छिन्न विचारधारा वेद की गंगोत्री से निकल रही है और पुराणों के रूप में अनेकों धाराओं में विभक्त हो रही है। जिस भारतीय साहित्य को 'संस्कृत-साहित्य' कहा जाता है वह वैदिक तथा पौराणिक विचारधाराओं से आप्लावित है, जिससे भारत की आत्मा की एकता और अमरता तो सिद्ध होती ही है, साथ ही साथ भारतीय साहित्य की परम्पराओं की अविच्छिन्नता भी प्रमाणित हो जाती है। देश-काल के स्वाभाविक अथवा आकस्मिक परिवर्तनों के होते चलते भी वैदिक-पौराणिक विचारधारा टूटती नहीं—यह बात अपने आप में एक आश्चर्य है और भारतीय आत्मा की शक्ति का परिचायक है।

(घ) इस अध्याय के १२वें श्लोक में रुद्र की धर्मपत्नी के रूप में दक्षपुत्री सती का जो वर्णन है, उससे रुद्र और शिव की एकात्मता सिद्ध हो जाती है। यजुर्वेद से ही रुद्र और शिव का समीकरण प्रारम्भ होता है और पुराणों में आकर अपने परिनिष्ठित रूप में स्थिर हो जाता है।

(ङ) इस अध्याय के २७ से ३२ तक के श्लोकों में ब्रह्मा प्रजापति के प्रथम पुत्र के रूप में अग्नि की कल्पना, अग्नि की धर्मपत्नी के रूप में 'स्वाहा' की कल्पना, अग्नि तथा स्वाहा की सन्ततिरूप में पावक-पवमान और शुचि (वडवानल) की कल्पना और अग्निष्वात्ता प्रभृति पितृगण की धर्मपत्नी के रूप में स्वधा की कल्पना—ये सब कल्पनाएँ कोरी कल्पनाएँ नहीं, किन्तु शिव-शक्ति अथवा श्रीविष्णु के अर्धनारीश्वर रूप की सर्वव्यापकता की रूपरेखाएँ हैं। समस्त चराचर जगत् स्त्रीपुंमय है, अर्धनारीश्वर का बुद्धिगम्य और दृष्टिगोचर प्रतीक है और है वैदिक ऋषियों और पौराणिक मुनियों की आर्षप्रतिभा और कविप्रतिभा की व्यापक अभिव्यक्ति। इसे ऋषि-मुनियों की क्रान्तदर्शिता की पराकाष्ठा मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

॥ श्री मार्कण्डेयपुराण के 'रुद्रसर्गाभिधान' नामक ५२ वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त ॥

त्रिपञ्चाशोऽध्यायः

क्रौष्टुकिरुवाच—

स्वायम्भुवं त्वयाख्यातमेतन्मन्वन्तरञ्च यत् ।
तदहं भगवन् ! सम्यक् श्रोतुमिच्छामि कथ्यताम् ॥१।
मन्वन्तरप्रमाणञ्च देवा देवर्षयस्तथा ।
ये च क्षितीशा भगवन् ! देवेन्द्रश्चैव यस्तथा ॥२।

मार्कण्डेय उवाच—

मन्वन्तराणां संख्याता साधिका ह्येकसप्ततिः ।
मानुषेण प्रमाणेन शृणु मन्वन्तरञ्च मे ॥३।
त्रिंशत्कोटयस्तु संख्याताः सहस्राणि च विंशतिः ।
सप्तषष्टिस्तथान्यानि नियुतानि च संख्यया ॥४।
मन्वन्तरप्रमाणञ्च इत्येतत् साधिकं विना ।
अष्टौ शतसहस्राणि दिव्यया संख्यया स्मृतम् ॥५।

क्रौष्टुकि ने कहा—

भगवन् ! आपने स्वायंभुव मन्वन्तर का जो उल्लेख किया है, उसके विषय में मैं और भी विशेष बातें सुनना चाहता हूँ। कृपया कहें कि इस मन्वन्तर का प्रमाण क्या है ? और इस मन्वन्तर में किस-किस देव, किस-किस देवर्षि, किस-किस राजा और किस देवाधिपति इन्द्र की गणना होती है ? ॥ १-२ ॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

मन्वन्तरों का प्रमाण चतुर्युग को इकहत्तर (७१) और कुछ अधिक से गुणा करने से निर्धारित किया जाता है। मानुष वर्ष के प्रमाण से मन्वन्तर का जो प्रमाण होता है, उसे मुझसे सुनो ॥ ३ ॥

मानुष वर्ष की दृष्टि से मन्वन्तर का प्रमाण तीस करोड़ सरसठ लाख बीस हजार (३०,६७,२०,०००) वर्षों का है, जिसमें अर्द्धाङ्क छोड़ दिया जाता है। दैव वर्ष की दृष्टि से मन्वन्तर में आठ सौ हजार तथा बावन हजार (अर्थात् ८०,५२,०००) वर्ष माने जाते हैं। सबसे पहला मन्वन्तर स्वायम्भुव मन्वन्तर है, उसके वाद स्वारोचिष मन्वन्तर,

द्विपञ्चाशत्तथान्यानि सहस्राण्यधिकानि च ।
स्वायम्भुवो मनुः पूर्वं मनुः स्वारोचिषस्तथा ॥६॥
औत्तमस्तामसश्चैव रैवतश्चाक्षुषस्तथा ।
षडेते मनवोऽतीतास्तथा वैवस्वतोऽधुना ॥७॥
सावर्णिः पञ्च रौच्याश्च भौत्याश्चागामिनस्त्वमी ।
एतेषां विस्तरं भूयो मन्वन्तरपरिग्रहे ॥८॥
वक्ष्ये देवानृषींश्चैव यक्षेन्द्राः पितरश्च ये ।
उत्पत्तिं संग्रहं ब्रह्मन् ! श्रूयतामस्य सन्ततिः ॥९॥
यच्च तेषामभूत् क्षेत्रं तत्पुत्राणां महात्मनाम् ।
मनोः स्वायम्भुवस्यासन् दश पुत्रास्तु तत्समाः ॥१०॥
यैरियं पृथिवी सर्वा सप्तद्वीपा सपर्वता ।
ससमुद्राकरवती प्रतिवर्षं निवेशिता ॥११॥
स्वायम्भुवेऽन्तरे पूर्वमाद्ये त्रेतायुगे तथा ।
प्रियव्रतस्य पुत्रैस्तैः पौत्रैः स्वायम्भुवस्य च ॥१२॥
प्रियव्रतात् प्रजावत्यां वीरात् कन्या व्यजायत ।
कन्या सा तु महाभागा कर्दमस्य प्रजापतेः ॥१३॥

औत्तम मन्वन्तर, तामस मन्वन्तर, रैवत मन्वन्तर और चाक्षुष मन्वन्तर—सब मिला कर ६ मन्वन्तर होते हैं, जो कि बीत चुके हैं । अब जो मन्वन्तर प्रारम्भ हुआ है, उसका नाम वैवस्वत मन्वन्तर है । इस मन्वन्तर के बाद पाँच सावर्णि मन्वन्तर, रौच्य मन्वन्तर और भौत्य मन्वन्तर आवेंगे । इन सबका विस्तारपूर्वक वर्णन प्रत्येक मन्वन्तर के प्रसङ्ग में, उनमें आने वाले देवों, ऋषियों, यक्षों, इन्द्रों तथा पितरों के उद्भव और प्रलय का जब वर्णन करूंगा, तब करूंगा । पहले तुम स्वायंभुव मनु की सन्तति के संबन्ध में सुनो और यह भी सुनो कि उनके महात्मा पुत्रों का क्या अधिकारक्षेत्र था ॥ ४-९ ॥

स्वायम्भुव मनु के, उन्हीं के समान, दस पुत्र थे, जिनसे पर्वतों, समुद्रों और आकरों (खानों) से भरी सप्तद्वीपा पृथिवी के भिन्न-भिन्न वर्ष उपनिविष्ट थे (वसाए गए थे) ॥ १०-११ ॥

पहले स्वायम्भुव मन्वन्तर में और त्रेतायुग के आरम्भ में, प्रियव्रत के पुत्रों और स्वायम्भुव मनु के पौत्रों ने इस समस्त पृथिवी के सातों द्वीपों के विविध वर्षों (देशों) पर अपने निवेश-उपनिवेश बनाये थे । महाराज वीरवर प्रियव्रत से उनकी पत्नी प्रजावती ने एक कन्या को जन्म दिया था । वह कन्या बड़ी भाग्यवती थी । उसने प्रजापति कर्दम से साम्राज्ञी और कुक्षि नाम की दो कन्याओं और दश पुत्रों को जन्म दिया था । इन

कन्ये द्वे दश पुत्रांश्च सम्राट्कुक्षी च ते उभे।
तयोर्वै भ्रातरः शूराः प्रजापतिसमा दश ॥१४॥

आग्नीध्रो मेधातिथिश्च वपुष्मांश्च तथापरः।
ज्योतिष्मान्द्युतिमान् भव्यः सवनः सप्त एव ते ॥१५॥

प्रियव्रतोऽभ्यषिञ्चत्तान् सप्त सप्तसु पार्थिवान्।
द्वीपेषु तेन धर्मेण द्वीपांश्चैव निबोध मे ॥१६॥

जम्बुद्वीपे तथाग्नीध्रं राजानं कृतवान् पिता।
प्लक्षद्वीपेश्वरश्चापि तेन मेधातिथिः कृतः ॥१७॥

शाल्मलेस्तु वपुष्मन्तं ज्योतिष्मन्तं कुशाह्वये।
क्रौञ्चद्वीपे द्युतिमन्तं भव्यं शाकाह्वयेश्वरम् ॥१८॥

पुष्कराधिपतिश्चापि सवनं कृतवान् सुतम्।
महावीतो धातकिश्च पुष्कराधिपतेः सुतौ ॥१९॥

द्विधा कृत्वा तयोर्वर्षं पुष्करे संन्यवेशयत्।
भव्यस्य पुत्राः सप्तासन्नामतस्तान्निबोध मे ॥२०॥

दोनों कन्याओं के दशों सहोदर भाई प्रजापति के समान शूरवीर थे। इन दस भाइयों के ये नाम थे—१) आग्नीध्र, २) मेधातिथि, ३) वपुष्मान्, ४) ज्योतिष्मान्, ५) द्युतिमान् ६) भव्य, ७) सवन, ८) मेध, ९) अग्नि और १०) वाहुमित्र। अन्तिम तीन अर्थात् मेध, अग्नि तथा बाहुमित्र योगाभ्यास निरत थे, इन भाग्यशालिओं को अपने पूर्वजन्मों की स्मृति थी। इन्हें राज्य-सुख की इच्छा नहीं थी। इसलिए, महाराज प्रियव्रत ने आग्नीध्रादि सात पुत्रों को सात द्वीपों में राज्याभिषिक्त कर दिया। प्रियव्रत महाराज के शासनादेश से जिन-जिन द्वीपों में ये अभिषिक्त हुए, उनके विषय में मुझसे ध्यानपूर्वक सुनो॥ १२-१६॥

पिता (प्रियव्रत महाराज) ने, आग्नीध्र को जम्बूद्वीप का, मेधातिथि को प्लक्ष-द्वीप का, वपुष्मान् को शाल्मलिद्वीप का, ज्योतिष्मान् को कुशद्वीप का, द्युतिमान् को क्रौञ्चद्वीप का, भव्य को शाकद्वीप का और सवन को पुष्करद्वीप का राजाधिराज बनाया। पुष्करद्वीप के अधिपति सवन के महावीत और धातकि नाम के दो पुत्र थे। इसलिए उन्होंने पुष्करद्वीप के दो भाग कर के दोनों के लिए पृथक्-पृथक् वर्ष दे दिए। शाकद्वीपाधिपति भव्य के सात पुत्र थे जिनके नाम मुझसे सुनो। १ले) का जलद, २रे) का कुमार, ३रे) का सुकुमार, ४थे) का मनीवक, ५वें) का कुशोत्तर, ६ठे) का मेधावी, और ७वें) का महाद्रुम नाम था। भव्य ने शाकद्वीप में अपने इन्हीं सात पुत्रों के नाम से सात वर्ष (देश) बना दिये। क्रौञ्चद्वीप के महाराज द्युतिमान् से सातपुत्र हुए, जिनके

जलदश्च कुमारश्च सुकुमारो मनीवकः ।
कुशोत्तरोऽथ मेधावी सप्तमस्तु महाद्रुमः ॥२१॥
तन्नामकानि वर्षाणि शाकद्वीपे चकार सः ।
तथा द्युतिमतः सप्त पुत्रास्तांश्च निबोध मे ॥२२॥
कुशलो मनुगश्चोष्णः प्राकरश्चार्थकारकः ।
मुनिश्च दुन्दुभिश्चैव सप्तमः परिकीर्तितः ॥२३॥
तेषां स्वनामधेयानि क्रौञ्चद्वीपे तथाभवन् ।
ज्योतिष्मतः कुशद्वीपे पुत्रनामाङ्कितानि वै ॥२४॥
तत्रापि सप्त वर्षाणि तेषां नामानि मे शृणु ।
उद्भिदं वैष्णवञ्चैव सुरथं लम्बनं तथा ॥२५॥
धृतिमत् प्राकरञ्चैव कापिलं चापि सप्तमम् ।
वपुष्मतः सुताः सप्त शाल्मलेशस्य चाभवन् ॥२६॥
श्वेतश्च हरितश्चैव जीमूतो रोहितस्तथा ।
वैद्युतो मानसश्चैव केतुमान् सप्तमस्तथा ॥२७॥
तथैव शाल्मलेस्तेषां समनामानि सप्त वै ।
सप्त मेधातिथेः पुत्राः प्लक्षद्वीपेश्वरस्य वै ॥२८॥
येषां नामाङ्कितैर्वर्षैः प्लक्षद्वीपस्तु सप्तधा ।
पूर्वं शाकभवं वर्षं शिशिरन्तु सुखोदयम् ॥२९॥
आनन्दञ्च शिवञ्चैव क्षेमकञ्च ध्रुवन्तथा ।
प्लक्षद्वीपादिभूतेषु शाकद्वीपान्तिमेषु वै ॥३०॥

नाम मुझसे जान लो। इनमें पहले का 'कुशल', दूसरे का 'मनुग', तीसरे का 'उष्ण', चौथे का 'प्राकर', पाँचवें का अर्थकारक, ६ठे का 'मुनि' और सातवें का 'दुन्दुभि' नाम था। क्रौंचद्वीप में भी इन्हीं सातों के नाम से सात वर्ष बन गये। कुशद्वीप में महाराज ज्योतिष्मान् के भी सात पुत्रों के नाम पर सात वर्ष (देश) बने। इन सात पुत्रों के ये नाम थे—१ले का उद्भिद, २रे का वैष्णव, ३रे का सुरथ, ४थे का लम्बन, ५वें का धृतिमान्, ६ठे का प्राकर और ७वें का कपिल। शाल्मलिद्वीप के महाराज वपुष्मान् के, १) श्वेत, २) हरित, ३) जीमूत, ४) रोहित, ५) वैद्युत, ६) मानस और ७) केतुमान् नाम के सात पुत्र हुए और इसीलिए शाल्मलिद्वीप में भी, इन राजपुत्रों के नाम से सात-वर्ष बना दिए गए। प्लक्षद्वीप के अधिपति मेधातिथि के सातपुत्र थे, जिनके नामों पर प्लक्षद्वीप में सात वर्ष (देश) बनाए, गए जिनके नाम क्रमशः शाकभव वर्ष, शिशिर वर्ष, सुखोदय वर्ष, आनन्द वर्ष, शिववर्ष, क्षेमकवर्ष और ध्रुववर्ष रखे गए। प्लक्षद्वीप से लेकर शाकद्वीप

ज्ञेयः पञ्चसु धर्मश्च वर्णाश्रमविभागजः ।
नित्यः स्वाभाविकश्चैव अहिंसाविधिर्वाधितः ।।३१।
पञ्चस्वेतेषु वर्षेषु सर्वसाधारणः स्मृतः ।
अग्नीध्राय पिता पूर्वं जम्बुद्वीपं ददौ द्विज ।।३२।
तस्य पुत्रा बभूवुर्हि प्रजापतिसमा नव ।
ज्येष्ठो नाभिरिति ख्यातस्तस्य किंपुरुषोऽनुजः ।।३३।
हरिवर्षस्तृतीयस्तु चतुर्थोऽभूदिलावृतः ।
वश्यश्च पञ्चमः पुत्रो हिरण्यः षष्ठ उच्यते ।।३४।
कुरुस्तु सप्तमस्तेषां भद्राश्वश्चाष्टमः स्मृतः ।
नवमः केतुमालश्च तन्नाम्ना वर्षसंस्थितिः ।।३५।
यानि किंपुरुषाद्यानि वर्जयित्वा हिमाह्वयम् ।
तेषां स्वभावतः सिद्धिः सुखप्राया ह्ययत्नतः ।।३६।
विपर्य्ययो न तेष्वस्ति जरामृत्युभयं न च ।
धर्माधर्मौ न तेष्वास्तां नोत्तमाधममध्यमाः ।।३७।
न वै चतुर्युगावस्था नार्तवा ऋतवो न च ।
आग्नीध्रसूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूत् सुतो द्विज ।।३८।

तक के पाँच द्वीपों में वर्णधर्म और आश्रमधर्म के रूप में धर्म का विभाजन कर दिया गया था। इन पाँचों द्वीपों में यह वर्णाश्रम-धर्म सुव्यवस्थित, स्वाभाविक तथा अहिंसा-भाव से समृद्ध था ॥ १७-३१ ॥

वस्तुतः इन पाँचों द्वीपों में धर्म सर्वसाधारण के लिए एक ही था। द्विजवर क्रौष्टुकि ! पिता प्रियव्रत महाराज ने जम्बूद्वीप को अपने प्रथम पुत्र आग्नीध्र को दे दिया था। आग्नीध्र के प्रजापति के समान ९ पुत्र थे, जिनमें ज्येष्ठ पुत्र का नाम 'नाभि' और उनके अनुज का नाम 'किंपुरुष' था। तीसरे पुत्र का नाम 'हरिवर्ष' और चौथे का नाम 'इलावृत' था। पाँचवें पुत्र का नाम 'वश्य' था और छठे का, 'हिरण्य'। कुरु' सातवाँ पुत्र था और 'भद्राश्व' आठवाँ। नवें पुत्र का नाम 'केतुमाल' था। इन ९ पुत्रों के नाम से जम्बूद्वीप में भी नव वर्षों की स्थापना हुई थी। हिमालय को छोड़कर किंपुरुष प्रभृति वर्ष ऐसे थे, जिनमें बिना आयास-प्रयास के, सुखमय समस्त ऋद्धि-सिद्धियाँ थीं। इन वर्षों में कोई विपर्यय (जैसे कि सुख के बदले दुःख) नहीं था और न जरा तथा मृत्यु का ही भय था। साथ ही साथ ये वर्ष ऐसे थे, जिनमें धर्म-अधर्म और उत्तम-मध्यम-अधम आदि का भेद न था। सत्ययुगादि चार युगों की विभाग-व्यवस्था भी इनमें नहीं थी और न इनमें ऋतुओं के अनुसार काल-विभाजन तथा ६ ऋतुओं की निर्धारण व्यवस्था थी। द्विजवर क्रौष्टुकि ! आग्नीध्र के पुत्र नाभि के ऋषभ नाम के पुत्र थे।

ऋषभाद्भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद्वरः ।
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः ।।३९।
तपस्तेपे महाभागः पुलहाश्रमसंश्रयः ।
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ ।।४०।
तस्मात् तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः ।
भरतस्याप्यभूत् पुत्रः सुमतिर्नाम धार्मिकः ।।४१।
तस्मिन् राज्यं समावेश्य भरतोऽपि वनं ययौ ।
एतेषां पुत्रपौत्रैस्तु सप्तद्वीपा वसुन्धरा ।।४२।
प्रियव्रतस्य पुत्रैस्तु भुक्त्वा स्वायम्भुवेऽन्तरे ।
एष स्वायम्भुवः सर्गः कथितस्ते द्विजोत्तम ।।४३।
पूर्वमन्वन्तरे सम्यक् किमन्यत् कथयामि ते ।।४४।

।। इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे 'मन्वन्तरकथनं' नाम त्रिपञ्चाशोऽध्यायः ।।

ऋषभ से भरत का जन्म हुआ था, जो कि बहुत वीर और अपने एक सौ भाइयों में सब से श्रेष्ठ थे। ऋषभ अपने पुत्र भरत का राज्याभिषेक कर दिया और स्वयं महा-प्रव्रज्या (पूर्ण संन्यास) का जीवन बिताने लगे। वे महाभाग्यशाली पुलह के आश्रम पर निवास करते हुए तपश्चर्या में लग गए। उन्होंने दक्षिण की ओर का वर्ष जिसका नाम हिमालय के नाम पर पड़ा था, भरत को दे दिया। ।। ३२-४० ।।

इन्हीं महापुरुष भरत के नाम पर उस वर्ष का नाम भारतवर्ष रखा गया। भरत के सुमति नाम के धर्मनिष्ठ एक पुत्र थे। भरत ने सुमति पर राज्यभार रखकर स्वयं वनवास ले लिया। स्वायम्भुव मन्वन्तर में यह सप्तद्वीपा वसुन्धरा प्रियव्रत के वंशजों के पुत्रों और पौत्रों के ही भोग की वस्तु थी। द्विजवर क्रौष्टुकि ! इस प्रकार मैंने तुम्हें स्वायम्भुव-सर्ग का पूर्ण विवरण दे दिया। इस प्रथम स्वायम्भुव मन्वन्तर के विषय में और क्या है, जिसे मैं तुमसे आगे कहूँ ? ।। ४१-४४ ।।

पर्यालोचन

(क) मार्कण्डेयपुराण के 'मन्वन्तर-कथन' नामक इस अध्याय के अनेकानेक श्लोक वायुपुराण के 'स्वायंभुव-वंश-कीर्तन' नामक ३१वें प्रकरण के श्लोकों से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। उदाहरण रूप में वायुपुराण के ३१ वें प्रकरण के निम्नलिखित श्लोक-संदर्भ द्रष्टव्य हैं—

'मनोः स्वायंभुवस्यासन् दश पौत्रास्तु तत्समाः।
यैरियं पृथिवी सर्वा सप्तद्वीपसमन्विता॥

ससमुद्राकरवती प्रतिवर्षं निवेशिता।
स्वायम्भुवेऽन्तरे पूर्वमाद्ये त्रेतायुगे तदा॥
प्रियव्रतस्य पुत्रैस्तैः पौत्रैः स्वायम्भुवस्य तु।
प्रजासर्गतपोयोगैस्तैरियं विनिवेशिता॥

प्रियव्रतात् प्रजावन्तः वीरान् कन्या व्यजायत।
कन्या सा तु महाभागा कर्दमस्य प्रजापतेः॥
कन्ये द्वे शतपुत्राश्च सम्राट् कुक्षिस्तु ते उभे।
तयोर्वै भ्रातरः शूराः प्रजापतिसमा दश॥
आग्नीध्रश्च वपुष्मांश्च मेधा मेधातिथिर्विभुः।
ज्योतिष्मान् द्युतिमान् हव्यः सवनः सर्व एव च॥

प्रियव्रतोऽभिषिच्यैतान् सप्त सप्तसु पार्थिवान्।
द्वीपेषु तेषु धर्मेण द्वीपांस्तांश्च निबोधत॥
जम्बूद्वीपेश्वरं चक्रे आग्नीध्रं तु महाबलम्।
प्लक्षद्वीपेश्वरश्चापि तेन मेधातिथिः कृतः॥

शाल्मलौ तु वपुष्मन्तं राजानमभिषिक्तवान्।
ज्योतिष्मन्तं कुशद्वीपे राजानं कृतवान् प्रभुः॥
द्युतिमन्तं च राजानं क्रौञ्चद्वीपे समादिशत्।
शाकद्वीपेश्वरञ्चापि हव्यं चक्रे प्रियव्रतः॥

पुष्कराधिपतिञ्चापि सवनं कृतवान् प्रभुः।
पुष्करे सवनस्यापि महावीतः सुतोऽभवत्।
धातकिश्चैव द्वावेतौ पुत्रौ पुत्रवतां वरौ॥

महावीतं स्मृतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः।
नाम्ना तु धातकेश्चापि धातकीखण्ड उच्यते॥

हव्यो व्यजनयत् पुत्रान् शाकद्वीपेश्वरान् प्रभुः।
जलदं च कुमारं च सुकुमारं मणीचकम्।
वसुमोदं सुमोदाकं सप्तमञ्च महाद्रुमम्॥

जलदं जलदस्याथ वर्षं प्रथममुच्यते।
कुमारस्य च कौमारं द्वितीयं परिकीर्तितम् ॥

सुकुमारं तृतीयं तु सुकुमारस्य कीर्तितम्।
मणीचकस्य चतुर्थं मणीचकमिहोच्यते ॥

वसुमोदस्य वै वर्षं पञ्चमं वसुमोदकम्।
मोदाकस्य तु मोदाकं वर्षं षष्ठं प्रकीर्तितम् ॥

महाद्रुमस्य नाम्ना तु सप्तमं तु महाद्रुमम्।
एषां तु नामभिस्तानि सप्तवर्षाणि तत्र वै।
कुशलो मनुगश्चोष्णः पीवरश्चान्धकारकः।
मुनिश्च दुन्दुभिश्चैव सुता द्युतिमतस्तु वै ॥

तेषां स्वनामभिर्देशाः क्रौञ्चद्वीपाश्रयाः शुभाः।
उष्णस्योष्णः स्मृतो देशः पीवरस्यापि पीवरः ॥

अन्धकारकदेशस्तु अन्धकारश्च कीर्त्यते।
मुनेस्तु मुनिदेशो वै दुन्दुभेर्दुन्दुभिः स्मृतः।
एते जनपदाः सप्त क्रौञ्चद्वीपे तु भास्वराः ॥

ज्योतिष्मतः कुशद्वीपे सप्तैते सुमहौजसः।
उद्भिदो वेणुमांश्चैव स्वैरथो लवणो धृतिः ॥
षष्ठः प्रभाकरश्चैव सप्तमः कपिलः स्मृतः ॥

उद्भिदं प्रथमं वर्षं द्वितीयं वेणुमण्डलम्।
तृतीयं स्वैरथाकारं चतुर्थं लवणं स्मृतम् ॥

पञ्चमं धृतिमद्वर्षं षष्ठं वर्षप्रभाकरम्।
सप्तमं कपिलं नाम कपिलस्य प्रकीर्तितम् ॥

तेषां द्वीपाः कुशद्वीपे तत्सनामान एव तु।
आश्रमाचारयुक्ताभिः प्रजाभिः समलंकृताः ॥

शाल्मलस्येश्वराः सप्त पुत्रास्ते तु वपुष्मतः।
श्वेतश्च हरितश्चैव जीमूतो रोहितस्तथा।
वैद्युतो मानसश्चैव सुप्रभः सप्तमस्तथा ॥....

सप्त मेधातिथेः पुत्राः प्लक्षद्वीपेश्वरा नृपाः।....
प्लक्षद्वीपादिकेष्वेव शाकद्वीपान्तरेषु वै।
ज्ञेयः पञ्चसु धर्मो वै वर्णाश्रमविभागशः ॥

सुखमायुश्च रूपं च बलं धर्मश्च नित्यशः।
पञ्चस्वेतेषु द्वीपेषु सर्वं साधारणं स्मृतम् ॥....

आग्नीध्रं ज्येष्ठदायादं कन्यापुत्रः महाबलम्।
प्रियव्रतोऽभ्यषिञ्चत्तं जम्बूद्वीपेश्वरं नृपम्॥

तस्य पुत्रा बभूवुर्हि प्रजापतिसमौजसः ।
ज्येष्ठो नाभिरिति ख्यातस्तस्य किंपुरुषोऽनुजः ।
हरिवर्षस्तृतीयस्तु चतुर्थोऽभूदिलावृतः ।
रम्यः स्यात् पञ्चमः पुत्रो हरिन्मान् षष्ठ उच्यते ॥

कुरुस्तु सप्तमस्तेषां भद्राश्वो ह्यष्टमः स्मृतः ।
नवमः केतुमालस्तु तेषां देशान्निबोधत ॥....

यानि किंपुरुषाख्यानि वर्षाण्यष्टौ शुभानि तु ।
तेषां स्वभावतः सिद्धिः सुखप्राया ह्ययत्नतः ॥

विपर्ययो न तेष्वस्ति जरामृत्युभयं न च ।
वर्णाश्रमौ न तेष्वास्तां नोत्तमाधममध्यमाः ।
न तेष्वस्ति युगावस्था क्षेत्रेष्वेव तु सर्वशः ॥

नाभेर्हि सर्गं वक्ष्यामि हिमाह्वं तन्निबोधत ।
नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं मेरुदेव्यां महाद्युतिः ॥

ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ।
सोऽभिषिच्याथ भरतं पुत्रं प्राव्राज्यमास्थितः ॥

हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत् ।
तस्मात्तद् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ॥

भरतस्यात्मजो विद्वान् सुमतिर्नाम धार्मिकः ।
बभूव तस्मिंस्तद्राज्यं भरतः संन्ययोजयत् ॥
पुत्रसंक्रामितश्रीको वनं राजा विवेश सः ॥'

वायुपुराण के कतिपय श्लोक-सन्दर्भ यहाँ इसलिए उद्धृत नहीं किये गए हैं, क्योंकि उनमें स्वायंभुव मनु के वंशज अन्य अनेक राजगण तथा उनके राज्यक्षेत्र के वर्णन हैं, जिन्हें मार्कण्डेयपुराणकार ने संभवतः अनावश्यक समझ कर छोड़ दिया है, अथवा यह भी सम्भव है कि ९००० श्लोकों वाले, आजकल अनुपलब्ध, मार्कण्डेयपुराण में ये वर्णन भी रहे होंगे ।

(ख) मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय और वायुपुराण के ३१वें प्रकरण—दोनों में भारतवर्ष के नामकरण का जो निर्देश है, वह महत्त्वपूर्ण है । भारत नामक वर्ष के निर्माता भरत, भरत के पिता ऋषभ और ऋषभ के पिता नाभि—ये तीन नाम विशेषरूप से स्मरणीय हैं । महाराज दुष्यन्त और शकुन्तला के पुत्र भरत के नाम से हिमालय का दक्षिणदिग्वर्ती 'वर्ष' भारतवर्ष के नाम से नहीं प्रसिद्ध हुआ । यह वर्ष (देश) महाराज दुष्यन्त के युग के बहुत पहले से ही 'भारत' नाम में जाना-माना जाता रहा ।

(ग) आचार्य पण्डित बलदेव उपाध्याय के 'पुराणविमर्श' (पृष्ठ २९५) में यह उल्लेख है कि 'प्रत्येक सत्ययुग के आदि में मनुष्यों की धर्ममर्यादा स्थापित करने के निमित्त स्मृति के प्रणयन-कार्य के लिये मनु का जन्म होता है। फलतः स्मृति-रचयिता के रूप में मनु का अधिकारी होना उचित ही है। मनु की व्यवस्था में द्विजों के लिए यज्ञ का सम्पादन नितान्त आवश्यक कृत्य है।' इस उल्लेख का यदि विश्लेषण किया जाय तो निम्नलिखित विप्रतिपत्तियाँ या विसंगतियाँ उपस्थित हो जाती हैं—

पहली, एक मन्वन्तर में आचार्य उपाध्याय जी की ही गणना के अनुसार (पुराणविमर्श, पृष्ठ २९०) ३०६७२०००—तीन करोड़ सतसठ लाख दो हजार वर्ष का समय व्यतीत होता है। मन्वन्तर का आरम्भ सत्ययुग से ही होता है जो कि १७२८०००—सतरह लाख अठाइस हजार वर्ष की अवधि का है। अब यदि 'धर्ममर्यादा' स्थापित करने के निमित्त स्मृति के प्रणयन-कार्य के लिए मनु का जन्म माना जाय, जो कि सत्ययुग के आरम्भ में ही माना जा सकता है, तब यह समस्या समाधान खोजती है कि आजकल उपलब्ध मनुस्मृति का समय क्या १७२८००० वर्ष पहले है? अथवा उस युग की कोई अन्य मनुस्मृति रही होगी? 'पुराणविमर्श' में इस समस्या का कोई समाधान नहीं मिलता। साथ ही साथ 'मनु की व्यवस्था में द्विजों के लिए यज्ञ का सम्पादन नितान्त आवश्यक है' इस उल्लेख से, ब्राह्मणग्रन्थ, जो कि यज्ञ-याग के समीचीन अनुष्ठान के लिए निर्मित्त हुए, मनुस्मृति के बाद के युग के माने जायेंगे अथवा पहले के माने जायेंगे, जैसा कि वेदवाङ्मय के ऐतिह्यकार मानते हैं? यह प्रश्न भी उत्तर खोजता है, जिसके सम्बन्ध में 'पुराणविमर्श' मौन है। मन्वन्तर की कल्पना लोकमंगल की भावना का एक जागृत प्रतीक है (पुराणविमर्श, पृष्ठ २९०)—यह उल्लेख एक महारहस्य सा लगता है। इस महारहस्य के उद्भेदन के निमित्त कुछ और कल्पना करना पड़ेगी। जैसे कि पहली कल्पना यह होगी कि विष्णुपुराणादि पुराणों में प्रतिपादित मन्वन्तर की कल्पना पौराणिक कल्पना न होकर वेद के षडङ्गों में ज्योतिर्विज्ञान नामक वेदाङ्ग के अज्ञातनामा महर्षियों की कल्पना है, जो कि परम्परारूप में पुराणों में मान्य मानी गयी है। दूसरी कल्पना यह होगी कि पुराणों की मन्वन्तर-विषयक मान्यता विष्णु तथा विष्णुशक्ति की कालकलना से परे होने की भावना का परिपोषण करती है, क्योंकि ब्रह्मा प्रजापति विष्णु के ही रूप माने गए हैं, जिनका कार्य जगत् की सृष्टि है और जिनका एक अहोरात्र (दिन और रात का समय) ८६४००००००० एक अरब चौसठ करोड़ वर्षों का माना गया है। ब्रह्मा के अहोरात्र की यह गणना आजकल के भौतिक सृष्टि-विज्ञान के वैज्ञानिकों को भयावह प्रतीत होती होगी। इसका कुछ समाधान यही हो सकता है कि ब्रह्मा के अहोरात्र की कालगणना भगवान् विष्णु तथा विष्णुमाया की अनादिता और अनन्तता का एक उपलक्षणमात्र है। तीसरी कल्पना भी करनी पड़ेगी, जिसका रूप यह होगा कि मन्वन्तर के प्रारम्भ करने वाले स्वायम्भुव मनु करोड़ों वर्ष तक (स्थूलपार्थिव) शरीर में रहते जगत् के सम्राट् और शास्ता न होकर सूक्ष्म शरीर में ही सम्राट् और शास्ता हो सकते हैं। किन्तु इस कल्पना में सूक्ष्म शरीर का सम्राट् और शासक होना मानव-बुद्धि के परे की बात हो जाती है। इसलिये यह मानना पड़ता है कि क्रान्तदर्शी

ऋषि-महर्षियों ने 'एकोऽहम्' की कालगणना (?) को सूचित करने के लिए 'बहु स्यां प्रजायेय' की कालगणना की अतिमानुष प्रयास किया है, जिसे हम मान सकते हैं, किन्तु बुद्धि द्वारा विश्लेषित नहीं कर सकते। कल्प-गणना के विषय को 'अर्थवाद' मानने पर भगवान् विष्णु की अनादि-अनन्त सत्ता की सिद्धि में सहायता अवश्य मिल सकती है। यह विषय पुराणों के विद्वज्जनों के बौद्धिक व्यायाम का एक विशाल क्षेत्र है और इसमें जो भी निष्कर्ष निकलता जाय, उसे मान्य ही मानना पड़ेगा।

(घ) पुराणों की दृष्टि में स्वायम्भुव मनु के वंशजों का शासन 'सप्तद्वीपा वसुमती' पर रह चुका है। वसुमती (पृथिवी) के सात द्वीपों के नाम क्रमशः १ जम्बूद्वीप, २ प्लक्षद्वीप, ३ शाल्मलिद्वीप, ४ कुशद्वीप, ५ क्रौञ्चद्वीप, ६ शाकद्वीप और ७ पुष्करद्वीप माने गए हैं, जैसा कि इस अध्याय के १७-३१ श्लोकों का अभिप्राय है। 'पुराणविमर्श' के प्रणेता आचार्य बलदेव उपाध्याय ने पौराणिक भूगोल की रूपरेखा के निर्णायक अन्य विद्वानों तथा अनेक प्रमाणों के आधार पर इन द्वीपों में कुछ के आधुनिक नामों का विशिष्ट विवरण प्रस्तुत किया है। यह विषय ऐसा है जिस पर विविध कल्पनाएँ होती रहेंगी। एक बात विचित्र सी लगती है और वह यह है कि स्वायम्भुव मनु का समय आज से १७२८००० वर्ष पूर्व माना गया है। ऐसी परिस्थिति में, ५२२ ईस्वी पूर्व के 'प्रख्यात पारसीक सम्राट्' दारियवहु के अभिलेखों के आधार पर कुशद्वीप को आधुनिक 'नीविया' मान लेना बहुत युक्तिसङ्गत नहीं लगता। कहाँ सतरह लाख अठाइस हजार वर्ष पूर्व के स्वायम्भुव मनु और उसके वंशजों की सप्तद्वीपा वसुमती और कहाँ उस युग के 'कुशनामक' द्वीप का ईस्वी पूर्व पाँचवीं शताब्दी की नूविया से एकीकरण। तथ्य क्या है, कुछ ठीक समझ में नहीं आता। पुराणों का भूगोल सर्वथा काल्पनिक है, यह मानना भी नितान्त असङ्गत है और यह कहना भी सर्वथा युक्तियुक्त नहीं है कि पुराणों के भूगोल में वर्णित द्वीप-द्वीपान्तर आजकल के अमुक-अमुक द्वीप-द्वीपान्तर हैं। भूगोल विज्ञानवेत्ताओं के लिए यह विषय अनुसन्धान का अक्षय विषय सा है।

(ङ) मार्कण्डेयपुराण से प्राचीन वायुपुराण में 'चतुर्द्वीपा वसुमती' का वर्णन किया गया है और पृथिवीरूपी कमल की कर्णिका के रूप में स्वर्णपर्वत 'मेरु' तथा उसके चतुर्दिक् फैले चतुर्दल के रूप में चारद्वीपों का भी परिगणन मिलता है। वायु और मार्कण्डेयपुराण के बीच के युग में तीन और द्वीपों की खोज हो चुकी होगी, जिसके कारण चार द्वीप के बदले सात द्वीप वाली वसुमती (पृथिवी) का वर्णन मार्कण्डेय-पुराणकार ने किया है। इस प्रकार 'सप्तद्वीपा वसुमती' का स्वायम्भुव मनु और उनके वंशधरों के साम्राज्य-क्षेत्र के रूप में वर्णन बुद्धिगम्य हो जाता है। इन द्वीपों का नामकरण उनके वनस्पति-वानस्पत्य प्रभृति वस्तुओं की विशेषताओं को ध्यान में रखकर किया गया प्रतीत होता है। जैसे कि 'जम्बूद्वीप' का नाम जम्बू अथवा जामुन के वृक्ष-बाहुल्य के आधार पर रखा गया है, 'प्लक्षद्वीप' का नाम प्लक्ष अथवा बरगद के पेड़ों के आधिक्य के कारण पड़ा है और 'शाल्मलिद्वीप' का नाम शाल्मलि अथवा सेमर के

पेड़ों की बहुलता के कारण पड़ा है। इसी प्रकार कुशस्थलिओं के बाहुल्य के कारण 'कुशद्वीप', क्रौञ्च पक्षियों के बाहुल्य के कारण 'क्रौञ्चद्वीप', शाक अथवा हरी सब्जियों की अधिकता के कारण 'शाकद्वीप' और पुष्कर अथवा कमलवन की बहुलता के कारण 'पुष्करद्वीप' नाम की सार्थकता मानना असङ्गत नहीं प्रतीत होता। विष्णुपुराण में शाकद्वीप के निवासी सूर्यपूजक वर्णित किए गए हैं, जैसा कि 'पुराणविमर्श' के रचयिता आचार्य बलदेव उपाध्याय ने ('पुराणविमर्श', पृष्ठ ३२९) में सप्रमाण प्रतिपादित किया है। सूर्य की उपासना आर्य जाति के लोगों की उपासना है, अनार्य जाति के लोगों की नहीं। शकद्वीप अथवा शाकद्वीप में चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था की स्थापना का भी पुराणों में नवमस्थानीय भविष्यपुराण में वर्णन है। इससे भी इस द्वीप के निवासी लोगों की आर्येतर जाति के होने की सम्भावना समाप्त हो जाती है। प्लक्षद्वीप प्रभृति पाँच महाद्वीपों में वर्णव्यवस्था के साथ-साथ आश्रम-व्यवस्था की स्थापना का उल्लेख मार्कण्डेयपुराण के इसी अध्याय (श्लोक सं० ३० पूर्वार्द्ध—३१) में किया हुआ है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि आदि पौराणिक युग के भारत के निवासी समुद्र-मार्ग से यातायात के साधनों से सम्पन्न रहे होंगे और प्लक्षादि पांच महाद्वीपों में अपने उपनिवेश भी स्थापित कर चुके होंगे। काल-विपर्यय के कारण वर्णाश्रम-व्यवस्था भारतवर्ष में ही बनी रही और राजनीतिक उथल-पुथल के कारण अन्य महाद्वीपों और उनके अन्तर्गत वर्षों अथवा देशों से यह व्यवस्था लुप्त हो गयी। यह भी अनुसन्धान का एक बड़ा क्षेत्र है। पुराण-साहित्य के ऐतिह्यकारों के लिए यह एक चुनौती है। सम्भव है विश्वपुरातत्त्ववित् आगामी किसी शताब्दी में निस्सन्दिग्ध रूप से मान्य कुछ और निष्कर्ष निकाल पायेंगे, जिससे आज जो पौराणिक भूगोल एक पहेली सा लग रहा है, वह बुद्धिगम्य तथा युक्तिसङ्गत हो जायेगा।

श्री मार्कण्डेयपुराण के 'मन्वन्तरकथन' नामक ५३ वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त।

चतुःपञ्चाशोऽध्यायः

क्रौष्टुकिरुवाच—

कति द्वीपाः समुद्रा वा पर्वता वा कति द्विज ।
कियन्ति चैव वर्षाणि तेषां नद्यश्च का मुने ॥१।
महाभूतप्रमाणञ्च लोकालोकन्तथैव च ।
पर्य्यासं परिमाणञ्च गतिञ्चन्द्रार्कयोरपि ॥२।
एतत् प्रब्रूहि मे सर्वं विस्तरेण महामुने ॥३।

मार्कण्डेय उवाच—

शतार्द्धकोटिविस्तारा पृथिवी कृत्स्नशो द्विज ।
तस्या हि स्थानमखिलं कथयामि शृणुष्व तत् ॥४।
ये ते द्वीपा मया प्रोक्ता जम्बुद्वीपादयो द्विज ।
पुष्करान्ता महाभाग ! शृण्वेषां विस्तरं पुनः ॥५।
द्वीपात् तु द्विगुणो द्वीपो जम्बुः प्लक्षोऽथ शाल्मलः ।
कुशः क्रौञ्चस्तथा शाकः पुष्करद्वीप एव च ॥६।

क्रौष्टुकि ने कहा—

हे महामुनि ! अब विस्तारपूर्वक मुझे यह बतावें कि कितने द्वीप हैं ? कितने समुद्र हैं ? कितने पर्वत हैं ? कितने वर्ष (देश) हैं ? उन वर्षों में कौन-कौन नदियाँ हैं। पञ्चमहाभूतों से निर्मित पार्थिवादि पदार्थों का क्या परिमाण है ? किस पर्वत-शृङ्खला का नाम लोकालोक है ? चन्द्रमा और सूर्य की परिधि, परिमाण तथा गति क्या है ? ॥ १-३ ॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

द्विजवर क्रौष्टुकि ! यह पृथिवी चतुर्दिक् ५०,००,००,००० योजन विस्तृत है। इस पृथिवी के संस्थान के विषय में मैं सब कुछ बता रहा हूँ। ध्यान देकर सुनो ॥ ४ ॥

मैंने पहले तुमसे जम्बूद्वीप से लेकर पुष्करद्वीप पर्यन्त जिन द्वीपों के सम्बन्ध में में कहा है, इनके विस्तार के विषय में सुन लो ॥ ५ ॥

जम्बूद्वीप, प्लक्षद्वीप, शाल्मलिद्वीप, कुशद्वीप, क्रौञ्चद्वीप, शाकद्वीप, और पुष्करद्वीप—इनमें प्रत्येक पहले-पहले परिगणित द्वीप, बाद में परिगणित द्वीपों की अपेक्षा दुगुने बड़े हैं ॥ ६ ॥

लवणेक्षु-सुरा-सर्पिर्दधि-दुग्ध-जलाब्धिभिः ।
द्विगुणैर्द्विगुणैर्वृद्ध्या सर्वतः परिवेष्टिताः ॥७॥
जम्बुद्वीपस्य संस्थानं प्रवक्ष्येऽहं निबोध मे ।
लक्षमेकं योजनानां वृत्तौ विस्तारदैर्घ्यतः ॥८॥
हिमवान् हेमकूटश्च ऋषभो मेरुरेव च ।
नीलः श्वेतस्तथा शृङ्गी सप्तास्मिन् वर्षपर्वताः ॥९॥
द्वौ लक्षयोजनायामौ मध्ये तत्र महाचलौ ।
तयोर्दक्षिणतो यौ तु यौ तथोत्तरतो गिरी ॥१०॥
दशभिर्दशभिर्न्यूनैः सहस्रैस्तैः परस्परम् ।
द्विसाहस्रोच्छ्रयाः सर्वे तावद्विस्तारिणश्च ते ॥११॥
समुद्रान्तःप्रविष्टाश्च षडस्मिन् वर्षपर्वताः ।
दक्षिणोत्तरतो निम्ना मध्ये तुङ्गायता क्षितिः ॥१२॥

ये सभी द्वीप क्षारजल के सागर, इक्षुरस के सागर, सुरा के सागर, घृत के सागर, दही के सागर, दुग्ध के सागर और जल के सागर से सर्वत्र घिरे हैं। इन उपर्युक्त सागरों में पहले-पहले निर्दिष्ट सागरों की अपेक्षा बाद में निर्दिष्ट सागर दूने बड़े हैं ॥ ७ ॥

अब मैं जम्बूद्वीप के संस्थान के सम्बन्ध में बताऊँगा ध्यानपूर्वक सुनो। जम्बुद्वीप की लम्बाई-चौड़ाई एक लाख योजन विस्तार की है और यह वृत्ताकार है ॥ ८ ॥

जम्बुद्वीप में हिमवान्, हेमकूट, ऋषभ, मेरु, नील, श्वेत तथा शृङ्गी—इन नामों की सात वर्ष-पर्वत-शृंखलाएँ हैं ॥ ९ ॥

इनमें दो महावर्ष पर्वत, जो कि जम्बुद्वीप के मध्यभाग में हैं, दो लाख योजन विस्तार वाले हैं। इनके दक्षिण में अवस्थित दो महापवर्तों और उत्तर में अवस्थित दो महापर्वतों की लम्बाई क्रमशः दस-दस हजार योजन कम है। इनकी ऊँचाई दो हजार योजनों की है और चौड़ाई भी उतनी ही है ॥ १०-११ ॥

इन वर्ष पर्वतों में ६ वर्ष पर्वत ऐसे हैं, जो समुद्र के भीतर तक पहुँच गए हैं। पृथिवी अपने दक्षिण और उत्तरभाग की ओर नीची है और बीच में ऊँची और चौड़ी है ॥ १२ ॥

वेद्यर्द्धे दक्षिणे त्रीणि त्रीणि वर्षाणि चोत्तरे ।
इलावृतं तयोर्मध्ये चन्द्रार्द्धाकारवत् स्थितम् ।।१३।
ततः पूर्वेण भद्राश्वं केतुमालञ्च पश्चिमे ।
इलावृतस्य मध्ये तु मेरुः कनकपर्वतः ।।१४।
चतुरशीतिसाहस्रस्तस्योच्छ्रायो महागिरेः ।
प्रविष्टः षोडशाधस्ताद्विस्तीर्णः षोडशैव तु ।।१५।
शरावसंस्थितत्वाच्च द्वात्रिंशन्मूर्ध्नि विस्तृतः ।
शुक्लः पीतोऽसितो रक्तः प्राच्यादिषु यथाक्रमम् ।।१६।
विप्रो वैश्यस्तथा शूद्रः क्षत्रियश्च स्ववर्णतः ।
तस्योपरि तथैवाष्टौ पुर्यो दिक्षु यथाक्रमम् ।।१७।
इन्द्रादिलोकपालानां तन्मध्ये ब्रह्मणः सभा ।
योजनानां सहस्राणि चतुर्दश समुच्छ्रिता ।।१८।

पृथिवी की वेदि (उन्नतभाग भूमि) के दक्षिण में तीन और उत्तर में तीन वर्ष (देश) हैं। बीच में जो वर्ष है, वह 'इलावृत' कहलाता है और वह अर्द्धचन्द्राकार है ॥ १३ ॥

इलावृत के पूर्व में भद्राश्व नामक वर्ष (देश) है और पश्चिम में केतुमाल नामक वर्ष है। इलावृत के मध्य में मेरु है, जो कि स्वर्ण-पर्वत है ॥ १४ ॥

इस मेरु नामक महापर्वत की ऊंचाई चौरासी हजार योजनों की है। यह सोलह हजार योजनों तक पृथिवी के भीतर चला गया है और इसकी चौड़ाई भी सोलह हजार योजनों की है ॥ १५ ॥

इसकी संरचना शराब अथवा मिट्टी के सकोरे जैसी है, जिसके कारण इसके शिखर भाग का विस्तार बत्तीस हजार योजनों का है। यह पूर्व दिशा में शुक्ल वर्ण का, पश्चिम दिशा में पीत वर्ण का, उत्तर दिशा में असित (कृष्ण) वर्ण का और दक्षिण दिशा में रक्त वर्ण का दिखाई देता है ॥ १६ ॥

इस पर्वत पर वर्णक्रम के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्ण के लोग रहते हैं। साथ ही साथ इसके चतुर्दिक् तथा चतुर्दिक्कोणों में आठ पुरी-निवेश हैं, जिनके अधिपति इन्द्र प्रभृति लोकपाल हैं। इनके मध्य में ब्रह्मा का सभागार है, जिसकी ऊँचाई चौदह हजार योजनों की है ॥ १७-१८ ॥

अयुतोच्छ्रायास्तस्याधस्तथा विष्कम्भपर्वताः ।
प्राच्यादिषु क्रमेणैव मन्दरो गन्धमादनः ॥१९॥
विपुलश्च सुपार्श्वश्च केतुपादपशोभिताः ।
कदम्बो मन्दरे केतुर्जम्बुर्वै गन्धमादने ॥२०॥
विपुले च तथाश्वत्थः सुपार्श्वे च वटो महान् ।
एकादशशतायामा योजनानामिमे नगाः ॥२१॥
जठरो देवकूटश्च पूर्वस्यां दिशि पर्वतौ ।
आनीलनिषधौ प्राप्तौ परस्परनिरन्तरौ ॥२२॥
निषधः पारियात्रश्च मेरोः पार्श्वे तु पश्चिमे ।
यथा पूर्व्वौ तथा चैतावानीलनिषधायतौ ॥२३॥
कैलासो हिमवांश्चैव दक्षिणेन महाचलौ ।
पूर्वपश्चायतावेतावर्णवान्तर्व्यवस्थितौ ॥२४॥

इस ब्रह्मसभाभवन के नीचे दस हजार योजन की ऊँचाई वाले विष्कम्भ पर्वत हैं और इसके पूर्व और पश्चिम दिग्भागों में क्रमशः मन्दर और गन्धमादन पर्वत हैं ॥ १९ ॥

विपुल और सुपार्श्व उत्तर और दक्षिण दिग्भाग के पर्वत हैं। ये सभी पर्वत विविध प्रकार के पेड़-पौधों से, जो कि उनके अभिज्ञान-चिह्न हैं, सुशोभित हैं, जैसे कि मन्दर कदम्ब-पादपों से और गन्धमादन जम्बू वृक्षों से सुशोभित है ॥ २० ॥

विपुल पर्वत का अभिज्ञान-पादप अश्वत्थ (पीपल) है और सुपार्श्व का चिह्नभूत वृक्ष महावट है। इन पर्वतों का आयाम (विस्तार) इग्यारह सौ योजन का है ॥ २१ ॥

इसकी पूर्व दिशा की ओर जठर और देवकूट नाम के पर्वत हैं, जो कि नील और निषध नामक पर्वतों से सटे हुए हैं, जिसके कारण ये सब परस्पर एक पर्वतश्रेणी से लगते हैं। मेरु के पश्चिम भाग में निषध और परियात्र नामक पर्वत हैं और ये दोनों पर्वत भी नील और निषध नामक पर्वतों की भाँति उसी प्रकार फैले हैं, जिस भाँति जठर और देवकूट। मेरु के दक्षिण में कैलास और हिमवान्—ये दो महापर्वत हैं। ये दोनों पूर्व और पश्चिम दिग्भागों में विस्तृत हैं और समुद्र के भीतर तक अवस्थित हैं। मेरु के उत्तर के पर्वत शृङ्गवान् और जारुधि हैं और ये भी मेरु के दक्षिण दिग्वर्ती कैलास

शृङ्गवान् जारुधिश्चैव तथैवोत्तरपर्वतौ ।
यथैव दक्षिणे तद्वदर्णवान्तर्व्यवस्थितौ ॥२५॥
मर्य्यादापर्वता ह्येते कथ्यन्तेऽष्टौ द्विजोत्तम ।
हिमवद्धेमकूटादिपर्व्वतानां परस्परम् ॥२६॥
नवयोजनसाहस्रं प्रागुदग्दक्षिणोत्तरम् ।
मेरोरिलावृते तद्वदन्तरे वै चतुर्दिशम् ॥२७॥
फलानि यानि वै जम्ब्वाः गन्धमादनपर्व्वते ।
गजदेहप्रमाणानि पतन्ति गिरिमूर्द्धनि ॥२८॥
तेषां स्रावात् प्रभवति ख्याता जम्बूनदीति वै ।
यत्र जाम्बूनदं नाम कनकं सम्प्रजायते ॥२९॥
सा परिक्रम्य वै मेरुं जम्बूमूलं पुनर्नदी ।
विशति द्विजशार्दूल ! पीयमाना जनैश्च तैः ॥३०॥
भद्राश्वेऽश्वशिरा विष्णुर्भारते कूर्मसंस्थितिः ।
वराहः केतुमाले च मत्स्यरूपस्तथोत्तरे ॥३१॥

तथा हिमवान् के समान समुद्र के भीतर तक पहुँचे हुए हैं। द्विजवर क्रौष्टुकि ! ये ही आठ पर्वत 'मर्यादापर्वत' (अर्थात् पृथिवी के सीमा-विभाजक पर्वत) कहे जाते हैं ॥ २२-२५ ॥

हिमवान् तथा हेमकूट प्रभृति पर्वतों का परस्पर मिला-जुला जो विस्तार है, वह पूर्वादि चारों दिशाओं में नौ हजार योजनों का है। इन्हीं की भाँति इलावृत वर्ष के मध्य में मेरुपर्वत भी चतुर्दिक् नौ हजार योजनों तक चला गया है। गन्धमादन पर्वत पर जो जम्बूवृक्ष हैं, उनके फल हाथी के शरीर जैसे बड़े-बड़े होते हैं और गन्धमादन के शिखरों पर गिरा करते हैं। उन जम्बू-फलों (जामुनों) के रस-स्राव से वह नदी निकलती है, जिसे जम्बूनदी कहते हैं, जिसमें जाम्बूनद नामक एक विशेष प्रकार का स्वर्ण पाया जाता है। यह नदी चारों ओर से मेरु की परिक्रमा करती हुई जम्बूवृक्ष के मूल में प्रविष्ट हो जाती है और वहाँ के निवासी, द्विजवर क्रौष्टुकि ! इसके जम्बूरस सदृश जल का पान किया करते हैं। हयशीर्ष भद्राश्व में निवास करते हैं और भारत में ये कूर्मरूप में विराजमान रहते हैं। केतुमाल में भगवान् विष्णु वराहरूप में तथा उत्तर दिग्भाग में

तेषु नक्षत्रविन्यासाद्विषयाः समवस्थिताः ।
चतुर्ष्वपि द्विजश्रेष्ठ ! ग्रहाभिभवपाठकाः ॥३२॥

॥ इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे भुवनकोश'जम्बूद्वीपवर्णनं'नाम चतुःपञ्चाशोऽध्याय. ॥

मत्स्य रूप में अवस्थित हैं। इन चार वर्षों (देशों) में, द्विजवर क्रौष्टुकि! मनुष्य के समस्त कार्यकलाप ग्रह-नक्षत्रों की दशा की दृष्टि से चला करते हैं और इन चारों वर्षों में ऐसे ज्योतिर्विद् भी निवास करते हैं, जो कि ग्रह-नक्षत्रों के प्रभाव के अध्येता हैं ॥ २६-३२ ॥

पर्यालोचन

(क) इस अध्याय के आरम्भ में (श्लोक सं० ४) में भूमण्डल के ५००००००००
(पचास करोड़) योजन विस्तृत होने का उल्लेख है। श्री पार्जिटर ने पृथिवी के इस
विस्तार को ३,७८७,८७८,७८८ (सैंतीस अरब सतासी करोड़ सतासी लाख सतासी
हजार अट्ठासी) मील के बराबर बताया है। आधुनिक भूगोल-विज्ञान की दृष्टि से इस
उल्लेख की सत्यता का प्रमाणीकरण अपेक्षित है।

(ख) इस अध्याय के ५ वें और ६ ठे श्लोकों में पृथिवी के सात महाद्वीपों का
परिगणन है और इन सात महाद्वीपों में १) जम्बूद्वीप, २) प्लक्षद्वीप, ३) शाल्मलद्वीप,
४) कुशद्वीप, ५) क्रौञ्चद्वीप, ६) शाकद्वीप तथा ७) पुष्करद्वीप के नामों का उल्लेख है।
जम्बूद्वीप का नाम आज भी, पूजापाठ के आरम्भ में 'श्रीश्वेतवाराहकल्पे वैवस्वतमन्वन्त-
रेऽष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे जम्बूद्वीपे भारतवर्षे भारतखण्डे' आदि सङ्कल्प
वाक्य में, भारतीय जातीय जीवन की एक अविस्मरणीय स्मृति में सुरक्षित है। यह
जम्बूद्वीप अन्य सभी द्वीपों से अत्यधिक विस्तृत है, जैसा कि ६ ठे श्लोक का तात्पर्य है।
इस महाद्वीप के चतुर्दिक् खारे पानी के सागर के लहराने का भी वर्णन है। भारतवर्ष
के दक्षिण में जो सागर है, वहाँ का पानी खारा है, किन्तु जम्बूद्वीप के उत्तर का सागर
संभवतः उत्तरी ध्रुव का समीपवर्ती सागर हो सकता है। यह भी सम्भव है कि कई
सहस्राब्दियों पहले पामीर का प्लेटो सागर रहा हो और प्राकृतिक परिवर्तन के परिणाम-
स्वरूप उसके स्थान पर पामीर का प्लेटो बन गया हो। क्योंकि 'पुरा यत्र स्रोतः पुलि-
नमधुना तत्र सरिताम्' का प्राकृतिक नियम अपरिवर्त्य है। आधुनिक भूगोल-विज्ञान
अथवा भूगर्भ-विज्ञान के वेत्ता इस विषय के विवेचन से किसी निश्चित परिणाम पर
पहुँच सकते हैं। किन्तु इतना निश्चित है कि जम्बूद्वीप की पुराण-प्रतिपादित भौगोलिक
स्थिति कोरी कल्पना नहीं है।

(ग) इस अध्याय में वर्णित आठ मर्यादा पर्वतों में कैलास और हिमवान् तो
आज भी अभिज्ञात है, किन्तु अन्य पर्वतों के नाम आजकल क्या हैं—यह निश्चयपूर्वक
नहीं कहा जा सकता। पुराणों के ऐतिह्यकार अपनी-अपनी अटकलें लगाते हैं और
लगाते रहेंगे। सम्भव है कभी कुछ निश्चयात्मक तथ्य प्रकाश में आ जाँय।

(घ) इस अध्याय के २८ वें श्लोक मे 'जम्बूनदी' और 'जाम्बूनद' नामक स्वर्ण
विशेष का उल्लेख है। जम्बूनदी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह भी वर्णित है कि गन्ध-
मादन पर्वत पर जामुन के अगणित वृक्ष थे और उनमें 'गजदेहप्रमाण' (अतिशयोक्ति—
वस्तुतः बहुत बड़े-बड़े) रसीले फल लगा करते थे, जो कि पक कर जब गिरते थे उनके
रस की नदी बह चलती थी और वही नदी जम्बूनदी कहलाती थी। आजकल यह
सम्पूर्ण दृश्य काल्पनिक हो गया है, क्योंकि जिस समय की जम्बूनदी का पुराणों में वर्णन है,
वह समय आज से कई सहस्राब्दी पूर्व का समय है। आजकल उपलब्ध कोई भी पुराण
भले ही ईस्वी ४थी शताब्दी के पूर्व के न हों, किन्तु इनमें अनेक प्राचीन पदार्थों के वर्णन

प्राचीन पौराणिक परम्परा से चले आ रहे हैं, जिन्हें कोरी कल्पना मानना युक्तिसङ्गत नहीं लगता।

(ङ) इस अध्याय के ३१वें श्लोक में जम्बूद्वीप के (१) 'भद्राश्व' नामक वर्ष में भगवान् विष्णु के हयग्रीव रूप में, (२) भारत नामक वर्ष में कूर्म रूप में, (३) केतुमाल नामक वर्ष में वराह रूप में तथा (४) उत्तरदिग्वर्ती वर्ष में मत्स्य रूप में अवस्थान की जो कल्पना की गयी है, वह अद्भुत है। साथ ही साथ इसी अध्याय के ३२वें श्लोक में इन उपर्युक्त वर्षों में विविध विषयों अथवा प्रदेशों का नक्षत्रों के विन्यास सदृश विन्यास का उल्लेख भी विचित्र ही है। इन विषयों में ज्योतिर्विदों की ज्योतिर्विद्या की प्रतिष्ठा का भी वर्णन है। यह सब कोरी कल्पना है, यह मानना उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि भारतवर्ष में भगवान् विष्णु कूर्मरूप में अवस्थित हैं, इसका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि मार्कण्डेयपुराणकार सम्पूर्ण भारतवर्ष को कूर्मावतार भगवान् विष्णु के रूप में ध्यातव्य प्रतिपादित करना चाहता है। यह विषय अगले अध्याय में पूर्ण रूप से प्रतिपादित है, जिसके पर्यालोचन में इस पर विशेष विचार किया जायेगा।

श्री मार्कण्डेयपुराण के 'भुवनकोश' वर्णन से सम्बद्ध 'जम्बूद्वीप-वर्णन' नामक ५४वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त।

पञ्चपञ्चाशोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

शैलेषु मन्दाराद्येषु चतुर्ष्वपि द्विजोत्तम।
वनानि यानि चत्वारि सरांसि च निबोध मे ॥१॥
पूर्वं चैत्ररथं नाम दक्षिणे नन्दनं वनम्।
वैभ्राजं पश्चिमे शैले सावित्रं चोत्तराचले ॥२॥
अरुणोदं सरः पूर्वं मानसं दक्षिणे तथा।
शीतोदं पश्चिमे मेरोर्महाभद्रं तथोत्तरे ॥३॥
शीतार्तश्चक्रमुञ्जश्च कुलीरोऽथ सुकङ्कवान्।
मणिशैलोऽथ वृषवान् महानीलो भवाचलः ॥४॥
सबिन्दुर्मन्दरो वेणुस्तामसो निषधस्तथा।
देवशैलश्च पूर्वेण मन्दरस्य महाचलः ॥५॥
त्रिकूटशिखराद्रिश्च कलिङ्गोऽथ पतङ्गकः।
रुचकः सानुमांश्चाद्रिस्ताम्रकोऽथ विशाखवान् ॥६॥

महामुनि मार्कण्डेय ने कहा—

द्विजवर क्रौष्टुकि ! मन्दर प्रभृति चारों पर्वतों पर जो चार वन हैं और सरोवर हैं, उनके विषय में बता रहा हूँ। ध्यान देकर सुनो ॥ १ ॥

पूर्व दिशा की पर्वतश्रेणी पर जो वन है उसका नाम 'चैत्ररथवन' है; दक्षिण दिशा की शैलश्रेणी पर 'नन्दनवन' नाम का वन है; पश्चिम दिग्भाग की शैलमाला के वन को 'वैभ्राजवन' कहते हैं और उत्तराचल पर 'सावित्रवन' नामक वन है। मेरु की पूर्व दिशा में 'अरुणोद' नामक सरोवर है, उसकी दक्षिण दिशा में 'मानस' नामक सरोवर है; 'शीतोद' नाम का सरोवर उसके पश्चिम में है और जिस सरोवर का नाम 'महाभद्र' है वह उसके उत्तर में है। मन्दर के पूर्व में जो पर्वत हैं, वे ये हैं—शीतार्त, चक्रमुञ्ज, कुलीर, सुकङ्कवान्, मणिशैल, वृषवान्, महानील, भवाचल, सबिन्दु, मन्दर, वेणु, तामस, निषध और देवशैल। मेरु के दक्षिण पार्श्व में जो महापर्वत हैं, वे ये हैं— त्रिकूट-शिखर, कलिङ्ग, पतङ्गक, रुचक, सानुमान्, ताम्रक, विशाखवान्, श्वेतोदर,

श्वेतोदरः समूलश्च वसुधारश्च रत्नवान् ।
एकशृङ्गो महाशैलो राजशैलः पिपाठकः ॥७॥
पञ्चशैलोऽथ कैलासो हिमवांश्चाचलोत्तमः ।
इत्येते दक्षिणे पार्श्वे मेरोः प्रोक्ता महाचलाः ॥८॥
सुरक्षः शिशिराक्षश्च वैदुर्य्यः कपिलस्तथा ।
पिञ्जरोऽथ महाभद्रः सुरसः पिङ्गलो मधुः ॥९॥
अञ्जनः कुक्कुटः कृष्णः पाण्डरश्चाचलोत्तमः ।
सहस्रशिखरश्चाद्रिः पारियात्रः सशृङ्गवान् ॥१०॥
पश्चिमेन तथा मेरोर्विस्कम्भात् पश्चिमाद्बहिः ।
एतेऽचलाः समाख्याताः शृणुष्वन्यांस्तथोत्तरान् ॥११॥
शङ्खकूटोऽथ वृषभो हंसनाभस्तथाचलः ।
कपिलेन्द्रस्तथा शैलः सानुमान् नील एव च ॥१२॥
स्वर्णशृङ्गी शातशृङ्गी पुष्पको मेघपर्वतः ।
विरजाक्षो वराहाद्रिर्मयूरो जारुधिस्तथा ॥१३॥
इत्येते कथिता ब्रह्मन् ! मेरोरुत्तरतो नगाः ।
एतेषां पर्वतानान्तु द्रौण्योऽतीव मनोहराः ॥१४॥

समूल, वसुधार, रत्नवान्, एकशृङ्ग, महाशैल, राजशैल, पिपाठक, पञ्चशैल, कैलास और सर्वोच्च हिमालयपर्वत ॥ २-८ ॥

मेरु के पश्चिम में और पश्चिम दिग्भाग के सन्निकट अवस्थित जो पर्वत हैं, वे ये हैं—सुरक्ष, शिशिराक्ष, वैदुर्य, कपिल, पिञ्जर, महाभद्र, सुरस, पिङ्गल, मधु, अञ्जन, कुक्कुट, कृष्ण, अचलोत्तम, पाण्डर, सहस्रशिखर, पारियात्र और शृङ्गवान् । इनके अतिरिक्त मेरु के उत्तर की ओर के पर्वतों के विषय में सुन लो ॥ ९-११ ॥

मेरु के उत्तर में ये पर्वत विराजमान हैं, वे ये हैं—शङ्खकूट, वृषभ, हंसनाभ, कपिलेन्द्र, सानुमान्, नील, स्वर्णशृङ्गी, शातशृङ्गी, पुष्कर, मेघपर्वत, विरजाक्ष, वराहाद्रि, मयूर तथा जारुधि । इन पर्वतों की तलहटियाँ बड़ी मनोहर हैं । वनों और निर्मल जल के सरोवरों से इनकी बड़ी शोभा होती है । द्विजवर क्रौष्टुकि ! इन पर्वत-द्रोणियों (पहाड़ की तलहटियों) में वे ही मनुष्य जन्म लेते हैं, जो पूर्वजन्मार्जित पुण्य कर्मों

वनैरमलपानीयैः सरोभिरुपशोभिताः ।
तासु पुण्यकृतां जन्म मनुष्याणां द्विजोत्तम ॥१५॥
एते भौमा द्विजश्रेष्ठ ! स्वर्गाः स्वर्गगुणाधिकाः ।
न तासु पुण्यपापानामपूर्व्वाणामुपार्जनम् ॥१६॥
पुण्योपभोगा एवोक्ता देवानामपि तास्वपि ।
शीतान्ताद्येषु चैतेषु शैलेषु द्विजसत्तम ॥१७॥
विद्याधराणां यक्षाणां किन्नरोरगरक्षसाम् ।
देवानाञ्च महावासा गन्धर्व्वाणां च शोभनाः ॥१८॥
महापुण्या मनोज्ञैश्च सदैवोपवनैर्युताः ।
सरांसि च मनोज्ञानि सर्वर्तुसुखदोऽनिलः ॥१९॥
न चैतेषु मनुष्याणां वैमनस्यानि कुत्रचित् ।
तदेवं पार्थिवं पद्मं चतुष्पत्रं मयोदितम् ॥२०॥
भद्राश्वभारताद्यानि पत्राण्यस्य चतुर्दिशम् ।
भारतं नाम यद्वर्षं दक्षिणेन मयोदितम् ॥२१॥

के धनी होते हैं। इन्हें वस्तुतः, भूलोक के स्वर्ग कहा जाता है और ये देवलोक के स्वर्ग के गुणों की अपेक्षा अधिक गुण वाले हैं। इन पर्वतों की तलहटियों में जो मनुष्य निवास करते हैं, वे अपने वर्तमान जन्म के पुण्य-पाप के उपार्जन से रहित होते हैं। वस्तुतः देवों को भी इनकी तलहटियों में पुण्य का उपभोग मिलता है। इन शीतान्त (अथवा शीताद्रि) प्रभृति पर्वतों पर द्विजवर क्रौष्टुकि ! विद्याधरों के, यक्षों के, किन्नरों के, नागों के, राक्षसों के, देवों के और गन्धर्वों के बड़े-बड़े बड़े सुन्दर आवास बने हैं। ये पर्वत बड़े पुण्य के पर्वत है, बड़े मनोरम हैं और सदा वन-उपवनों से सुशोभित रहते हैं। यहाँ जो सरोवर हैं वे भी बड़े मनोहर हैं। यहाँ की वायु सभी ऋतुओं में सुखद है। इन पर रहने वाले मनुष्यों में कहीं भी वैर-वैमनस्य नहीं दिखायी देता। इस प्रकार मैंने यह सब जो कहा है, उसे इस चतुर्दल पार्थिव कमल का वर्णन समझो ॥ १२-२० ॥

भद्राश्व-भारतादि वर्ष इस पार्थिक पद्म के चतुर्दिक् विस्तृत पत्र (पत्ते) हैं। मैंने मेरु के दक्षिण जो 'भारत' नामक वर्ष (देश) बताया है, वह कर्मभूमि है। इस

तत् कर्मभूमिर्नान्यत्र संप्राप्तिः पुण्यपापयोः ।
एतत् प्रधानं विज्ञेयं यत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ।।२२।
तस्मात् स्वर्गापवर्गौ च मानुष्यनारकावपि ।
तिर्य्यक्त्वमथवाप्यन्यत् नरः प्राप्नोति वै द्विज ।।२३।

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे भुवनकोशे पञ्चपञ्चाशोऽध्यायः ।

भारतवर्ष के अतिरिक्त अन्यत्र पुण्य-पाप की प्राप्ति नहीं होती है। सभी वर्षों में भारतवर्ष ही प्रधान हैं जहाँ, सब कुछ उपलब्ध है। इस कर्मभूमि में ही मनुष्य स्वर्ग और अपवर्ग, मानव-जीवन और नरकजीवन अथवा तिर्यग्योनि में जन्म—यह सब कुछ पा लेता है ॥ २१-२३ ॥

पर्यालोचन

(क) इस अध्याय में 'मेरु' पर्वत के चतुर्दिक् अवस्थित महावनों और महापर्वतों का वर्णन है। महावनों में 'नन्दन वन' का वर्णन तो संस्कृत काव्य-साहित्य में भी प्राप्त होता है। महापर्वतों में कैलास और हिमवान्, जिन्हें मेरु पर्वत के दक्षिण दिग्वर्ती पर्वतों के रूप में वर्णित किया गया है, आज भी अपने प्राचीन नामों से जाने जाते हैं, किन्तु अन्य महावनों और महापर्वतों के सम्बन्ध में पुराणों के भूगोल का परिचय देने वाले आधुनिक विद्वान् कुछ नहीं बताते। ऐसा लगता है जैसे यह विषय पौराणिक विषय ही रह जायेगा। इस दिशा में अनुसन्धान अत्यावश्यक है, जिससे इसकी पौराणिकता काल्पनिक न रह कर वास्तविक सिद्ध हो सके।

(ख) इस अध्याय के २०वें श्लोक में 'मेरु' की कमल-कर्णिका के रूप में कल्पना करके उसके चतुर्दिक् अवस्थित 'भद्राश्व' तथा 'भारत' प्रभृति वर्षों की इस कमल के विस्तृत चतुष्पत्रों के रूप में जो कल्पना की गयी है, उससे पुराणकारों की भौगोलिक दृष्टि का परिचय मिलता है। आजकल के भूगोल-विज्ञान के साधनों के अभाव में भी अन्य पुराणों तथा मार्कण्डेयपुराण के रचयिता पौराणिक ऋषि-मुनियों ने कल्पना-दृष्टि से भारतादि वर्षों की भौगोलिक अवस्थिति का जो दर्शन किया है, उसे सत्यापित करने के लिए हमें उस युग की कल्पना करनी होगी और उस युग में पहुँच कर इस 'चतुष्पत्र कमल' का दर्शन करना होगा, जो काल-विपर्यय और प्राकृतिक परिवर्तनों के कारण अब उसी रूप में भले ही न हो, किन्तु उस रूप की कुछ झांकी सम्भवतः प्रस्तुत कर सके।

(ग) इस अध्याय के २२ श्लोक में भारतवर्ष को 'कर्मभूमि' कहा गया है और पिछले ५४वें अध्याय के ३१वें श्लोक में इसे कूर्मावतार भगवान् विष्णु का स्वरूप-संस्थान बताया गया है। भारत के सम्बन्ध में पुराणकार की दोनों भावनाएँ परस्पर समञ्जस प्रतोत होती हैं। बिना पुण्यकर्म के भगवान् विष्णु की आराधना-उपासना सम्भव नहीं। भारत की कर्मभूमि में पुण्यकर्मों के द्वारा, जिसमें भक्ति और शरणागति भी समन्वित हैं, श्रीविष्णु रूप स्वात्मतत्त्व की संवित्ति अथवा अनुभूति सम्भव है। सम्भवतः यही कारण है कि अध्यात्मदर्शन का सूर्योदय समस्त संसार में सर्वप्रथम भारत भूमि के निवासियों ने ही देखा और क्रमशः उसके आलोक में उनका अध्यात्म-ज्ञान और अध्यात्मविज्ञान विकसित होता चला गया। इस तथ्य को विश्व के ऐतिह्यकार अब तक असिद्ध नहीं कर पाए हैं, क्योंकि जब ऋग्वेद को मानव-ज्ञान की सर्वप्रथम शब्दमूर्ति माना गया है, तब उपर्युक्त तथ्य को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है।

पुण्यकर्म के साथ ही साथ, कर्मभूमि होने के नाते भारत में पापकर्म के अनुष्ठान और उसके परिणाम का भी इस अध्याय के अन्तिम २३वें श्लोक में जो उल्लेख है, वह भी निःसार नहीं है। भगवान् विष्णु की महाशक्ति 'लक्ष्मी' ही 'अलक्ष्मी' रूप में

भी विराजमान है और जीवों के पापकर्म उसी के द्वारा प्रेरित हैं। अलक्ष्मी की प्रेरणा को जीवों के जन्म-जन्मान्तरों के प्रारब्ध कर्मों के संस्कार बल प्रदान करते हैं। भगवत्-सत्ता में अटूट विश्वास के साथ पुनर्जन्म में अटूट विश्वास अनिवार्य है। पुनर्जन्म के बीज पुण्य-पापात्मक कर्म हैं। भारत की कर्मभूमि में दोनों प्रकार के बीज बोए जाते हैं और उनके अनुरूप उनके फल के भी भोग किए जाते हैं। ऐसा नहीं कि भारत के अतिरिक्त अन्य राष्ट्रों में पुण्य-पाप के कर्म नहीं किये जाते, किन्तु इनके रहस्य-चिन्तन की साधना भारतेतर राष्ट्रों के प्राचीनतम मनीषियों में भी नहीं दिखायी देती। यह चिन्तन भारतीय मन-मस्तिष्क की ही परम्परागत विशेषता है, जिसके प्रमाण वेद-उपनिषद्, पुरांण-आगम प्रभृति भारतीय वाङ्मय हैं।

श्रीमार्कण्डेयपुराण के 'भुवनकोश' वर्णन से सम्बद्ध ५५वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त।

षट्पञ्चाशोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

धराधारं जगद्योनेः पदं नारायणस्य च ।
ततः प्रवृत्ता या देवी गङ्गा त्रिपथगामिनी ॥१॥
सा प्रविश्य सुधायोनिं सोममाधारमम्भसाम् ।
ततः सम्बध्यमानार्करश्मिसङ्गतिपावनी ॥२॥
पपात मेरुपृष्ठे च सा चतुर्द्धा ततो ययौ ।
मेरुकूटतटान्तेभ्यो निपतन्ती विवर्तिता ॥३॥
विकीर्य्यमाणसलिला निरालम्बा पपात सा ।
मन्दराद्येषु पादेषु प्रविभक्तोदका समम् ॥४॥
चतुर्ष्वपि पपाताम्बुविभिन्नाङ्घ्रिशिलोच्चया ।
पूर्व्वा सीतेऽति विख्याता ययौ चैत्ररथं वनम् ॥५॥
तत् प्लावयित्वा च ययौ वरुणोदं सरोवरम् ।
शीतान्तञ्च गिरिं तस्मात्ततश्चान्यान् गिरीन् क्रमात् ॥६॥

महामुनि मार्कण्डेय ने कहा—

इस जगत् के परमकारण तथा पृथिवी के आधार जो भगवान् विष्णु हैं, उनके पद (विष्णुपद-विष्णुलोक) से जिस देवी का प्रादुर्भाव हुआ वही त्रिपथगा गङ्गा है। पहले यह अमृत के जन्मस्थान तथा जल के आधार चन्द्रमण्डल में प्रविष्ट हुई और उसके बाद चन्द्र से सम्बद्ध सूर्य की रश्मियों के सम्पर्क से पवित्र हुई। तदनन्तर, वह मेरु पर्वत के शिखर पर गिरी, जहाँ से वह चार धाराओं में विभक्त हो गयी। मेरुपर्वत के शिखर तथा तटप्रान्त से जब वह नीचे गिरने लगी तब इधर-उधर बहती हुई, अपनी जलराशि को चतुर्दिक् बिखेरती हुई, बिना किसी शैलशिखर के आधार के, नीचे की ओर बह चली। मन्दर प्रभृति चारों पर्वतों के नीचे पहुँचकर उसने अपना जल, इधर-उधर, समान रूप से, विभक्त कर दिया। उसके जल-प्रवाह के वेग के कारण चारों पर्वतों की उपत्यका के शिलोच्चय टूट-फूट गए। उसकी पूर्वदिग्वाहिनी धारा, जो सीता नाम से प्रसिद्ध हुई, चैत्ररथ वन में पहुँची और उसे जलाप्लावित करती हुई 'वरुणोद' (अथवा अरुणोद) नामक सरोवर में गिरी। उसके बाद वह 'शीतान्त' नामक पर्वत के समीप पहुँची और क्रमशः अन्य अनेक पर्वतों को भी उसने

गत्वा भुवं समासाद्य भद्राश्वाज्जलधिं गता ।
तथैवालकनन्दाख्या दक्षिणे गन्धमादने ।।७।

मेरुपादवनं गत्वा नन्दनं देवनन्दनम् ।
मानसञ्च महावेगात् प्लावयित्वा सरोवरम् ।।८।

आसाद्य शैलराजानं रम्यं हि शिखरन्तथा ।
तस्माच्च पर्वतान् सर्व्वान् दक्षिणोपक्रमोदितान् ।।९।

तान् प्लावयित्वा संप्राप्ता हिमवन्तं महागिरिम् ।
दधार तत्र तां शम्भुर्न मुमोच वृषध्वजः ।।१०।

भगीरथेनोपवासैः स्तुत्या चाराधितो विभुः ।
तत्र मुक्ता च शर्व्वेण सप्तधा दक्षिणोदधिम् ।।११।

प्रविवेश त्रिधा प्राच्यां प्लावयन्ती महानदी ।
भगीरथरथस्यानु स्रोतसैकेन दक्षिणाम् ।।१२।

तथैव पश्चिमे पादे विपुले सा महानदी ।
सुचक्षुरिति विख्याता वैभ्राजं साचलं ययौ ।।१३।

अपनी प्रवाह-परिधि में ले लिया। जब उसकी धारा पृथिवी पर आयी तब वह भद्राश्व पर्वत से होती समुद्र में जा पहुँचीं। इसकी दूसरी धारा, जो 'अलकनन्दा' नाम की थी, दक्षिण में अवस्थित गन्धमादन पर्वत की ओर बढ़ी और बड़े वेग से मेरुपर्वत की उपत्यका में विराजमान, देववृन्द के आनन्ददायक नन्दनवन तथा मानस सरोवर को जलाप्लुत करती हुई शैलराज के समीप आयी और उसके सुरम्य शिखर पर पहुँच गयी। उसके बाद उस महापर्वत से प्रवाहित होती समस्त दक्षिणदिग्वर्ती पर्वतों की ओर, जिनके विषय में मैंने, प्रियशिष्य क्रौष्टुकि ! पहले बता दिया है, बढ़ती हुई और उन सब पर्वतों को जलाप्लावित करती हुई वह महागिरि हिमवान् पर पहुँच गयी, जहाँ वृषध्वज (भगवान् शङ्कर) ने उसे (अपने जटाजूट पर) रख लिया और आगे बढ़ने के लिये नहीं छोड़ा ।। १-१० ।।

जब महाराज भगीरथ ने अपनी व्रतोपवास की तपस्या तथा स्तुति से भगवान् शङ्कर की आराधना की, तब उन्होंने उसे छोड़ दिया और वह सात धाराओं में प्रवाहित होती हुई दक्षिणसागर में प्रविष्ट हो गयी। उस महानदी की (सात धाराओं में) तोन धाराओं ने पूर्वदिग्वर्ती भूभागों को जलाप्लावित कर दिया और एक धारा भगीरथ के रथ के पीछे-पीछे चलती दक्षिण की ओर वह निकली। साथ ही साथ, वह महानदी, पश्चिम दिग्भाग की ओर 'विपुल' पर्वत पर बहती 'सुचक्षु' (स्वरक्षु) नाम से प्रसिद्ध हुई और 'वैभ्राज' नामक पर्वत की ओर पहुँच गयी। वहाँ से, उस महानदी ने

शीतोदञ्च सरस्तस्मात् प्लावयन्ती महानदी ।
सुचक्षुःपर्वतं प्राप्ता ततश्च त्रिशिखं गता ।।१४।
तस्मात् क्रमेण चाद्रीणां शिखरेषु निपत्य सा ।
केतुमालं समासाद्य प्रविष्टा लवणोदधिम् ।।१५।
सुपार्श्वन्तु तथैवाद्रिं मेरुपादं हि सा गता ।
(भद्रसोमेति) तत्र सोमेति विख्याता सा ययौ सवितुर्वनम् ।।१६।।
तत्पावयन्ती संप्राप्ता महाभद्रं सरोवरम् ।
ततश्च शङ्खकूटं सा प्रयाता वै महानदी ।।१७।
तस्माच्च वृषभादीन् सा क्रमात् प्राप्य शिलोच्चयान् ।
महार्णवमनुप्राप्ता प्लावयित्वोत्तरान् कुरून् ।।१८।
एवमेषा मया गङ्गा कथिता ते द्विजर्षभ ।
जम्बुद्वीपनिवेशश्च वर्षाणि च यथातथम् ।।१९।
वसन्ति तेषु सर्वेषु प्रजाः किंपुरुषादिषु ।
सुखप्राया निरातङ्का न्यूनतोत्कर्षवर्जिताः ।।२०।
नवस्वपि च वर्षेषु सप्त सप्त कुलाचलाः ।
एकैकस्मिंस्तथा देशे नद्यश्चाद्रिविनिःसृताः ।।२१।

'शीतोद' नामक सरोवर को आप्लावित कर दिया और 'सुचक्षु' नामक पर्वत के समीप आकर, आगे बढ़ती, 'त्रिशिख' पर्वत पर पहुँच गयी। उसके बाद, एक के बाद एक, पर्वतों के शिखरों पर गिरती 'केतुमाल' वर्ष तक आयी और वहाँ से चलकर क्षार-सागर में प्रविष्ट हो गयी। इसी भाँति, वह महानदी 'सुपार्श्व' पर्वत पर बहती हुई मेरु के नीचे पहुँची, जहाँ वह 'भद्रसोमा' नाम से विख्यात हुई और उसके बाद 'सावित्र' वन तक चली आयी। अपनी जल-धारा से सावित्र वन को पवित्र करती, वह महानदी 'महाभद्र' नामक सरोवर पर पहुँची, जहाँ से वह 'शङ्खकूट' नामक पर्वत के समीप आयी। उसके बाद, वह क्रमशः वृषभ प्रभृति पर्वतकूटों पर प्रवाहित होती 'उत्तरकुरु' वर्ष को जलाप्लावित करती महासागर तक पहुँच गयी। इस प्रकार, द्विजवर क्रौष्टुकि ! मैंने तुम्हें गङ्गा (के अवतरण) के विषय में सब कुछ बता दिया ।। ११-१८ (पूर्वार्द्ध) ।।

मैंने, समुचित रूप से, इस प्रकार जम्बूद्वीप के निवेश और उसके अन्तर्गत समस्त वर्षों (देशों) का वर्णन कर दिया। जम्बूद्वीप के समस्त किंपुरुष प्रभृति वर्षों में लोगों के निवास हैं और इन वर्षों में रहने वाले लोग अधिकतर सुखी, निर्द्वन्द्व तथा ऊँच-नीच के भेदभाव से रहित हैं। इन नव संख्यक वर्षों में सात-सात पर्वत शृङ्खलाएँ हैं और प्रत्येक वर्ष (देश) में पहाड़ों से प्रवाहित होने वाली नदियाँ हैं। द्विजवर

यानि किंपुरुषाद्यानि वर्षाण्यष्टौ द्विजोत्तम ।
तेषूद्भिज्जानि तोयानि मेघवार्यत्र भारते ॥२२॥
वार्क्षी स्वाभाविकी देश्या तोयोत्था मानसी तथा ।
कर्मजा च नृणां सिद्धिर्वर्षेष्वेतेषु चाष्टसु ॥२३॥
कामप्रदेभ्यो वृक्षेभ्यो वार्क्षी सिद्धिः स्वभावजा ।
स्वाभाविकी समाख्याता तृप्तिर्देश्या च दैशिकी ॥२४॥
अपां सौक्ष्म्याच्च तोयोत्था ध्यानोपेता च मानसी ।
उपासनादिकार्य्यात्तु धर्मजा साप्युदाहृता ॥२५॥
न चैतेषु युगावस्था नाधयो व्याधयो न च ।
पुण्यापुण्यसमारम्भो नैव तेषु द्विजोत्तम ॥२६॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे गङ्गावतारो नाम षट्पञ्चाशोऽध्यायः ।

क्रौष्टुकि ! 'किंपुरुष' प्रभृति जो आठ वर्ष हैं, उनमें जो जलधाराएँ प्रवाहित होती हैं, वे पृथिवी से निकले स्रोत रूप में प्रवाहित होती हैं। किन्तु भारतवर्ष मेघों की जलवर्षा से सिञ्चित होता है। किंपुरुषादि आठ वर्ष ऐसे हैं, जिनमें निवास करने वालों को वृक्षों से सम्भूत, स्वभावतः सम्पन्न, देशविशेष की परिस्थिति द्वारा उत्पादित, प्रभूत जल से निष्पादित, मानसिक तथा कर्तव्य कर्म से जन्य सभी समृद्धियों की सिद्धि होती है। 'वार्क्षी' सिद्धि वह है, जो मन की कामना की पूर्ति करने वाले वृक्षों द्वारा सम्भव है; स्वाभाविकी सिद्धि वह है, जिसमें सभी मनोरथ स्वभावतः पूर्ण होते हैं; 'देश्या' सिद्धि वह है, जो देशविशेष की महिमा से निष्पादित की जाती है; 'तोयोत्था' सिद्धि वह है, जो केवल जल द्वारा सम्पादित की जाती है; 'मानसिक' सिद्धि वह है, जो ध्यान द्वारा प्राप्त होती है और धर्मजा (कर्मजा) सिद्धि वह है, जो उपासना आदि के द्वारा निष्पन्न होती है। द्विजवर क्रौष्टुकि ! ये आठों वर्ष ऐसे हैं, जिनमें युगधर्म के प्रभाव का अभाव रहता है, जिनमें न किसी को मानसिक कष्ट होता है और न शारीरिक कष्ट और साथ ही साथ जिनमें पुण्य-पाप के कर्मों के अनुष्ठान और उनसे सम्भूत सुफल-कुफल की कोई सम्भावना ही नहीं रहती ॥ १९-२६ ॥

पर्यालोचन

(क) इस अध्याय में गङ्गा के आविर्भाव और अवतरण का विशद वर्णन है। पुराणों में वर्णित गङ्गा की महिमा संस्कृत काव्य-साहित्य में भी उसी रूप में सुरक्षित है। सम्भवतः यही कारण है कि अमरकोश (१.१०.३१) में गङ्गा के पर्यायवाचक, 'विष्णुपदी', 'त्रिपथगा', 'जह्नुतनया', 'त्रिस्रोता', 'सुरनिम्नगा' तथा 'भागीरथी' प्रभृति शब्द संगृहीत हैं। इन पर्यायवाचक शब्दों में वैदिक-पौराणिक युग की गङ्गा-विषयक मान्यताएँ और भावनाएँ स्पष्ट झलक जाती हैं। गङ्गा के साथ पावनता का ऐसा अटूट सम्बन्ध है कि पुराणकार भारतवर्ष की अन्य नदियों की पवित्रता के अभिप्राय को अभिव्यक्त करने के लिये उन्हें भी 'गङ्गा' की ही उपाधि से विभूषित कर देते हैं। महापुराणों में सर्वप्रथम ब्रह्मपुराण (२७.३९) में, भारतवर्ष की नदियों के वर्णन-प्रसङ्ग में 'सर्वाः पुण्याः सरस्वत्यः सर्वा गङ्गाः समुद्रगाः' की उक्ति से यही प्रतीत होता है कि गङ्गा नदी की पवित्रता आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक रहस्य से ओत-प्रोत है। सहस्राब्दियाँ बीत गयीं, किन्तु गङ्गाविषयक भारतीय भावना अपरिवर्तित रही। भारतीय प्रजातन्त्र के आधुनिक युग में भी 'गङ्गे तव दर्शनान्मुक्तिः' की मान्यता में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

(ख) मार्कण्डेयपुराणकार पहले गङ्गा को 'विष्णुपदी' कहता है और उसके बाद उसके त्रिपथगा अथवा 'त्रिपथगामिनी' रूप का वर्णन करता है। गङ्गा त्रिपथ-गामिनी इसलिये है, क्योंकि वह 'भूर्भुवः स्वः' नाम से प्रथित तथा परिगणित तीनों लोकों की पवित्र नदी है। मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय के ५वें श्लोक में वर्णित 'सीता' नाम की गङ्गा की एक धारा आजकल अज्ञात है, किन्तु 'अलकनन्दा' नाम की दूसरी धारा, जिसका ७वें श्लोक में उल्लेख है, आज भी अपने प्राचीन पौराणिक नाम से ही प्रसिद्ध है। गङ्गा के 'भागीरथी' नाम की कथा से आज भी भारतीय जनता परिचित है। महाराज भगीरथ के तपोवल से भारत के विशाल भूभाग पर प्रवाहित होने वाली भागीरथी गङ्गा के सम्बन्ध में एक कल्पना की जाती है कि सम्राट् भगीरथ के अभियन्तृगण (इंजीनियर लोग) ने हिमालय के शृङ्गों को काट-छांट कर गङ्गा को हरिद्वार-कनखल तक पहुँचाया जहाँ से वह समतल भूमि पर प्रवाहित होती हुई बंगाल की खाड़ी में प्रविष्ट हो गयी। इस कल्पना में कुछ सत्यता अवश्य है, जो भगीरथ प्रयत्न से अनुसंधान का एक महत्त्वपूर्ण विषय है।

(ग) ब्रह्मपुराण के ६७वें अध्याय में महर्षि गौतम की आराधना के फलस्वरूप भगवती गङ्गा के अवतरण की कथा आती है। इस सम्बन्ध में ब्रह्मपुराण (अध्याय ६७. श्लोक ८-१३) द्रष्टव्य हैं—

"तद्गौतमवचः श्रुत्वा गङ्गा मेने द्विजेरितम्।
त्रेधाऽत्मानं विभज्याथ स्वर्गमर्त्यरसातले॥

स्वर्गे चतुर्धा व्यगमत् सप्तधा मर्त्यमण्डले।
रसातले चतुर्धैव सैवं पञ्चदशाकृतिः॥

सर्वत्र सर्वभूतैव सर्वपापविनाशिनी।
सर्वकामप्रदा नित्यं सैव वेदे प्रगीयते॥

मर्त्या मर्त्यगतामेव पश्यन्ति न तलं गताम्।
नैव स्वर्गगतां मर्त्याः पश्यन्त्यज्ञानबुद्धयः॥

यावत्सागरगा देवी तावद् देवमयी स्मृता।
उत्सृष्टा गौतमेनैव प्रायात् पूर्वार्णवं प्रति॥

ततो देवर्षिभिर्जुष्टां मातरं जगतः शुभाम्।
गौतमो मुनिशार्दूलः प्रदक्षिणमथाकरोत्॥"

मार्कण्डेयपुराण में गङ्गावतरण की यह कथा नहीं है, किन्तु गङ्गा के 'त्रिपथ-गामिनी' रूप के वर्णन में इस कथा का रहस्य अवश्य प्रतिपादित है।

(घ) वाल्मीकि रामायण (बालकाण्ड ४३.४-१४) में भी गङ्गावतरण का वर्णन है, जो कि निम्नलिखित है—

"ततो हैमवती ज्येष्ठा सर्वलोकनमस्कृता।
तदा साऽतिमहद्रूपं कृत्वा वेगं च दुःसहम्।
आकाशादपतद्राम! शिवे शिवशिरस्युत॥

अचिन्तयच्च सा देवी गङ्गा परमदुर्धरा।
विशाम्यहं हि पातालं स्रोतसा गृह्य शङ्करम्॥

तस्यावलेपनं ज्ञात्वा क्रुद्धस्तु भगवान् हरः।
तिरोभावयितुं बुद्धिं चक्रे त्रिनयनस्तदा॥

सा तस्मिन् पतिता पुण्या पुण्ये रुद्रस्थमूर्धनि।
हिमवत्प्रतिमे राम! जटामण्डलशङ्करे॥

सा कथञ्चिन्महीं गन्तुं नाशक्नोद्यत्नमास्थिता।
नैव सा निर्गमं लेभे जटामण्डलमध्यतः॥

तत्रैवाऽबभ्रद् देवी संवत्सरगणान् बहून्।
तामपश्यत् पुनस्तत्र तपः परममास्थितः॥

स तेन तोषितश्चासीदत्यन्तं रघुनन्दन।
विससर्ज ततो गङ्गां हरो बिन्दुसरः प्रति॥

तस्यां विसृज्यमानायां सप्त स्रोतांसि जज्ञिरे।
ह्लादिनी पावनी चैव नलिनी च तथैव च।
तिस्रः प्राचीं दिशं जग्मुर्गङ्गाः शिवजलाः शुभाः॥

सचक्षुश्चैव सीता च सिन्धुश्चैव महानदी।
तिस्रश्चैता दिशं जग्मुः प्रतीचीं तु दिशं शुभाः॥

सप्तमी चान्वगात्तासां भगीरथमथो नृपम्।"

वाल्मीकि रामायण के उपर्युक्त गङ्गावतरण-सन्दर्भ में गङ्गा की सात धाराओं का जो वर्णन है, उससे मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय के गङ्गावतरण में गङ्गा के सप्तधा प्रवाह (श्लोक ११) के निर्देश को बल मिलता है। चाहे महापुराण हों या आदिकाव्य रामायण हो,—सर्वत्र गङ्गावतरण एक दिव्य रहस्य के रूप में वर्णित है, जिससे गङ्गा की ऐश्वर्य गाथा, जो आजकल गायी जा रही है, प्रमाणित हो जाती है। स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री दिवङ्गत पं० जवाहरलाल नेहरू की गङ्गा के प्रति जो श्रद्धाभक्ति की भावना रही है, जो उनके अन्तकाल में उनकी लेखनी से अभिव्यक्त हुई है, वह

स्वातन्त्र्योत्तर भारत के इतिहास में भगवती गङ्गा की अमर कहानी के रूप में अमर रह जायेगी। पुराणों के भारतीय जन-जीवन पर प्रभाव का इससे और अधिक प्रबल प्रमाण ढूँढ़ना अनावश्यक है।

श्रीमार्कण्डेयपुराण के 'गंगावतार' नामक ५६वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त।

सप्तपञ्चाशोऽध्यायः

क्रौष्टुकिरुवाच—

भगवन् ! कथितन्त्वेतज्जम्बूद्वीपं समासतः ।
यदेतद्भवता प्रोक्तं कर्म नान्यत्र पुण्यदम् ।।१।
पापाय वा महाभाग ! वर्जयित्वा तु भारतम् ।
इतः स्वर्गश्च मोक्षश्च मध्यश्चान्तश्च गम्यते ।।२।
न खल्वन्यत्र मर्त्त्यानां भूमौ कर्म विधीयते ।
तस्माद्विस्तरशो ब्रह्मन् ! ममैतद्भारतं वद ।।३।
ये चास्य भेदा यावन्तो यथावत् स्थितिरेव च ।
वर्षोऽयं द्विजशार्दूल ! ये चास्मिन् देशपर्वताः ।।४।

मार्कण्डेय उवाच—

भारतस्यास्य वर्षस्य नव भेदान्निबोध मे ।
समुद्रान्तरिता ज्ञेयास्ते त्वगम्याः परस्परम् ।।५।
इन्द्रद्वीपः कशेरुमांस्ताम्रवर्णो गभस्तिमान् ।
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गान्धर्वो वारुणस्तथा ।।६।

क्रौष्टुकि ने कहा—

भगवन् ! आपने जम्बूद्वीप का तो संक्षेप में समीचीन वर्णन कर दिया। किन्तु आपने जो यह कहा कि भारतवर्ष को छोड़कर, जम्बूद्वीपान्तर्गत अन्य वर्षों में न तो कोई पुण्यकर्म होते हैं और न पापकर्म और यही भारतवर्ष ऐसा है, जहाँ के निवासी स्वर्ग, मोक्ष तथा जीवन की मध्यावस्था और अन्त्यावस्था के अनुभव करते हैं, क्योंकि भारतवर्ष के अतिरिक्त और किसी भी वर्ष की भूमि में मरणधर्मा मानव के लिये कोई धर्म-कर्म विहित नहीं है। इसलिए मेरा निवेदन है कि हे ब्रह्मवित् गुरुदेव ! मुझे भारतवर्ष के विषय में विस्तारपूर्वक बतावें और यह भी बतावें, द्विजराज ! कि इसके कौन-कौन और कितने प्रदेश-भेद हैं, इसकी कैसी स्थिति है और इसमें कितने देश-पर्वत हैं ।। १-४ ।।

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

ये नव भेद ये हैं--१ ला) इन्द्रद्वीप, २ रा) कशेरुमान्, ३ रा) ताम्रवर्ण, ४ था) गभस्तिमान्, ५ वां) नागद्वीप, ६ठा) सौम्य, ७ वां) गान्धर्व, ८ वां) वारुण और इनमें

अयन्तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः ।
योजनानां सहस्रं वै द्वीपोऽयं दक्षिणोत्तरात् ॥७॥
पूर्वे किराता यस्यान्ते पश्चिमे यवनास्तथा ।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चान्तःस्थिता द्विज ॥८॥
इज्याध्यायवणिज्याद्यैः कर्मभिः कृतपावनाः ।
तेषां संव्यवहारश्च एभिः कर्मभिरिष्यते ॥९॥
स्वर्गापवर्गप्राप्तिश्च पुण्यं पापञ्च वै तदा ।
महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः ॥१०॥
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैवात्र कुलाचलाः ।
तेषां सहस्रशश्चान्ये भूधरा ये समीपगाः ॥११॥
विस्तारोच्छ्रयिणो रम्या विपुलाश्चात्र सानवः ।
कोलाहलः सवैभ्राजो मन्दरो दर्दुराचलः ॥१२॥
वातस्वनो वैद्युतश्च मैनाकः स्वरसस्तथा ।
तुङ्गप्रस्थो नागगिरी रोचनः पाण्डराचलः ॥१३॥
पुष्पो गिरिर्दुर्जयन्तो रैवतोऽर्बुद एव च ।
ऋष्यमूकः सगोमन्तः कूटशैलः कृतस्मरः ॥१४॥

---

९ वां) भारतवर्ष, जो कि एक सागर-संवृत (समुद्र से घिरा) द्वीप है तथा उत्तर से दक्षिण तक एक सहस्र योजन विस्तृत है ॥ ६-७ ॥

इस भारतवर्ष के पूर्वभाग में किरात और पर्वतों पर तथा वनों में बसने वाली असभ्य जातियों के लोग बसे हुए हैं और पश्चिम भाग में यवनों का निवास है। इसके मध्य में द्विजवर क्रौष्टुकि ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र निवास करते हैं, जिनके जीवन यज्ञानुष्ठान, वेदाध्ययन तथा वाणिज्य प्रभृति धर्मकर्म के द्वारा पवित्र हैं, जिनकी जीविका इन्हीं धर्मकर्मों द्वारा चलती हैं और जो स्वर्ग तथा अपवर्ग किंवा पुण्य तथा पाप के भागी होते हैं ॥ ८-१० पूर्वार्द्ध ॥

इस भारतवर्ष में सात कुल पर्वत हैं—१) महेन्द्र, २) मलय, ३) सह्य, ४) शुक्तिमान्, ५) ऋक्ष, ६) विन्ध्य और पारिपात्र (अथवा पारियात्र)। इन कुल-पर्वतों के आसपास सहस्रों पर्वत हैं, जो बहुत लम्बे-चौड़े और ऊँचे हैं, बड़े सुन्दर हैं और ऊँची-ऊचीं चोटियों वाले हैं। इनमें प्रमुख ये हैं— १) कोलाहल, २) वैभ्राज, ३) मन्दर, ४) दर्दुर, ५) वातस्वन, ६) वैद्युत, ७) मैनाक, ८) स्वरस, ९) तुङ्गप्रस्थ, १०) नागगिरि, ११) रोचन, १२ पाण्डर, १३) पुष्पगिरि, १४) दुर्जयन्त, १५) रैवत, १६) अर्बुद, १७) ऋष्यमूक, १८) गोमन्त (अथवा गोमन्तक), १९ कूटशैल, २०) कृतस्मर, २१) श्रीपर्वत,

श्रीपर्वतश्चकोरश्च शतशोऽन्ये च पर्वताः ।
तैर्विमिश्रा जनपदा म्लेच्छाश्चार्य्याश्च भागशः ॥१५॥

तैः पीयन्ते सरित्श्रेष्ठा यास्ताः सम्यङ्निबोध मे ।
गङ्गा सरस्वती सिन्धुश्चन्द्रभागा तथापरा ॥१६॥

यमुना च शतद्रुश्च वितस्तेरावती कुहुः ।
गोमती धूतपापा च बाहुदा सदृशद्वती ॥१७॥

विपाशा देविका रंक्षुर्निश्चीरा गण्डकी तथा ।
कौशिकी चापगा विप्र ! हिमवत्पादनिःसृताः ॥१८॥

वेदस्मृतिर्वेदवती वृत्रघ्नी सिन्धुरेव च ।
वेण्वा सानन्दनी चैव सदानीरा मही तथा ॥१९॥

पारा चर्मण्वती नूपी विदिशा वेत्रवत्यपि ।
शिप्रा ह्यवर्णी च तथा पारियात्राश्रयाः स्मृताः ॥२०॥

शोणो महानदश्चैव नर्मदा सुरथाऽद्रिजा ।
मन्दाकिनी दशार्णा च चित्रकूटा तथापरा ॥२१॥

चित्रोत्पला सतमसा करमोदा पिशाचिका ।
तथान्या पिप्पलिश्रोणिर्विपाशा वञ्जुला नदी ॥२२॥

---

२२) चकोर पर्वत और अन्य सैकड़ों अनेक पर्वत। इन पर्वतों से सटे अनेक जनपद हैं, जिनमें कहीं म्लेच्छजातियों के लोग रहते हैं और कहीं आर्य जाति के लोगों के निवास हैं ॥ १० उत्तरार्द्ध-१५ ॥

ये सब लोग हिमवत्पर्वत से निकलती जिन बड़ी-बड़ी नदियों के जल पिया करते हैं, वे नदियाँ ये हैं—१) गङ्गा, २) सरस्वती, ३) सिन्धु, ४) चन्द्रभागा, ५) यमुना, ६) शतद्रु, ७) वितस्ता, ८) इरावती, ९) कुहु, १०) गोमती, ११) धूतपापा, १२) बाहुदा, १३) दृषद्वती, १४) विपाशा, १५) देविका, १६) रंक्षु, १७) निश्चीरा, १८) गण्डकी और १९) कैशिकी। इनके अतिरिक्त पारियात्र पर्वत से निःसृत नदियाँ ये हैं—१) वेदस्मृति, २) वेदवती, ३) वृत्रघ्नी, ४) सिन्धु, ५) वेण्वा, ६) सानन्दनी, ७) सदानीरा, ८) मही, ९) पारा, १०) चर्मण्वती, ११) नूपी, १२) विदिशा, १३) वेत्रवती, १४) शिप्रा तथा १५) अवर्णी। साथ ही साथ विन्ध्याचल से प्रवाहित होने वाली अन्य नदियाँ हैं, जो ये हैं—१) शोण, २) महानदी, ३) नर्मदा, ४) सुरथा, ५) अद्रिजा, ६) मन्दाकिनी, ७) दशार्णा, ८) चित्रकूटा, ९) चित्रोत्पला, १०) तमसा, ११) करमोदा, १२) पिशाचिका, १३) पिप्पलिश्रोणि, १४) विपाशा, १५) वञ्जुला, १६) सुमेरुजा, १७)

सुमेरुजा शुक्तिमती शकुली त्रिदिवाक्रमुः ।
(विन्ध्य) (स्कन्ध) पादप्रसूता वै तथान्या वेगवाहिनी ॥२३।
शिप्रा पयोष्णी निर्विन्ध्या तापी सनिषधावती ।
वेण्या वैतरणी चैव सिनीवाली कुमुद्वती ॥२४।
करतोया महागौरी दुर्गा चान्तःशिरा तथा ।
(ऋक्ष) (विन्ध्य) पादप्रसूतास्ता नद्यः पुण्यजलाः शुभाः ॥२५।
गोदावरी भीमरथा कृष्णा वेण्या तथापरा ।
तुङ्गभद्रा सुप्रयोगा वाह्या कावेर्यथापगा ॥२६।
(सह्य) (विन्ध्य) पादविनिष्क्रान्ता इत्येताः सरिदुत्तमाः ।
कृतमाला ताम्रपर्णी पुष्पजा सूत्पलावती ॥२७।
मलयाद्रिसमुद्भूता नद्यः शीतजलास्त्विमाः ।
पितृसोमर्षिकुल्या च इक्षुका त्रिदिवा च या ॥२८।
लाङ्गूलिनी वंशकरा महेन्द्रप्रभवाः स्मृताः ।
ऋषिकुल्या कुमारी च मन्दगा मन्दवाहिनी ॥२९।
कृपा पलाशिनी चैव शुक्तिमत्प्रभवाः स्मृताः ।
सर्वाः पुण्याः सरस्वत्यः सर्वा गङ्गाः समुद्रगाः ॥३०।

शुक्तिमती. १८) शकुली, १९) त्रिदिवाक्रमु और २०) वेगवाहिनी। ऋक्ष पर्वत से विनिःसृत पुण्यसलिला तथा जनमङ्गलकारिणी नदियाँ ये हैं—१) शिप्रा, २) पयोष्णी, ३) निर्विन्ध्या, ४) तापी, ५) निषधावती, ६) वेण्या, ७) वैतरणी, ८) सिनीवाली, ९) कुमुद्वती, १०) करतोया, ११) महागौरी, १२) दुर्गा तथा १३) अन्तःशिरा ॥ १६-२५ ॥

सह्याद्रि से निकलने वाली नदियाँ १) गोदावरी, २) भीमरथा, ३) कृष्णा, ४) वेण्या, ५) तुङ्गभद्रा, ६) सुप्रयोगा, ७) बाह्या और ८) कावेरी हैं, जो कि बड़ी अच्छी नदियाँ हैं। मलयाद्रि से निःसृत नदियाँ १) कृतमाला, २) ताम्रपर्णी, ३) पुष्पजा और ४) सूत्पलावती (सुन्दर उत्पलावती) हैं, जिनका जल बड़ा शीतल होता है। महेन्द्र पर्वत से प्रवाहित होने वाली १ली) पितृसोमा, २री) ऋषिकुल्या, ३री) इक्षुका, ४थी) त्रिदिवा, ५वीं) लाङ्गलिनी, और ६ठी) वंशकरा नाम की नदियाँ हैं। जो नदियाँ शुक्तिमत् पर्वत से समुद्भूत होती हैं, उनके नाम १) ऋषिकुल्या, २) कुमारी, ३) मन्दगा, ४) मन्द-वाहिनी, ५) कृपा तथा ६) पलाशिनी हैं। ये ऊपर परिगणित सभी नदियाँ बड़ी पवित्र हैं, सदा जल से भरी रहती हैं, (एक शब्द में) सभी गङ्गा की विभूतियाँ हैं और समुद्र

विश्वस्य मातरः सर्वाः सर्वपापहराः स्मृताः ।
अन्याः सहस्रशश्चोक्ताः क्षुद्रनद्यो द्विजोत्तम ।।३१।
प्रावृट्कालवहाः सन्ति सदाकालवहाश्च याः ।
मत्स्याश्वकूटाः कुल्याश्च कुन्तलाः काशिकोशलाः ।।३२।
अथर्वाश्चार्कलिङ्गाश्च मलकाश्च वृकैः सह ।
मध्यदेश्या जनपदाः प्रायशोऽमी प्रकीर्त्तिताः ।।३३।
सह्यस्य चोत्तरे या तु यत्र गोदावरी नदी ।
पृथिव्यामपि कृत्स्नायां स प्रदेशो मनोरमः ।।३४।
गोवर्द्धनं पुरं रम्यं भार्गवस्य महात्मनः ।
वाह्लीका वाटधानाश्च आभीराः कालतोयकाः ।।३५।
अपरान्ताश्च शूद्राश्च पल्लवाश्चर्मखण्डिकाः ।
गान्धारा गबलाश्चैव सिन्धुसौवीरमद्रकाः ।।३६।
शतद्रुजाः कलिङ्गाश्च पारदा हारमूषिकाः ।
माठरा बहुभद्राश्च कैकेया दशमालिकाः ।।३७।
क्षत्रियोपनिवेशाश्च वैश्यशूद्रकुलानि च ।
काम्बोजा दरदाश्चैव वर्बरा हर्षवर्द्धनाः ।।३८।

तक जाने वाली हैं। इन्हें उपर्युक्त जनपदों के समस्त निवासियों की जननी और उनके समस्त पाप-संताप के हरण में समर्थ माना जाता है। द्विजवर क्रौष्टुकि! इन बड़ी-बड़ी नदियों के अतिरिक्त भी सहस्रों छोटी-छोटी नदियाँ हैं, जिनमें कुछ तो वर्षाकाल में प्रवाहपूर्ण रहती हैं और कुछ सदा प्रवाहित हुआ करती हैं ।।२६-३२ पूर्वार्द्ध ।।

भारतवर्ष के प्रायः मध्यभागवर्ती जो जनपद हैं, उनमें मत्स्यदेश, कूट, कुल्य, कुन्तल, काशी, कोशल, अथर्व, अर्कलिङ्ग, मलक तथा वृक—ये १० माने जाते हैं ।। ३२ उत्तरार्द्ध-३३ ।।

सह्याद्रि के उत्तरभाग में, जहाँ गोदावरी नदी बहती है, जो प्रदेश हैं, वे पृथिवी भर में मनोहर हैं। वहाँ गोवर्धन नामक नगर है, जो कि भृगुवंशी ऋषि-महर्षियों का निवेश है ।। ३४-३५ पूर्वार्द्ध ।।

भारत के उत्तरदिग्वर्ती देशों के निवासी ये लोग हैं – १) वाह्लीक, २) वाटधान, ३) आभीर, ४) कालतोयक, ५) अपरान्त, ६) शूद्र, ७) पल्लव, ८) चर्मखण्डिक, ९) गान्धार, १०) गवल, ११) सिन्धु, १२) सौवीर, १३) मद्रक, १४) शतद्रुज, १५) कलिङ्ग, १६) पारद, १७) हारमूषिक, १८) माठर, १९) बहुभद्र, २०) कैकेय, २१) दशमालिक, २२) क्षत्रिय उपनिवेश के निवासी, २३) वैश्य तथा शूद्र वंशज, २४) काम्बोज, २५) दरद, २६) वर्वर, २७) हर्षवर्द्धन, २८) चीनदेशज, २९) तुखार, ३०) अनेक बाहरी

चीनाश्चैव तुखाराश्च बहुला बाह्यतोनराः ।
आत्रेयाश्च भरद्वाजाः पुष्कलाश्च कशेरुकाः ॥३९॥
लम्पाकाः शूलकाराश्च चूलिका जागुडैः सह ।
औषधाश्चानिमद्राश्च किरातानाञ्च जातयः ॥४०॥
तामसा हंसमार्गाश्च काश्मीरास्तुङ्गनास्तथा ।
शूलिकाः कुहकाश्चैव ऊर्णा दर्वास्तथैव च ॥४१॥
एते देशा ह्युदीच्यास्तु प्राच्यान्देशान्निबोध मे ।
अध्रारका मुदकरा अन्तर्गिर्य्या बहिर्गिराः ॥४२॥
यथा प्रवङ्गा रङ्गेया मानदा मानवर्त्तिकाः ।
ब्राह्मोत्तराः प्रविजया भार्गवा ज्ञेयमल्लकाः ॥४३॥
प्राग्ज्योतिषाश्च मद्राश्च विदेहास्ताम्रलिप्तकाः ।
मल्ला मगधगोमन्ताः प्राच्या जनपदाः स्मृताः ॥४४॥
अथापरे जनपदा दक्षिणापथवासिनः ।
पुण्ड्राश्च केवलाश्चैव गोलाङ्गूलास्तथैव च ॥४५॥
शैलूषा मूषिकाश्चैव कुसुमा नामवासकाः ।
महाराष्ट्रा माहिषका कलिङ्गाश्चैव सर्वशः ॥४६॥
आभीराः सह वैशिक्या आढक्याः शबराश्च ये ।
पुलिन्दा विन्ध्यमौलेया वैदर्भा दण्डकैः सह ॥४७॥

वैदेशिक, ३१) आत्रेय, ३२) भरद्वाज, ३३) पुष्कल, ३४) कशेरुक, ३५) लम्पाक, ३६) शूलकार, ३७) चूलिक, ३८) जागुड, ३९) औषध, ४०) अनिमद्र, ४१) विविध जातियों के किरात, ४२) तामस, ४३) हंसमार्ग, ४४) काश्मीरी, ४५) तुङ्गन, ४६) शूलिक, ४७) कुहक, ४८) ऊर्ण और ४९) दर्व। इसी भाँति मुझसे भारत के पूर्वदिग्वर्ती लोगों के जनपदों के विषय में जान लो, जो कि ये हैं—१) अध्रारक, २) मुदकर, ३) अन्तर्गिर्य, ४) बहिर्गिर, ५) प्रवङ्ग, ६) रङ्गेय, ७) मानद, ८) मानवर्तिक, ९) ब्राह्मोत्तर, १०) प्रविजय, ११) भार्गव, १२) ज्ञेयमल्लक, १३) प्राग्ज्योतिष, १४) मद्र, १५) विदेह, १६) ताम्रलिप्तक, १७) मल्ल, १८) मगध तथा १९) गोमन्त ॥ ३५ उत्तरार्द्ध-४४ ॥

दक्षिणापथ में परिगणित जनपद, जहाँ के लोग दाक्षिणात्य कहलाते हैं, ये हैं—१) पुण्ड्र, २) केवल, ३) गोलाङ्गूल, ४) शैलूष, ५) मूषिक, ६) कुसुम, ७) नामवासक, ८) महाराष्ट्र, ९) माहिषक, १०) समस्त कलिङ्ग, ११) आभीर, १२) वैशिक्य, १३) आढक्य, १४) शवर, १५) पुलिन्द, १६) विन्ध्यमौलेय, १७) वैदर्भ, १८) दण्डक, १९)

पौरिका मौलिकाश्चैव अश्मका भोगवर्द्धनाः ।
नैषिकाः कुन्तला अन्धा उद्भिदा वनदारकाः ॥४८॥
दाक्षिणात्यास्त्वमी देशा अपरान्तान् निबोध मे ।
सूर्पारकाः कालिबला दुर्गाश्चानीकटैः सह ॥४९॥
पुलिन्दाश्च सुमीनाश्च रूपपाः स्वापदैः सह ।
तथा कुरुमिनश्चैव सर्वे चैव कठाक्षराः ॥५०॥
नासिक्यावाश्च ये चान्ये ये चैवोत्तरनर्म्मदाः ।
भीरुकच्छाः समाहेयाः सह सारस्वतैरपि ॥५१॥
काश्मीराश्च सुराष्ट्राश्च अवन्त्याश्चार्बुदैः सह ।
इत्येते ह्यपरान्ताश्च श्रृणु विन्ध्यनिवासिनः ॥५२॥
सरजाश्च करूषाश्च केरलाश्चोत्कलैः सह ।
उत्तमर्णा दशार्णाश्च भोज्याः किष्किन्धकैः सह ॥५३॥
तोशलाः कोशलाश्चैव त्रैपुरा वैदिशास्तथा ।
तुम्बुरास्तुम्बुलाश्चैव पटवो नैषधैः सह ॥५४॥
अन्नजास्तुष्टिकाराश्च वीरहोत्रा ह्यवन्तयः ।
एते जनपदाः सर्वे विन्ध्यपृष्ठनिवासिनः ॥५५॥
अतो देशान् प्रवक्ष्यामि पर्वताश्रयिणश्च ये ।
नीहारा हंसमार्गाश्च कुरवो गुर्गणाः खसाः ॥५६॥

पौरिक, २०) मौलिक, २१) अश्मक, २२) भोगवर्द्धन, २३) नैषिक, २४) कुन्तल, २५) अन्ध, २६) उद्भिद और २७) वनदारक । अब अपरान्त अथवा पश्चिमदिग्वर्ती जनपदों और उनके निवासियों के विषय में जान लो, जो कि ये हैं—१) सूर्पारक, २) कालिबल, ३) दुर्ग, ४) आनीकट, ५) पुलिन्द, ६) सुमीन, ७) रूपप, ८) स्वापद, ९) कुरुमिन, १०) समस्त कठाक्षर, ११) नासिक्यावस, १२) उत्तर नर्मदानिवेश, १३) भीरुकच्छ, १४) माहेय, १५) सारस्वत, १६) काश्मीर, १७) सुराष्ट्र, १८) आवन्त्य तथा १९) अर्बुद । अब विन्ध्य के जनपदों और विन्ध्यपर्वत पर निवास करने वाले लोगों के विषय में सुन लो, जो कि ये हैं—१) सरज, २) करूष, ३) केरल, ४, उत्कल, ५) उत्तमर्ण, ६) दशार्ण, ७) भोज्य, ८) किष्किन्धक, ९), तोशल, १०) कौशल, ११) त्रैपुर, १२) वैदिश, १३) तुम्बुर, १४) तुम्बुल, १५) पट्ठ, १६) नैषध, १७) अन्नज, १८) तुष्टिकार, १९) वीरहोत्र और २०) आवन्त्य ॥ ४५-५५ ॥

इनके अतिरिक्त, पर्वतों पर निविष्ट जनपदों के विषय में बता रहा हूँ। वे ये हैं—१) नीहार, २) हंसमार्ग, ३) कुरु, ४) गुर्गण, ५) खस, ६) कुन्तप्रावरण, ७) ऊर्ण,

कुन्तप्रावरणाश्चैव ऊर्णा दार्वाः सकृत्नकाः ।
त्रिगर्त्ता गालवाश्चैव किरातास्तामसैः सह ॥५७॥
कृतत्रेतादिकश्चात्र चतुर्युगकृतो विधिः ।
एतत्तु भारतं वर्षं चतुःसंस्थानसंस्थितम् ॥५८॥
दक्षिणापरतो ह्यस्य पूर्वेण च महोदधिः ।
हिमवानुत्तरेणास्य कार्मुकस्य यथा गुणः ॥५९॥
तदेतद् भारतं वर्षं सर्वबीजं द्विजोत्तम ।
ब्रह्मत्वममरेशत्वं देवत्वं मरुतस्तथा ॥६०॥
मृगपश्वप्सरोयोनिस्तद्वत् सर्वे सरीसृपाः ।
स्थावराणाञ्च सर्वेषामितो ब्रह्मन् ! शुभाशुभैः ॥६१॥
प्रयाति कर्मभूर्ब्रह्मन् ! नान्या लोकेषु विद्यते ।
देवानामपि विप्रर्षे ! सदा एष मनोरथः ॥६२॥
अपि मानुष्यमाप्स्यामो देवत्वात् प्रच्युताः क्षितौ ।
मनुष्यः कुरुते तत्तु यन्न शक्यं सुरासुरैः ॥६३॥
तत्कर्मनिगडग्रस्तैः स्वकर्मख्यापनोत्सुकैः ।
न किञ्चित् क्रियते कर्म सुखलेशोपबृंहितैः ॥६४॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे 'नद्यादिवर्णनं' नाम सप्तपञ्चाशोऽध्यायः ।

---

८) दार्व, ९) कृत्रक, १०) त्रिगर्त, ११) गालव, १२) किरात और १३) तामस। इस ऊपर निर्दिष्ट भारतवर्ष में सत्ययुग प्रभृति चतुर्युग के धर्म-कर्म प्रचलित हैं और यह महादेश चार संस्थानों में सुव्यवस्थित है ॥ ५६-५८ ॥

इस भारत के दक्षिण, पश्चिम और पूर्वदिग्भाग में महासमुद्र हैं और उत्तर दिशा में हिमवान् पर्वत है, जो कि धनुष की चढ़ी प्रत्यञ्चा की भाँति दिखायी देता है। यही है भारतवर्ष जो कि द्विजवर क्रौष्टुकि ! समस्त धर्म-कर्म का बीज है, क्योंकि यही कर्मभूमि है, जहाँ के लोग अपने शुभाशुभ कर्मों के द्वारा ब्रह्मपद, इन्द्रपद, देवपद, मरुत्पद और मृगयोनि, पशुयोनि, देवाङ्गनायोनि, सरीसृपयोनि, किंवा स्थावरयोनि प्राप्त कर सकते हैं। द्विजवर क्रौष्टुकि ! इस भूगोल में भारतवर्ष को छोड़कर और कोई वर्ष 'कर्मभूमि' नहीं है। विप्रवर क्रौष्टुकि ! देववृन्द भी यह कामना करते हैं कि द्युलोक से भूलोक पर आकर भारत में मनुष्ययोनि में जन्म लें, क्योंकि मनुष्य ही वे कार्य कर सकते हैं, जो सुर असुर नहीं कर सकते, क्योंकि जो असुर हैं वे अपने पापकर्मों की बेड़ियों में जकड़े हुए हैं और अपने बलवीर्य के दम्भ भरने वाले हैं और जो सुर हैं वे सुरलोक के सुखलेश के भोग का अहंकार रखते हैं ॥ ५९-६४ ॥

पर्यालोचन

(क) इस अध्याय में मार्कण्डेयपुराणकार ने भारतवर्ष के नव भेदों का वर्णन करके, उसकी नदियों और उन नदियों से उपकृत जनपदों का विशद वर्णन किया है। मार्कण्डेयपुराण से प्राचीन ब्रह्मपुराण भी (अध्याय २७ श्लोक १४-७२) नवसंस्थान संस्थित भारतवर्ष और उसमें बिछे नदी-जाल तथा जनपद-समूह का वर्णन करता है, जो कि उसकी निम्नाङ्कित पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

"शृणुध्वं भारतं वर्षं नवभेदेन भो द्विजाः।
समुद्रान्तरिता ज्ञेयास्ते समाश्च परस्परम् ॥
समुद्रद्वीपः कशेरुश्च ताम्रपर्णो गभस्तिमान्।
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गान्धर्वो वारुणस्तथा ॥
अयन्तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः।
योजनानां सहस्रं वै द्वीपोऽयं दक्षिणोत्तरः ॥
पूर्वे किराता यस्यासन् पश्चिमे यवनास्तथा।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या शूद्राश्चान्ते स्थिता द्विजाः ॥
इज्यायुद्धवणिज्याद्यैः कर्मभिः कृतपावनाः।
तेषां संव्यवहारश्च एभिः कर्मभिरिष्यते ॥
स्वर्गापवर्गहेतुश्च पुण्यं पापं च वै तथा।
महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः ॥
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैवात्र कुलाचलाः।
तेषां सहस्रशश्चान्ये भूधरा ये समीपगाः ॥
विस्तारोच्छ्रयिणो रम्या विपुलाश्चित्रसानवः।
कोलाहलः सवैभ्राजो मन्दरो दर्दुराचलः ॥
वातन्धयो वैद्युतश्च मैनाकः सुरसस्तथा।
तुङ्गप्रस्थो नागगिरिर्गोधनः पाण्डराचलः ॥
पुष्पगिरिर्वैजयन्तो रैवतोऽर्बुद एव च।
ऋष्यमूकः स गोमन्तः कृतशैलः कृताचलः ॥
श्रीपर्वतश्चकोरश्च शतशोऽन्ये च पर्वताः।
तैर्विमिश्रा जनपदा म्लेच्छाद्याश्चैव भागशः ॥
तैः पीयन्ते सरिच्छ्रेष्ठास्ता बुध्वध्वं द्विजोत्तमाः।
गङ्गा सरस्वती सिन्धुश्चन्द्रभागा तथा परा ॥
यमुना शतद्रुर्विपाशा वितस्तैरावती कुहूः।
गोमती धूतपापा च वाहुदा च दृषद्वती ॥
विपाशा देविका चक्षुर्निष्ठीवा गण्डकी तथा।
कौशिकी चापगा चैव हिमवत्पादनिःसृता ॥
देवस्मृतिर्देववती वातघ्नी सिन्धुरेव च।
वेण्या तु चन्दना चैव सदानीरा मही तथा ॥

चर्मण्वती वृषी चैव विदिशा वेदवत्यपि ।
सिप्रा ह्यवन्ती च तथा पारियात्रानुगाः स्मृताः ॥
शोणा महानदी चैव नर्मदा सुरथा क्रिया ।
मन्दाकिनी दशार्णा च चित्रकूटा तथापरा ॥
चित्रोत्पला वेत्रवती करमोदा पिशाचिका ।
तथान्यातिलघुश्रोणी विपाप्मा शैवला नदी ॥
सघेरुजा शक्तिमती शकुनी त्रिदिवा क्रमुः ।
ऋक्षपादप्रसूता वै तथान्या वेगवाहिनी ॥
सिप्रा पयोष्णी निर्विन्ध्या तापी चैव सरिद्वरा ।
वेणा वैतरणी चैव सिनीवाली कुमुद्वती ॥
तोया चैव महागौरी दुर्गा चान्तःशिला तथा ।
विन्ध्यपादप्रसूतास्ता नद्यः पुण्यजलाः शुभाः ॥
गोदावरी भीमरथी कृष्णवेणा तथापगा ।
तुङ्गभद्रा सुप्रयोगा तथान्या पापनाशिनी ॥
सह्यपादविनिष्क्रान्ता इत्येताः सरितां वराः ।
कृतमाला ताम्रपर्णी पुष्पजा प्रत्यलावती ॥
मलयाद्रिसमुद्भूताः पुण्याः शीतजलास्त्विमाः ।
पितृसोमर्षिकुल्या च वञ्जुला त्रिदिवा च या ॥
लाङ्गूलिनी वंशकरा महेन्द्रप्रभवाः स्मृताः ।
सुविकाला कुमारी च मनूगा मन्दगामिनी ॥
क्षयापलासिनी चैव शुक्तिमत्प्रभवाः स्मृताः ।
सर्वाः पुण्याः सरस्वत्यः सर्वा गङ्गाः समुद्रगाः ॥
विश्वस्य मातरः सर्वाः सर्वाः पापहराः स्मृताः ।
अन्याः सहस्रशः प्रोक्ताः क्षुद्रनद्यो द्विजोत्तमाः ॥
प्रावृट्कालवहाः सन्ति सदाकालवहाश्च याः ।
मत्स्याः मुकुटकुल्याश्च कुन्तलाः काशिकोशलाः ॥
अन्धकाश्च कलिङ्गाश्च शमकाश्च वृकैः सह ।
मध्यदेशा जनपदा प्रायशोऽमी प्रकीर्तिताः ॥
सह्यस्य चोत्तरे यस्तु यत्र गोदावरी नदी ।
पृथिव्यामपि कृत्स्नायां स प्रदेशो मनोरमः ॥
गोवर्धनपुरं रम्यं भार्गवस्य महात्मनः ।
वाहीका वाटधानाश्च सुतीराः कालतोयदाः ॥
अपरान्ताश्च शूद्राश्च वाह्लिकाश्च सकेरलाः ।
गान्धारा यवनाश्चैव सिन्धुसौवीरमद्रकाः ॥
शतद्रुहाः कलिङ्गाश्च पारदा हारभूषिकाः ।
माठराश्चैव कनकाः कैकेया दम्भमालिकाः ॥

क्षत्रियोपमदेशाश्च वैश्यशूद्रकुलानि च।
काम्बोजाश्चैव विप्रेन्द्रा वर्वराश्च सलौकिकाः ॥
वीराश्चैव तुषाराश्च पह्लवाधायता नराः।
आत्रेयाश्च भरद्वाज पुष्कलाश्च दशेरकाः ॥
लम्पकाः शुनः शोकाश्च कुलिका जङ्गलैः सह।
औषध्यश्चलचन्द्राश्च किरातानां च जातयः ॥
तोमरा हंसमार्गाश्च काश्मीराः करुणास्तथा।
शूलिकाः कुहकाश्चैव मागधाश्च तथैव च ॥
एते देशा उदीच्यास्तु प्राच्यान् देशान् निबोधत।
अन्धा वामङ्कुराकाश्च वल्लकाश्च मखान्तकाः ॥
तथापरेऽङ्गा वङ्गाश्च मलदा मालवर्तिकाः।
भद्रतुङ्गाः प्रतिजया भार्याङ्गाश्चापमर्दकाः ॥
प्राग्ज्योतिषाश्च मद्राश्च विदेहास्ताम्रलिप्तकाः।
मल्ला मगधका नन्दाः प्राच्या जनपदास्तथा ॥

तथापरे जनपदा दक्षिणापथवासिनः।
पूर्णाश्च केवलाश्चैव गोलाङ्गूलास्तथैव च ॥
ऋषिका मुषिकाश्चैव कुमारा रामठाः शकाः।
महाराष्ट्रा माहिषकाः कलिङ्गाश्चैव सर्वशः ॥
आभीराः सह वैशिक्या अटव्या सरवाश्च ये।
पुलिन्दाश्चैव मौलेया वैदर्भा दण्डकैः सह ॥
पौलिकाः मौलिकाश्चैव अश्मका भोजवर्द्धनाः।
कौलिकाः कुन्तलाश्चैव दम्भका नीलकालकाः ॥

दाक्षिणात्यास्त्वमी देशा अपरान्तान्निबोधत।
शूर्पारकाः कालिधना लोलास्तालकटैः सह ॥
इत्येते ह्यपरान्ताश्च शृणुध्वं विन्ध्यवासिनः।
मलजाः कर्कशाश्चैव मेलकाश्चोलकैः सह ॥
उत्तमार्णा दशार्णाश्च भोजाः किष्किन्धकैः सह।
तोषलाः कोशलाश्चैव त्रैपुरा वैदिशास्तथा ॥
तुम्बुरास्तु चराश्चैव यवनाः पवनैः सह।
अभया रुण्डिकेराश्च चर्चरा होत्रधर्तयः ॥
एते जनपदाः सर्वे तत्र विन्ध्यनिवासिनः।
अतो देशान् प्रवक्ष्यामि पर्वताश्रयिणश्च ये ॥
नीहारास्तुषमार्गाश्च कुरवस्तङ्गणाः ख साः।
कर्णप्रावरणाश्चैव ऊर्णा दर्वाः सकुन्तकाः ॥
चित्रमार्गा मालवाश्च किरातास्तोमरैः सह।
कृतत्रेतादिकश्चात्र चतुर्युगकृतो विधिः ॥

एवं तु भारतं वर्षं नवसंस्थानसंस्थितम् ।
दक्षिणे परतो यस्य पूर्वे चैव महोदधिः ॥
हिमवानुत्तरेणास्य कार्मुकस्य यथा गुणः ।
तदेतद् भारतं वर्षं सर्वबीजं द्विजोत्तमाः ॥
ब्रह्मत्वममरेशत्वं देवत्वं मरुतां तथा ।
मृगयक्षाप्सरोयोनिं तद्वत् सर्पसरीसृपाः ॥
स्थावराणाञ्च सर्वेषामितो विप्राः शुभाशुभैः ।
प्रयान्ति कर्मभूर्विप्रा नान्या लोकेषु विद्यते ॥
देवानामपि भो विप्राः सर्वदैव मनोरथः ।
अपि मानुष्यमाप्स्यामो देवत्वात् प्रच्युताः क्षितौ ॥
मनुष्यः कुरुते यत्तु तन्न शक्यं सुरासुरैः ।
तत्कर्मनिगडग्रस्तैस्तत्कर्मक्षपणोन्मुखैः ॥
न भारतसमं वर्षं पृथिव्यामस्ति भो द्विजाः ।
यत्र विप्रादयो वर्णाः प्राप्नुवन्त्यभिवाञ्छितम् ॥
धन्यास्ते भारते वर्षे जायन्ते ये नरोत्तमाः ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राप्नुवन्ति महाफलम् ॥"

मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय के अनेकों श्लोक ब्रह्मपुराण के उपर्युक्त भारतवर्ष-वर्णन विषयक श्लोकों से शब्दार्थ-साम्य रखते दिखायी देते हैं। ब्रह्मपुराण में 'नवसंस्थानसंस्थित' भारतवर्ष मार्कण्डेयपुराण में 'चतुःसंस्थानसंस्थित' निर्दिष्ट किया गया है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि मार्कण्डेयपुराणकार ने ब्रह्मपुराण के ९ संस्थानों को पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण—इन चार दिशाओं में विभक्त कर दिया है। पौराणिक युग के भारतनिवासी भारतवर्ष की महिमा का गान गाते रहे हैं; भारतवर्ष के किसी साम्राज्य-प्रशासक का गुणगान उनके कण्ठ से नहीं निकला है। प्राचीन पौराणिक युग में भारतवर्ष भूलोग का स्वर्ग माना जाता रहा है और धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप चतुर्विध पुरुषार्थों की प्राप्ति का एकमात्र क्षेत्र समझा जाता रहा है। आज भारत में देशप्रेम की शिक्षा दी जाती है, किन्तु पौराणिक युग में देशप्रेम भारत के कण-कण में व्याप्त प्रतीत होता है।

(ख) श्रीपार्जिटर ने इस अध्याय के अंग्रेजी अनुवाद में भारतीय नदियों तथा जनपदों के विषय में पर्याप्त चर्चा की है। उनकी चर्चा प्रामाणिक है। यह अलग बात है कि मार्कण्डेयपुराणकार द्वारा वर्णित प्रत्येक नदी और प्रत्येक जनपद को आजकल के भारत के भूगोल में हम नहीं पहचान सकते। बड़ी-बड़ी नदियाँ और बड़े-बड़े जनपद तो आज भी अपने प्राचीन नामों से अभिज्ञात हैं। जिन नदियों और जनपदों को आज हम नहीं पहचान सकते, वे आज भी हैं, किन्तु उनके नाम बदल चुके हैं और यह भी संभव है कि कालविपर्यय के कारण उनमें अनेकों का अस्तित्व भी अतीत के गर्त में गिर कर लुप्त हो गया है।

श्रीमार्कण्डेयपुराण के 'नद्यादिवर्णन' नामक ५७वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त।

अष्टपञ्चाशोऽध्यायः

क्रौष्टुकिरुवाच—

भगवन् ! कथितं सम्यक् भवता भारतं मम ।
सरितः पर्वता देशा ये च तत्र वसन्ति वै ।।१।
किन्तु कूर्मस्त्वया पूर्वं भारते भगवान् हरिः ।
कथितस्तस्य संस्थानं श्रोतुमिच्छाम्यशेषतः ।।२।
कथं स संस्थितो देवः कूर्मरूपी जनार्दनः ।
शुभाशुभं मनुष्याणां व्यज्यते च ततः कथम् ।
यथामुखं यथापादन्तस्य तद् ब्रूह्यशेषतः ।।३।

मार्कण्डेय उवाच—

प्राङ्मुखो भगवान् ! देवः कूर्मरूपी व्यवस्थितः ।
आक्रम्य भारतं वर्षं नवभेदमिदं द्विज ।।४।
नवधा संस्थितान्यस्य नक्षत्राणि समन्ततः ।
विषयाश्च द्विजश्रेष्ठ ! ये सम्यक् तान्निबोध मे ।।५।

क्रौष्टुकि ने कहा—

भगवन् ! आपने भारतवर्ष और उसमें अवस्थित नदियों, पर्वत-श्रेणियों, जनपदों तथा उनके निवासियों के विषय में मुझे अच्छी तरह बता दिया। किन्तु आपने पहले जो यह कहा था कि भगवान् विष्णु कूर्मरूप में भारतवर्ष में विराजमान रहते हैं, इसलिए उनके संस्थान के सम्बन्ध में मैं आपसे सब कुछ सुनना चाहता हूँ। जनार्दन भगवान् विष्णु किस प्रकार कूर्मरूप में भारतवर्ष में विराजमान हैं ? उनके इस रूप में विराजमान होने से भारतवर्ष के निवासियों का किस प्रकार शुभ और अशुभ सूचित होता है ? उनका मुख किस ओर रहता है और चरण किस ओर होता है ? इन विषयों के सम्बन्ध में अब आप मुझे सब कुछ बताने की कृपा करें ॥ १-३ ॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

द्विजवर क्रौष्टुकि ! भगवान् विष्णु पूर्वदिग्भाग की ओर अपना मुख किये कूर्मरूप से इस नवभेदात्मक भारतवर्ष की भूमि पर अवस्थित हैं। द्विजवर ! इनके चारों ओर नौ प्रकार से व्यवस्थित जो-जो ग्रह-नक्षत्र और जो-जो विषय (जनपद) हैं, उनके विषय में मुझसें अच्छी तरह से जान लो। प्रियवर क्रौष्टुकि ! कूर्मरूपी भगवान् विष्णु तो जल के मध्य में निवास करते हैं और उनके शरीर के मध्य भाग पर जो जनपद और उनके

वेदमन्त्रा विमाण्डव्याः शाल्वनीपास्तथा शकाः ।
उज्जिहानास्तथा वत्स ! घोषसंख्यास्तथा खसाः ॥६॥

मध्ये सारस्वता मत्स्याः शूरसेनाः समाथुराः ।
धर्म्मारण्या ज्योतिषिका गौरग्रीवा गुडाश्मकाः ॥७॥

कालकोटिसपाषण्डाः पारियात्रनिवासिनः ।
कापिङ्गलाः कुरुर्बाह्यास्तथैवोडुम्बरा जनाः ॥८॥

वैदेहकाः सपाञ्चालाः संकेताः कङ्कमारुताः ।
गजाह्वयाश्च कूर्मस्य जलमध्यनिवासिनः ॥९॥

कृत्तिका रोहिणी सौम्या एतेषां मध्यवासिनाम् ।
नक्षत्रत्रितयं विप्र ! शुभाशुभविपाकदम् ॥१०॥

वृषध्वजोऽञ्जनश्चैव जम्ब्वाख्यो मानवाचलः ।
शूर्पकर्णो व्याघ्रमुखः खर्मकः कर्व्वटाशनः ॥११॥

तथा चन्द्रेश्वराश्चैव खशाश्च मगधास्तथा ।
गिरयो मैथिलाः शुभ्रास्तथा वदनदन्तुराः ॥१२॥

प्राग्ज्योतिषाः सलौहित्याः सामुद्राः पुरुषादकाः ।
पूर्णोत्कटो भद्रगौरस्तथोदयगिरिर्द्विज ! ॥१३॥

कशाया मेखलामुष्टास्ताम्रलिप्तैकपादपाः ।
वर्द्धमाना कोशलाश्च मुखे कूर्मस्य संस्थिताः ॥१४॥

निवासी अवस्थित हैं, वे ये हैं—१) वेदमन्त्र, २) विमाण्डव्य, ३) शाल्व, ४) नीप, ५) शक, ६) उज्जिहान, ७) घोषसंख्य, ८) खस, ९) सारस्वत, १०) मत्स्य, ११) शूरसेन, १२) माथुर, १३) धर्मारण्य, १४) ज्योतिषिक, १५) गौरग्रीव, १६) गुड, १७) अश्मक, १८) वैदेहक, १९) पाञ्चाल, २०) संकेत, २१) कङ्क, २२) मारुत, २३) कालकोटि, २४) पाषण्ड, २५) पारिपात्रक (पारिपात्र या पारियात्र के निवासी), २६) कापिङ्गल, २७) कुरुर्बाह्य, २८) औडुम्बर और २९) गजाह्वय। द्विजवर ! कूर्मरूपी भगवान् विष्णु के शरीर के मध्यभाग पर निवास करने वाले इन जनपदों और उनके निवासियों के शुभाशुभ फलों के संसूचक तीन नक्षत्र अर्थात् १) कृत्तिका, २) रोहिणी और सौम्या (मृगशिरा) हैं। इसी प्रकार कूर्मरूपधारी विष्णु भगवान् के मुखभाग पर अवस्थित जो पर्वत-जनपद और उनके निवासी जनलोक हैं, वे ये हैं—१) वृषध्वज, २) अञ्जन, ३) जम्बू, ४) मानवाचल, ५) शूर्पकर्ण, ६) व्याघ्रमुख, ७) खर्मक, ८) कर्वटाशन, ९) चन्द्रेश्वर, १०) खस (खश), ११) मगध, १२) गिरि, १३) मैथिल, १४) शुभ्र, १५) वदनदन्तुर, १६) प्राग्ज्योतिष, १७) लौहित्य, १८) मानवमांसभक्षक समुद्रतटीय, १९) पूर्णोत्कट, २०) भद्रगौर, २१) उदयगिरि, २२) कशाय, २३) मेखलामुष्ट, २४) ताम्रलिप्तक, २५) एकपादप, २६) वर्द्धमान और २७) कौशल ॥ ४-१४ ॥

रौद्रः पुनर्व्वसुः पुष्यो नक्षत्रत्रितयं मुखे ।
पादे तु दक्षिणे देशाः क्रौष्टुके वदतः शृणु ॥१५॥
कलिङ्गवङ्गजठराः कोशला मूषिकास्तथा ।
चेदयश्चोद्ध्र्वकर्णाश्च मत्स्याद्या विन्ध्यवासिनः ॥१६।
विदर्भा नारिकेलाश्च धर्मद्वीपास्तथैलिकाः ।
व्याघ्रग्रीवा महाग्रीवास्त्रैपुराः श्मश्रुधारिणः ॥१७।
कैष्किन्ध्या हैमकूटाश्च निषधाः कटकस्थलाः ।
दशार्णाहारिका नग्ना निषादाः काकुलालकाः ॥१८।
तथैव पर्णशबराः पादे वै पूर्वदक्षिणे ।
आश्लेषर्क्षं तथा पैत्र्यं फाल्गुण्यः प्रथमास्तथा ॥१९।
नक्षत्रत्रितयं पादमाश्रितं पूर्वदक्षिणम् ।
लङ्का कालाजिनाश्चैव शैलिका निकटास्तथा ॥२०।
महेन्द्रमलयाद्रौ च दुर्दुरे च वसन्ति ये ।
कर्कोटकवने ये च भृगुकच्छाः सकोङ्कणा ॥२१।

इनके शुभाशुभ-सूचक तीन नक्षत्र अर्थात् १) रौद्री (आर्द्रा), २) पुनर्वसु, और ३) पुष्य हैं और ये भी कूर्मरूपी श्रीविष्णु के मुखभाग की ओर ही अवस्थित हैं। द्विजवर क्रौष्टुकि ! अब मैं तुमसे कूर्मरूपी विष्णु भगवान् के दाहिने पैर पर अवस्थित जो भारतवर्ष के प्रदेश और उनके निवासी हैं, उनके सम्बन्ध में बता रहा हूँ, सुनो। ये प्रदेश हैं—१) कलिङ्ग, २) वंग, ३) जठर, ४) कोशल, ५) मूषिक, ६) चेदि, ७) ऊर्ध्व-कर्ण, ८) विन्ध्यपर्वतवासी मत्स्य प्रभृति, ९) विदर्भ, १०) नारिकेल, ११) धर्मद्वीप, १२) ऐलिक, १३) व्याघ्रग्रीव, १४) महाग्रीव, १५) श्मश्रुधारी त्रैपुर, १६) कैष्किन्ध्य, १७) हैमकूट, १८) निषध, १९) कटकस्थल, २०) दशार्ण, २१) हारिक, २२) नग्न, २३) निषाद और २४) काकुलालक। कूर्म-विष्णु के पूर्वदक्षिण पैर पर 'पर्णशबर' नामके जनपद और उसके निवासी अवस्थित हैं। भारत में विराजमान इन कूर्मरूपी विष्णु भगवान् के पूर्वदक्षिण (अगले दाहिने) पैर की ओर तीन शुभाशुभ-सूचक नक्षत्र अर्थात् १) आश्लेषा, २) पैत्र्य (मघा) तथा ३) पूर्वाफाल्गुनी हैं। विष्णु-कूर्मसंस्थान भारतवर्ष की दक्षिण कुक्षि (पेट के दक्षिणभाग) पर जो पर्वत-जनपद और उनमें निवास करने वाले लोग हैं वे ये हैं—१) लङ्का, २) कालाजिन, ३) शैलिक, ४) निकट, ५) महेन्द्रगिरि-निवासी, ६) मलयगिरि-निवासी, ७) दर्दुरगिरि-निवासी, ८) कार्कोटकवन-निवासी, ९)

सर्व्वाश्चैव तथाभीरा वेण्यास्तीरनिवासिनः ।
अवन्तयो दासपुरास्तथैवाकणिनो जनाः ॥२२॥
महाराष्ट्राः सकर्णाटा गोनर्द्दाश्चित्रकूटकाः ।
चोलाः कोलगिराश्चैव क्रौञ्चद्वीपजटाधराः ॥२३॥
कावेरी ऋष्यमूकस्था नासिक्याश्चैव ये जनाः ।
शङ्खशुक्त्यादिवैदूर्य्यशैलप्रान्तचराश्च ये ॥२४॥
तथा वारिचराः कोलाः चर्मपट्टनिवासिनः ।
गणबाह्याः पराः कृष्णा द्वीपवासनिवासिनः ॥२५॥
सूर्य्याद्रौ कुमुदाद्रौ च ते वसन्ति तथा जनाः ।
औखावनाः सपिशिकास्तथा ये कर्मनायकाः ॥२६॥
दक्षिणाः कौरुषा ये च ऋषिकास्तापसाश्रमाः ।
ऋषभाः सिंहलाश्चैव तथा काञ्चीनिवासिनः ॥२७॥
तिलङ्गा कुञ्जरदरीकच्छवासाश्च ये जनाः ।
ताम्रपर्णी तथा कुक्षिरिति कूर्मस्य दक्षिणः ॥२८॥
फाल्गुन्यश्चोत्तरा हस्ता चित्रा चर्क्षत्रयं द्विज ।
कूर्मस्य दक्षिणे कुक्षौ बाह्यपादस्तथापरम् ॥२९॥

भृगुकच्छ, १०) कोङ्कण, ११) सर्व, १२) आभीर, १३) वेणीनदीतीरवासी, १४) अवन्ति, १५) दासपुर, १६) आकणिन्, १७) महाराष्ट्र, १८) कर्णाट, १९) गोनर्द, २०) चित्रकूटक, २१) चोल, २२) कोलगिर, २३) क्रौञ्चद्वीप, २४) जटाधर, २५) कावेरी, २६) ऋष्यमूक-पर्वतवासी, २७) नासिक्य, २८) शङ्ख, शुक्ति तथा वैदूर्यशैल के प्रान्त प्रदेश के निवासी, २९) वारिचर, ३०) कोल, ३१) चर्मपट्ट-निवासी, ३२) सूर्याद्रि तथा कुमुदाद्रि के निवासी, ३३) औखावन, ३४) पिशिक, ३५) कर्मनायक, ३६) दक्षिणकौरुष-निवासी, ३७) ऋषिक, ३८) तापसाश्रय, ३९) ऋषभ, ४०) सिंहल, ४१) काञ्चीपुरीय, ४२) तिलङ्ग, ४३) कञ्जरदरी निवासी, ४४) कच्छवासी, ४५) ताम्रपर्णी और ४६) कुक्षि ॥ १५-२८ ॥

इन पर्वत-जनपदों के निवासियों के शुभाशुभ सूचक १) उत्तरा फाल्गुनी, २) हस्ता तथा ३) चित्रा—ये तीन नक्षत्र हैं और ये भी कूर्म-विष्णु की दक्षिण कुक्षि की ओर है। भारतभूमि पर आसीन इन कूर्मरूपी विष्णु के जो बाहर निकले दाहिने पैर हैं, उन पर जिनका अवस्थान है, वे स्थान और उनके निवासी ये हैं—१) काम्बोज, २)

काम्बोजाः पह्लवाश्चैव तथैव वडवामुखाः ।
तथा च सिन्धुसौवीराः सानर्त्ता वनितामुखाः ॥३०॥
द्रावणाः मार्गिकाः शूद्रा कर्णप्राधेयवर्वराः ।
किराताः पारदाः पाण्ड्यास्तथा पारशवाः कलाः ॥३१॥
धूर्त्तका हैमगिरिकाः सिन्धुकालकवैरताः ।
सौराष्ट्रा दरदाश्चैव द्राविडाश्च महार्णवाः ॥३२॥
एते जनपदाः पादे स्थिता वै दक्षिणेऽपरे ।
स्वात्यो विशाखा मैत्रश्च नक्षत्रत्रयमेव च ॥३३॥
मणिमेघः क्षुराद्रिश्च खञ्जनोऽस्तगिरिस्तथा ।
अपरान्तिका हैहयाश्च शान्तिका विप्रशस्तकाः ॥३४॥
कौङ्कणाः पञ्चनदका वामना ह्यवरास्तथा ।
तारक्षुरा ह्यङ्गतकाः कर्कराः शाल्मवेश्मकाः ॥३५॥
गुरुस्वराः फल्गुणका वेणुमत्याश्च ये जनाः ।
तथा फल्गुलुका घोरा गुरुहाश्च कलास्तथा ॥३६॥
एकेक्षणा वाजिकेशा दीर्घग्रीवाः सचूलिकाः ।
अश्वकेशास्तथा पुच्छे जनाः कूर्मस्य संस्थिताः ॥३७॥

पह्लव, ३) वडवामुख, ४) सिन्धु, ५) सौवीर, ६) आनर्त, ७) वनितामुख, ८) द्रावण, ९) मार्गिक, १०) शूद्र, ११) कर्ण, १२) प्राधेय, १३) वर्वर, १४) किरात, १५) पारद १६) पाण्ड्य, १७) पारशव, १८) कल, १९) धूर्तक, २०) हैमगिरिक, २१) सिन्धु, २२) कालक, २३) वैरत (?), २४) सौराष्ट्र, २५) दरद, २६) द्राविड और २७) महार्णव। कूर्म-विष्णु के दूसरे दाहिने पैर पर जिन पर्वतों, जनपदों तथा उनके निवासियों के संस्थान हैं, जिनके शुभाशुभ सूचक नक्षत्र १) स्वाति, २) विशाखा तथा ३) मैत्र (अनुराधा) हैं, वे ये हैं –१) मणिमेघ पर्वत, २) क्षुराद्रि, ३) खञ्जन गिरि, ४) अस्त-गिरि, ५) अपरान्तिक, ६) हैहय, ७) शान्तिक, ८) विप्रशस्तक, ९) कौङ्कण, १०) पञ्च-नदक, ११) वामन, १२) अवर, १३) तारक्षुर, १४) अङ्गतक, १५) कर्कर (शर्कर), १६) शाल्मवेश्मक, १८) गुरुस्वर, १८) फल्गुणक, १९) वेणुमती नदीतटवासी, २०) फल्गुलुक, २१) घोर, २२) गुरुह, २३) कल, २४) एकेक्षण, २५) वाजिकेश, २६) दीर्घग्रीव, २७) चूलिक, तथा २८) अश्वकेश। इनके अतिरिक्त कूर्म-विष्णु संस्थान भारत के पुच्छ-भाग पर अवस्थित अन्य भी जनपद हैं॥ २९-३७॥

ऐन्द्रं मूलन्तथाषाढ़ा नक्षत्रत्रयमेव च ।
माण्डव्याश्चण्डखाराश्च अश्वकालनतास्तथा ।।३८।
कुन्यतालडहाश्चैव स्त्रीबाह्या बालिकास्तथा ।
नृसिंहा वेणुमत्याश्च बलावस्थास्तथापरे ।।३९।
धर्मबद्धास्तथालूका उरुकर्मस्थिता जनाः ।
वामपादे जनाः पार्श्वे स्थिताः कूर्मस्य भागुरे ।।४०।
आषाढाश्रवणे चैव धनिष्ठा यत्र संस्थिता ।
कैलासो हिमवांश्चैव धनुष्मान् वसुमांस्तथा ।।४१।
क्रौञ्चाः कुरुवकाश्चैव क्षुद्रवीणाश्च ये जनाः ।
रसालयाः सकैकेया भोगप्रस्थाः सयामुनाः ।।४२।
अन्तर्द्वीपास्त्रिगर्त्ताश्च अग्नीज्याः सार्दना जनाः ।
तथैवाश्वमुखाः प्राप्ताश्चिविडाः केशधारिणः ।।४३।
दासेरका वाटधानाः शवधानास्तथैव च ।
पुष्कलाधमकैरातास्तथा तक्षशिलाश्रयाः ।।४४।
अम्बाला मालवा मद्रा वेणुकाः सवदन्तिकाः ।
पिङ्गला मानकलहा हूणाः कोहलकास्तथा ।।४५।

पुच्छ भाग पर अवस्थित इन जनपदों और उनके निवासियों के शुभाशुभ सूचक १) ऐन्द्र (ज्येष्ठा) २) मूल और ३) आषाढा—ये तीन नक्षत्र भी वहीं हैं। प्रियवर क्रौष्टुकि ! ये पुच्छ भाग संस्थित जनपद और उनके निवासी—१) माण्डव्य, २) चण्डखार, ३) अश्वकालनत, ४)कुन्यतालडह, ५)स्त्रीबाह्य, ६)बालिक, ७)नृसिंह, ८) वेणुमती नदी पर आवास-निवास वाले, ९) बलावस्थ, १०) धर्मबद्ध, ११) आलूक और उरुकर्मवासी कहे जाते हैं। कूर्म-विष्णु रूपी भारत के बाएँ पैर के पार्श्वभाग के जो निवासी हैं, वे आगे निर्दिष्ट लोग हैं ॥ ३८-४० ॥

इसी स्थान अर्थात् भारतरूपी कूर्म-विष्णु के वामपद के पार्श्वभाग पर निवासी जीवों के शुभाशुभ सूचक नक्षत्र १) आषाढा, २) श्रवणा और ३) धनिष्ठा विराजमान है। यहाँ के जो पर्वत-जनपदादि हैं, वे ये हैं—१) कैलास, २) हिमवान्, ३) धनुष्मान्, ४) वसुमान्, ५) क्रौञ्चगिरि, ६) कुरुवक, ७) क्षुद्रवीण, ८) रसालय, ९) कैकेय, १०) भोगप्रस्थ, ११) यामुन, १२) अन्तर्द्वीप, १३) त्रिगर्त, १४) अग्नीज्य, १५) अर्दन, १६) अश्वमुख, १७) प्राप्त, १८) दीर्घकेशधारी चिविड, १९) दासेरक, २०) वाटधान, २१) शवधान, २२) पुष्कल, २३) अधम कैरात, २४) तक्षशिलावासी, २५) अम्बाल, २६) मालव, २७) मद्र, २८) वेणुक, २९) वदन्तिक, ३०) पिङ्गल, ३१) मानकलह, ३२) हूण,

माण्डव्या भूतियुवकाः शातका हेमतारकाः ।
यशोमत्याः सगान्धाराः खरसागरराशयः ॥४६।
यौधेया दासमेयाश्च राजन्याः श्यामकास्तथा ।
क्षेमधूर्त्ताश्च कूर्मस्य वामकुक्षिमुपाश्रिताः ॥४७।
वारुणञ्चात्र नक्षत्रं तत्र प्रौष्ठपदाद्वयम् ।
येन किन्नरराज्यञ्च पशुपालं सकीचकम् ॥४८।
काश्मीरकं तथा राष्ट्रमभिसारजनस्तथा ।
दवदास्त्वङ्गनाश्चैव कुलटा वनराष्ट्रकाः ॥४९।
सैरिष्ठा ब्रह्मपुरकास्तथैव वनवाह्यकाः ।
किरातकौशिका नन्दा जनाः पह्लवलोलनाः ॥५०।
दार्वादा मरकाश्चैव कुरटाश्चान्नदारकाः ।
एकपादाः खशा घोषाः स्वर्गभौमानवद्यकाः ॥५१।
तथा सयवना हिङ्गाश्चीरप्रावरणाश्च ये ।
त्रिनेत्राः पौरवाश्चैव गन्धर्व्वाश्च द्विजोत्तम ॥५२।
पूर्व्वोत्तरन्तु कूर्मस्य पादमेते समाश्रिताः ।
रेवत्यश्चाश्विदैवत्यं याम्यञ्चर्क्षमिति त्रयम् ॥५३।

---

३३) कोहलक, ३४) माण्डव्य, ३५) भूतियुवक, ३६) शातक, ३७) हेमतारक, ३८) यशोमत्य, ३९) गान्धार, ४०) खरसागरराशि, ४१) यौधेय, ४२) दासमेय ४३) राजन्य, ४४) श्यामक और ४५) क्षेमधूर्त। ये ही वे पर्वत-जनपद और जनपद के वासी हैं, जो कूर्म-संस्थान भारत की वामकुक्षि पर अवस्थित हैं ॥ ४१-४७ ॥

इन उपर्युक्त जनपदों और उनके निवासियों के शुभाशुभ सूचक—१) वारुण (शतभिषक्), २) पूर्वभाद्रपदा और ३) उत्तरभाद्रपदा (जिन्हें दो प्रौष्ठपदा कहते हैं)—ये तीन नक्षत्र हैं, कूर्म संस्थान भारत के पूर्वोत्तर पाद-भाग में अवस्थित जनपद और उनके निवासी ये हैं—१) किन्नर राज्य, २) पशुपाल, ३) कीचक, ४) काश्मीरक, ५) अभिसार निवासी, ६) दवद, ७) अङ्गन, ८) कुलट, ९) वनराष्ट्रक, १०) सैरिष्ठ ११) ब्रह्मपुरक, १२) वनवाह्यक, १३) किरात, १४) कौशिक, १५) नन्द, १६) पह्लव, १७) लोलन, १८) दार्वाद, १९) मरक, २०) कुरट, २१) अन्नदारक, २२) एकपाद, २३) खस (खश), २४) घोष, २५) स्वर्गभौमानवद्यक, २६) यवन, २७) हिङ्ग तथा २८) चीर-प्रावरण ॥ ४८-५२ पूर्वार्द्ध ॥

द्विजवर क्रौष्टुकि ! १) त्रिनेत्र, २) पौरव और ३) गान्धर्व—ये कूर्मसंस्थान भारत के पूर्वोत्तर पाद पर समाश्रित हैं और यहीं अवस्थित इनके शुभाशुभ सूचक तीन नक्षत्र १) रेवती, २) अश्वदैवत्य (अश्विनी) और याम्य (भरणी) हैं। ये देश इन्हीं ग्रह-नक्षत्रों

तत्र पादे समाख्यातं पाकाय मुनिसत्तम ।
देशेष्वेतेषु चैतानि नक्षत्राण्यपि वै द्विज ।।५४।
एतत्पीडा अमी देशाः पीडयन्ते ये क्रमोदिताः ।
यान्ति चाभ्युदयं विप्र ! ग्रहैः सम्यगवस्थितैः ।।५५।
यस्यर्क्षस्य पतिर्यो वै ग्रहस्तद्भावितो भयम् ।
तद्देशस्य मुनिश्रेष्ठ ! तदुत्कर्षे शुभागमः ।।५६।
प्रत्येकं देशसामान्यं नक्षत्रग्रहसम्भवम् ।
भयं लोकस्य भवति शोभनं वा द्विजोत्तम ।।५७।
स्वर्क्षैरशोभनैर्जन्तोः सामान्यमिति भीतिदम् ।
ग्रहैर्भवति पीडोत्थमल्पायासमशोभनम् ।।५८।
तथैव शोभनः पाको दुःस्थितैश्च तथा ग्रहैः ।
अल्पोपकाराय नृणां देशज्ञैश्चात्मनो बुधैः ।।५९।
द्रव्ये गोष्ठेऽथ भृत्येषु सुहृत्सु तनयेषु वा ।
भार्य्यायाञ्च ग्रहे दुस्थे भयं पुण्यवतां नृणाम् ।।६०।
आत्मन्यथाल्पपुण्यानां सर्वत्रैवातिपापिनाम् ।
नैकत्रापि ह्यपापानां भयमस्ति कदाचन ।।६१।

के क्रमशः अशुभ स्थान पर रहने पर पीड़ित होते हैं और शुभस्थान पर रहने पर अभ्युदय प्राप्त करते हैं। मुनिवर क्रौष्टुकि ! जिस नक्षत्र का जो ग्रह स्वामी होता है, उसकी अशुभात्मक शक्ति से उसके प्रभाव क्षेत्र में आने वाले देश भयभीत हुआ करते हैं और शुभात्मक शक्ति से सुख-शान्ति प्राप्त करते हैं। द्विजवर ! प्रत्येक देश की एक समान ही बात है, अर्थात् प्रत्येक को ग्रह-नक्षत्र के कुयोग से अनिष्ट अथवा अमङ्गल होता है और सुयोग से इष्ट अथवा कल्याण होता है। अशुभ स्थान के नक्षत्रों और ग्रहों के कारण मनुष्यों को जो भय होता है, अथवा पीड़ा पहुँचती है, अथवा धर्म-कर्मानुष्ठान में आलस्य होता है, अथवा अमङ्गल होता है, वह सब समान रूप का है। यही बात शुभस्थानस्थ ग्रह-नक्षत्रों से मनुष्यों के शुभ होने में भी लागू होती है। इस प्रकार शुभ अथवा अशुभ स्थान पर स्थित ग्रह-नक्षत्रों का शुभाशुभ फल समान होता है। जनपद की स्थिति तथा ग्रहनक्षत्रों की स्थिति के वेत्ता ज्योतिर्विद् लोग इसीलिए कहा करते हैं कि ग्रह-नक्षत्रों की दुःस्थिति में पुण्यात्मा पुरुषों को भी अपने धन-धान्य, अपने पशुधन, अपने अनुचर-परिचर, अपने बन्धु-बान्धव, अपने पुत्रादि और अपनी धर्मपत्नी के सम्बन्ध में भी अशुभ अथवा अकल्याण का भय होने लगता है ॥ ५२ उत्तरार्ध-६० ॥

किन्तु जो लोग अल्पपुण्य वाले होते हैं, अथवा घोरपापी होते हैं, उनके हृदय में तो ग्रह-नक्षत्रों की दुःस्थिति में, अपने ही जीवन के सम्बन्ध में भय व्याप्त हो जाता है ॥ ६१ ॥

दिग्देशजनसामान्यं नृपसामान्यमात्मजम् ।
नक्षत्रग्रहसामान्यं नरो भुङ्क्ते शुभाशुभम् ॥६२।
परस्पराभिरक्षा च ग्रहादौस्थ्येन जायते ।
एतेभ्य एव विप्रेन्द्र ! शुभहानिस्तथाशुभैः ॥६३।
यदेतत् कूर्मसंस्थानं नक्षत्रेषु मयोदितम् ।
एतत् तु देशसामान्यमशुभं शुभमेव च ॥६४।
तस्माद्विज्ञाय देशर्क्षं ग्रहपीडान्तथात्मनः ।
कुर्व्वीत शान्ति मेधावी लोकवादांश्च सत्तम ॥६५।
आकाशाद्देवतानाञ्च दैत्यादीनाञ्च दौर्हृदाः ।
पृथ्व्यां पतन्ति ते लोके लोकवादा इति श्रुताः ॥६६।
तां तथैव बुधः कुर्य्यात् लोकवादान्न हापयेत् ।
तेषान्तत्करणान्नृणां युक्तो दुष्टागमक्षयः ॥६७।

इस प्रकार मनुष्य समान रूप से जो भी शुभाशुभ फल पाते हैं, वे दिक्सामान्य, देशसामान्य, जनसामान्य, राजसामान्य, आत्मसामान्य, नक्षत्रसामान्य तथा ग्रहसामान्य से प्रभावित रहा करते हैं ॥ ६२ ॥

जब ग्रह-नक्षत्र अनुकूल होते हैं, तब मनुष्यों में परस्पर संरक्षण की भावना जाग जाती है। किन्तु जब ये प्रतिकूल हो जाते हैं, तो हे द्विजवर ! मनुष्यों का शुभ नष्ट हो जाता है ॥ ६३ ॥

प्रियशिष्य क्रौष्टुकि ! मैंने ग्रह-नक्षत्रों के सम्बन्ध में जो यह कहा है कि वे कूर्म-संस्थान स्थित हैं, तो उससे यह समझो कि सुस्थित अथवा दुःस्थित ऐसे ग्रह-नक्षत्रों के प्रभाव-क्षेत्र में पड़ने वाले समस्त जनपद और उनके निवासी समान रूप से ही शुभ और अशुभ के भागी होते हैं ॥ ६४ ॥

इसलिए जो बुद्धिमान् हैं, उनके लिये यह आवश्यक है कि वे अपने निवास के देश और उन्हें प्रभावित करने वाले नक्षत्रों का पूर्ण परिज्ञान प्राप्त कर अपनी ग्रहपीड़ा की शान्ति के लिये उपाय करें और साथ ही साथ 'लोकवाद' ग्रह-नक्षत्र के कुयोग के कारण (लोक में अनुश्रुति रूप से प्रचलित देवों अथवा दैत्यों के दुष्ट उपद्रवों की वार्ता) के भी प्रशमन करने का प्रयास करें ॥ ६५ ॥

'लोकवाद' से अभिप्राय है—साधारण जनसमाज में प्रचलित ऐसी बातें कि दुष्ट ग्रह-नक्षत्र योग में आकाश से देवों और दैत्यों के दुष्ट अभिशाप पृथिवी पर गिरा करते हैं ॥ ६६ ॥

इसलिये बुद्धिमान् लोगों को यह चाहिए कि 'लोकवाद' की अत्यन्त उपेक्षा न करते हुए ग्रह-नक्षत्रों के कुयोग से संभाव्य उपद्रवों की शान्ति करें, क्योंकि ऐसा करने से जो भी अनिष्टकर घटना-क्रम संभव है, वह सब नष्ट हो सकता है ॥ ६७ ॥

शुभोदयं प्रहानिञ्च पापानां द्विजसत्तम ।
प्रज्ञाहानिं प्रकुर्य्युस्ते द्रव्यादीनाञ्च कुर्वते ॥६८॥
तस्माच्छान्तिपरः प्राज्ञो लोकवादरतस्तथा ।
लोकवादांश्च शान्तीश्च ग्रहपीडासु कारयेत् ॥६९॥
अद्रोहानुपवासांश्च शस्तं चैत्यादिवन्दनम् ।
जपं होमं तथा दानं स्नानं क्रोधादिवर्जनम् ॥७०॥
अद्रोहः सर्वभूतेषु मैत्रीं कुर्य्याच्च पण्डितः ।
वर्जयेदसतीं वाचमतिवादांस्तथैव च ॥७१॥
ग्रहपूजाञ्च कुर्वीत सर्वपीडासु मानवः ।
एवं शाम्यन्त्यशेषाणि घोराणि द्विजसत्तम ॥७२॥
प्रयतानां मनुष्याणां ग्रहर्क्षोत्थान्यशेषतः ।
एष कूर्मो मया ख्यातो भारते भगवान् विभुः ॥७३॥

द्विजवर क्रौष्टुकि ! ये 'लोकवाद' शान्तिकर्म द्वारा कल्याणकर भी हो जाते हैं, जिससे पापों का प्रणाश भी हो जाता है। अन्यथा ये बुद्धिनाश के कारण बन जाते हैं और धनहानि के कारण तो ये हैं ही। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यों को चाहिये कि वे ग्रह-नक्षत्र-कुयोग के कुप्रभाव को दूर करने के लिये शान्तिकर्म करें और 'लोकवाद' से भी अपने को संबद्ध रखें। ग्रह-नक्षत्र के कुयोग के कष्टों के निवारण के लिये लोकवादों में भी सहयोग देना चाहिए और शान्तिकर्म का भी अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ६८-६९ ॥

ग्रहनक्षत्र-कुयोग के कुप्रभाव को दूर करने के लिये बुद्धिमान् मनुष्यों को द्रोह-बुद्धि का परित्याग करना चाहिए, उपवास करना चाहिये, चैत्यादि वन्दन के श्लाघ्य कर्म करने चाहिये, जप करना चाहिये, होम करना चाहिये, दान देना चाहिये, पवित्र जल से स्नान करना चाहिये, क्रोधादि का वर्जन करना चाहिये, असत्य भाषण से विरत रहना चाहिये और आक्रोश में आकर अनाप-शनाप न बोलना चाहिये। साथ ही साथ, यदि ग्रहों के कुयोग से कष्ट आ पड़े तो ग्रह पूजन भी करना चाहिये। द्विजवर क्रौष्टुकि ! यह सब करने से ग्रह-कुयोगजन्य सभी भयंकर उपद्रव शान्त हो जाते हैं ॥ ७०-७२ ॥

और जो लोग संयतेन्द्रिय हैं, उनके तो ग्रह-नक्षत्रों की दुःस्थिति से उत्पादित समस्त विघ्न नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार मैंने भारतवर्ष में भगवान् विष्णु के कूर्मरूप का निरूपण कर दिया ॥ ७३ ॥

नारायणो ह्यचिन्त्यात्मा यत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
तत्र देवाः स्थिताः सर्वे प्रतिनक्षत्रसंश्रयाः ॥७४॥
तथा मध्ये हुतवहः पृथ्वी सोमश्च वै द्विज ।
मेषादयस्त्रयो मध्ये मुखे द्वौ मिथुनादिकौ ॥७५॥
प्राग्दक्षिणे तथा पादे कर्कसिंहौ व्यवस्थितौ ।
सिंहकन्यातुलाश्चैव कुक्षौ राशित्रयं स्थितम् ॥७६॥
तुलाथ वृश्चिकश्चोभौ पादे दक्षिणपश्चिमे ।
पृष्ठे च वृश्चिकेनैव सह धन्वी व्यवस्थितः ॥७७॥
वायव्ये चास्य वै पादे धनुर्ग्राहादिकं त्रयम् ।
कुम्भमीनौ तथैवास्य उत्तरां कुक्षिमाश्रितौ ॥७८॥
मीनमेषौ द्विजश्रेष्ठ ! पादे पूर्वोत्तरे स्थितौ ।
कूर्मे देशास्तथर्क्षाणि देशेष्वेतेषु वै द्विज ॥७९॥
राशयश्च तथर्क्षेषु ग्रहराशिष्ववस्थिताः ।
तस्माद् ग्रहर्क्षपीडासु देशपीडां विनिर्दिशेत् ॥८०॥

कूर्मरूपी भगवान् विष्णु का स्वरूप अचिन्त्य है। वस्तुतः यह समस्त ब्रह्माण्ड उन्हीं में विराजमान है और उन्हीं में समस्त ग्रह-नक्षत्र-संस्थान के अधिष्ठाता देवगण भी अवस्थित हैं ॥ ७४ ॥

इनके मध्य भाग में अग्नि, पृथिवी तथा चन्द्र और मेषादि राशित्रय अवस्थित हैं, इनके मुख में मिथुनादि राशिद्वय विराजमान हैं; इनके पूर्व-दक्षिण चरण में कूर्म और सिंह—ये राशिद्वय हैं, इनकी कुक्षि में सिंह-कन्या-तुला—ये राशित्रय हैं, इनके पश्चिमी दक्षिण चरण में तुला और वृश्चिक—दो राशियाँ हैं, इनके पृष्ठभाग पर (पुच्छ भाग पर ?) वृश्चिक के साथ-साथ धनु राशि है, इनके वायव्य चरण में धनु, मकर तथा कुम्भ—ये तीन राशियाँ हैं, इनकी उत्तरी कुक्षि पर कुम्भ और मीन राशियों का स्थान है। मीन तथा मेष नामक राशिद्वय, द्विजवर क्रौष्टुकि ! इनके पूर्वोत्तर चरण पर अवस्थित हैं। इस प्रकार, द्विजवर ! इन कूर्मरूपी विष्णु में समस्त भारतीय प्रदेश समा जाते हैं और इन प्रदेशों में समस्त नक्षत्र अवस्थित हैं। नक्षत्रों में राशिगण अवस्थित हैं और राशिगण में ग्रह अवस्थित हैं। इसलिये ग्रहनक्षत्र के कुयोग रूपी उपद्रवों के होने पर यह जान लेना चाहिये कि देश-प्रदेश में उपद्रव होने वाले हैं। ऐसी स्थिति में पवित्र जल में स्नान कर दान-होमादि धर्म-कर्म का अनुष्ठान करना अनिवार्य है। इस प्रकार

तत्र स्नात्वा प्रकुर्वीत दानहोमादिकं विधिम् ।
स एष वैष्णवः पादो ब्रह्मा मध्ये ग्रहस्य यः ।
नारायणाख्योऽचिन्त्यात्मा कारणं जगतः प्रभुः ॥८१॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे कूर्मनिवेशो नामाष्टपञ्चाशोऽध्यायः ।

कूर्मरूपी भगवान् विष्णु का यही संस्थान अथवा निवेश है, जिसमें ब्रह्मा ग्रहों के मध्य में विराजमान हैं। ये ही ब्रह्मा अचिन्त्यस्वरूप नारायण भी कहे जाते हैं, जो कि विभु होने के नाते जगत् के परम कारण हैं ॥ ७५-८१ ॥

पर्यालोचन

(क) मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय में कूर्म-संस्थान नवभेदात्मक भारतवर्ष का जो वर्णन है, वह ज्योतिर्विद् वराहमिहिर और उनसे भी प्राचीन मौलिक महापुराणों की परम्परा का अनुमापक प्रतीत होता है। बृहत्संहिताकार वराहमिहिर के युग के बाद ही आजकल उपलब्ध महापुराणों के संस्करणों का युग माना जाता है। बृहत्संहिता के १४वें कूर्मविभागाध्याय (१-४) के निम्नलिखित श्लोक उद्धरणीय हैं, जिनका प्रभाव इस अध्याय के ४-१० श्लोकों पर स्पष्ट पड़ा दिखाई देता है—

"नक्षत्रत्रयवर्गैराग्नेयाद्यैर्व्यवस्थितैर्नवधा ।
भारतवर्षे मध्यप्रागादिविभाजिता देशाः ॥
भद्रारिमेदमाण्डव्यसाल्वनीपोज्जिहानसंख्याताः ।
मरुवत्सघोषयामुनसारस्वतमत्स्यमाध्यमिकाः ॥
माथुरकोपज्योतिषधर्मारण्यानि शूरसेनाश्च ।
गौरग्रीवोद्देहिकपाण्डुगुडाश्वत्थपाञ्चालाः ॥
साकेतकङ्ककुरुकालकोटिकुकुराश्च पारियात्रनगः ।
औदुम्बरकापिष्ठलगजाह्वयाश्चेति मध्यमिदम् ॥"

अर्थात् नवभेदात्मक भारत के मध्य में विराजमान, जो कि मार्कण्डेयपुराणकार की दृष्टि में भी कूर्म-विष्णु के पृष्ठभाग, अर्थात् मध्यभाग पर विराजमान प्रदेश हैं वे १) भद्र, २) अरिमेद, ३) माण्डव्य, ४) साल्व, ५) नीप, ६) उज्जिहान, ७) मरुवत्, ८) घोष, ९) यामुन, १०) सारस्वत, ११) मत्स्य, १२) माध्यमिक, १३) माथुर (माथुरक), १४) उपज्योतिष, १५) धर्मारण्य, १६) शूरसेन, १७) गौरग्रीव, १८) उद्देहिक, १९) पाण्डु, २०) गुड, २१) अश्वत्थ, २२) पाञ्चाल, २३) साकेत, २४) कङ्क, २५) कुरु, २६) कालकोटि, २७) कुकुर, २८) पारियात्र-पर्वतीय, २९) औदुम्बर, ३०) कापिष्ठल और ३१) गजाह्वय हैं। कुछ नाम-भेद से ये ही ३० जनपद-प्रदेश मार्कण्डेयपुराण के ४ से १० श्लोकों में भी परिगणित हैं। कुछ प्रदेशों के नाम-भेद क्यों हैं ? यह निश्चित करना कठिन है। वृहत्संहिता के प्रमाण पर मार्कण्डेयपुराणकार ने भी इन प्रदेशों को कृत्तिका, रोहिणी तथा मृगशिरा—इन तीन नक्षत्रों के प्रभाव-क्षेत्र में प्रतिपादित किया है।

(ख) भारत की पूर्वदिशा में अवस्थित प्रदेशों के नाम त्रिस्कन्धज्योतिःशास्त्र के मर्मज्ञ ज्योतिषाचार्य वराहमिहिर ने वृहत्संहिता के कूर्मविभागाध्याय (श्लोक ५-७ में) निम्नलिखित रूप से गिनाये हैं—

"अथ पूर्वस्यामञ्जनवृषभध्वजपद्ममाल्यवद्गिरयः ।
व्याघ्रमुखसुह्मकर्वटचन्द्रपुराः शूर्पकर्णाश्च ॥
खसमगधशिविकगिरिमिथिलसमतटोड्राश्ववदनदन्तुरकाः ।
प्राग्ज्योतिषलौहित्यक्षीरोदसमुद्रपुरुषादाः ॥

उदयगिरिभद्रगौडकपौण्ड्रोत्कलकाशिमेकलाम्बष्ठाः ।
एकपदताम्रलिप्तककोशलका वर्धमानश्च ॥

मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय के ११-१५ श्लोकों में भी उपर्युक्त नाम ही कुछ भिन्नता के साथ गिनाए गए हैं और यह भी स्पष्ट प्रतिपादित किया गया है कि इन प्रदेशों पर आर्द्रा, पुनर्वसु और पुष्य नक्षत्रों के शुभाशुभ प्रभाव पड़ते हैं।

भारत के दक्षिणदिग्भाग के प्रदेश बृहत्संहिता के निम्नलिखित श्लोकों (११-१६) में परिगणित हैं—

"अथ दक्षिणे नलङ्का कालाजिनसौरिकीर्णतालिकटाः ।
गिरिनगरमलयदर्दुरमहेन्द्रमालिन्द्यभरुकच्छाः ॥
कङ्कटकङ्कणवनवासिशिविकफणिकारकोङ्कणाभीराः ।
आकरवेणावर्तकदशपुरगोनर्दकेरलकाः ॥
कर्णाटमहाटविचित्रकूटनासिक्यकोल्लगिरिचोलाः ।
क्रौञ्चद्वीपजटाधरकावेर्यो ऋष्यमूकश्च ॥
वैदूर्यशङ्खमुक्ताऽत्रिवारिचरधर्मपट्टनद्वीपाः ।
गणराज्यकृष्णवेल्लूरपिशिकशूर्पाद्रिकुसुमनगाः ॥
तुम्बवनकार्मणेयकयाम्योदधितापसाश्रमा ऋषिकाः ।
काञ्चीमरुचीपट्टनचेर्यार्यकसिंहला ऋषभाः ॥
बलदेवपट्टनं दण्डकावनतिमिङ्गिलाशना भद्राः ।
कच्छोऽथ कुञ्जरदारी सताम्रपर्णीति विज्ञेयाः ॥"

मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय (श्लोक १५ उत्तरार्द्ध १८) में भी प्रायः ये ही भारतीय दक्षिण-प्रदेश निर्दिष्ट हैं।

(ग) बृहत्संहिता (कूर्मविभागाध्याय श्लोक २०, २१) में भारतवर्ष के पश्चिमी प्रदेश निम्नलिखित हैं—

"अपरस्यां मणिमान् मेघवान् वनौघः क्षुरार्पणोऽस्तगिरिः ।
अपरान्तकशान्तिकहैहयप्रशस्ताद्रिवोक्काणाः ॥
पञ्चनदरमठपारततारक्षितिजृङ्गवैश्यकनकशकाः ।
निर्मर्यादा म्लेच्छा ये पश्चिमदिक्स्थितास्ते च ॥"

प्रायः ये ही प्रदेश मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय के ३४ से ३७ श्लोकों में कुछ नाम-भेद के साथ गिनाये गये हैं।

(घ) भारत के उत्तरदिग्वर्ती प्रदेशों की संख्या बृहत्संहिता (कूर्मविभागाध्याय २४-२८) के अनुसार निम्नलिखित हैं—

"उत्तरतो १) कैलासो २) हिमवान् ३) वसुमान् ४) गिरिर्धनुष्मांश्च ।
५) क्रौञ्चो ६) मेरुः ७) कुरवस्तथोक्तकाः ८) क्षुद्रमीनाश्च ॥
९) कैकय १०) वसाति ११)यामुन १२) भोगप्रस्थ
१३) अर्जुनायन १४) आग्नीध्राः ।
१५) आदर्श १६) अन्तर्द्वीपि १७) त्रिगर्त १८) तुरगानना १९)श्वमुखाः ॥
२०) केशधर, २१) चिपिटनासिक २२) दासेरक
२३) वाटधान २४) शरधानाः ।
२५) तक्षशिला २६) पुष्कलावत २७) कैलावत २८) कण्ठधानाश्च ॥
२९) अम्बर ३०) मद्रक ३१) मालव ३२) पौरव
३३) कच्छार ३४) दण्डपिङ्गलकाः ।
३५) माणहल ३६) हूण ३७) कोहल ३८) शीतक
३९) माण्डव्य ४०) भूतपुराः ॥
४१) गान्धार ४२) यशोवति ४३) हेमताल
४४) राजन्य ४५) खचर ४६) गव्याश्च ।
४७) यौधेय ४८) दासमेयाः ४९) श्यामाकाः ५०) क्षेमधूर्ताश्च ॥"

मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय (श्लोक ४१-५१) में भी प्रायः महापुराणकालीन भारत के उत्तरदिग्वर्ती इन्हीं प्रदेशों का परिसंख्यान किया हुआ है। भेद केवल कुछ प्रदेशों के नामों में है।

(ङ) प्राचीन युग के महापुराणकालीन भारत के आग्नेय दिग्वर्ती (दक्षिण-पूर्वी) प्रदेश बृहत्संहिता के कूर्मविभागाध्याय (८-१०) में इस प्रकार परिगणित हैं—

"आग्नेय्यां दिशि कोशलकलिङ्गवङ्गोपवङ्गजठराङ्गाः ।
शौलिकविदर्भवत्सान्ध्रचेदिकाश्चोर्ध्वकण्ठाश्च ॥
वृषनारिकेलचर्मद्वीपा विन्ध्यान्तवासिनस्त्रिपुरी ।
श्मश्रुधरहेमकुड्यव्यालग्रीवा महाग्रीवाः ॥
किष्किन्धकण्टकस्थलनिषादराष्ट्राणि पुरिकदाशार्णाः ।
सह नग्नपर्णशबरैराश्लेषाद्ये त्रिके देशाः ॥"

मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय (श्लोक १५-१९) में ये ही प्रदेश कतिपय भिन्न नामों के साथ निर्दिष्ट किये गये हैं और इन पर बृहत्संहिता की ही दृष्टि से आश्लेषा, मघा तथा पूर्वाफाल्गुनी– इन तीन नक्षत्रों का शुभाशुभसूचक प्रभाव प्रतिपादित किया गया है।

(च) भारतवर्ष के नैर्ऋत्यकोण (दक्षिण-पश्चिम दिक्कोण) के प्रदेश, जिन्हें इस अध्याय में (२९ पूर्वार्द्ध-३४) गिनाया गया है, वराहमिहिर की बृहत्संहिता (कूर्म-विभागाध्याय १७-१९) में भी कुछ नाम भेद के साथ परिगणित किये गये हैं और उन पर स्वाति, विशाखा तथा अनुराधा नक्षत्रों का ही प्रभाव निर्दिष्ट किया गया है—

"नैर्ऋत्यां दिशि देशाः पह्लवकाम्बोजसिन्धुसौवीराः ।
वडवामुखारवाम्बष्ठकपिलनारीमुखानर्ताः ॥
फेणगिरियवनमार्गरकर्णप्रावेयपारशवशूद्राः ।
वर्वरकिरातखण्डक्रव्यादाभीरचञ्चूकाः ॥
हेमगिरिसिन्धुकालकरैवतकसुराष्ट्रवादरद्रविडाः ।
स्वात्याद्ये भत्रितये ज्ञेयश्च महार्णवोऽत्रैव ॥"

(छ) भारत के वायव्यकोण (पश्चिमोत्तर दिग्भाग) के प्रदेश बृहत्संहिता (कूर्म-विभागाध्याय श्लोक २२, २३) में निम्नलिखित रूप से वर्णित हैं—

"दिशि पश्चिमोत्तरस्यां माण्डव्यतुषारतालहलमद्राः ।
अश्मककुलूतहलडाः स्त्रीराज्यनृसिंहवनरवस्थः ॥
वेणुमती फल्गुलुका गुलुहा मरुकच्छचर्मरङ्गाख्याः ।
एकविलोचनशूलिकदीर्घग्रीवास्यकेशाश्च ॥"

और मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय के ३८ से ४० श्लोकों में ये ही प्रदेश जहाँ-तहाँ भिन्न नामों के साथ प्रतिपादित किये गये हैं ।

(ज) भारत के ईशानकोण (पूर्वोत्तर दिग्भाग) में जो प्रदेश रह चुके हैं, वे बृहत्संहिता (कूर्माध्याय, श्लोक २९-३१) के अनुसार निम्नलिखित हैं—

"ऐशान्यां मेरुकनष्टराज्यपशुपालकीरकाश्मीराः ।
अभिसारदरदतङ्गणकुलूतसैरिन्ध्रवनराष्ट्राः ॥
ब्रह्मपुरदार्वडामरवनराज्यकिरातचीनकौणिन्दाः ।
मल्लाः पटोलजटासुरकुनटखसघोषकुचिकाख्याः ॥
एकचरणानुविद्धाः सुवर्णभूर्वसुधनं दिविष्ठाश्च ।
पौरवचीरनिवासित्रिनेत्रमुञ्जाद्रिगान्धर्वाः ॥"

मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय के ४८ उत्तरार्द्ध से ५३ तक के श्लोकों में इन्हीं का नामभेद से वर्णन किया गया है ।

(झ) इस प्रकार कूर्मसंस्थान भारत के दिक्चतुष्टय, दिक्कोणचतुष्टय और मध्य-भाग में अवस्थित नव भेदों के साथ-साथ उन पर २७ राशियों में तीन-तीन के प्रभाव

का जो वर्णन है, उसका अध्ययन-अनुसन्धान अभी-भी समीचीन रूप से नहीं हो पाया है। यह कार्य पुराणसाहित्य के ऐतिह्यविदों और ऐतिह्यकारों के लिए एक महत्त्वपूर्ण कार्य है।

बृहत्संहिता (कूर्मविभागाध्याय श्लोक ३२, ३३) में वराहमिहिराचार्य ने विविध ग्रहनक्षत्रों के कुयोग के दुष्परिणामों का सूक्ष्म संकेत किया है, जो कि मार्कण्डेयपुराणकार को भी मान्य प्रतीत होता है—

"वर्गैराग्नेयाद्यैः क्रूरग्रहपीडितैः क्रमेण नृपाः।
पाञ्चालो मागधिकः कालिङ्गश्च क्षयं यान्ति॥
आवन्त्योऽथानर्तो मृत्युं चायाति सिन्धुसौवीरः।
राजा च हारहौरो मद्रेशोऽन्यश्च कौणिन्दः॥"

यद्यपि ज्योतिर्विदाचार्य वराहमिहिर ने, स्पष्ट रूप से, भारत को कूर्म-विष्णु का रूप नहीं कहा है, किन्तु बृहत्संहिता (६४—कूर्मलक्षणाध्याय, श्लोक—३) में निम्नलिखित उल्लेख द्रष्टव्य है—

"वैदूर्यत्विट् स्थूलकण्ठस्त्रिकोणो
गूढच्छिद्रश्चोरुवंशश्च शस्तः।
क्रीडावाप्यां तोयपूर्णे मणौ वा
कार्यः कूर्मो मङ्गलार्थं नरेन्द्रैः॥"

इस उल्लेख में, राजगण के लिए, क्रीडावापी अथवा जल भरे मणिक (मटके) में वैदूर्यमणिवर्ण, स्थूलकण्ठ, त्रिकोणाकार प्रभृति विशेषणों से विशिष्ट कूर्म-विष्णु की प्रतिष्ठा को राष्ट्रकल्याणकारी कार्य बताया है, जिससे यह अभिप्राय अवश्य अभिव्यक्त होता है कि वराहमिहिराचार्य के युग से भी पहले प्राचीन मौलिक महापुराण-युग में कूर्मसंस्थान भारत की कूर्मविष्णु रूप में भावना की परम्परा प्रचलित हो चुकी थी। इसीलिए बृहत्संहिता से भी प्राचीन गर्गसंहिता में कूर्म-विष्णु के प्रतिमा-प्रतिष्ठापन को 'वंशवर्द्धन (वृद्धिवर्धन)' तथा राष्ट्रविवर्धन कहा गया है—'स्त्रीपुत्रमतिदं विन्द्यात् कूर्मं राष्ट्रविवर्धनम्।' विष्णु भगवान् के कूर्म-रूप में भारतवर्ष की भावना में उस युग के लोगों की भारत-भक्ति स्पष्ट झलकती है। उस युग का देश-प्रेम निर्हेतुक होने के नाते बड़ा दिव्य और भव्य रहा होगा। १९४७ ईस्वी के बाद के स्वातन्त्र्योत्तरकालीन भारत में देशप्रेम की लहर सहेतुक है। दोनों में भेद स्पष्ट है।

(ञ) कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति विभाग के अध्यक्ष प्रोफेसर दिनेशचन्द्र सरकार ने 'Studies in the Geography of

Ancient and Medieval India' नामक अपने ग्रन्थ में मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय तथा अन्य महापुराणों में वर्णित नवभागात्मक भारत के ५६ राज्य-प्रदेशों का सप्रमाण वर्णन किया है, जो कि उनके उपर्युक्त ग्रन्थ में देखा जा सकता है। इस विषय का और भी गवेषणात्मक अध्ययन अपेक्षित है क्योंकि प्राचीन महापुराणों के युग के भारत के अनेक राज्य उनके ग्रन्थ से अवर्णित छूटे हुए हैं। श्री पार्जिटर ने इस अध्याय के अंग्रेजी अनुवाद की विस्तृत पाद-टिप्पणियों में बहुत राज्य-प्रदेशों के निर्धारण का स्तुत्य प्रयास किया है, किन्तु उनमें भी अनेक स्थल संशयास्पद ही प्रतीत होते हैं। नवभेद कूर्म-संस्थान भारत की कल्पना के प्रारम्भ-काल का किसी ने भी कोई स्पष्ट निर्देश नहीं किया है। कई एक राज्य-प्रदेश ईस्वी पूर्व के हैं, इतने कथनमात्र से उनका वास्तविक कालनिर्धारण कैसे सम्भव है? इस महत्त्वपूर्ण विषय पर और विचार-विमर्श अपेक्षित है।

श्री मार्कण्डेयपुराण के 'कूर्मनिवेश' नामक ५८वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त।

ऊनषष्टितमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

एवन्तु भारतं वर्षं यथावत् कथितं मुने ।
कृतं त्रेता द्वापरश्च तथातिष्यं चतुष्टयम् ॥१॥
अत्रैवैतद्युगानान्तु चातुर्वर्ण्योऽत्र वै द्विज ।
चत्वारि त्रीणि द्वे चैव तथैकश्च शरच्छतम् ॥२॥
जीवन्त्यत्र नरा ब्रह्मन् ! कृतत्रेतादिके क्रमात् ।
देवकूटस्य पूर्वस्य शैलेन्द्रस्य महात्मनः ॥३॥
पूर्वेण यत् स्थितं वर्षं भद्राश्वं तन्निबोध मे ।
श्वेतपर्णश्च नीलश्च शैवालश्चाचलोत्तमः ॥४॥
कौरञ्जः पर्णशालाग्रः पञ्चैते तु कुलाचलाः ।
तेषां प्रसूतिरन्ये ये बहवः क्षुद्रपर्वताः ॥५॥
तैर्विशिष्टा जनपदा नानारूपाः सहस्रशः ।
ततः कुमुदसंकाशाः शुद्धसानुसुमङ्गलाः ॥६॥

महामुनि मार्कण्डेय ने कहा—

मुनिवर क्रौष्टुकि ! मैंने, अब तक, भारतवर्ष की वस्तुस्थिति के विषय में सब कुछ बता दिया। मैंने भारत में सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग तथा कलियुग (तिष्य) इन चारों युगों का भी वर्णन कर दिया ॥ १ ॥

इसी भारत में युग-चतुष्टय और चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था है। यहाँ के लोग सत्यादि चारों युगों में क्रमशः चार सौ, तीन सौ, दो सौ तथा एक सौ वर्ष तक जीवन-धारण करते हैं ॥ २-३ पूर्वार्द्ध ॥

अब भारतवर्ष के पूर्वदिग्वर्ती महान् शैलेन्द्र देवकूट के पूर्व की ओर जो 'भद्राश्व' वर्ष है, उसके विषय में जान लो। इस भद्राश्व नामक वर्ष में पाँच कुलपर्वत—जैसे कि १) श्वेतपर्ण, २) नील, ३) शैवाल, ४) कौरञ्ज तथा ५) पर्णशालाग्र हैं और इन कुलाचलों की सन्तति के रूप में अनेक छोटे-छोटे पर्वत हैं ॥ ३ उत्तरार्द्ध-५ ॥

इन पर इन पर्वतों की विशेषताओं से विशिष्ट नाना प्रकार के सहस्रों जनपदों के निवेश हैं। इन पर्वतों से कुमुद पुष्प की शुभ्र कान्ति के समान कान्ति वाले जल से

इत्येवमादयोऽन्येऽपि शतशोऽथ सहस्रशः ।
सीता शङ्खावती भद्रा चक्रावर्त्तादिकास्तथा ॥७॥
नद्योऽथ बह्वयो विस्तीर्णाः शीततोयौघवाहिकाः ।
अत्र वर्षे नराः शङ्खशुद्धहेमसमप्रभाः ॥८॥
दिव्यसङ्गमिनः पुण्या दशवर्षशतायुषः ।
मन्दोत्तमौ न तेषु स्तः सर्वे ते समदर्शनाः ॥९॥
तितिक्षादिभिरष्टाभिः प्रकृत्या ते गुणैर्युताः ।
तत्राप्यश्वशिरा देवश्चतुर्बाहुर्जनार्दनः ॥१०॥
शिरोहृदयमेढ्राङ्घ्रिहस्तैश्चाक्षित्रयान्वितः ।
तस्याप्यथैवं विषया विज्ञेया जगतः प्रभोः ॥११॥
केतुमालमतो वर्षं निबोध मम पश्चिमम् ।
विशालः कम्बलः कृष्णो जयन्तो हरिपर्वतः ॥१२॥
विशोको वर्द्धमानश्च सप्तैते कुलपर्वताः ।
अन्ये सहस्रशः शैला येषु लोकगणः स्थितः ॥१३॥

भरी तथा पर्वतशिखरों को पवित्र करने वाली सैकड़ों नहीं, अपितु सहस्रों नदियाँ प्रवाहित होती रहती हैं, जिनमें सीता, शङ्खावती, भद्रा तथा चक्रवर्ता आदि प्रमुख नदियाँ हैं ॥ ६-७ ॥

ये अनेक संख्यक नदियाँ ऐसी हैं, जो बहुत चौड़ी तथा शीतल जलधारा की प्रवाह वाली हैं। इस भद्राश्व वर्ष में जो मनुष्य रहते हैं, उनके शरीर की कान्ति शङ्ख तथा शुद्ध स्वर्ण की कान्ति सरीखी होती है। ये लोग पुण्यशाली होते हैं, इनकी आयु एक सहस्र वर्षों की होती है, इनका परस्पर संगम बड़ा दिव्य होता है, (अथवा ये दिव्यात्माओं के संपर्क में रहा करते हैं)। इनमें ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं है, ये सब एक समान हैं और ये लोग स्वभावतः त्याग प्रभृति आठ गुणों से युक्त हुआ करते हैं। इस वर्ष में चतुर्बाहु जनार्दन भगवान् विष्णु हयशीर्षरूप में विराजमान हैं और वे सिर, हृदय, मेढ्र, चरण, बाहु तथा नेत्रत्रय से विभूषित हैं। जगत् के स्वामी जनार्दन भगवान् विष्णु से अधिष्ठित ये उपर्युक्त जनपद हैं, जिनका परिज्ञान आवश्यक है ॥ ८-११ ॥

इसके बाद (भारतवर्ष के) पश्चिम दिग्भाग में जो 'केतुमाल' नामक वर्ष है, उसके विषय में जान लो। इसमें १) विशाल, २) कम्बल, ३) कृष्ण, ४) जयन्त, ५) हरिपर्वत, ६) विशोक और ७) वर्द्धमान—ये सात कुलपर्वत हैं। इनके अतिरिक्त सहस्रों अन्य पर्वत हैं, जिन पर लोगों के आवास हैं ॥ १२-१३ ॥

मौलयस्ते महाकायाः शाकपोतकरम्भकाः ।
अङ्गुलप्रमुखाश्चापि वसन्ति शतशो जनाः ।।१४।
ये पिबन्ति महानद्यो वंक्षुं श्यामां सकम्बलाम् ।
अमोघां कामिनीं श्यामां तथैवान्याः सहस्रशः ।।१५।
अत्राप्यायुः समं पूर्वैरत्रापि भगवान् हरिः ।
वराहरूपी पादास्यहृत्पृष्ठपार्श्वतस्तथा ।।१६।
त्रिनक्षत्रयुते देशे नक्षत्राणि शुभानि च ।
इत्येतत् केतुमालन्ते कथितं मुनिसत्तम ।।१७।
अतः परं कुरून् वक्ष्ये निबोधेह ममोत्तरान् ।
तत्र वृक्षा मधुफला नित्यपुष्पफलोपगाः ।।१८।
वस्त्राणि च प्रसूयन्ते फलेष्वाभरणानि च ।
सर्वकामप्रदास्ते हि सर्व्वकामफलप्रदाः ।।१९।
भूमिर्मणिमयी वायुः सुगन्धः सर्व्वदा सुखः ।
जायन्ते मानवास्तत्र देवलोकपरिच्युताः ।।२०।
मिथुनानि प्रसूयन्ते समकालस्थितानि वै ।
अन्योन्यमनुरक्तानि चक्रवाकोपमानि च ।।२१।

इन पर्वतों पर महाकाय 'मौलि' तथा शाक, पोत और करम्भ नामक जनजाति के लोग निवास करते हैं। साथ ही साथ इन पर अङ्गुल प्रमुख जनसमूह भी बसा हुआ है। ये सब लोग वंक्षु, श्यामा, कम्बला, अमोघा, कामिनी तथा अन्य सहस्रों नदियों के जल पीते हैं। यहाँ के लोगों की भी आयु उतनी ही होती है, जितनी भद्राश्व-वर्ष के लोगों की, अर्थात् यहाँ के लोग भी एक सहस्रवर्ष पर्यन्त जीवित रहते हैं। यहाँ भी भगवान् विष्णु हैं, जो कि चरण, मुख, हृदय, पृष्ठ तथा पार्श्व भाग की दृष्टि से वराह-रूप में विराजमान हैं। इस वर्ष में तीन नक्षत्र प्रभावशाली हैं और अन्य जो नक्षत्र हैं वे भी कल्याणकारी हैं। इस प्रकार, मुनिवर क्रौष्टुकि ! मैंने तुमसे 'केतुमाल' वर्ष के विषय में सब कुछ बता दिया ।। १४-१७ ।।

इसके बाद मैं तुमसे 'उत्तरकुरु' वर्ष के विषय में जो बता रहा हूँ, उसे समझ लो। इस वर्ष में जो वृक्ष हैं, उनके फल बड़े मोठे होते हैं और वे सदा फूल-फल से लदे रहा करते हैं। इन वृक्षों के वल्कलों से वस्त्र बनते हैं और फलों से आभूषण बनते हैं। ये वृक्ष यहाँ के निवासियों के समस्त मनोरथों को पूरा किया करते हैं और इनसे सभी अभीष्ट फल मिला करते हैं। यहाँ की धरती मणिमयी है तथा वायु सुरभित तथा सर्वर्तुसुखद है। यहाँ देवलोक से परिच्युत देवगण ही मनुष्यरूप में जन्म लेते हैं। यहाँ स्त्री-पुरुष के जोड़े साथ-साथ जन्म लेते हैं और वे एक समान आयु के होते हैं। चक्र-वाकयुगल की भांति यहाँ के स्त्री-पुरुष परस्पर बड़े अनुरक्त रहा करते हैं। इनकी आयु साढ़े चौदह सहस्र वर्षों की होती है। यहाँ का पहला प्रमुख महापर्वत 'चन्द्रकान्त' है

चतुर्दशसहस्राणि तेषां सार्द्धानि वै स्थितिः ।
चन्द्रकान्तश्च शैलेन्द्रः सूर्य्यकान्तस्तथापरः ॥२२।
तस्मिन् कुलाचलौ वर्षे तन्मध्ये च महानदी ।
भद्रसोमा प्रयात्युर्व्यां पुण्यामलजलौघिनी ॥२३।
सहस्रशस्तथैवान्या नद्यो वर्षेऽपि चोत्तरे ।
तथान्याः क्षीरवाहिन्यो घृतवाहिन्य एव च ॥२४।
दध्नो ह्रदास्तथा तत्र तथान्ये चानुपर्व्वताः ।
अमृतास्वादकल्पानि फलानि विविधानि च ॥२५।
वनेषु तेषु वर्षेषु शतशोऽथ सहस्रशः ।
तत्रापि भगवान् विष्णुः प्राक्शिरा मत्स्यरूपवान् ॥२६।
विभक्तो नवधा विप्र ! नक्षत्राणां त्रयं त्रयम् ।
दिशस्तथापि नवधा विभक्ता मुनिसत्तम ॥२७।
चन्द्रद्वीपः समुद्रे च भद्रद्वीपस्तथापरः ।
तत्रापि पुण्यो विख्यातः समुद्रान्तर्महामुने ॥२८।
इत्येतत् कथितं ब्रह्मन् ! कुरुवर्षं मयोत्तरम् ।
शृणु किंपुरुषादीनि वर्षाणि गदतो मम ॥२९।

॥ इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे 'उत्तरकुरुकथनं' नामैकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥

और दूसरा 'सूर्यकान्त'। इस वर्ष में ये ही दो कुलपर्वत हैं। इनके मध्य में धरातल पर 'भद्रसोमा' नाम की महानदी, जिसकी जलधारा बड़ी पवित्र और बड़ी निर्मल होती है, बहा करती है। इसके अतिरिक्त भी इस उत्तरकुरु वर्ष में सहस्रों नदियाँ हैं, जिनमें कुछ क्षीरवाहिनी हैं और कुछ घृतवाहिनी ॥ १८-२४ ॥

इस वर्ष में दही के जलाशय हैं और अनेकों अनुपर्वत (गण्डशैल) हैं। साथ ही साथ इसमें सैकड़ों-हजारों की संख्या में जो वन हैं, उनके वृक्षों में अमृत के समान स्वादिष्ट नाना भांति के फल लगा करते हैं। इस वर्ष में भी पूर्व दिशा की ओर सिर किये, मत्स्यरूपधारी भगवान् विष्णु विराजते हैं। इस वर्ष में नव भागों में विभक्त तीन-तीन के क्रम से तीन-तीन नक्षत्र हैं और इसी प्रकार मुनिवर क्रौष्टुकि ! यहाँ दिग्भाग भी नव भागों में विभक्त हैं ॥ २५-२७ ॥

इसके पार्श्ववर्ती समुद्र में दो द्वीप हैं—१) चन्द्रद्वीप और २) भद्रद्वीप। मुनिवर क्रौष्टुकि ! समुद्र के मध्य में एक और द्वीप है, जो पुण्यनाम से सर्वत्र प्रसिद्ध है। महर्षि क्रौष्टुकि ! मैंने इस प्रकार तुमसे उत्तर कुरुवर्ष के सम्बन्ध में बता दिया। अब सुनो, मैं तुमसे किंपुरुष प्रभृति और वर्षों के विषय में बता रहा हूँ ॥ २८-२९ ॥

पर्यालोचन

(क) इस अध्याय में 'भारतवर्ष' के अतिरिक्त 'भद्राश्व' वर्ष, उसके पर्वत एवं पर्वतीय जनपद तथा 'केतुमाल' वर्ष, उसके पर्वत, जनपद एवं नदी प्रभृति का वर्णन है। यह वर्णन प्राचीन पौराणिक परम्परागत वर्णन-सा प्रतीत होता है, जिसके कारण आजकल इन वर्षों के कुलाचलों, जनपदों तथा नदियों की अवस्थिति का अभिज्ञान असंभव-सा हो गया है। यही बात इस अध्याय में वर्णित उत्तरकुरु वर्ष के सम्बन्ध में भी लागू होती है।

(ख) प्रोफेसर दिनेशचन्द्र सरकार ने अपने 'Studies in the Geography of Ancient and Medieval India' नामक ग्रन्थ (पृष्ठ १८-२१) में वसुमती (पृथिवी) की 'चतुर्द्वीपा वसुमती' तथा 'सप्तद्वीपा वसुमती'—दोनों कल्पनाओं में 'उत्तरकुरु वर्ष', 'केतुमाल' तथा 'भद्राश्व' का नाम-निर्देश किया है; किन्तु इनकी भौगोलिक प्रामाणिकता के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं किया है। इनके विषय में जो भी उल्लेख सम्भव है, वह अन्ततोगत्वा पौराणिक कल्पना का ही परिपोषक हो सकता है, न कि इनके वर्तमान अवस्थान की अभिज्ञापना का।

(ग) मार्कण्डेयपुराण से अर्वाचीन मत्स्यपुराण में भी भद्राश्व प्रभृति वर्षों की अवस्थिति का वर्णन है, जो निम्नलिखित श्लोकों (अध्याय ११२, श्लोक ४३-४५) में द्रष्टव्य हैं—

"स तु मेरुः परिवृतो भुवनैर्भूतभावनैः।
यस्येमे चतुरो देशा नानापार्श्वेषु संस्थिताः॥
भद्राश्वं भारतञ्चैव केतुमालञ्च पश्चिमे।
उत्तराश्चैव कुरवः कृतपुण्यप्रतिश्रयाः॥
विष्कम्भपर्वतास्तद्वन् मन्दरो गन्धमादनः।
विपुलश्च सुपार्श्वश्च सर्वरत्नविभूषितः॥" इत्यादि।

(घ) इसी प्रकार मार्कण्डेयपुराण के बाद में रचे गए वराहपुराण के ८४वें अध्याय में उत्तरकुरु वर्ष का जो वर्णन है, वह प्रायः मार्कण्डेयपुराण के वर्णन का ही अनुसरण करता है। देखिये वराहपुराण का वर्णन—

"तस्य चोत्तरशृङ्गाद्दक्षिणसमुद्रान्ते चोत्तरकुरवः। वस्त्राण्याभरणानि वृक्षेष्वेव जायन्ते क्षीरवृक्षाः क्षीरासवाः सन्ति। मणिभूमिः सुवर्णबालुका। तस्मिन् स्वर्गच्युताश्च पुरुषा वसन्ति। त्रयोदशवर्षशतायुषः। तस्यैव द्वीपस्य पश्चिमेन चतुर्योजनसहस्रमतिक्रम्य देवलोकाश्च। चन्द्रद्वीपो भवति योजनसहस्रपरिमण्डलः। तस्य मध्ये चन्द्रकान्त-सूर्यकान्त-नामानौ गिरिवरौ। तयोश्च मध्ये चन्द्रावती नाम महानदी अनेकवृक्षलताऽनेकनदीसमाकुला। तस्य मध्ये गिरिवरः शतयोजनविस्तीर्णस्तावदुच्छ्रितः। तस्मात् सूर्यावर्तनामा नदी निर्गता। तत्र च सूर्यस्याधिष्ठितम्। तत्र सूर्यदैवत्यास्तद्वर्णाश्च प्रजा दशवर्षसहस्रायुषः। तस्य च द्वीपस्य पश्चिमेन चतुर्योजनसहस्रमतिक्रम्य समुद्रं दशयोजनसाहस्रं परिमण्डलत्वेन

द्वीपो रुद्राकरो नाम। तत्र च भद्रासनं वायोरनेकरत्नशोभितम्। तत्र विग्रहवान् वायुस्तिष्ठति। तपनीयवर्णाश्च प्रजाः पञ्चवर्षशतायुषः ॥"

यह वर्णन मार्कण्डेयपुराण के वर्णन की भाँति आज अत्यन्त काल्पनिक प्रतीत होता है। 'उत्तरकुरु वर्ष एक द्वीप है, जिसके चतुर्दिक् सागर लहराते हैं' यह दृश्य आज के एशिया महाद्वीप में कहाँ देखने को मिलता है? कोई ऐसा अतिप्राचीन युग होगा, जिसमें उत्तरकुरु वर्ष की ऐसी अवस्थिति होगी—इसके अतिरिक्त इस विषय में और कुछ नहीं कहा जा सकता।

(ङ) महाभारत (सभापर्व २८।७-२०) में 'उत्तरकुरु' वर्ष के सम्बन्ध में यह उल्लेख है कि पाण्डववीर अर्जुन ने अपनी विजय-यात्रा में उत्तरकुरु वर्ष को अपने अधीन किया और वहाँ से पर्याप्त रत्नराशि प्राप्त की। महाभारत के अनुसार यह वर्ष यहाँ के 'क्षीरी' नामक वृक्ष से दुग्ध-धारा के प्रवाह, रत्नों के आकर तथा स्वर्णमयी वालुका आदि की विचित्रताओं से विभूषित रहा है। आज यह वर्ष, जो पहले दक्षिण में नीलगिरि और उत्तर में सुमेरुपर्वत के मध्य अवस्थित निर्दिष्ट किया गया है, भारत के वर्तमान भूगोल के अनुसार कहाँ है? है भी या नहीं? कुछ भी निश्चयात्मक रूप से कहना असम्भव है।

श्री मार्कण्डेपुराण के 'उत्तरकुरुकथन' नामक ५९वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त।

षष्टितमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

यत्तु किम्पुरुषं वर्षं तत् प्रवक्ष्याम्यहं द्विज ।
यत्रायुर्दशसाहस्रं पुरुषाणां वपुष्मताम् ।।१।
अनामया ह्यशोकाश्च नरा यत्र तथा स्त्रियः ।
प्लक्षः षण्डश्च तत्रोक्तः सुमहान्नन्दनोपमः ।।२।
तस्य ते वै फलरसं पिबन्तः पुरुषाः सदा ।
स्थिरयौवननिष्पन्नाः स्त्रियश्चोत्पलगन्धिकाः ।।३।
अतः परं किंपुरुषाद्धरिवर्षं प्रचक्ष्यते ।
महारजतसङ्काशा जायन्ते तत्र मानवाः ।।४।
देवलोकच्युताः सर्व्वे देवरूपाश्च सर्वशः ।
हरिवर्षे नराः सर्व्वे पिबन्तीक्षुरसं शुभम् ।।५।
न जरा बाधते तत्र न जीर्य्यन्ते च कर्हिचित् ।
तावन्तमेव ते कालं जीवन्त्यथ निरामयाः ।।६।

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

द्विजवर क्रौष्टुकि ! अब मैं तुमसे उस वर्ष के विषय में बता रहा हूँ, जिसे किंपुरुष वर्ष कहते हैं। यह ऐसा वर्ष है, जिसमें शरीर धारण करने वाले मनुष्यों की आयु दस हजार वर्ष की होती है ॥ १ ॥

यहाँ के नर-नारी-गण नीरोग रहा करते हैं, उन्हें किसी प्रकार का शोक-संताप नहीं सताता और वहाँ नन्दन वन की भाँति प्लक्ष (पाकड़) वृक्षों का एक बहुत बड़ा वन है और वहाँ के निवासी सदा उसी के फल के रस का पान किया करते हैं, जिसके कारण पुरुष स्थिरयौवन के सुख भोगते हैं और महिलाओं की देह से नीलकमल की सुगन्ध सी सुगन्ध निकलती है ॥ २-३ ॥

किंपुरुष नामक इस वर्ष के अतिरिक्त एक और वर्ष है, जिसे 'हरिवर्ष' कहा जाता है। वहाँ के रहने वाले लोगों के शरीरों से महारजत (स्वर्ण) की सी कान्ति निकला करती है, जिन्हें देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वे देवलोक से पृथिवी लोकपर पहुँचे देव हैं, क्योंकि उनका रूप वस्तुतः देवरूप सा लगता है। इस हरिवर्ष के निवासी मनुष्य कल्याणकर इक्षुरस का सदा पान किया करते हैं। इन्हें वृद्धावस्था के कष्ट नहीं सताते; ये लोग कभी शरीर से जीर्ण-शीर्ण नहीं दिखायी देते और नीरोग रहते हैं। ये लोग भी उतने ही समय तक जीवित रहते हैं, जितने समय तक (दस हजार वर्ष तक) 'किंपुरुष' वर्ष के लोग जीवित रहते हैं ॥ ४-६ ॥

मेरुवर्षं मया प्रोक्तं मध्यमं यदिलावृतम् ।
न तत्र सूर्य्यस्तपति न ते जीर्य्यन्ति मानवाः ।।७।
लभन्ते नात्मलाभश्च रश्मयश्चन्द्रसूर्य्ययोः ।
नक्षत्राणां ग्रहाणाश्च मेरोस्तत्र परा द्युतिः ।।८।
पद्मप्रभाः पद्मगन्धा जम्बूफलरसाशिनः ।
पद्मपत्रायताक्षास्तु जायन्ते तत्र मानवाः ।।९।
वर्षाणान्तु सहस्राणि तत्राप्यायुस्त्रयोदश ।
सरावाकारसंस्तारो मेरुमध्ये इलावृते ।।१०।
मेरुस्तत्र महाशैलस्तदाख्यातमिलावृतम् ।
रम्यकं वर्षमस्माच्च कथयिष्ये निबोध तत् ।।११।
वृक्षस्तत्रापि चोत्तुङ्गो न्यग्रोधो हरितच्छदः ।
तस्यापि ते फलरसं पिबन्तो वर्त्तयन्ति वै ।।१२।
वर्षायुतायुषस्तत्र नरास्तत्फलभोगिनः ।
रतिप्रधानविमला जरादौर्गन्ध्यवर्जिताः ।।१३।

मैंने पहले इलावृत वर्ष का जो निर्देश किया है, वह मध्य का वर्ष है और वस्तुतः मेरुवर्ष है। यहाँ सूर्य नहीं तपता और न यहाँ के निवासी शरीर से जीर्ण होते हैं। यहाँ चन्द्र और सूर्य की किरणें मानो जन्म नहीं लेतीं और न ग्रहों और नक्षत्रों की रश्मियां दृष्टिगत होती हैं, क्योंकि सुमेरु की अत्यद्‌भुत द्युति से इन सब ग्रह-नक्षत्रों के रश्मिपुंज पराभूत हो जाते हैं। यहाँ के मनुष्य कमल की सी कान्ति वाले होते हैं; उनके शरीर से कमल की सुगन्ध-सी सुगन्ध निकलती है, यहाँ के लोग जम्बूफल के रस का उपभोग करते हैं और इनके नेत्र कमलपत्र की भाँति बड़े-बड़े और बहुत सुन्दर लगते हैं ।। ७-९ ।।

मेरु के मध्य में विराजमान इस इलावृत वर्ष के निवासी लोगों की आयु तेरह हजार वर्ष की होती है। मेरु के मध्य में यह इलावृत वर्ष शराब (सकोरे) के आकार का है। यहाँ का कुलपर्वत महाशैल मेरु ही है। इस प्रकार मैंने इलावृत वर्ष का वर्णन कर दिया। अब मैं 'रम्यक' नामक वर्ष के विषय में जो कुछ कह रहा हूँ, उसे सुनो और समझो ।। १०-११ ।।

इस 'रम्यक' वर्ष में हरे-हरे पत्तों से भरा एक बहुत ऊँचा न्यग्रोध अथवा वट का वृक्ष है, जिसके फल-रस का पान करते हुए यहाँ के निवासी जीवन-यापन किया करते हैं। यहाँ के लोगों की आयु दस हजार वर्ष की होती है और इतने वर्षों तक वे जीवन का आनन्द भोगते हैं। ये लोग वैषयिक सुख के भोग में निरत रहते हैं, किन्तु बड़े विमल होते हैं और वृद्धावस्था तथा उससे उत्पन्न देह की दुर्गन्ध से सर्वथा रहित होते हैं ।। १२-१३ ।।

तस्मादथोत्तरं वर्षं नाम्ना ख्यातं हिरण्मयम् ।
हिरण्वती नदी यत्र प्रभूतकमलोज्ज्वला ॥१४।
महाबलाः सतेजस्का जायन्ते तत्र मानवाः ।
महाकाया महासत्त्वा धनिनः प्रियदर्शनाः ॥१५।

॥ इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे 'किंपुरुषादिवर्षवर्णनम्' नाम षष्टितमोऽध्यायः ॥

इस वर्ष के उत्तर दिग्भाग में जो वर्ष हैं, उसे 'हिरण्मय' वर्ष कहते हैं। इस वर्ष में हिरण्वती नाम की नदी प्रवाहित होती है, जिसमें अनेकों कमल वन हैं, जिनके कारण वह कमल की कान्ति वाली प्रतीत होती हैं। यहाँ जो मनुष्य निवास करते हैं, वे बड़े बलिष्ठ, बड़े तेजस्वी, महाकाय, अतिमानुष-पराक्रम-सम्पन्न, धनवान् तथा देखने में बड़े सुन्दर होते हैं ॥ १४-१५ ॥

पर्यालोचन

(क) इस अध्याय में किंपुरुषवर्ष, हरिवर्ष, इलावृतवर्ष, रम्यकवर्ष और हिरण्यमयवर्ष—इस वर्षपञ्चक का पौराणिक अतिरंजित वर्णन है। श्रीमद्भागवत (५म स्कन्ध) के अनुसार 'किंपुरुषवर्ष' मारुति हनुमान् की रामभक्ति साधना का पावनक्षेत्र रह चुका है। महाभारत (सभापर्व २३।१, २) में अर्जुन के द्वारा 'किंपुरुषवर्ष' की विजय का उल्लेख मिलता है। महाभारत के अश्वमेधपर्व (८८.३७) में किंपुरुषवर्षीय राजगण का महाराज युधिष्ठिर के अश्वमेध-यज्ञ में सम्मिलित होने का भी निर्देश है। किंपुरुषवर्ष के पद्मसरोवर धनाधिपति कुबेर के लीला-विहार के क्षेत्र थे—यह वर्णन महाभारत (वनपर्व २७५.३३) में मिलता है। इस प्रकार किंपुरुषवर्ष के अस्तित्व से महाभारत और महापुराण दोनों परिचित हैं, किन्तु आजकल इस वर्ष के अस्तित्व के विषय में कुछ निर्णय देना पर्याप्त साक्ष्य के अभाव में असम्भव है।

(ख) 'हरिवर्ष' का उल्लेख महाभारत (सभापर्व-दक्षिणीसंस्करण-२८) में अर्जुन के उत्तर दिग्विजयवर्णन के प्रसङ्ग में मिलता है। इसकी आधुनिक स्थिति पौराणिक परम्परा के गर्भ में है।

(ग) मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय में इलावृतवर्ष का ऐसा वर्णन है, मानो यह दिव्यलोक हो। जम्बूद्वीप के इस मध्यवर्ती वर्ष का महाभारत (सभापर्व-२८) में भी उल्लेख है। इसके आधुनिक अस्तित्व के विषय में पौराणिक भारतीय भूगोल के रचनाकार कोई विशेष साक्ष्य नहीं उपस्थापित करते।

(घ) 'रम्यकवर्ष' का इस अध्याय में जो वर्णन है, उसके अनुसार यहाँ के निवासी वैषयिक सुखभोग में लिप्त दिखाए गए हैं। इस वर्ष का नाम महाराज अग्नीध्र के पुत्र रम्यक के नाम पर पड़ा है, जो कि यहाँ का राजा था। महाभारत (सभापर्व—२८) में इस वर्ष पर भी अर्जुन की विजय का वर्णन मिलता है, जिसमें यह भी उल्लेख है कि अर्जुन ने यहाँ के शासकों को परास्त कर उनपर कर लगाया था।

(ङ) 'हिरण्मय' वर्ष के विषय में देवीभागवत (८म स्कन्ध) में यह उल्लेख मिलता है कि यह वर्ष भी, रम्यक और कुरुवर्ष की भाँति, नीलगिरि, श्वेतगिरि तथा शृङ्गवान् पर्वतों की तलहटी में अवस्थित रह चुका है। श्रीमद्भागवत (५म स्कन्ध) में भी यह वर्ष जम्बूद्वीप के एक वर्ष के रूप में निर्दिष्ट है। इसके भी वर्तमान अस्तित्व के विषय में कुछ विशेष उल्लेख असम्भव है।

श्री मार्कण्डेयपुराण के 'किंपुरुषादिवर्षवर्णन' नामक ६०वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त।

एकषष्टितमोऽध्यायः

क्रौष्टुकिरुवाच—

कथितं भवता सम्यग् यत् पृष्टोऽसि महामुने ।
भूसमुद्रादिसंस्थानं प्रमाणानि तथा ग्रहाः ।।१।
तेषाञ्चैव प्रमाणञ्च नक्षत्राणाञ्च संस्थितिः ।
भूरादयस्तथा लोकाः पातालान्यखिलान्यपि ।।२।
स्वायम्भुवं तथा ख्यातं मुने ! मन्वन्तरं मम ।
तदन्तराण्यहं श्रोतुमिच्छे मन्वन्तराणि वै ।
मन्वन्तराधिपान् देवानृषींस्तत्तनयान्नृपान् ।।३।

मार्कण्डेय उवाच—

मन्वन्तरं मयाख्यातं तव स्वायम्भुवं च यत् ।
स्वारोचिषाख्यमन्यत् तु शृणु तस्मादनन्तरम् ।।४।
कश्चिद् द्विजातिप्रवरः पुरेऽभूदरुणास्पदे ।
वरुणायास्तटे विप्रो रूपेणात्यश्विनावपि ।।५।

क्रौष्टुकि ने कहा—

हे महामुनि ! आपसे मैंने जो पूछा था वह सब आपने अच्छी तरह बता दिया। आपने मुझे यह बता दिया कि भूमण्डल तथा समुद्रादि के संस्थान कैसे हैं, उनके परिमाण क्या हैं, उन्हें प्रभावित करने वाले ग्रहों की क्या स्थिति है, उन ग्रहों के परिमाण क्या हैं, उनसे सम्बद्ध नक्षत्रों के संस्थान कैसे हैं, भूर्भुवःस्वः प्रभृति लोक कैसे हैं और समस्त रसातल अवस्थान कैसा है ? आपने मुझे स्वायम्भुव मन्वन्तर के सम्बन्ध में भी सब कुछ कह दिया। अब मैं आपसे स्वायम्भुव मन्वन्तर के बाद के और मन्वन्तरों के विषय में सुनना चाहता हूँ और यह भी सुनना चाहता हूँ कि उन मन्वन्तरों के कौन-कौन अधिपति हैं, कौन-कौन देव हैं, कौन-कौन ऋषि हैं, कौन-कौन ऋषिवंश हैं और कौन-कौन राजगण हैं ॥ १-३ ॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

क्रौष्टुकि ! मैंने तुमसे स्वायम्भुव मन्वन्तर के विषय में बताया है। अब, उसके बाद के स्वारोचिष मन्वन्तर के सम्बन्ध में मुझसे सुनो ॥ ४॥

बहुत पहले की बात है, जब कि 'अरुणास्पद' नामक नगर में 'वरुणा' नामक नदी के तट पर, द्विजों में अग्रगण्य तथा रूप में अश्विनीकुमारों से भी अधिक सुन्दर

मृदुस्वभावः सद्वृत्तो वेदवेदाङ्गपारगः ।
सदातिथिप्रियो रात्रावागतानां समाश्रयः ।।६।
तस्य बुद्धिरियं त्वासीदहं पश्ये वसुन्धराम् ।
अतिरम्यवनोद्यानां नानानगरशोभिताम् ।।७।
अथागतोऽतिथिः कश्चित् कदाचित्तस्य वेश्मनि ।
नानौषधिप्रभावज्ञो मन्त्रविद्याविशारदः ।।८।
अभ्यर्थितस्तु तेनासौ श्रद्धापूतेन चेतसा ।
तस्याचख्यौ स देशांश्च रम्याणि नगराणि च ।।९।
वनानि नद्यः शैलांश्च पुण्यान्यायतनानि च ।
स ततो विस्मयाविष्टः प्राह तं द्विजसत्तमम् ।।१०।
अनेकदेशदर्शित्वेनातिश्रमसमन्वितः ।
त्वं नातिवृद्धो वयसा नातिवृत्तश्च यौवनात् ।
कथमल्पेन कालेन पृथिवीमटसि द्विज ।।११।

एक ब्राह्मणदेवता थे। वे स्वभाव के बड़े सरल थे, सदाचारी थे, वेदवेदाङ्गपारङ्गत थे, सदा अतिथि-सत्कार में निरत रहते थे तथा रात में अपने आवास पर आए सभी लोगों के शरणदाता थे। उनके मन में यह बात आयी कि वे समस्त वसुन्धरा का दर्शन करें और यह देखें कि वसुन्धरा वन-काननों से कैसे अत्यन्त रमणीय लगती है और उस पर अवस्थित अनेकानेक पुर-नगरों से वह कैसे शोभित रहती है। कभी, एक अतिथि, उनके आवास पर उपस्थित हुआ। वह अतिथि ऐसा था जो नाना प्रकार की औषधियों और उनके प्रभावों का पूर्णज्ञाता था और मन्त्रविद्या में विशेष निपुण था। उस ब्राह्मणदेवता ने श्रद्धा से शुद्धचित्त होकर, उस अतिथि से इस सम्बन्ध में (वसुन्धरा-दर्शन के सम्बन्ध में) अभ्यर्थना की और उस अतिथि ने उस ब्राह्मणदेवता के प्रति पृथिवीलोक के देशों और रम्य पुर-नगरों का वर्णन किया। उसने उन (ब्राह्मण-देवता) को वन-काननों, नदियों, पर्वतों तथा पुण्यायतनों के विषय में भी बताया। उस अतिथि की बातें सुनकर वे ब्राह्मणदेवता बड़े विस्मयाविष्ट हो गए और उस ब्राह्मणोत्तम अतिथि से यह कहा—द्विजवर! आपने अनेकों देश देखें हैं, किन्तु ऐसा लगता है, जैसे उनके दर्शनार्थ अपने परिभ्रमण में आपको कोई थकावट नहीं हुई, आप अवस्था की दृष्टि से वहुत वृद्ध भी नहीं लगते, क्योंकि अभी-भी आपने अपने यौवन का अतिक्रमण नहीं किया है। तब, इतने थोड़े समय में आपने किस प्रकार पृथिवी का परिभ्रमण सम्पन्न कर लिया? ॥ ५-११ ॥

ब्राह्मण उवाच—

मन्त्रौषधिप्रभावेण विप्राप्रतिहता गतिः ।
योजनानां सहस्त्रं हि दिनार्द्धेन व्रजाम्यहम् ॥१२॥

मार्कण्डेय उवाच—

ततः स विप्रस्तं भूयः प्रत्युवाचेदमादरात् ।
श्रद्धधानो वचस्तस्य ब्राह्मणस्य विपश्चितः ॥१३॥
मम प्रसादं भगवन् ! कुरु मन्त्रप्रभावजम् ।
द्रष्टुमेतां मम महीमतीवेच्छा प्रवर्तते ॥१४॥
प्रादात् स ब्राह्मणश्चास्मै पादलेपमुदारधीः ।
अभिमन्त्रयामास दिशं तेनाख्याताञ्च यत्नतः ॥१५॥
तेनानुलिप्तपादोऽथ स द्विजो द्विजसत्तम ।
हिमवन्तमगाद् द्रष्टुं नानाप्रस्रवणान्वितम् ॥१६॥
सहस्त्रं योजनानां हि दिनार्द्धेन व्रजामि यत् ।
आयास्यामीति सञ्चिन्त्य तदर्द्धेनापरेण हि ॥१७॥

ब्राह्मण (उस अतिथि) ने कहा—

द्विजवर ! मन्त्र तथा औषधि के प्रभाव से मेरी गति सर्वत्र अप्रतिहत है, क्योंकि आधे दिन के समय में ही मैं सहस्रों योजन चला करता हूँ ॥ १२ ॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

अपने अतिथिरूप उस ब्राह्मण की ऐसी बात सुनकर उस ब्राह्मणदेवता ने बड़े आदरपूर्वक उससे बहुत बार कहा, क्योंकि उस बुद्धिमान् ब्राह्मण अतिथि की बात पर उन्हें विश्वास हो गया था । उन ब्राह्मणदेवता ने यह कहा—भगवन् ! अपने मन्त्र और औषधि के दान से मुझ पर भी कृपा करें, क्योंकि इस विस्तृत पृथिवी के दर्शन के लिए मेरे हृदय में बड़ी अभिलाषा उत्पन्न हो गयी है ॥ १३-१४ ॥

यह सुनकर उस उदारहृदय ब्राह्मण ने अपने आतिथेय उन ब्राह्मणदेवता को पादलेप की औषधि दी और उन्होंने जिस दिशा में भ्रमण के लिए कहा, उस दिशा को उसने बड़े प्रयत्नपूर्वक अभिमन्त्रित कर दिया । द्विजवर क्रौष्टुकि ! उस अतिथि ब्राह्मण द्वारा पादलेप लगा देने पर वे ब्राह्मणदेवता अनेक निर्झर-स्रोतों से सुशोभित हिमालय के दर्शन के लिए चल पड़े; क्योंकि उन्होंने सोचा कि जब आधे दिन में वे योजन-सहस्र चले जायेंगे, तब आधे दिन में लौट भी आयेंगे ॥ १५-१७ ॥

सम्प्राप्तो हिमवत्पृष्ठं नातिश्रान्ततनुर्द्विज ।
विचचार ततस्तत्र तुहिनाचलभूतले ॥१८॥
पादाक्रान्तेन तस्याथ तुहिनेन विलीयता ।
प्रक्षालितः पादलेपः परमौषधिसम्भवः ॥१९॥
ततो जडगतिः सोऽथ इतश्चेतश्च पर्य्यटन् ।
ददर्शातिमनोज्ञानि सानूनि हिमभूभृतः ॥२०॥
सिद्धगन्धर्वजुष्टानि किन्नराभिरतानि च ।
क्रीडाविहाररम्याणि देवादीनामितस्ततः ॥२१॥
दिव्याप्सरोगणशतैराकीर्णान्यवलोकयन् ।
नातृप्यत द्विजश्रेष्ठः प्रोद्भूतपुलको मुने ॥२२॥
क्वचित् प्रस्रवणाद् भ्रष्टजलपातमनोरमम् ।
प्रनृत्यच्छिखिकेकाभिरन्यतश्च निनादितम् ॥२३॥
दात्यूहकोयष्टिकाद्यैः क्वचिच्चातिमनोहरैः ।
पुंस्कोकिलकलालापैः श्रुतिहारिभिरन्वितम् ॥२४॥
प्रफुल्लतरुगन्धेन वासितानिलवीजितम् ।
मुदा युक्तः स ददृशे हिमवन्तं महागिरिम् ॥२५॥

द्विजवर क्रौष्टुकि ! विना आयास-प्रयास के वे ब्राह्मणदेवता हिमालय के ऊपर पहुँच गए और हिमालय के धरातल पर विचरण करने लगे ॥ १८ ॥

तब ऐसा हुआ कि उनके पैरों के दबाव से बर्फ पिघलने लगी और दिव्य औषधि से बनाया उनका पादलेप धुल गया। उसके बाद उनकी चाल ढ़ीली पड़ गयी और वे इधर-उधर घूमने-फिरने लगे। अपने परिभ्रमण में उन्होंने हिमवान् पर्वत के शिखरों का दर्शन किया, जो अत्यन्त मनोरम थे ॥ १९-२० ॥

मुनिवर क्रौष्टुकि ! वे ब्राह्मणदेवता हिमालय के उन सिद्ध-गन्धर्व निषेवित, किन्नरों के क्रीडास्थल, चतुर्दिक् देवों के लीलाविहार से रमणीय तथा सहस्रों की संख्या में देवलोक की अप्सराओं से आकीर्ण शृङ्गों को देखते हुए आनन्द से रोमाञ्चित हो उठे, किन्तु तब भी उनका मन तृप्त नहीं हुआ ॥ २१-२२ ॥

बड़े आनन्द से उन्होंने उस महाशैल हिमवान् का दर्शन किया, जो एक ओर झरनों से गिरते जलप्रपात से मनोरम लग रहा था, दूसरी ओर नृत्य करते मयूरों की केका-ध्वनि से प्रतिध्वनित हो रहा था, कहीं चील्ह प्रभृति पक्षियों की चिल्लाहट और कहीं अतिमनोहर तथा श्रुतिमधुर कोकिलों के सुन्दर संगीत से मुखरित हो रहा था और जिसे सर्वत्र फूलों से लदे वृक्षों की सुगन्ध से सुगन्धित वायु मानों पंखा झल रही थी ॥ २३-२५ ॥

दृष्ट्वा चैतं द्विजसुतो हिमवन्तं महाचलम् ।
श्वो द्रक्ष्यामीति संचिन्त्य मतिश्चक्रे गृहं प्रति ।।२६।
विभ्रष्टपादलेपोऽथ चिरेण जडितक्रमः ।
चिन्तयामास किमिदं मयाज्ञानादनुष्ठितम् ।।२७।
यदि प्रलेपो नष्टो मे विलीनो हिमवारिणा ।
शैलोऽतिदुर्गमश्चायं दूरश्चाहमिहागतः ।।२८।
प्रयास्यामि क्रियाहानिमग्निशुश्रूषणादिकम् ।
कथमत्र करिष्यामि सङ्कटं महदागतम् ।।२९।
इदं रम्यमिदं रम्यमित्यस्मिन् वरपर्वते ।
सक्तदृष्टिरहं तृप्तिं न यास्येऽब्दशतैरपि ।।३०।
किन्नराणां कलालापाः समन्ताच्छ्रोत्रहारिणः ।
प्रफुल्लतरुगन्धांश्च घ्राणमत्यन्तमृच्छति ।।३१।
सुखस्पर्शस्तथा वायुः फलानि रसवन्ति च ।
हरन्ति प्रसभं चेतो मनोज्ञानि सरांसि च ।।३२।

महापर्वत हिमवान् का दर्शन कर लेने के बाद वे ब्राह्मणदेवता यह सोच कर कि अगले दिन फिर आकर देखूँगा, अपने आवास पर लौटने की चिन्ता करने लगे ॥ २६ ॥

किन्तु उनका पादलेप नष्ट ही हो गया था, जिसके कारण उनकी चाल बहुत पहले से ही मन्द पड़ गयी थी और वे इस सोच-विचार में पड़ गए कि अज्ञानवश उन्होंने यह सब क्या कर डाला ॥ २७ ॥

वे सोचने लगे कि यदि हिमजल से उनका पादलेप धुल गया है, तो इस पर्वत पर परिभ्रमण बड़ा कष्ट-साध्य है और वे घर से बहुत दूर निकल आए हैं ॥ २८ ॥

वे सोचते रहे कि यहाँ रुकने पर उनके धर्मकर्मानुष्ठान की हानि हो जायेगी, क्योंकि यहाँ अग्निहोत्र प्रभृति कार्य कैसे किए जा सकेंगे ? इस प्रकार यहाँ आने में तो बहुत बड़ा संकट उपस्थित हो गया ॥ २९ ॥

उन्होंने सोचा कि इस सुन्दर हिमशैल पर 'यह कितना सुन्दर है, वह कितना सुन्दर है' इस प्रकार प्रत्येक दृश्य पर टकटकी लगाते वे सैकड़ों वर्षों में भी पूर्णतया तृप्त नहीं हो सकेंगे ॥ ३० ॥

चारों दिशाओं में किन्नरों के मधुर गान के आलाप कितने श्रोत्रमधुर हो रहे हैं, मेरी नासिका फूले हुए पेड़ों की सुगन्ध की ओर खिंची जा रही है, यहाँ की वायु का शरीर से संस्पर्श कितना सुखद है, यहाँ के फल कितने रसीले हैं और यहाँ के

एवं गते तु पश्येयं यदि कश्चित् तपोनिधिम् ।
स ममोपदिशेन्मार्गं गमनाय गृहं प्रति ।।३३।

मार्कण्डेय उवाच—

स एवं चिन्तयन् विप्रो बभ्राम च हिमाचले ।
भ्रष्टपादौषधिबलो वैक्लवं परमं गतः ।।३४।

तं ददर्श भ्रमन्तञ्च मुनिश्रेष्ठं वरूथिनी ।
वराप्सरा महाभागा मौलेया रूपशालिनी ।।३५।

तस्मिन् दृष्टे ततः साभूद् द्विजवर्य्ये वरूथिनी ।
मदनाकृष्टहृदया सानुरागा हि तत्क्षणात् ।।३६।

चिन्तयामास को न्वेष रमणीयतमाकृतिः ।
सफलं मे भवेज्जन्म यदि मां नावमन्यते ।।३७।

अहोऽस्य रूपमाधुर्य्यमहोऽस्य ललिता गतिः ।
अहो गम्भीरता दृष्टेः कुतोऽस्य सदृशो भुवि ।।३८।

मनोरम सरोवर बलात् मेरा मन अपनी ओर खींचे ले रहे हैं'—ऐसी स्थिति में क्या करूँ? यदि कहीं किसी तपस्वी पर दृष्टि पड़ जाय, तो सम्भव है, वह मुझे मेरे घर पहुँचने का मार्ग वता सके ॥ ३१-३३ ॥

महामुनि मार्कण्डेय आगे बोले—

इस प्रकार सोच-विचार में पड़े वे ब्राह्मणदेवता हिमाचल पर चक्कर लगाते रहे और अपने पादलेप की औषधि की शक्ति के नष्ट हो जाने के कारण बड़े विह्वल हो गए ॥ ३४ ॥

एक दिव्य अप्सरा ने, जिसका नाम 'वरूथिनी' था, जो बड़ी भाग्यशालिनी थी और मौलिकुमारी होने के नाते बड़ी रूपवती थी, इधर-उधर भ्रमण करते हुए उन ब्राह्मणमुनि को देखा ॥ ३५ ॥

उन द्विजवर को देखते ही उस वरूथिनी का हृदय उनके प्रति काम-भावना से आकृष्ट हो गया और तत्काल वह उन पर अनुरक्त हो गयी ॥ ३६ ॥

वह सोचने लगी कि अत्यन्त रमणीय रूप वाला यह कौन पुरुष होगा और यदि उसने मेरी उपेक्षा नहीं की तो मेरा जन्म सफल हो जायेगा ॥ ३७ ॥

वह सोचने लगी—इसका रूपमाधुर्य कितना आश्चर्यजनक है। इसकी चाल-ढ़ाल कितनी मनोहर है। इसकी दृष्टि कितनी गम्भीर है ? इसके समान भूलोक में और कौन हो सकता है ? ॥ ३८ ॥

दृष्टा देवास्तथा दैत्याः सिद्धगन्धर्वपन्नगाः ।
कथमेकोऽपि नास्त्यस्य तुल्यरूपो महात्मनः ॥३९॥
यथाहमस्मिन्मय्येष सानुरागस्तथा यदि ।
भवेदत्र मया कार्य्यस्तत्कृतः पुण्यसञ्चयः ॥४०॥
यद्येष मयि सुस्निग्धां दृष्टिमद्य निपातयेत् ।
कृतपुण्या न मत्तोऽन्या त्रैलोक्ये वनिता ततः ॥४१॥

मार्कण्डेय उवाच—

एवं सञ्चिन्तयन्ती सा दिव्ययोषित् स्मरातुरा ।
आत्मानं दर्शयामास कमनीयतराकृतिम् ॥४२॥
तान्तु दृष्ट्वा द्विजसुतश्चारुरूपां वरूथिनीम् ।
सोपचारं समागम्य वाक्यमेतदुवाच ह ॥४३॥
का त्वं कमलगर्भाभे कस्य किं वानुतिष्ठसि ।
ब्राह्मणोऽहमिहायातो नगरादरुणास्पदात् ॥४४॥
पादलेपोऽत्र मे ध्वस्तो विलीनो हिमवारिणा ।
यस्यानुभावादत्राहमागतो मदिरेक्षणे ॥४५॥

उसने सोचा—उसने देवों को देखा है, दैत्यों को देखा है और सिद्ध-गन्धर्व-पन्नगों को भी देखा है, किन्तु इस महापुरुष के समान सुन्दर उनमें एक भी नहीं दिखायी दिया है ॥ ३९ ॥

जैसे मैं इसके प्रति अनुरक्त हो गयी हूँ, वैसे ही यदि वह भी मेरे प्रति अनुरक्त हो जाय तो ऐसा होने से मुझे पुण्य-सञ्चय प्राप्त हो जाय ॥ ४० ॥

उसने सोच लिया—'यदि आज यह महापुरुष मुझ पर अपनी प्रेम से पगी दृष्टि डाल दे, तब मैं तो यही समझूंगी कि त्रैलोक्य में कोई भी नारी मुझसे अधिक पुण्यवती नहीं है' ॥ ४१ ॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

वह देवाङ्गना, जो उस ब्राह्मणदेवता के प्रति कामाकुल हो चुकी थी, इसी प्रकार बहुत कुछ सोचती रही और अन्ततः उसने अपना अतिकमनीय रूप दिखा दिया। जब उस ब्राह्मणदेवता ने उस सुन्दरी वरूथिनी को देखा, तब आवश्यक औपचारिकता के साथ उसके समीप आकर उससे यह कहा—'अरी कमलकर्णिका सरीखी कान्ति वाली! तू कौन है? तू किसकी है? यहाँ तू क्या कर रही है? मैं तो एक ब्राह्मण हूँ जो 'अरुणास्पद' नगर से यहाँ आ पहुँचा हूँ। हिमजल से मेरे पैरों में लगी पादलेप की औषधि यहाँ हिमवान् पर्वत पर धुल गयी है। अरी मतवाले नयनों वाली! उसी दिव्यौषधि के प्रभाव से तो मैं यहाँ आ सका था ॥ ४२-४५ ॥

वरूथिन्युवाच—

मौलेयाहं महाभागा नाम्ना ख्याता वरूथिनी ।
विचरामि सदैवात्र रमणीये महाचले ॥४६।
साहं त्वद्दर्शनाद्विप्र ! कामवक्तव्यताङ्गता ।
प्रशाधि यन्मया कार्यं त्वदधीनास्मि साम्प्रतम् ॥४७।

ब्राह्मण उवाच—

येनोपायेन गच्छेयं निजगेहं शुचिस्मिते ।
तन्ममाचक्ष्व कल्याणि हानिर्नोऽखिलकर्मणाम् ॥४८।
नित्यनैमित्तिकानान्तु महाहानिर्द्विजन्मनः ।
भवत्यतस्त्वं हे भद्रे ! मामुद्धर हिमालयात् ॥४९।
प्रशस्यते न प्रवासो ब्राह्मणानां कदाचन ।
अपराद्धं न मे भीरु देशदर्शनकौतुकम् ॥५०।
सतो गृहे द्विजाग्र्यस्य निष्पत्तिः सर्वकर्मणाम् ।
नित्यनैमित्तिकानाञ्च हानिरेवं प्रवासिनः ॥५१।

वरूथिनी की उक्ति—

भगवन् ! मैं मौलिकुमारी हूँ, भाग्यशालिनी हूँ और मेरा नाम वरूथिनी है। मैं इस रमणीय महापर्वत पर निरन्तर विहार किया करती हूँ। विप्रवर ! आपके दर्शनमात्र से मदनातुर हो गयी हूँ। आप ही अब आज्ञा दें कि मैं क्या करूँ ? मैं अभी आपकी वशवर्तिनी हूँ ॥ ४६-४७ ॥

ब्राह्मणदेवता की प्रत्युक्ति—

'अरी शुद्धमन्दहासिनी ! अरी कल्याणी ! मुझे तू वह उपाय बता दे, जिसके सहारे मैं अपने घर पहुँच जाऊँ, जिससे मेरे समस्त धर्मकर्मानुष्ठान में कोई क्षति न पहुँचे, क्योंकि यदि द्विजगण अपने नित्य तथा नैमित्तिक धर्मों का अनुष्ठान न करें तो उन्हें (इहलोक और परलोक सम्बन्धी) बहुत क्षति पहुँचती है। इसलिए हे कल्याणी ! तू किसी प्रकार इस हिमालय से मेरा उद्धार कर ॥ ४८-४९ ॥

ब्राह्मणों के लिए कभी भी, प्रवास (घर से बाहर रहना) श्रेयस्कर नहीं माना जाता। इस प्रवास में मेरा कोई अपराध नहीं है। मेरा यह प्रवास केवल देश-दर्शन की उत्सुकता से हुआ है ॥ ५० ॥

ब्राह्मण जब अपने घर में रहें, तभी वे अपने समस्त धर्म-कर्म का अनुष्ठान कर सकते हैं; किन्तु प्रवासी हो जाने पर उनके नित्य-नैमित्तिक धर्माचरण में हानि

सा त्वं किं बहुनोक्तेन तथा कुरु यशस्विनि ।
यथा नास्तं गते सूर्ये पश्यामि निजमालयम् ॥५२॥

वरूथिन्युवाच—

मैवं ब्रूहि महाभाग ! मा भूत्स दिवसो मम ।
मां परित्यज्य यत्र त्वं निजगेहमुपैष्यसि ॥५३॥
अहो रम्यतरः स्वर्गो न यतो द्विजनन्दन ।
अतो वयं परित्यज्य तिष्ठामोऽत्र सुरालयम् ॥५४॥
स त्वं सह मया कान्त ! कान्तेऽत्र तुहिनाचले ।
रममाणो न मर्त्यानां बान्धवानां स्मरिष्यसि ॥५५॥
स्रजो वस्त्राण्यलङ्कारान् भोगभोज्यानुलेपनम् ।
दास्याम्यत्र तथाहन्ते स्मरेण वशगा हृता ॥५६॥
वीणावेणुस्वनं गीतं किन्नराणां मनोरमम् ।
अङ्गाह्लादकरो वायुरुष्णान्नमुदकं शुचि ॥५७॥

अवश्यम्भावी है। इससे अधिक मैं क्या कहूँ। मैं इतना ही कहूँगा कि तू यशस्विनी है और कुछ ऐसा कर जिससे सूर्यास्त होने के पहले मैं अपना घर देख लूँ ॥ ५१-५२ ॥

वरूथिनी बोली—

हे भाग्यशाली द्विजवर ! आप ऐसा न कहें। मैं तो यही मनाती हूँ कि मेरे लिए वह दिन कभी न आवे जब आप मुझे यहाँ छोड़कर अपने घर पर चले जाँय ॥ ५३ ॥

हे द्विजवंशावतंस ! इस हिमालय की अपेक्षा स्वर्गलोक भी अधिक सुन्दर नहीं है। इसलिए हम लोग देवलोक का परित्याग कर यहीं रहें तो अच्छा है ॥ ५४ ॥

इसलिए, मेरे प्रियवर ! जब आप इस सुन्दर हिमालय पर मेरे साथ रमण करने लगेंगे तो मर्त्यलोक के अपने बन्धु-बान्धवों को भूल जायेंगे ॥ ५५ ॥

मैं तो आपके दर्शनमात्र से कामातुर हो चुकी हूँ और आपकी वशवर्तिनी हूँ। यहाँ जब आप मेरे संग रहेंगे तो मैं आपके लिए माल्य, परिधान, अलङ्कार, सुखभोग, भोज्यपदार्थ और अङ्गराग—सबकी व्यवस्था करूँगी ॥ ५६ ॥

यहाँ किन्नरों की वीणा और वेणु की मधुर ध्वनि सुनने को मिलेगी, उनका मनोरम संगीत आनन्द देगा, यहाँ की वायु का संस्पर्श अङ्ग-प्रत्यङ्ग को आह्लादित करेगा, यहाँ खाने के लिए ताजा भोजन मिलेगा और पीने के लिए पवित्र जल ॥ ५७ ॥

मनोभिलषिता शय्या सुगन्धमनुलेपनम् ।
इहासतो महाभाग गृहे किन्ते निजेऽधिकम् ॥५८।
इहासतो नैव जरा कदाचित्ते भविष्यति ।
त्रिदशानामियं भूमिर्यौवनोपचयप्रदा ॥५९।
इत्युक्त्वा सानुरागा सा सहसा कमलेक्षणा ।
आलिलिङ्ग प्रसीदेति वदन्ती कलमुन्मनाः ॥६०।

ब्राह्मण उवाच—

मा मां स्प्राक्षीर्व्रजान्यत्र दुष्टे यः सदृशस्तव ।
मयान्यथा याचिता त्वमन्यथैवाप्युपैषि माम् ॥६१।
सायं प्रातर्हुतं हव्यं लोकान् यच्छति शाश्वतान् ।
त्रैलोक्यमेतदखिलं मूढे हव्ये प्रतिष्ठितम् ॥६२।

वरूथिन्युवाच—

किं ते नाहं प्रिया विप्र! रमणीयो न किं गिरिः।
गन्धर्वान् किन्नरादींश्च त्यक्त्वाभीष्टो हि कस्तव ॥६३।

यहाँ रहने पर, लेटने के लिए आपको ऐसी शय्या मिलेगी, जैसी आपके मन की अभिलाषा हो और यहाँ शरीर में लगाने का आपको ऐसा अङ्गराग मिलेगा जो सुगन्धित हो। इससे बढ़कर आपको अपने घर में क्या मिलेगा ॥ ५८ ॥

जब आप यहाँ रहेंगे तो कभी भी जरावस्था में नहीं पहुँचेंगे। यह भूमि देवभूमि है, जहाँ निवास करने से यौवनकाल की अवधि बहुत बढ़ जाती है ॥ ५९ ॥

ऐसा कहने के बाद प्रेम में पगी उस कमलनयनी वरूथिनी ने, 'कृपा कीजिये, कृपा कीजिये, की मधुर बोली के साथ सहसा बड़ी उत्कण्ठा से उस ब्राह्मण का आलिङ्गन कर लिया ॥ ६० ॥

ब्राह्मणदेवता बोले—

अरी दुष्ट ! मुझे न छूना, अन्यत्र चली जा, वहाँ चली जा जहाँ तेरे जैसा कोई मिले। मैंने तो तुमसे किसी और बात के लिए निवेदन किया था और तूने मुझे कुछ और समझ लिया। सायंकाल और प्रातःकाल हव्य पदार्थ से जो अग्निहोत्र होता है, उससे शाश्वत लोकों की प्राप्ति होती है। अरी मूर्ख ! अग्निदेव के लिए निवेदित हव्य में यह समस्त त्रैलोक्य समा जाता है ॥ ६१-६२ ॥

वरूथिनी की उक्ति—

हे ब्राह्मणदेव ! क्या मैं आपके प्रेमपात्र होने योग्य नहीं ? क्या यह हिमालय मनोरम नहीं ? गन्धर्वों और किन्नरों को छोड़कर कौन ऐसे लोग हैं, जो आपके लिए

निजमालयमप्यस्माद्भवान् यास्यत्यसंशयम् ।
स्वल्पकालं मया सार्द्धं भुङ्क्ष्व भोगान् सुदुर्लभान्।।६४।

ब्राह्मण उवाच—

अभीष्टा गार्हपत्याद्याः सततं मे त्रयोऽग्नयः ।
रम्यं ममाग्निशरणं वेदी विष्टरिणी प्रिया ।।६५।

वरूथिन्युवाच—

अष्टावात्मगुणा ये हि तेषामादौ दया द्विज ।
तां करोषि कथं न त्वं मयि सद्धर्मपालक ।।६६।
त्वद्विमुक्ता न जीवामि तथा प्रीतिमती त्वयि ।
नैतद्वदाम्यहं मिथ्या प्रसीद कुलनन्दन ।।६७।

ब्राह्मण उवाच—

यदि प्रीतिमती सत्यं नोपचाराद्ब्रवीषि माम् ।
तदुपायं समाचक्ष्व येन यामि स्वमालयम् ।।६८।

अधिक अभीष्ट हैं ? आप विश्वास रखें, आप यहाँ से अवश्य ही अपने घर पर पहुँच जायेंगे, किन्तु कुछ समय तक मेरे साथ मानव के लिए दुर्लभ सुखभोगों का आनन्द लें ॥ ६३-६४ ॥

ब्राह्मणदेवता ने कहा—

अरी वरूथिनी ! मेरे अभीष्ट तो गार्हपत्य प्रभृति तीन अग्निदेव हैं। मेरे लिए यज्ञशाला ही सर्वाधिक रम्य है और मेरी प्रिया मेरी कुशासनास्तीर्ण यज्ञवेदी है ॥ ६५ ॥

वरूथिनी बोली—

द्विजवर ! अष्टविध जो आत्मगुण हैं, उनमें सर्वप्रथम 'दया' है। आप सद्धर्म के पालक हैं, तब भला आप मेरे विषय में दया के धर्म का पालन क्योंकर नहीं करते। मैं आप पर ऐसी अनुरक्त हो चुकी हूँ कि आपसे बिछुड़ जाने पर मैं जीवित नहीं रह सकती। हे द्विजकुलनन्दन ! मैं आपसे झूठ नहीं बोल रही हूँ। आप मुझ पर कृपा करें ॥ ६६-६७ ॥

ब्राह्मणदेवता बोले—

वरूथिनी ! यदि तू सचमुच मुझसे प्रेम करती हो और यों हीं बातें नहीं बना रही हो, तो मुझे उपाय बता दो जिसके सहारे मैं अपने आवास पर चला जाऊँ ॥ ६८ ॥

वरूथिन्युवाच—

निजमालयमप्यस्माद्भवान् यास्यत्यसंशयम् ।
स्वल्पकालं मया सार्द्धं भुङ्क्ष्व भोगान् सुदुर्लभान्॥६९।

ब्राह्मण उवाच—

न भोगार्थाय विप्राणां शस्यते हि वरूथिनी ।
इह क्लेशाय विप्राणां चेष्टा प्रेत्याफलप्रदा ॥७०।

वरूथिन्युवाच—

सन्त्राणं म्रियमाणाया मम कृत्वा परत्र ते ।
पुण्यस्यैव फलं भावि भोगाश्चान्यत्र जन्मनि ॥७१।

एवं च द्वयमप्यत्र तवोपचयकारणम् ।
प्रत्याख्यानादहं मृत्युं त्वञ्च पापमवाप्स्यसि ॥७२।

ब्राह्मण उवाच—

परस्त्रियं नाभिलषेदित्युचुर्गुरवो मम ।
तेन त्वां नाभिवाञ्छामि कामं विलप शुष्य वा ॥७३।

वरूथिनी की उक्ति—

हे ब्राह्मणदेव ! आप विश्वास रखें । आप यहाँ से अपने घर अवश्य चले जायेंगे, किन्तु कुछ समय के लिए मेरे साथ सुदुर्लभ विषय भोगों का आनन्द लेलें ॥ ६९ ॥

ब्राह्मण की प्रत्युक्ति—

अरी वरूथिनी ! शास्त्र ब्राह्मण के लिए विषयभोग का विधान नहीं करते । विषयभोग ब्राह्मणों के लिए इस लोक में तो क्लेशकारक है ही, परलोक में भी उससे कोई सुफल नहीं मिलता ॥ ७० ॥

वरूथिनी बोली—

ब्राह्मणदेवता ! आपके बिना मैं मर रही हूँ, आप मुझे अपनाकर मेरे जीवनदाता बनें । ऐसा करने से आपको परलोक में तो पुण्यफल मिलेगा ही, इस लोक में भी अन्य जन्मों में भोग ही भोग मिलेंगे । इस प्रकार मेरे साथ सुखभोग और परलोक का पुण्यफल दोनों में आपका कल्याण है । किन्तु, यदि आपने मुझे निराश कर दिया तब मैं तो मरूँगी ही, साथ ही साथ आप भी पाप के भागी होंगे ॥ ७१-७२ ॥

ब्राह्मणदेवता ने कहा—

मेरे गुरुजनों का आदेश है कि परस्त्री की कामना नहीं करनी चाहिए । इसलिए मैं तुझ से प्रेम नहीं कर सकता । अब तू रो या सूखकर कांटा हो जा, जो चाहे सो कर ले ॥ ७३ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

इत्युक्त्वा स महाभागः स्पृष्ट्वापः प्रयतः शुचिः ।
प्राहेदं प्रणिपत्याग्निं गार्हपत्यमुपांशुना ॥७४॥
भगवन् ! गार्हपत्याग्ने योनिस्त्वं सर्वकर्मणाम् ।
त्वत्त आहवनीयोऽग्निर्दक्षिणाग्निश्च नान्यतः ॥७५॥
युष्मदाप्यायनाद् देवा वृष्टिशस्यादिहेतवः ।
भवन्ति शस्यादखिलं जगद्भवति नान्यतः ॥७६॥
एवं त्वत्तो भवत्येतद्येन सत्येन वै जगत् ।
तथाहमद्य स्वं गेहं पश्येयं सति भास्करे ॥७७॥
यथा वै वैदिकं कर्म्म स्वकाले नोज्झितं मया ।
तेन सत्येन पश्येयं गृहस्थोऽद्य दिवाकरम् ॥७८॥
यथा च न परद्रव्ये परदारे च मे मतिः ।
कदाचित् साभिलाषाऽभूत्तथैतत् सिद्धिमेतु मे ॥७९॥

॥ इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे 'ब्राह्मणवाक्यम्' नामैकषष्टितमोऽध्यायः ॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

वे भाग्यशाली ब्राह्मणदेवता, यह कह कर, संयतचित्त हुए और शुद्ध होकर जल से आचमन किया। तदनन्तर उन्होंने मन ही मन गार्हपत्य अग्नि को प्रणाम किया और यह कहा—हे भगवन् ! हे गार्हपत्याग्निदेव ! आप सभी धर्म-कर्मों के परमकारण हैं, आपसे ही आहवनीय अग्नि का आविर्भाव होता है और दक्षिणाग्नि का भी, क्योंकि इन दोनों अग्निदेवों का और कोई कारण नहीं। आप जब आप्यायित होते हैं, तब देवगण वर्षा और कृषि आदि के हेतु बन जाते हैं। शस्य से ही, न कि और किसी के द्वारा, यह समस्त जगज्जीवन चला करता है। इस प्रकार जिस सत्य से आपके द्वारा जगत् के ये सब कार्य सम्पादित होते हैं, उसी आपके सत्य की शक्ति से सूर्य रहते मैं अपने घर पर पहुँच जाऊँ—(मुझ पर ऐसी कृपा करें)। मैंने यथासमय करणीय कोई भी वेदविहित धर्म-कर्म अब तक नहीं छोड़ा है, क्योंकि मैंने गृहस्थधर्म का पालन किया है। इस सत्य के बल से मैं आज सूर्य भगवान् को देखता रहूँ। अब तक मैंने न तो पराया धन हथियाने की बात सोची है और न परायी स्त्री पर उत्सुक होकर दृष्टि-निक्षेप किया है। मेरे इस धर्मपालन के प्रभाव से मुझे वह सिद्धि मिल जाय (जिसके सहारे मैं अपने घर पर पहुँच जाऊँ) ॥ ७४-७९ ॥

❋

पर्यालोचन

(क) १४ मन्वन्तरों में सर्वप्रथम मन्वन्तर का नाम 'स्वायम्भुव' है। 'स्वायम्भुव' शब्द की व्युत्पत्ति से ही यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्वायम्भुव मनु साक्षात् स्वयम्भू ब्रह्मा से आविर्भूत हुए थे। स्वायम्भुव मन्वन्तर के बाद स्वारोचिष मन्वन्तर का युग आता है। इस अध्याय में स्वारोचिष मनु का विचित्र आख्यान वर्णित है। यह आख्यान काव्य-शैली में लिखा गया है। 'स्वरोचिष्' की माता 'वरूथिनी' नाम की देवाङ्गना थी, जो एक तेजस्वी तपस्वी सुन्दर ब्राह्मण को हिमालम पर्वत पर भ्रमण करते देख कर उस पर मोहित हो गयी थी। ब्राह्मण ने उसे अर्द्धाङ्गिनी बनाना स्वीकार नहीं किया; किन्तु उसका पहला प्रेमी, जो एक गन्धर्व था, उसी ब्राह्मण के दिव्यरूप में अपने आपको परिवर्तित कर उसके साथ संभोग करने में समर्थ हो गया। दिव्य ब्राह्मण के तेजस्वी रूप के ध्यान में वरूथिनी ने अपने आपको दिव्य ब्राह्मणरूपधारी उस गन्धर्व को सौंप दिया। दोनों के सहवास-संभोग से 'स्वरोचिष्' का जन्म हुआ, जो जन्म लेते ही अग्नि की सी दीप्ति से देदीप्यमान लगने लगा। यही 'स्वरोचिष्' दूसरा मनु बना और इसके नाम से 'स्वारोचिष' मन्वन्तर प्रारम्भ हुआ।

(ख) देवीभागवत (१० म स्कन्ध) में भी स्वरोचिष् मनु का उल्लेख आता है, किन्तु मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय में स्वरोचिष् मनु का जो वर्णन है, वह देवीभागवत के वर्णन से भिन्न है। देवीभागवत में स्वरोचिष् मनु को स्वायम्भुव मनु के प्रथम पुत्र महाराज प्रियव्रत का पुत्र बताया गया है। स्वायम्भुव मनु जैसे देवी के उपासक थे, वैसे ही स्वरोचिष् मनु भी देवी के परम श्रद्धालु भक्त थे। देवीभागवत में स्वरोचिष् मनु की उपास्य देवी को 'धारिणी देवी' कहा गया है।

श्री मार्कण्डेयपुराण के 'ब्राह्मणवाक्य' नामक ६१वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त।

द्विषष्टितमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

एवन्तु वदतस्तस्य द्विजपुत्रस्य पावकः ।
गार्हपत्यः शरीरे तु सन्निधानमथाकरोत् ॥१॥

तेन चाधिष्ठितः सोऽथ प्रभामण्डलमध्यगः ।
व्यदीपयत तं देशं मूर्तिमानिव हव्यवाट् ॥२॥

तस्यास्तु सुतरां तत्र तादृग्रूपे द्विजन्मनि ।
अनुरागोऽभवद्विप्रं पश्यन्त्या देवयोषितः ॥३॥

ततः सोऽधिष्ठितस्तेन हव्यवाहेन तत्क्षणात् ।
यथापूर्वं तथा गन्तुं प्रवृत्तो द्विजनन्दनः ॥४॥

जगाम च त्वरायुक्तस्तया देव्या निरीक्षितः ।
आदृष्टिपातात्तन्वङ्ग्या निश्वासोत्कम्पिकन्धरम् ॥५॥

ततः क्षणेनैव तदा निजगेहमवाप्य सः ।
यथाप्रोक्तं द्विजश्रेष्ठश्चकार सकलाः क्रियाः ॥६॥

महामुनि मार्कण्डेय ने आगे कहा—

वे द्विजपुत्र जब इस प्रकार बोलने लगे तब गार्हपत्याग्निदेव उनके शरीर में अनुप्रविष्ट हो गए ॥ १ ॥

जैसे ही गार्हपत्य अग्नि ने उन ब्राह्मणकुमार के शरीर में अनुप्रवेश किया, वैसे ही वे मूर्तिमान् अग्निदेव के समान प्रभापुंज से परिव्याप्त हो गए और उस स्थान को जहाँ वे थे, प्रकाशमय बनाने लगे ॥ २ ॥

उस देवाङ्गना (वरूथिनी) ने जब उन ब्राह्मणकुमार के उस (अद्‌भुत) रूप को देखा, तब उनके प्रति उसके हृदय में अनुराग का भाव भर उठा ॥ ३ ॥

वे ब्राह्मणकुमार, जिनका शरीर गार्हपत्य अग्नि से तत्काल अधिष्ठित हो चुका था, पूर्ववत्, अपने घर जाने के लिये उद्यत हो गए, वरूथिनी उन्हें देखती ही रह गयी और वे शीघ्रगति से वहाँ से चल पड़े। उन पर जब से उसने दृष्टिपात किया तब से ही वह मदनातुर हुई आह भरने लगी और उसका कन्धा कांपने लगा। क्षण भर में ही वे ब्राह्मणदेवता अपने घर पर पहुँच गए और जैसा उन्होंने कहा था उसी प्रकार, उन्होंने समस्त धर्मक्रिया का अनुष्ठान सम्पन्न किया ॥ ४-६ ॥

अथ सा चारुसर्वाङ्गी तत्रासक्तात्ममानसा ।
निश्वासपरमा निन्ये दिनशेषं तथा निशाम् ॥७॥
निश्वसन्त्यनवद्याङ्गी हाहेति रुदती मुहुः ।
मन्दभाग्येति चात्मानं निनिन्द मदिरेक्षणा ॥८॥
न विहारे न चाहारे रमणीये न वा वने ।
न कन्दरेषु रम्येषु सा बबन्ध तदा रतिम् ॥९॥
चकार रममाणे च चक्रवाकयुगे स्पृहाम् ।
मुक्ता तेन वरारोहा निनिन्द निजयौवनम् ॥१०॥
क्वागताहमिमं शैलं दुष्टदैवबलात्कृता ।
क्व च प्राप्तः स मे दृष्टेर्गोचरं तादृशो नरः ॥११॥
यद्यद्य स महाभागो न मे सङ्गमुपैष्यति ।
तत्कामाग्निरवश्यं मां क्षपयिष्यति दुःसहः ॥१२॥
रमणीयमभूद्यत्तत्पुंस्कोकिलनिनादितम् ।
तेन हीनन्तदेवैतद्दहतीवाद्य मामलम् ॥१३॥

उस सर्वाङ्ग सुन्दरी वरूथिनी ने, जिसका हृदय उन ब्राह्मणकुमार में प्रेमासक्त हो चुका था, आहें भर-भर कर अवशिष्ट दिन तथा रात्रिकाल बिताया ॥ ७ ॥

वह सुन्दर शरीरवाली देवाङ्गना आह खींचती, हाय-हाय करती, रह-रह कर रोती रही। उस मदिरेक्षणा ने अपने दुर्भाग्य को कोसना और अपनी भर्त्सना करना प्रारम्भ किया। (उन ब्राह्मणकुमार के चले जाने के बाद) उस देवाङ्गना का मन न आहार में लगा न बिहार में और न रमणीय वन में लगा न रमणीय गिरिकन्दरों में। वह सुन्दरी ललचायी आँखों से परस्पर रमण करते चक्रवाकयुगल को देखने लगी और अपने आपको उन ब्राह्मणकुमार से परित्यक्त समझकर अपने यौवन को कोसने लगी। वह विलाप करने लगी—दुर्भाग्य के वशीभूत होकर मैं क्योंकर इस पर्वत पर आयी; क्यों कर वैसा (उस ब्राह्मणकुमार जैसा) सुन्दर मनुष्य मेरे दृष्टि का विषय बना। यदि आज उस भाग्यवान् से मेरा संगम न हो सका तो यह निश्चित है कि दुःसह कामाग्नि मुझे अवश्य भस्मसात् कर देगी। पहले कोकिलों की जो कूक मुझे बड़ी मनोरम लगती थी, आज उस महापुरुष से बिछुड़ जाने पर वही मुझे संताप पहुँचा रही हैं ॥ ८-१३ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

इत्थं सा मदनाविष्टा जगाम मुनिसत्तम ।
ववृधे च तदा रागस्तस्यास्तस्मिन् प्रतिक्षणम् ॥१४॥
कलिर्नाम्ना तु गन्धर्वः सानुरागो निराकृतः ।
तया पूर्वमभूत्सोऽथ तदवस्थां ददर्श ताम् ॥१५॥
स चिन्तयामास तदा किं न्वेषा गजगामिनी ।
निश्वासपवनम्लाना गिरावत्र वरूथिनी ॥१६॥
मुनिशापक्षता किंनु केनचित् किं विमानिता ।
वाष्पवारिपरिक्लिन्नमियन्धत्ते यतो मुखम् ॥१७॥
ततः स दध्यौ सुचिरं तमर्थं कौतुकात् कलिः ।
ज्ञातवांश्च प्रभावेण समाधेः स यथातथम् ॥१८॥
पुनः स चिन्तयामास तद्विज्ञाय मुनेः कलिः ।
ममोपपादितं साधु भाग्यैरेतत्पुराकृतैः ॥१९॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

इस प्रकार कामातुर हुई वह देवाङ्गना, मुनिवर क्रौष्टुकि ! वहाँ से तो चली गयी, किन्तु उन ब्राह्मणकुमार में उसका अनुराग प्रतिक्षण बढ़ता ही गया ॥ १४ ॥

एक गन्धर्व था जिसका नाम कलि था और वह उस देवाङ्गना में बड़ा अनुरक्त था, किन्तु उसे पहले ही उस देवाङ्गना ने तिरस्कृत कर दिया था। उस गन्धर्व ने, उस देवाङ्गना (वरूथिनी) को उस अवस्था (अर्थात् कामातुर तथा मनोरथपूर्ति न होने से शोकाकुल होने की अवस्था) में देखा। वह यह सोचने लगा कि क्या बात है कि इस पर्वत पर यह गजगामिनी देवाङ्गना वरूथिनी निःश्वास वायु के झोकों से म्लानमुखी लग रही है। पता नहीं किसी मुनि के शाप से यह दीनहीन हो गयी है अथवा किसी से यह अपमानित हुई है, क्योंकि इसका मुख नेत्रों से अश्रुजल के गिरते रहने से गीला हो गया है। उस 'कलि' नामक गन्धर्व ने उत्सुकतावश, बहुत देर तक उस अप्सरा वरूथिनी की दुर्दशा पर शोच-विचार किया। अन्ततः उसकी समाहितचित्तता के प्रभाव से उसे सब बातें पता चल गयीं। 'कलि' गन्धर्व ने पुनः सोचा और जब उसे पता चल गया कि यह सब काम ब्राह्मण मुनि का है, तब उसे प्रतीत हुआ मानों उसके पूर्वार्जित पुण्य के फलस्वरूप उसके भाग्य ने ही उसके लिये सब बात बना दी है। उसने सोचा

मयैषा सानुरागेण बहुशः प्रार्थिता सती ।
निराकृतवती सेयमद्य प्राप्या भविष्यति ॥२०॥
मानुषे सानुरागेयं तत्र तद्रूपधारिणि ।
रंस्यते मय्यसन्दिग्धं किं कालेन करोमि तत् ॥२१॥

मार्कण्डेय उवाच—

आत्मप्रभावेण ततस्तस्य रूपं द्विजन्मनः ।
कृत्वा चचार यत्रास्ते निषण्णा सा वरूथिनी ॥२२॥
सा तं दृष्ट्वा वरारोहा किञ्चिदुत्फुल्ललोचना ।
समेत्य प्राह तन्वङ्गी प्रसीदेति पुनः पुनः ॥२३॥
त्वया त्यक्ता न सन्देहः परित्यक्ष्यामि जीवितम् ।
तत्राधर्मः कष्टतरः क्रियालोपो भविष्यति ॥२४॥
मया समेत्य रम्येऽस्मिन् महाकन्दरकन्दरे ।
मत्परित्राणजं धर्ममवश्यं प्रतिपत्स्यसे ॥२५॥

'मैं अनुरक्त होकर वरूथिनी से कई बार प्रेम-याचना कर चुका हूँ, जिसे उसने ठुकरा दिया है, किन्तु अब वह मेरे लिये सुलभ हो जायेगी । जब मैं उस मनुष्य का रूप धारण कर लूंगा, तब इसमें कोई संदेह नहीं कि वह मुझसे प्रेम करने लगेगी । इसलिए अब मनुष्य-रूप धारण करने में विलम्ब क्यों करूँ ? ॥ १५-२१ ॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

ऐसा निश्चय करते ही उस 'कलि' गन्धर्व ने अपने माया-प्रभाव से, उस ब्राह्मण-देवता का रूप धारण कर लिया और वहाँ जा कर घूमने लगा जहाँ वरूथिनी बैठी हुई थी । उसे देखकर उस सुन्दरी, तन्वङ्गी वरूथिनी के नेत्रकमल कुछ खिल उठे और वह उसके समीप जाकर बार-बार 'कृपा करो, कृपा करो' की रट लगाने लगी । तुमसे परित्यक्त हुई मैं अपने प्राण छोड़ दूँगी—इसमें संदेह न करो । ऐसा हो जाने पर तुम घोर अधर्म के भागी होगे और साथ ही साथ तुम्हारी नित्यनैमित्तिक धर्मक्रिया भी नष्ट हो जायेगी, किन्तु यदि इस मनोरम महाकन्दर वाले पर्वत पर मेरे साथ रतिसुख भोगोगे, तब तुम्हें मेरी रक्षा करने से संभूत धर्म का फल अवश्य प्राप्त होगा । हे महा-

आयुषः सावशेषं मे नूनमस्ति महामते ।
निवृत्तस्तेन नूनं त्वं हृदयाह्लादकारकः ॥२६।

कलिरुवाच—

किं करोमि क्रियाहानिर्भवत्यत्र सतो मम ।
त्वमप्येवंविधं वाक्यं ब्रवीषि तनुमध्यमे ॥२७।
तदहं सङ्कटं प्राप्तो यद्ब्रवीमि करोषि तत् ।
यदि स्यात् सङ्गमो मेऽद्य भवत्या सह नान्यथा ॥२८।

वरूथिनी उवाच—

प्रसीद यद्ब्रवीषि त्वं तत्करोमि न ते मृषा ।
ब्रवीम्येतदनाशङ्कं यत्ते कार्य्यं मयाधुना ॥२९।

कलिरुवाच—

नाद्य संभोगसमये द्रष्टव्योऽहं त्वया वने ।
निमीलिताक्ष्याः संसर्गस्तव सुभ्रु मया सह ॥३०।

बुद्धिमान् ! मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मेरी आयु अभी अवश्य बची हुई है, क्योंकि उसी के कारण मेरे हृदय के आह्लादक तुम मेरे पास लौट आये हो ॥२२-२६॥

'कलि' गन्धर्व ने कहा—

क्या करूँ ! यहाँ रहने पर मेरे धर्म-कर्म के अनुष्ठान में हानि होती है और अरी सुन्दरी ! तू भी तो ऐसी ही बात कह रही है। मैं बड़े संकट में पड़ गया हूँ। अब मैं जैसा कहूँ वैसा तू कर, तो तेरे साथ मेरा प्रेम-मिलन हो जायेगा अन्यथा नहीं हो सकता ॥२७-२८॥

वरूथिनी बोली—

तुम मुझ पर कृपा करो। तुम जो कहोगे मैं वही करूंगी। मैं झूठ नहीं बोल रही। मैं निःशङ्क होकर यह सब कह रही हूँ। बताओ, इस समय तुम मुझसे क्या कराना चाहते हो ॥२९॥

'कलि' गन्धर्व बोला—

आज जब वन में हम दोनों सम्भोग में निरत होंगे तब तू मुझे न देखना। तू अपनी आँखें बन्द रखना। तू जब आँखें बन्द रखेगी, तभी, अरी सुन्दरी ! मेरे साथ तेरा संगम सुखद होगा ॥३०॥

वरूथिन्युवाच—

एवं भवतु भद्रन्ते यथेच्छसि तथास्तु तत्।
मया सर्वप्रकारं हि वशे स्थेयं तवाधुना ॥३१॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे स्वारोचिषे मन्वन्तरे द्विषष्टितमोऽध्यायः।

वरूथिनी ने कहा—

ऐसा ही हो! तुम्हारा कल्याण हो। तुम जैसा चाहते हो वैसा ही होगा। यह समझ लो कि मुझे सब प्रकार से तुम्हारे वश में ही रहना है ॥३१॥

पर्यालोचन

(क) इस अध्याय में ब्राह्मणकुमार को अपने प्रेमपाश में फँसाने वाली जिस 'वरूथिनी' नाम की अप्सरा का वर्णन है, वह देवराज इन्द्र की कतिपय प्रसिद्ध देवाङ्गनाओं में से एक है। इस 'वरूथिनी' नाम की अप्सरा का इन्द्र के साथ सिंहासनासीन अर्जुन के समक्ष अन्य देवाङ्गनाओं के साथ सामूहिक नृत्य-प्रदर्शन महाभारत के वनपर्व के ४३ वें अध्याय के निम्नलिखित ५ श्लोकों (२८-३२) में वर्णित है—

'तत्र स्म गाथा गायन्ति साम्ना परमवल्गुना।
गन्धर्वास्तुम्बुरुश्रेष्ठाः कुशला गीतसामसु ॥

घृताची मेनका रम्भा पूर्वचित्तिः स्वयंप्रभा।
उर्वशी मिश्रकेशी च दण्डगौरी वरूथिनी ॥

गोपाली सहजन्या च कुम्भयोनिः प्रजागरा।
चित्रसेना चित्रलेखा सहा च मधुरस्वरा ॥

एताश्चान्याश्च ननृतुस्तत्र तत्र सहस्रशः।
चित्तप्रसादने युक्ताः सिद्धानां पद्मलोचनाः ॥

महाकटितटश्रोण्यः कम्पमानैः पयोधरैः।
कटाक्षहावमाधुर्यैश्चेतो बुद्धिमनोहरैः ॥

(ख) इस अध्याय के 'चकार रममाणे च चक्रवाकयुगे स्पृहाम्' आदि दसवें श्लोक में दाम्पत्य-प्रेम के प्रतीक चक्रवाकयुगल (चकवा-चकई के जोड़े) का जो निरूपण है, वह मार्कण्डेय महापुराणकार द्वारा प्राचीन कवि-सम्प्रदाय का अनुसरण है। कवि-कुलगुरु कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य (सर्ग ३।२४) में इस प्रतीक को ध्यान में रखते हुए महाराज दिलीप और महारानी सुदक्षिणा के प्रगाढ़ प्रेम का बड़ा सुन्दर प्रकाशन किया है—

'रथाङ्गनाम्नोरिव भावबन्धनं
बभूव यत्प्रेम परस्पराश्रयम्।
विभक्तमप्येकसुतेन तत्तयोः
परस्परस्योपरि पर्यचीयत ॥

नर और नारी का दाम्पत्य प्रेम रथाङ्ग अर्थात् चक्रवाक नाम के पक्षी के जोड़ों में देखना महाकवि कालिदास की उस कवि-प्रतिभा की ओर सहृदय काव्यपाठकों का ध्यान आकर्षित करता है, जो प्रकृति पर्यवेक्षण और लोकावेक्षण से ही संभव है।

महाकवि कालिदास ने पुरूरवा और उर्वशी के परस्पर प्रेम का भी निरूपण चक्रवाक-युगल के प्रतीक को मन में रखकर 'विक्रमोर्वशीयम्' के चतुर्थ अङ्क के निम्नलिखित १८ वें श्लोक में किया है—

रथाङ्गनामन् वियुतो
रथाङ्गश्रोणिबिम्बया।
अयं त्वां पृच्छति रथी
मनोरथशतैर्वृतः ॥

दाम्पत्य-प्रेम पर उपर्युक्त श्लोक कितना सरस और कितना मनोरम है, इसे सहृदयजन का हृदय ही जान सकता है।

(ग) इसी अध्याय का निम्नलिखित १३ वाँ श्लोक, ऐसा प्रतीत होता है, मानो किसी काव्य अथवा नाटक का श्लोक हो—

'रमणीयमभूद् यत्तत् पुंस्कोकिलनिनादितम्।
तेन हीनं तदेवैतद् दहतीवाद्य मामलम् ॥'

यहाँ विरहिणी विरूथिनी पुंस्कोकिल (नर कोकिल अथवा कोयल) की कूक सुनकर अपनी दयनीय दशा पर दुःखित वर्णित की गई है। नर कोयल तो अपनी प्रेमिका को पुकारने के लिए और उसके प्रति प्रेमभाव के प्रदर्शन के लिए कूक रहा है, किन्तु ब्राह्मणकुमार वरूथिनी की उपेक्षा करके उससे बहुत दूर चला गया है। ब्राह्मणकुमार के विरह में वरूथिनी के हृदय का प्रलाप, विप्रलम्भ शृंगार की निष्पत्ति से सहृदय हृदय को द्रवित करने में पूर्णतया समर्थ है। यह पुंस्कोकिल-निनान वर्णन भी महाकवि कालिदास के 'ऋतुसंहार' के वसन्त-वर्णन के प्रसङ्ग में निम्नलिखित श्लोक (सं० २३) में बड़ा सुन्दर और सरस लगता है—

पुंस्कोकिलैः कलवचोभिरुपात्तहर्षैः
कूजद्भिरुन्मदकलानि वचांसि भृङ्गैः।
लज्जान्वितं सविनयं हृदयं क्षणेन
पर्याकुलं कुलगृहेऽपि कृतं वधूनाम् ॥

महाकवि कालिदास ने ऋतुसंहार के वसन्त-वर्णन में ही 'पुंस्कोकिल विरुत' (अर्थात् नर कोयल की कूक) की कामोद्दीपक रसायन के रूप में बड़ी मनोरम कल्पना की है—

रम्यः प्रदोषसमयः स्फुटचन्द्रभासः
पुंस्कोकिलस्य विरुतं पवनः सुगन्धिः।
मत्तालियूथविरुतं निशि शीधुपानं
सर्वं रसायनमिदं कुसुमायुधस्य ॥

संभवतः मार्कंण्डेय महापुराणकार की स्मृति में महाकवि कालिदास की पुंस्कोकिल-कविता सुरक्षित है, जो कि वरूथिनी के विरह-वर्णन में दूसरे रूप में प्रकाशित होती दिखायी देती है।

श्री मार्कण्डेयपुराण के 'स्वारोचिष मन्वन्तर' वर्णन के प्रसंग में ६२वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त।

✲

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

ततः सह तथा सोऽथ रराम गिरिसानुषु ।
फुल्लकाननहृद्येषु मनोज्ञेषु सरःसु च ॥१॥
कन्दरेषु च रम्येषु निम्नगापुलिनेषु च ।
मनोज्ञेषु तथान्येषु देशेषु मुदितो द्विज ॥२॥
वह्निनाधिष्ठितस्यासीद् यद्रूपन्तस्य तेजसा ।
अचिन्तयद्भोगकाले निमीलितविलोचना ॥३॥
ततः कालेन सा गर्भमवाप मुनिसत्तम ।
गन्धर्ववीर्य्यतो रूपचिन्तनाच्च द्विजन्मनः ॥४॥
तां गर्भधारिणीं सोऽथ सान्त्वयित्वा वरूथिनीम् ।
विप्ररूपधरो यातस्तया प्रीत्या विसर्जितः ॥५॥
जज्ञे स बालो द्युतिमान् ज्वलन्निव विभावसुः ।
स्वरोचिभिर्यथा सूर्य्यो भासयन् सकला दिशः ॥६॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

उसके बाद वह ब्राह्मणरूपधारी 'कलि' गन्धर्व उस देवाङ्गना वरूथिनी के साथ शैलशृङ्गों पर, खिले फूल से भरे वनों में, मनोरम सरोवरों में, रम्य गिरिकन्दराओं में, नदियों के पुलिनों पर और अन्य अनेक मनोहर स्थानों पर प्रेमविहार करने लगा ॥१-२॥

संभोग के समय, आँखें बन्द किये वह ब्राह्मणकुमार के उस रूप का ध्यान करती रही, जो उस (ब्राह्मण) के शरीर में अग्निदेव के अनुप्रवेश से दिव्य हो गया था ॥३॥

मुनिवर क्रौष्टुकि ! समय बीतने पर, उस गन्धर्व के वीर्य से और उस ब्राह्मण-कुमार के दिव्य रूप के ध्यान से वह गर्भवती हो गयी । उस 'कलि' गन्धर्व ने गर्भवती वरूथिनी को बड़ी सान्त्वना दी और विप्ररूपधारण किए उसके द्वारा प्रेमपूर्वक विदा देने पर वह वहाँ से चला गया । वरूथिनी के गर्भ से एक पुत्र ने जन्म लिया जो अपनी कान्ति की दीप्ति से प्रदीप्त अग्निदेव के समान देदीप्यमान था और सूर्य की भाँति अपने तेज की किरणों से सभी दिग्भागों को आभासित कर रहा था ॥४-६॥

स्वरोचिभिर्यतो भाति भास्वानिव स बालकः ।
ततः स्वरोचिरित्येवं नाम्ना ख्यातो बभूव सः ॥७॥
ववृधे च महाभागो वयसानुदिनन्तथा ।
गुणौघैश्च यथा बालः कलाभिः शशलाञ्छनः ॥८॥
स जग्राह धनुर्वेदं वेदांश्चैव यथाक्रमम् ।
विद्याश्चैव महाभागस्तदा यौवनगोचरः ॥९॥
मन्दराद्रौ कदाचित् स विचरंश्चारुचेष्टितः ।
ददर्शैकां तदा कन्यां गिरिप्रस्थे भयातुराम् ॥१०॥
त्रायस्वेति निरीक्ष्यैनं सा तदा वाक्यमब्रवीत् ।
मा भैषीरिति स प्राह भयविप्लुतलोचनाम् ॥११॥
किमेतदिति तेनोक्ते वीरवाक्ये महात्मना ।
ततः सा कथयामास श्वासाक्षेपप्लुताक्षरम् ॥१२॥

कन्योवाच—

अहमिन्दीवराख्यस्य सुता विद्याधरस्य वै ।
नाम्ना मनोरमा जाता सुतायां मरुधन्वनः ॥१३॥

वह बालक अपने तेज की किरणों से सूर्य के समान चमक रहा था । इसीलिये वह 'स्वरोचिष्' नाम से प्रसिद्ध हो गया । वह भाग्यशाली बालक प्रतिदिन उसी प्रकार आयु में बढ़ने लगा और गुणगौरव में भी बढ़ने लगा, जिस प्रकार बाल चन्द्रमा प्रतिदिन अपनी कलाओं में और पूर्ण कान्ति में बढ़ा करता है ॥७-८॥

उस बालक ने (कुमारावस्था में) धनुर्वेद का ज्ञान प्राप्त कर लिया और क्रमानुसार चारों वेदों का अध्ययन पूरा कर लिया । साथ ही साथ अन्य विद्याएँ भी उसने सीख ली । उसके बाद यौवन के समीप पहुँचते यौवनोचित चेष्टाओं में लगे, उसने एक बार मन्दराचल पर विहार करते हुए, कहीं पर्वत की ढलान पर एक भयाकुल कुमारी को देखा । वह कुमारी उसे देखते ही, 'बचाओ, बचाओ' की पुकार करने लगी । उस उदाराशय कुमार ने भी भयविह्वल नेत्रों वाली उस कुमारी को 'डरो मत, डरो मत' कह कर सान्त्वना दी और वीरोचित वचन में कहा—'क्या बात है ?' उसका वह वचन सुनकर, उस कुमारी ने उष्ण निःश्वास से कम्पित अक्षरों में कहना प्रारम्भ किया ॥ ९-१२ ॥

कन्या की उक्ति—

मैं इन्दीवर नामक विद्याधर की पुत्री हूँ, मेरा नाम मनोरमा है और मैंने मरुधन्वा की पुत्री के गर्भ से जन्म लिया है ॥ १३ ॥

मन्दारविद्याधरजा सखी मम विभावरी ।
कलावती चाप्यपरा सुता पारस्य वै मुनेः ॥१४॥
ताभ्यां सह मया यातं कैलासतटमुत्तमम् ।
तत्र दृष्टो मुनिः कश्चित्तपसातिकृशाकृतिः ॥१५॥
क्षुत्क्षामकण्ठो निस्तेजा दूरपाताक्षितारकः ।
मयावहसितः क्रुद्धः स तदा मां शशाप ह ॥१६॥
क्षामक्षामस्वरः किञ्चित्कल्पिताधरपल्लवः ।
त्वयावहसितो यस्मादनार्य्ये दुष्टतापसि ॥१७॥
तस्मात् त्वामचिरेणैव राक्षसोऽभिभविष्यसि ।
दत्ते शापे मत्सखीभ्यां स तु निर्भत्सितो मुनिः ॥१८॥
धिक् ते ब्राह्मण्यमक्षान्त्या हृतन्ते निखिलन्तपः ।
अमर्षणैर्धर्षितोऽसि तपसा नातिकर्षितः ॥१९॥
क्षान्त्यास्पदं वै ब्राह्मण्यं क्रोधसंयमनन्तपः ।
एतच्छ्रुत्वा ददौ शापं तयोरप्यमितद्युतिः ॥२०॥

यह मेरी एक सखी है। यह मन्दर नामक विद्याधर की पुत्री है और इसका नाम विभावरी है। वह दूसरी भी मेरी सखी है। उसका नाम कलावती है और वह पार नामक मुनि की पुत्री है। अपनी इन दोनों सखियों के संग में सुन्दर कैलासतट पर गयी थी, जहाँ मुझे एक मुनि दिखायी पड़े, जो कि तपश्चर्या से अत्यन्त कृशशरीर हो चुके थे ॥ १४-१५ ॥

भूख से उनका कण्ठ सूख गया था, ऐसा प्रतीत होता था मानों वे निस्तेज हो गए हों और उनकी आँखों की पुतलियाँ गड्ढे में धस गयी थीं। उन्हें ऐसा देख मैं हंस पड़ी। मुझे हंसती देखकर वे क्रुद्ध हो गए और शाप दे दिया। उनका स्वर बड़ा धीमा था, केवल उनके ओठ कांप रहे थे, किन्तु उन्होंने यह शाप दिया—'अरी दुष्ट ! दुष्ट तापसी ! तू मुझ पर हंस रही है ! जा, तेरे इस दुष्कर्म से एक राक्षस अविलम्ब तुझे दबोच डालेगा।' जब उन मुनि ने मुझे यह शाप दे डाला तब मेरी सखियों ने उन्हें भी खरी-खोटी सुनायी ॥ १६-१८ ॥

मुनि महाराज ! आपके ब्रह्मतेज को धिक्कार है, क्रोधावेश ने आपके तपोबल को नष्ट कर दिया है। आप अपने क्रोधावेश के कारण इतने दीन-हीन हो, तपश्चर्या से आप दुर्बल नहीं बने हो। ब्राह्मण होने का अर्थ क्षमाशील होना होता है और तपस्या का तात्पर्य क्रोध पर नियन्त्रण होता है। मेरी सखियों की ऐसी बात सुनकर उस महातेजस्वी मुनि ने उन्हें भी शाप दे दिया—एक को उन्होंने शाप दिया—'तुझे कुष्ठ

एकस्याः कुष्ठमङ्गेषु भाव्यन्यस्यास्तथा क्षयः ।
तयोस्तथैव तज्जातं यथोक्तं तेन तत्क्षणात् ॥२१।
ममाप्येवं महद्रक्षः समुपैति पदानुगम् ।
न शृणोषि महानादं तस्यादूरेऽपि गर्जतः ॥२२।
तृतीयमद्य दिवसं यन्मे पृष्ठन्न मुञ्चति ।
अस्त्रग्रामस्य सर्वस्य हृदयज्ञाऽहमद्य ते ॥२३।
तं प्रयच्छामि मां रक्ष रक्षसोऽस्मान्महामते ।
प्रादात् स्वायम्भुवस्यादौ स्वयं रुद्रः पिनाकधृक् ॥२४।
स्वायम्भुवो वसिष्ठाय सिद्धवर्य्याय दत्तवान् ।
तेनापि दत्तं मन्मातुः पित्रे चित्रायुधाय वै ॥२५।
प्रादादौद्वाहिकं सोऽपि मत्पित्रे श्वशुरः स्वयम् ।
मयापि शिक्षितं वीर! सकाशाद् बालया पितुः ॥२६।
हृदयं सकलास्त्राणामशेषरिपुनाशनम् ।
तदिदं गृह्यतां शीघ्रमशेषास्त्रपरायणम् ॥२७।
ततो जहि दुरात्मानमेनं राक्षसमागतम् ॥२८।

रोग होगा' और दूसरी को शाप दिया—'तू क्षयरोग से ग्रस्त होगी।' तत्क्षण, जैसा उन मुनि ने कहा था वैसा ही, मेरी उन दोनों सखियों में, एक को कुष्ठ और दूसरी को क्षय का रोग हो गया ॥ १९-२१ ॥

उनके शाप से मेरे पीछे एक महाराक्षस पड़ा है, जिसका समीप में ही गर्जन-तर्जन सुनाई पड़ रहा है। क्या आपको उसकी घोर गर्जना नहीं सुनायी देती। आज यह तीसरा दिन है और यह महाराक्षस मेरा पिण्ड नहीं छोड़ता। मैं समस्त अस्त्रग्राम (अस्त्रसमूह) का रहस्य जानती हूँ। मैं आपको वह सब अस्त्रग्राम दे रही हूँ। आप महाबुद्धिमान् हैं, आप इस महाराक्षस से मेरी रक्षा करें। यह अस्त्रग्राम जो मैं आपको दे रही हूँ, उसे पहले साक्षात् पिनाकधारी रुद्र भगवान् ने स्वायंभुव मनु को दिया था। स्वायम्भुव मनु ने उस अस्त्रग्राम को सिद्धशिरोमणि वसिष्ठ को दिया और वसिष्ठ ने उसे मेरी माता के पिता—मेरे नाना चित्रायुध को दिया। चित्रायुध ने, जो मेरे पिता के श्वसुर थे, वह अस्त्रग्राम, मेरे पिता को उनके विवाह के उपलक्ष्य में दे दिया। मैंने वह अस्त्रग्राम-रहस्य बचपन में ही अपने पिता से सीख लिखा है। यह अस्त्रग्राम समस्त अस्त्रों का सार है, इससे समस्त शत्रुओं का विनाश अवश्यंभावी है। आप समस्त अस्त्रों की पराकाष्ठा पर पहुँचे इस अस्त्रग्राम को मुझसे ले लें और तब आप, इस महादुष्ट राक्षस को, जो यहाँ आ पहुँचा है, मौत के घाट लगा दें ॥ २२-२८ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

तथेत्युक्ते ततस्तेन वार्य्युपस्पृश्य तस्य तत् ।
अस्त्राणां हृदयं प्रादात् सरहस्यनिवर्तनम् ।।२९।

एतस्मिन्नन्तरे रक्षस्तत्तदा भीषणाकृति ।
नर्दमानं महानादमाजगाम त्वरान्वितम् ।।३०।

मयाभिभूता किं त्राणमुपैषि द्रुतमेहि मे ।
भक्षामि किञ्चिरेणेति ब्रुवाणं तं ददर्श सः ।।३१।

स्वरोचिश्चिन्तयामास दृष्ट्वा तं समुपागतम् ।
गृह्णात्वेष वचः सत्यं तस्यास्त्विति महामुनेः ।।३२।

जग्राह समुपेत्यैनां त्वरया सोऽपि राक्षसः ।
त्राहि त्राहीति करुणं विलपन्तीं सुमध्यमाम् ।।३३।

ततः स्वरोचिः संक्रुद्धश्चण्डास्त्रमतिभैरवम् ।
दृष्ट्यां निवेश्य तद्रक्षो ददर्शानिमिषेक्षणः ।।३४।

तदाभिभूतः स तदा तामुत्सृज्य निशाचरः ।
प्रसीद शाम्यतामस्त्रं श्रूयताञ्चेत्यभाषत ।।३५।

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

स्वरोचिष् के द्वारा 'हाँ, जैसा चाहती हो वही करो' ऐसा कहे जाने पर, उस विद्याधर-कन्या ने आचमन किया और समस्त अस्त्रग्राम का सार उसके रहस्यमय प्रयोग और उपसंहार के साथ, उसे दे दिया ।। २९ ।।

इसी बीच वह भयंकर आकृति वाला राक्षस, घोर गर्जन-तर्जन करते, सत्वर वहाँ आ पहुँचा। स्वरोचिष् ने 'तू मेरे वश में है, तुझे कौन बचा सकता है, शीघ्र मेरे पास आ, अभी तुझे खा लूंगा' यह सब बोलने वाले उस राक्षस को देखा। उस राक्षस को वहाँ पहुँचा देखकर स्वरोचिष् सोचने लगा—'यदि इस राक्षस ने विद्याधर-कुमारी को पकड़ लिया, तब उन महामुनि का शाप-वचन सच्चा हो गया'। वह राक्षस उस विद्याधर-कुमारी के समीप आया और बड़ी शीघ्रता से उसने उसे पकड़ लिया और वह सुन्दरी 'बचाओ, बचाओ' कह-कह कर करुण क्रन्दन करने लगी। उसके बाद स्वरोचिष् से राक्षस बड़ा क्रुद्ध हो गया और उसने उस अत्यन्त भयङ्कर भैरवास्त्र का ध्यान किया और टकटकी लगा कर उस राक्षस को देखा। तत्काल वह राक्षस भयभीत हो गया और उस विद्याधरकुमारी को छोड़कर स्वरोचिष् से कहने लगा 'मुझ पर दया करो, अपनी अस्त्राग्नि को शान्त करो, मेरी बात सुनो'। तुम महातेजस्वी हो।

मोक्षितोऽहं त्वया शापादतिघोरान्महाद्युते ।
प्रदत्तादतितीव्रेण ब्रह्ममित्रेण धीमता ॥३६।
उपकारी न मे त्वत्तो महाभागाधिकोऽपरः ।
येनाहं सुमहाकष्टान्महाशापाद्विमोक्षितः ॥३७।

स्वरोचिरुवाच—

ब्रह्ममित्रेण मुनिना किन्निमित्तं महात्मना ।
शप्तस्त्वं कीदृशश्चैव शापो दत्तोऽभवत् पुरा ॥३८।

राक्षस उवाच—

ब्रह्ममित्रोऽष्टधा भिन्नमायुर्वेदमधीतवान् ।
त्रयोदशाधिकारश्च प्रगृह्याथर्वणो द्विजः ॥३९।
अहञ्चेन्दीवराख्येति ख्यातोऽस्या जनकोऽभवम् ।
विद्याधरपतेः पुत्रो नलनाभस्य खड्गिनः ॥४०।
मया च याचितः पूर्वं ब्रह्ममित्रोऽभवन्मुनिः ।
आयुर्वेदमशेषं मे भगवन् ! दातुमर्हसि ॥४१।
यदा तु बहुशो वीर ! प्रश्रयावनतस्य मे ।
न प्रादाद्याचितो विद्यामायुर्वेदात्मिकां मम ॥४२।

तुमने मुझे उस अत्यन्त भयङ्कर शाप से मुक्त कर दिया है, जिसे महाक्रोधी, महाबुद्धिमान् ब्रह्ममित्र ने मुझे दिया था। हे महाभाग्यशाली ! तुमसे बढ़कर और कोई मेरा उपकारक नहीं है, क्योंकि तुम्हीं ने मुझे महाकष्टप्रद महाशाप से छुटकारा दिलाया है ॥ ३०-३७ ॥

स्वरोचिष् ने कहा—

मुझे यह बताओ कि महात्मा महामुनि ब्रह्ममित्र ने किस कारणवश तुम्हें शाप दिया था और उनका शाप किस प्रकार का था ॥ ३८ ॥

राक्षस बोला—

ब्रह्ममित्र मुनि आथर्वण वेद के तेरहवें अधिकरण का स्वाध्याय करने के बाद अष्टाङ्ग आयुर्वेद का अध्ययन किए हुए थे। मैं विद्याधरराज महापराक्रमी नलनाभ का इन्दीवर नाम का पुत्र था और इस कन्या का पिता था। मैंने मुनि ब्रह्ममित्र से पहले प्रार्थना की थी कि वे मुझे सम्पूर्ण आयुर्वेद-विद्या का दान कर दें ॥ ३९-४१ ॥

किन्तु, हे पुण्यात्मा महावीर ! बहुत बार विनयावनत होकर प्रार्थना किए जाने पर भी, उन्होंने मुझे आयुर्वेद-विद्या का दान नहीं दिया। मैंने भी, जब वे अपने

शिष्येभ्यो ददतस्तस्य मयान्तर्धानगेन हि ।
आयुर्वेदात्मिका विद्या गृहीताभूत्तदानघ ॥४३॥
गृहीतायान्तु विद्यायां मासैरष्टाभिरन्तरात् ।
ममातिहर्षादभवद्धासोऽतीव पुनः पुनः ॥४४॥
प्रत्यभिज्ञाय मां हासान्मुनिः कोपसमन्वितः ।
विकम्पिकन्धरः प्राह मामिदं परुषाक्षरम् ॥४५॥
राक्षसेनैव यस्मान्मे त्वयाऽदृश्येन दुर्मते ।
हृता विद्यावहासश्च मामवज्ञाय वै कृतः ॥४६॥
तस्मात्त्वं राक्षसः पाप ! मच्छापेन निराकृतः ।
भविष्यसि न सन्देहः सप्तरात्रेण दारुणः ॥४७॥
इत्युक्ते प्रणिपाताद्यैरुपचारैः प्रसादितः ।
स मामाह पुनर्विप्रस्तत्क्षणान्मृदुमानसः ॥४८॥
यन्मयोक्तमवश्यन्तद्भावि गन्धर्व ! नान्यथा ।
किन्तु त्वं राक्षसो भूत्वा पुनः स्वं प्राप्स्यसे वपुः ॥४९॥

अन्य शिष्यों को आयुर्वेद-विद्या का दान करते थे, तब अपने आपको छिपाकर 'आयुर्वेद' नामक विद्या का अध्ययन कर लिया ॥ ४२-४३ ॥

जब मैंने आठ महीने के भीतर आयुर्वेद-विद्या ग्रहण कर ली, तब मुझे अत्यन्त हर्ष हुआ और बार-बार मुझे हंसी आने लगी ॥ ४४ ॥

मुनि ब्रह्ममित्र ने मेरी हंसी सुनकर मुझे पहचान लिया और कोपाकुल होकर अपनी गर्दन कंपाते हुए मुझसे बड़े कठोर शब्दों में यह कहा—'अरे दुर्बुद्धि ! राक्षस होकर तूने अपने आपको अदृश्य बनाकर मेरी आयुर्वेद-विद्या ले ली और मेरी अवज्ञा करके अब मेरा उपहास कर रहे हो ! अरे पापी ! तू मेरे शाप से निराकृत होकर सात रात के भीतर अवश्य एक दारुण राक्षस बन जायेगा' ॥ ४५-४७ ॥

मुनि ने जब ऐसा कहा तो मैंने बड़ा अनुनय-विनय कर उन्हें किसी प्रकार प्रसन्न किया । तत्काल उनका हृदय कोमल हो गया और उन्होंने मुझ से पुनः यह कहा—अरे गन्धर्व ! मेरे मुह से जो बात निकल गयी वह तो सच होकर रहेगी । किन्तु तू राक्षस होने के बाद पुनः अपने गन्धर्व शरीर को प्राप्त कर लेगा ॥ ४८-४९ ॥

नष्टस्मृतिर्यदा क्रुद्धः स्वमपत्यञ्चिखादिषुः ।
निशाचरत्वं गन्तासि तदस्त्रानलतापितः ॥५०॥
पुनः संज्ञामवाप्य स्वामवाप्स्यसि निजं वपुः ।
तथैव स्वमधिष्ठानं लोके गन्धर्वसंज्ञिते ॥५१॥
सोऽहं त्वया महाभाग ! मोक्षितोऽस्मान्महाभयात् ।
निशाचरत्वाद् यद्वीर ! तेन मे प्रार्थनां कुरु ॥५२॥
इमान्ते तनयां भार्य्यां प्रयच्छामि प्रतीच्छ ताम् ।
आयुर्वेदश्च सकलस्त्वष्टाङ्गो यो मया ततः ।
मुनेः सकाशात् संप्राप्तस्तं गृह्णीष्व महामते ॥५३॥

मार्कण्डेय उवाच—

इत्युक्त्वा प्रददौ विद्यां स च दिव्याम्बरोज्ज्वलः ।
स्रग्भूषणधरो दिव्यं पुराणं वपुरास्थितः ॥५४॥
दत्त्वा विद्यां ततः कन्यां स दातुमुपचक्रमे ।
तमाह सा तदा कन्या जनितारं स्वरूपिणम् ॥५५॥

'सब कुछ भूल-भाल कर, जब तू निशाचर बनकर क्रोधावेश में अपनी ही सन्तान को खाना चाहेगा, तब अस्त्राग्नि के संताप से जलने लगेगा । उस समय तुम्हारी चेतना लौटेगी और तू अपने भूतपूर्व गन्धर्व-शरीर को पा लेगा और साथ ही साथ तुझे गन्धर्व-लोक में अपना स्थान भी मिल जायेगा' । महाभाग्यशाली वीर ! मैं वही राक्षस हूँ, जिसका तुमने मेरे निशाचर बनने के महासंकट से उद्धार किया है । इसलिए मेरी जो प्रार्थना है, उसे स्वीकार करो । मैं अपनी इस पुत्री (मनोरमा) को तुम्हारी धर्मपत्नी के रूप में तुम्हें समर्पित करता हूँ । इसे तुम अपना लो । साथ ही साथ, हे महाबुद्धिशाली ! मैंने मुनि ब्रह्ममित्र से जिस अष्टाङ्ग आयुर्वेद-विद्या का अर्जन किया है, उसे भी तुम ले लो ॥ ५०-५३ ॥

महामुनी मार्कण्डेय बोले—

वह राक्षस भी, शापमुक्त होकर, दिव्याम्बर-धारण से सुन्दर तथा माल्य तथा आभूषण से विभूषित अपना भूतपूर्व गन्धर्व-शरीर पा गया ॥ ५४ ॥

उस वीर स्वरोचिष् को आयुर्वेद-विद्या का दान देकर जब उसने अपनी कन्या का दान देना प्रारम्भ किया, तब उस कन्या ने गन्धर्वशरीरधारी अपने पिता से यह कहा—'पिताजी ! इस महापुरुष के दर्शन से ही मैं इन पर बहुत अधिक प्रेमासक्त हो

अनुरागो ममाऽप्यत्र तातातीव महात्मनि ।
दर्शनादेव संजातो विशेषेणोपकारिणि ।।५६।
किन्त्वेषा मे सखी सा च मत्कृते दुःखपीडिते ।
अतो नाभिलषे भोगान् भोक्तुमेतेन वै समम् ।।५७।
पुरुषैरपि नो शक्या कर्तुमित्थं नृशंसता ।
स्वभावरुचिरैर्मादृक् कथं योषित् करिष्यति ।।५८।
साहं यथा ते दुःखार्त्ते मत्कृते कन्यके पितः ।
तथा स्थास्यामि तद्दुःखे तच्छोकानलतापिता ।।५९।

स्वरोचिरुवाच—

आयुर्वेदप्रसादेन ते करिष्ये पुनर्नवे ।
सख्यौ तव महाशोकं समुत्सृज सुमध्यमे ।।६०।

मार्कण्डेय उवाच—

ततः पित्रा स्वयं दत्तां तां कन्यां स विधानतः ।
उपयेमे गिरौ तस्मिन् स्वरोचिश्चारुलोचनाम् ।।६१।
दत्तान्तु तां तदा कन्यामभिशान्त्य च भामिनीम् ।
जगाम दिव्यया गत्या गन्धर्वः स्वपुरन्ततः ।।६२।

चुकी हूँ और इन्होंने हमारा जो इतना बड़ा उपकार किया है, उससे तो मैं इन पर विशेषरूप से प्रेमातुर हूँ। किन्तु मेरी यह सखी और वह दूसरी सखी—दोनों ही मेरे कारण इतना दुःख भोग रही हैं। उन्हें दुःखी देखते, मैं इन महापुरुष के साथ सुख-भोग की इच्छा नहीं रख सकती। जब पुरुष भी इस प्रकार का क्रूर कर्म नहीं कर सकते, तव स्वभावतः सौम्य-सुन्दरी मैं नारी अपनी सखियाँ के प्रति ऐसा क्रूर कर्म कैसे कर सकती हूँ। इसलिये, पिताजी ! जैसे मेरी ये सखियां मेरे कारण इतनी दुःखार्त हैं, वैसे ही मैं भी इतनी शोकाग्नि के संताप में जलती-भुनती, इन्हीं के दुःख में दुःखित रहना चाहूँगी ॥ ५५-५९ ॥

स्वरोचिष् की उक्ति—

अरी सुन्दरी ! मैं अपनी आयुर्वेद-विद्या की कृपा से तेरी सखियों को पुनः पहले जैसी नयी-नवेली बना दूँगा। तू शोकाकुल न हो ॥ ६० ॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

तदनन्तर, स्वरोचिष् ने उस पर्वत पर, पिता के द्वारा स्वयं समर्पित उस सुनयना कन्या से विधिविधानपूर्वक विवाह किया ॥ ६१ ॥

कन्यादान देने के बाद, उस गन्धर्वराज ने, अपनी उस सुन्दर पुत्री को सान्त्वना दी और दिव्य गति से अपने गन्धर्व नगर के लिये प्रस्थान कर दिया ॥ ६२ ॥

स चापि सहितस्तन्व्या तदुद्यानन्तदा ययौ ।
कन्यकायुगलं यत्र तच्छापोत्थगदातुरम् ॥६३॥
ततस्तयोः स तत्त्वज्ञो रोगघ्नैरौषधै रसैः ।
चकार नीरुजौ देहौ स्वरोचिरपराजितः ॥६४॥
ततोऽतिशोभने कन्ये विमुक्ते व्याधितः शुभे ।
स्वकान्त्योद्योति दिग्भागं चक्राते तन्महीधरम् ॥६५॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे स्वारोचिषे मन्वन्तरे त्रिषष्टितमोऽध्यायः ।

उसके बाद स्वरोचिष् भी अपनी सुन्दर धर्मपत्नी (विद्याधरी मनोरमा) के साथ उस उद्यान में गया, जहाँ उसकी दोनों सखियाँ, जो पहले दो सुन्दर कन्याएँ थीं, मुनि-शाप से कुष्ठ और क्षय के रोग से पीडित पड़ी थीं। आयुर्वेद के मर्मज्ञ अपराजेय उस स्वरोचिष् ने रोगनाशक औषधों और रसायनों के प्रयोग से उन दोनों कन्याओं के शरीरों को नीरोग बना दिया। अपनी-अपनी व्याधियों से छुटकारा पा जाने के बाद वे दोनों कन्याएँ परमसुन्दरी तथा परमकल्याणी लगने लगीं और उन्होंने चतुर्दिक् उस पर्वत को अपनी कान्ति की दीप्ति से देदीप्यमान कर दिया ॥ ६३-६५ ॥

✲

पर्यालोचन

(क) महामहोपाध्याय सिद्धेश्वरशास्त्री चित्राव के द्वारा संकलित तथा भारतीय चरित्रकोश-मण्डल पूना से १९६४ ई० में प्रकाशित भारतवर्षीय 'प्राचीन चरित्रकोश' में 'स्वरोचिष्' के चरित-वर्णन के प्रसङ्ग में निम्नलिखित उल्लेख मिलता है—

'स्वरोचिष्—एक राजा जो कलि राजा का पौत्र एवं स्वरोचिष् (द्युतिमत्) मनु राजा का पुत्र था। इसकी माता का नाम वरूथिनी था।'

यह उल्लेख मार्कण्डेय महापुराण के ६१वें अध्याय के आधार पर किया गया है। किन्तु यह उल्लेख सर्वथा भ्रामक और भ्रान्तिपूर्ण है। 'कलि' कोई राजा नहीं था। वह तो एक गन्धर्व था, जो इन्द्र-सभा की देवाङ्गना वरूथिनी का प्रेमी था और वरूथिनी ने उसे निरादृत और निराकृत कर दिया था, जैसा कि मार्कण्डेयपुराण के ६२वें अध्याय के नीचे लिखे १५ वें श्लोक से स्पष्ट है—

'कलिर्नाम्ना तु गन्धर्वः सानुरागो निराकृतः।
तथा पूर्वमभूत् सोऽथ तदवस्थां ददर्श ताम्॥

कलि गन्धर्व ने अपनी माया से उस ब्राह्मणकुमार का रूप-धारण किया, जिस पर वरूथिनी कामासक्त थी। वरूथिनी के साथ उसने सहवास किया, किन्तु सहवास और सम्भोग-काल में वरूथिनी ने उस गन्धर्व के ही कहने के अनुसार अपनी आँखे बन्द रखीं और निरन्तर उस ब्राह्मणकुमार के दिव्य-भव्य रूप के ध्यान में, कलि गन्धर्व के साथ रतिसुख का आनन्द लेती रही। यह सब आख्यान इस ६३ वें अध्याय के १ से ८ श्लोकों में स्पष्टतया द्रष्टव्य है।

(ख) इस अध्याय के ३९ वें श्लोक में मुनि ब्रह्ममित्र के वृत्त-वर्णन के प्रसङ्ग में आथर्वण वेद के उपाङ्ग आयुर्वेद का उल्लेख है। 'आयुर्वेद अथर्ववेद का सर्वस्व है'—यह निर्देश 'भावप्रकाश' के निम्नलिखित श्लोक में किया मिलता है—

'विधाताऽथर्वसर्वस्वमायुर्वेदं प्रकाशयन्।
स्वनाम्ना संहितां चक्रे लक्षश्लोकमयीमृजुम्॥

मार्कण्डेयमहापुराणकार ने इसी श्लोक में अष्टाङ्ग आयुर्वेद का जो निर्देश किया है, उस पर सुश्रुतसंहिता का प्रभाव स्पष्ट है, जिसमें आयुर्वेद के निम्ननिर्दिष्ट आठ अङ्गों का परिगणन किया हुआ है—

१—शल्यम्।
२—शालाक्यम्।
३—कायचिकित्सा।
४—भूतविद्या।
५—कौमारभृत्यम्।
६—अगदतन्त्रम्।
७—रसायनतन्त्रम्।
८—वाजीकरणतन्त्रम्।

अन्य अनेक विद्याओं की भाँति आयुर्वेद-विद्या भी सर्वसाधारण के लिए नहीं थी। सम्भवतः इसी दृष्टि से इस अध्याय के ४४-४७ श्लोकों में—'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिस्तेऽहमस्मि' की भावना से अनुप्रेरित मुनि ब्रह्ममित्र और गुप्तरूप से उनकी आयुर्वेद-विद्या का रहस्य जान लेने वाले विद्याधर का आख्यान वर्णित है।

(ग) इस अध्याय में 'कुष्ठ' और 'क्षय' दो भयङ्कर रोगों और आयुर्वेद-विज्ञान से उनके सफल उपचार का जो निर्देश है, उससे प्राचीन भारत में इन दोनों व्याधियों और उनकी चिकित्सा के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। रघुवंशीय राजा अग्निवर्ण के क्षयरोग का वर्णन महाकवि कालिदास ने रघुवंश के १८ वें सर्ग के ५० वें श्लोक में बड़ी काव्यात्मक-शैली में किया है—

'तस्य पाण्डुवदनाऽल्पभूषणा
सावलम्बगमना मृदुस्वना ।
राजयक्ष्मपरिहाणिराययौ
कामयानसमवस्थया तुलाम् ॥'

महाकवि कालिदास ने राजयक्ष्मा (क्षय) रोग के कारण पर भी नीचे लिखे श्लोकों (रघुवंश १८।४६।४७) में पर्याप्त प्रकाश डाला है—

'यत्स लग्नसहकारमासवं
रक्तपाटलसमागमं पपौ ।
तेन तस्य मधुनिर्गमात् कृश-
श्चित्तयोनिरभवत् पुनर्नवः ॥
एवमिन्द्रियसुखानि निर्विश-
न्नन्यकार्यविमुखः स पार्थिवः ।
आत्मलक्षणनिवेदितानृतू-
नत्यवाहयदनङ्गवाहितः ॥'

श्री मार्कण्डेयपुराण के स्वरोचिष् मन्वन्तर-वर्णन से सम्बद्ध ६३वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त।

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

मार्कण्डेयउवाच—

एवं विमुक्तरोगा तु कन्यका तं मुदान्विता ।
स्वरोचिषमुवाचेदं शृणुष्व वचनं प्रभो ॥१॥
मन्दारविद्याधरजा नाम्ना ख्याता विभावरी ।
उपकारिन् ! स्वमात्मानं प्रयच्छामि प्रतीच्छ माम् ॥२॥
विद्याञ्च तुभ्यं दास्यामि सर्वभूतरुतानि ते ।
ययाभिव्यक्तिमेष्यन्ति प्रसादपुरगो भव ॥३॥

मार्कण्डेय उवाच—

एवमस्त्विति तेनोक्ते धर्मज्ञेन स्वरोचिषा ।
द्वितीया तु तदा कन्या इदं वचनमब्रवीत् ॥४॥
कुमारब्रह्मचार्य्यासीत् पारो नाम पिता मम ।
ब्रह्मर्षिः सुमहाभागो वेदवेदाङ्गपारगः ॥५॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

एक कन्या, जो कुष्ठ रोग से मुक्त हो गयी थी, बड़ी प्रसन्नता के साथ स्वरोचिष् से बोली—'मेरे स्वामी ! मेरी यह बात सुनो—मैं मन्दार नामक विद्याधर की पुत्री हूँ और मेरा नाम विभावरी है। तुमने मेरा बड़ा उपकार किया है, इसलिए मैं अपने आपको तुम्हें समर्पित करती हूँ। तुम मुझे स्वीकार कर लो। मैं तुम्हें वह विद्या दूँगी जिसके प्रभाव से सभी प्राणियों की बोली तुम्हारे कण्ठ से अभिव्यक्त होती रहेगी। तुम मुझ पर कृपा करो ॥ १-३ ॥

महामुनि मार्कण्डेय आगे बोले—

जब धर्मज्ञ स्वरोचिष् ने उस कन्या से कहा—'जैसा तू चाहती है वैसा ही होगा'। तब दूसरी कन्या ने यह बात कही—कुमार ! मेरे पिता 'पार' नाम के थे। वे बड़े ब्रह्मचर्याचरणसम्पन्न, ब्रह्मर्षि, महाभाग्यशाली तथा वेद-वेदाङ्ग-पारङ्गत थे। कभी, पहले वसन्त ऋतु में, जब कोकिलों की कूक से सर्वत्र मनोरमता छा जाती है, एक

तस्य पुंस्कोकिलालापरमणीये मधौ पुरा ।
आजगामाप्सराभ्यासं प्रख्याता पुञ्जिकास्तना ॥६॥
कामवक्तव्यतां नीतः स तदा मुनिपुङ्गवः ।
तत्संयोगेऽहमुत्पन्ना तस्यामत्र महाचले ॥७॥
विहाय मां गता सा च मातास्मिन्निर्जने वने ।
बालामेकां महीपृष्ठे व्यालश्वापदसंकुले ॥८॥
ततः कलाभिः सोमस्य वर्द्धन्तीभिरहःक्षये ।
आप्याय्यमानाहरहो वृद्धिं यातास्मि सत्तम ॥९॥
ततः कलावतीत्येतन्मम नाम महात्मना ।
गृहीतायाः कृतं पित्रा गन्धर्वेण शुभानना ॥१०॥
न दत्ताहं तदा तेन याचितेन महात्मना ।
देवारिणालिना सुप्तस्ततो मे घातितः पिता ॥११॥
ततोऽहमतिनिर्वेदादात्मव्यापादनोद्यता ।
निवारिता शम्भुपत्न्या सत्या सत्यप्रतिश्रवा ॥१२॥

प्रख्यात अप्सरा, जिसका नाम 'पुञ्जिकास्तना' था, उनके पास आयी। मेरे मुनिवर पिता, उसे देखते ही, कामातुर हो गए और उसके साथ उनके संभोग से इस महापर्वत पर मैंने उसके गर्भ से जन्म लिया। मेरी मां (वह अप्सरा) मुझ बालिका को, खूंखार जानवरों से भरे निर्जन वन में, भूतल पर छोड़कर चली गयी। उसके बाद, हे महापुरुष! प्रतिदिन बढ़ती चन्द्रमा की कलाओं से पालित-पोषित होने कारण मैं प्रतिदिन बड़ी होती गयी। इसीलिए मेरे पिता ने, मुझे, जिसे एक महात्मा गन्धर्व ने अपनाया था, 'सुमुखी कलावती' नाम से संबोधित किया॥ ४-१०॥

'अलि' नाम का एक राक्षस था, जिसने मेरे पिता से मुझे पाने के लिए बड़ा आग्रह किया था, किन्तु जब मेरे पिता ने मुझे उसको नहीं दिया, तब उसने सोते में मेरे पिता का वध कर दिया॥ ११॥

उस समय मुझे इतना दुःख हुआ कि मैं आत्महत्या के लिए उद्यत हो गयी। किन्तु तभी शङ्करप्रिया सती ने, जिनके वचन सदा सत्य होते हैं, मुझे ऐसा करने से

मा शुचः सुभ्रु ! भर्त्ता ते महाभागो भविष्यति ।
स्वरोचिर्नाम पुत्रश्च मनुस्तस्य भविष्यति ।।१३।
आज्ञाञ्च निधयः सर्वे करिष्यन्ति तवादृताः ।
यथाभिलषितं वित्तं प्रदास्यन्ति च ते शुभे ।।१४।
यस्या वत्से प्रभावेण विद्यायास्तां गृहाण मे ।
पद्मिनी नाम विद्येयं महापद्माभिपूजिता ।।१५।
इत्याह मां दक्षसुता सती सत्यपरायणा ।
स्वरोचिस्त्वं ध्रुवं देवी नान्यथा सा वदिष्यति ।।१६।
साहं प्राणप्रदायाद्य तां विद्यां स्वं तथा वपुः ।
प्रयच्छामि प्रतीच्छ त्वं प्रसादसुमुखो मम ।।१७।

मार्कण्डेय उवाच—

एवमस्त्विति तामाह स तु कन्यां कलावतीम् ।
विभावर्य्याः कलावत्याः स्निग्धदृष्टयानुमोदितः ।।१८।

मना किया और यह कहा—'सुन्दरी ! तू शोकाकुल न हो, तेरा पति महाभाग्यशाली स्वरोचिष् होगा और उससे तुम्हारा जो पुत्र जन्म लेगा वह (स्वरोचिष्) मनु बनेगा। सभी निधियां तेरी आज्ञा की वशर्वातिनी होंगी और तुम्हारा सत्कार पाकर वे तुम्हें मनोवांछित धन देंगी। जिस विद्या के प्रभाव से, अरी बच्ची ! यह सब सम्पन्न होगा उसे तू मुझसे ले ले। वह विद्या 'पद्मिनी' नाम की विद्या है, जिसे महापद्म की अर्चा-पूजा प्राप्त होती है। सत्यपरायण दाक्षायणी सती ने मुझसे यह सब कहा। वस्तुतः तुम ही वह 'स्वरोचिष्' हो। सती कभी मिथ्या नहीं बोल सकती। तुम मेरे प्राणदाता हो। इसलिए मैं अपने प्राणदाता तुम्हें आज वह (पद्मिनी) विद्या तथा अपनी यह देह दोनों समर्पित कर रही हूँ। तुम इन दोनों को स्वीकार कर लो और अपना सुन्दर मुखड़ा मुझे दिखाओ ॥ १२-१७ ॥

महामुनि मार्कण्डेय ने कहा—

उस (स्वरोचिष्) ने कुमारी कलावती से कहा—'जैसी तेरी इच्छा'। उसकी इस बात का विभावरी और कलावती दोनों ने, बड़ी स्नेहसिक्त दृष्टि से, अनुमोदन

जग्राह च ततः पाणी स तयोरमरद्युतिः ।
नदत्सु देवतूर्येषु नृत्यन्तीष्वप्सरःसु च ॥१९॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे 'स्वारोचिषे मन्वन्तरे' चतुःषष्टितमोऽध्यायः ।

किया । तदनन्तर, देवोपम स्वरोचिष् ने, उन दोनों कन्याओं का पाणिग्रहण किया और उसके साथ उन कन्याओं के विवाहोत्सव में देवों के वाद्य बजते रहे तथा देवाङ्गनाएँ नृत्य करती रहीं ॥ १८-१९ ॥

पर्यालोचन

(क) इस अध्याय के तीसरे श्लोक में एक विशेष प्रकार की विद्या का उल्लेख है, जिसके प्रभाव से पशु-पक्षी-सरीसृप प्रभृति समस्त प्राणियों के द्वारा उच्चरित शब्द और उससे सम्बद्ध अभिप्राय का प्रतिभास हो जाता है। यह 'विद्या' वस्तुतः पातञ्जल-योगदर्शन के 'विभूति' पाद के निम्नलिखित १७वें सूत्र में योगसिद्धि की एक विभूति के रूप में निर्दिष्ट है—

'शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् सङ्करस्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्।'

यहाँ 'तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्' के सूत्रवाक्यांश से विशेष प्रयोजन है। इस सूत्रवाक्यांश पर व्यासभाष्य का अंश, जो कि निम्नलिखित है, द्रष्टव्य है—

'अन्यथा शब्दोऽन्यथाऽर्थोऽन्यथा प्रत्यय इति विभागः। एवं तत्प्रविभागसंयमात् योगिनस्सर्वभूतरुतज्ञानं सम्पद्यत इति।'

इसका स्पष्टीकरण भोजदेवकृत 'राजमार्तण्डवृत्ति' में बड़ी सरल भाषा में किया हुआ है—

'इदं शब्दस्य तत्त्वं यद् वाचकत्वं नाम, इदमर्थस्य यद् वाच्यत्वम्, इदं ज्ञानस्य यत्प्रकाशकत्वम्—इति प्रविभागं विधाय तस्मिन् प्रविभागे यः संयमं करोति तस्य सर्वेषां भूतानां मृग-पक्षि-सरीसृपादीनां यद् रुतं यः शब्दस्तत्र ज्ञानमुत्पद्यते, अनेनैवाभिप्रायेण तेन प्राणिनाऽयं शब्दः समुच्चारित इति सर्वं जानाति।'

इसका तात्पर्य यह है—जो योगी यह विश्लेषण कर लेता है कि शब्द का तत्त्व वाचकत्व, अर्थ का तत्त्व वाच्यत्व तथा ज्ञान का तत्त्व प्रकाशकत्व अथवा ग्राहकत्व है और उसके शब्द-तत्त्व पर अपनी धारणा-ध्यान-समाधि को केन्द्रित कर योगाभ्यास में लीन हो जाता है, उसे पशु-पक्षी-सर्प प्रभृति समस्त प्राणियों के द्वारा उच्चरित शब्द और उसके अभिप्राय का ज्ञान-प्रतिभास हो जाया करता है।

यही योग की विभूति यहाँ मार्कण्डेयपुराणकार ने 'विद्या' के रूप में प्रतिपादित की है। ऐसा प्रतीत होता है मानो मार्कण्डेयपुराण के रचयिता की स्मृति में महाकवि भारवि के किरातार्जुनीय महाकाव्य के तृतीय सर्ग में व्यास द्वारा अर्जुन को प्रदत्त 'विद्या' के दान का वर्णन श्लोक (२२, २३) भी सुरक्षित हैं—

'यया समासादितसाधनेन
सुदुश्चरामाचरता तपस्याम्।
एते दुरापं समवाप्य वीर्य-
मुन्मूलितारः कपिकेतनेन॥
महत्त्वयोगाय महामहिम्ना-
माराधनीं तां नृप! देवतानाम्।
दातुं प्रदानोचित भूरिधाम्नी-
मुपागतः सिद्धिमिवाऽस्मि विद्याम्॥'

(ख) इस अध्याय के १५वें श्लोक में जिस 'पद्मिनी' विद्या का उल्लेख है, जिसकी कृपा से मार्कण्डेयपुराण की दृष्टि में आठ निधियां अथवा अन्य मान्यताओं की दृष्टि में नव निधियां मनुष्य को, उसके सात्त्विक, राजस तथा तामस स्वभाव के अनुरूप, होती हैं, वह लक्ष्मी के ही अनुग्रह की साधना और सिद्धि का रूप है। आज भी हमारे जातीय जीवन में वैदिक मान्यताओं के निधिपति गणेश तथा पद्मिनी-विद्या पर आधिपत्य रखने वाली लक्ष्मी की पूजा-प्रतिष्ठा का एक राष्ट्रव्यापी महत्त्व दिखायी देता है। आज भी दीपावली के पर्व पर दो स्वस्तिक-चिह्नों के भीतर लिखे 'लाभ' और 'शुभ' शब्द घर-घर में देखे जा सकते हैं तथा लक्ष्मी और गणेश की मृण्मय-प्रतिमा की पूजा का उत्सव घर-घर में बड़ी श्रद्धा-भक्ति से मनाया जाया करता है। यह सब पद्मिनी-विद्या और उसकी अधिष्ठात्री लक्ष्मी तथा पद्मिनी-विद्या की वशवर्ती निधियों के अधिपति गणेश की पौराणिक भावना का ही एक रूप है।

श्री मार्कण्डेयपुराण के 'स्वारोचिष-मन्वन्तर' वर्णन से सम्बद्ध ६४वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त।

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

ततः स ताभिः सहितः पत्नीभिरमरद्युतिः ।
रराम तस्मिन् शैलेन्द्रे रम्यकाननिर्झरे ॥१॥
सर्व्वोपभोगरत्नानि मधूनि मधुराणि च ।
निधयः समुपाजह्रुः पद्मिन्या वशवर्तिनः ॥२॥
स्रजो वस्त्राण्यलङ्कारान् गन्धाढ्यमनुलेपनम् ।
आसनान्यतिशुभ्राणि काञ्चनानि यथेच्छया ॥३॥
सौवर्णानि महाभाग ! करकान् भाजनानि च ।
तथा शय्याश्च विविधा दिव्यैरास्तरणैर्युताः ॥४॥
एवं स ताभिः सहितो दिव्यगन्धाधिवासिते ।
रराम स्वरुचिर्भाभिर्भासिते वरपर्वते ॥५॥
ताश्चापि सह तेनेति लेभिरे मुदमुत्तमाम् ।
रममाणा यथा स्वर्गे तथा तत्र शिलोच्चये ॥६॥

महामुनि मार्कण्डेय ने कहा—

इसके बाद देवोपमकान्ति वाले स्वरोचिष् अपनी उन प्रिय पत्नियों के साथ रमणीय कानन तथा निर्झरों से विभूषित उस शैलराज पर विहार करते रहे ॥१॥

उन्हें प्राप्त पद्मिनी-विद्या के वश में रहने वाली नवनिधियाँ उनके लिए समस्त उपभोगों के योग्य रत्न, मधुर, मधु, माल्य, वस्त्र, अलङ्कार, सुगन्धित अङ्गलेप, अत्यन्त उज्ज्वल सुवर्णमय आसन, स्वर्णपात्र, स्वर्णकरक (मधुपान के लिये स्वर्ण निर्मित प्याले) तथा दिव्य आस्तरणों (बिछौनों) से सुशोभित शयन-पर्यङ्क प्रभृति भोग्य पदार्थ जुटाने लगीं ॥२-४॥

इस प्रकार उन रमणियों के संग वे स्वरोचिष् दिव्यगन्धादि से सुरभित तथा अपनी देहकान्ति से दीप्तिमय बनाए गए उस सुन्दर पर्वत पर रमते रहे। वे रमणियाँ भी उनके साथ उस शैलेन्द्र पर ऐसा रमण करती रहीं, मानों स्वर्ग में रमण कर रही हों और अत्यन्त आह्लादित होती रहीं ॥५-६॥

कलहंसी जगादैकां चक्रवाकीं जले सतीम् ।
तस्य तासाञ्च ललिते सम्बन्धे च स्पृहावती ॥७॥
धन्योऽयमतिपुण्योऽयं योऽयं यौवनगोचरः ।
दयिताभिः सहैताभिर्भुङ्क्ते भोगानभीप्सितान् ॥८॥
सन्ति यौवनिनः श्लाघ्यास्तत्पत्न्यो नातिशोभनाः ।
जगत्यामल्पकाः पत्न्यः पतयश्चातिशोभनाः ॥९॥
अभीष्टा कस्यचित् कान्ता कान्तः कस्याश्चिदीप्सितः ।
परस्परानुरागाढ्यं दाम्पत्यमतिदुर्लभम् ॥१०॥
धन्योऽयं दयिताभीष्टो ह्येताश्चास्यातिवल्लभाः ।
परस्परानुरागो हि धन्यानामेव जायते ॥११॥
एतन्निशम्यवचनं कलहंसीसमीरितम् ।
उवाच चक्रवाकी तां नातिविस्मितमानसा ॥१२॥
नायं धन्यो यतो लज्जा नान्यस्त्रीसन्निकर्षतः ।
अन्यां स्त्रियमयं भुङ्क्ते न सर्वास्वस्य मानसम् ॥१३॥

उन्हें इस प्रकार लीला-विहार करते देखकर, एक कलहंसिनी ने, जिसके हृदय में उन (स्वरोचिष्) के तथा उनकी रमणियों के मधुर प्रेम-सम्बन्ध सदृश प्रेम-सम्बन्ध के प्रति बड़ी स्पृहा (चाह) उत्पन्न हो गयी थी, जल में विहार करती एक चक्रवाकी (चकई) से कहा—'यह युवा पुरुष धन्य है, बड़ा पुण्यशाली है, क्योंकि यह अपनी इन प्रेमिकाओं के साथ सभी अभीष्ट सुखभोगों का भोग कर रहा है। इस संसार में बहुत से प्रेमी युवक बड़े सुन्दर होते हैं, किन्तु उनकी पत्नियाँ उतनी सुन्दर नहीं होतीं। कुछ थोड़ी ही ऐसी पत्नियाँ हैं और थोड़े ही उनके ऐसे पति हैं, जो वस्तुतः अत्यन्त सुन्दर लगते हैं ॥७-९॥

संसार में देखा तो ऐसा जाता है कि कोई प्रेमी पति अपनी किसी प्रेमिका पत्नी पर प्राण न्यौछावर कर रहा है और वह प्रेमिका पत्नी अपने उस प्रेमी पर लट्टू हो रही है। ऐसा पति-पत्नी-प्रेम, जो परस्पर अनुराग से समृद्ध हो, वस्तुतः बड़ा दुर्लभ है ॥१०॥

यह स्वरोचिष् धन्य है, जिसे उसकी प्रेमिकाएँ इतना चाहती हैं और इसकी ये प्रेमिकायें धन्य हैं, जिससे यह (स्वरोचिष्) इतना प्रेम करता है, वस्तुतः जो पति-पत्नी बड़े भाग्यशाली हैं, उन्हीं में एक दूसरे के प्रति इतना अनुराग दिखायी देता है ॥११॥

कलहंसिनी की ऐसी बात सुनकर चक्रवाकी ने, जिसके मन में स्वरोचिष् और उसकी प्रेमिका पत्नियों के सम्बन्ध में कोई बहुत आश्चर्य नहीं हुआ था, कलहंसिनी से कहा—यह स्वरोचिष् कैसे धन्य है, जिसे परनारियों के संसर्ग से लाज नहीं लगती। यह तो किसी एक रमणी का सुख भोग रहा है, न कि सभी रमणियों में इसका मन रमा हुआ है ॥१२-१३॥

चित्तानुराग एकस्मिन्नधिष्ठाने यतः सखि ।
ततो हि प्रीतिमानेष भार्य्यासु भविता कथम् ॥१४।
एता न दयिताः पत्युर्नैतासां दयितः पतिः ।
विनोदमात्रमेवैता यथा परिजनोऽपरः ॥१५।
एतासाञ्च यदीष्टोऽयं तत् किं प्राणान्न मुञ्चति ।
आलिङ्गत्यपरां कान्तां ध्यातो वै कान्तयान्यया ॥१६।
विद्याप्रदानमूल्येन विक्रीतो ह्येष भृत्यवत् ।
प्रवर्त्तते न हि प्रेम समं बह्वीषु तिष्ठति ॥१७।
कलहंसि ! पतिर्धन्यो मम धन्याहमेव च ।
यस्यैकस्याश्चिरं चित्तं यस्याश्चैकत्र संस्थितम् ॥१८।
सर्वसत्त्वरुतज्ञोऽसौ स्वरोचिरपराजितः ।
निशम्य लज्जितो दध्यौ सत्यमेव हि नानृतम् ॥१९।

अरी सखी ! वास्तविक हृदयानुराग तो एक अधिष्ठान में ही संभव है । इसलिये यह (स्वरोचिष्) अपनी इतनी पत्निओं में कैसे एक समान अनुरक्त रह सकता है । न तो इनका पति इन सबको अपनी प्रेमिकाएँ समझता है और न ये पत्नियाँ हीं उसे अपना एकमात्र प्रेमी मानती हैं । ये पत्नियाँ तो इसके मनोरञ्जन का उसी भाँति साधन हैं, जैसे अनुचर-परिचर हुआ करते हैं । यदि वस्तुतः यह इनका प्रेमी है, तब तो इसे अपना प्राण-परित्याग कर देना चाहिए, क्योंकि जिस समय इसकी एक प्रेमिका इसके ध्यान में मग्न है, उसी समय यह अपनी दूसरी प्रेमिका के आलिङ्गन में लीन है, जोकि दाम्पत्य-प्रेम के सर्वथा विरुद्ध आचरण है ॥१४-१६॥

वस्तुतः इन प्रेमिकाओं ने इसे पद्मिनी-विद्या रूप मूल्य-प्रदान कर एक भृत्य की भाँति खरीद लिया है, क्योंकि अनेक रमणियों में आसक्त रहने वाले का प्रेम उन सब में एक-सा नहीं रह सकता । अरी कलहंसिनी ! सुखी सौभाग्यशाली तो मेरा पति है और मैं उसकी पत्नी सुखी-सौभाग्यवती हूँ, क्योंकि जैसे मेरे पति का मन एकमात्र मुझमें सदा आसक्त रहा करता है, वैसे ही मेरा भी मन एकमात्र अपने उस पति में ही सदा आसक्त रहा करता है ॥१७-१८॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

महावीर स्वरोचिष् जो सभी प्राणियों की बोली समझते थे, कलहंसी और चक्रवाकी की बोली सुनकर बड़े लज्जित हुये और सोचने लगे कि इन पक्षिओं ने जो कहा है, वह सच कहा है, झूठ नहीं कहा ॥१९॥

ततो वर्षशतें याते रममाणो महागिरौ ।
रममाणः समं ताभिर्ददर्श पुरतो मृगम् ।।२०।
सुस्निग्धपीनावयवं मृगयूथविहारिणम् ।
वासिताभिः सुरूपाभिर्मृगीभिः परिवारितम् ।।२१।
आकृष्टघ्राणपुटका जिघ्रन्तीस्तास्ततो मृगीः ।
उवाच स मृगो रामा लज्जात्यागेन गम्यताम् ।।२२।
नाहं स्वरोचिस्तच्छीलो न चैवाहं सुलोचनाः ।
निर्लज्जा बहवः सन्ति तादृशास्तत्र गच्छतः ।।२३।
एका त्वनेकानुगता यथा हासास्पदं जने ।
अनेकाभिस्तथैवैको भोगदृष्ट्या निरीक्षितः ।।२४।
तस्य धर्मक्रियाहानिरहन्यहनि जायते ।
सक्तोऽन्यभार्य्यया चान्यकामासक्तः सदैव सः ।।२५।
यस्तादृशोऽन्यस्तच्छीलः परलोकपराङ्मुखः ।
तं कामयत भद्रं वो नाहं तुल्यः स्वरोचिषा ।।२६।

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे स्वारोचिषे मन्वन्तरे पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ।। ६५ ।।

उस महापर्वत पर उन पत्नी-प्रेमिकाओं के साथ रमण करते हुये स्वरोचिष् के एक सौ वर्ष बीत गए, जब कि उन्होंने अपने सामने हरिणिओं के साथ विहार करते एक हरिण को देखा, जिसका शरीर बड़ा चिकना तथा अंग-प्रत्यंग बड़े मांसल थे और जिसे प्रेमपगी सुन्दर हरिणियाँ चारों ओर से घेरे हुयी थीं। उस हरिण ने, जिसे वे हरिणियाँ अपनी नाक आगे किये सूँघ रही थीं, उन हरिणियों से कहा—तुम सब निर्लज्ज हो मेरे पास से चली जाओ। मैं स्वरोचिष् नहीं और न उसके जैसा मेरा स्वभाव है। अरी सुन्दर नेत्रों वाली ! बहुत से ऐसे हैं, जिन्हें लज्जा नहीं होती। तुम सब वहीं चली जाओ। जैसे लोग उस नारी पर हंसते हैं, जिसका कई प्रेमी पीछा करते-फिरते हैं, वैसे ही उस प्रेमी पर भी हँसते हैं, जिसे कई प्रेमिकाएँ भोग की ललचायी दृष्टि से देखा करती हैं। ऐसे व्यक्ति का धर्मकर्मानुष्ठान प्रतिदिन नष्ट होता रहता है, जिसकी एक तो धर्मपत्नी हो, किन्तु जो अनेक प्रेमिकाओं में निरन्तर कामासक्त रहता हो। मुझे छोड़ कर जो भी ऐसा हो अथवा ऐसे व्यक्ति का सा स्वभाववाला हो वह परलोकपराङ्मुख है। ऐसे किसी मृग में तुम सब अपनी कामासक्ति रखो, तुम सब का कल्याण हो। मैं स्वरोचिष् जैसा नहीं, मुझे छोड़ दो ।।२०-२६।।

✲

पर्यालोचन

(क) इस अध्याय के आरम्भ के १ से ६ श्लोकों में पद्मिनी-विद्या, उसके द्वारा प्राप्य सुखभोगों के वर्णन के माध्यम से, निरूपित की गयी है। यह पद्मिनी-विद्या वह विद्या है, जिसके वश में नव-निधियाँ रहा करती हैं, जिनमें संसार के सभी वैभव, सभी ऐश्वर्य, सभी सुखभोग समन्वित हैं। वैदिक-युग के आर्य 'निधयो मधूनाम्' (ऋग्वेद १ : १८३, ४; ३ : ५८, ५) अथवा सोमरस की निधि को निधि मानते थे। पुराण-काल में भौतिक सभ्यता के विकास के कारण 'निधि' शब्द से रत्न की निधि का अर्थ माना जाने लगा।

मार्कण्डेयमहापुराण के ६८वें अध्याय में पद्मिनी-विद्या की वशवर्त्ती आठ निधियों का सात्त्विक, राजस और तामस भेद से बड़ा विचित्र और विशद वर्णन है। यजुर्वेद (२३।१९) में गणपति गणेश को निधिपति कहा गया है। पुराणों में कुबेर को निधिपति माना गया है। गणपति गणेश सुखनिधान होने के नाते 'निधिपति' हैं, किन्तु कुबेर आठ अथवा नव-निधियों के अधिपति होने के कारण निधिपति हैं।

पद्मिनी-विद्या की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी हैं। यह 'लक्ष्मी' अन्ततोगत्वा देवी की ही एक विभूति-मूर्ति हैं। श्रीदेवीभागवत में गायत्री के आठ सहस्र नाम परिगणित हैं, जिनमें एक नाम 'पद्मिनी' भी है। 'गायत्री' की महिमा ऋग्वेद के युग से लेकर आजतक भारत की प्रबुद्ध आस्तिक जनता के हृदय-मन्दिर में प्रतिष्ठित है। श्रीदेवी-भागवत का निम्नलिखित श्लोक (१२।९४) उद्धृत किया जा रहा है, जिसमें गायत्री-तत्त्व या गायत्री-विद्या का एक पर्याय पद्मिनी-तत्त्व या पद्मिनी-विद्या कहा गया है—

'पद्मप्रिया पद्मसंस्था पद्माक्षी पद्मसंभवा।
पद्मपत्रा पद्मपदा पद्मिनी प्रियभाषिणी॥

गायत्री केवल आमुष्मिक अथवा पारलौकिक फल को देने वाली नहीं अपितु ऐहिक अथवा इहलोक के फल को भी देने वाली है, जैसा कि देवीभागवत के इसी स्कन्ध के तीसरे श्लोक में संकेतित है! सम्भव है कि वेदों की गायत्री-विद्या ही मार्कण्डेयमहापुराण में पद्मिनी-विद्या के रूप में प्रतिपादित की गयी हो और मार्कण्डेय-पुराण की ही मान्यता के आधार पर देवीभागवत (१२ वाँ स्कन्ध) में गायत्री को पद्मिनी कहा गया हो।

१३वीं-१४वीं शताब्दी के विशिष्टाद्वैतवेदान्त के महान् व्याख्याता वेङ्कटनाथ वेदान्ताचार्य अथवा वेदान्तदेशिक के विषय में यह प्रसिद्ध लोककथा है कि उन्हें श्रीविद्या की सिद्धि थी, जिसका प्रदर्शन उन्होंने स्वर्णवर्षा के रूप में किया था। यह लोककथा श्री वेदान्तदेशिक की 'श्रीस्तुति' की रचना से सम्बद्ध है।

(ख) इस अध्याय के १०वें श्लोक की दूसरी पंक्ति और ११वें श्लोक की दूसरी पंक्ति इस प्रकार की है—

'परस्परानुरागाढ्यं दाम्पत्यमतिदुर्लभम् ।'
'परस्परानुरागो हि धन्यानामेव जायते ॥'

उपर्युक्त दो पंक्तिओं को देखने से उत्तररामचरित (१।३९) में भवभूति के नीचे लिखे श्लोक की स्मृति स्वभावतः हो आती हैं—

'अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः ।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते ॥'

उपर्युक्त श्लोक में महाकवि भवभूति ने जिस 'सुमानुष' अथवा दाम्पत्यप्रेम पर एक उत्तम-काव्य की रचना की है, उसी दाम्पत्यप्रेम पर मार्कंण्डेयपुराण की ऊपर उद्धृत पंक्तियां हैं ।

श्री मार्कंण्डेयपुराण के स्वारोचिष-मन्वन्तर-वर्णन से संबद्ध ६५ वें अध्याय का सपर्यालोचन, हिन्दी-अनुवाद समाप्त ।

षट्षष्टितमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

एवं निरस्यमानास्ता हरिणेन मृगाङ्गनाः ।
श्रुत्वा स्वरोचिरात्मानं मेने स पतितं यथा ॥१॥
त्यागे चकार च मनः स तासां मुनिसत्तम ।
चक्रवाकीमृगप्रोक्तो मृगचर्य्याजुगुप्सितः ॥२॥
समेत्य ताभिर्भूयश्च वर्द्धमानमनोभवः ।
आक्षिप्तनिर्वेदकथो रेमे वर्षशतानि षट् ॥३॥
किन्तु धर्माविरोधेन कुर्वन् धर्माश्रिताः क्रियाः ।
भुङ्क्ते स्वरोचिर्विषयान् सह ताभिरुदारधीः ॥४॥
ततश्च जज्ञिरे तस्य त्रयः पुत्राः स्वरोचिषः ।
विजयो मेरुनन्दश्च प्रभावश्च महाबलः ॥५॥
मनोरमा च विजयं प्रासूतेन्दीवरात्मजा ।
विभावरी मेरुनन्दं प्रभावञ्च कलावती ॥६॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

जब स्वरोचिष् ने यह सुना कि उस हरिण ने अपनी प्रेमिका हरिणियों को अपने से दूर हट जाने को कह दिया है, तब वह अपने आपको बड़ा पतित समझने लगा ॥ १ ॥

मुनिवर क्रौष्टुकि ! तब उसके मन में अपनी प्रेमिका पत्नियों के परित्याग का भाव उत्पन्न हुआ, क्योंकि उसे चक्रवाकी और हरिण की बातें ध्यान में आयीं और साथ ही साथ हरिण का आचार-व्यवहार देखकर उसे बड़ी आत्मग्लानि हुई। किन्तु जब उसकी प्रेमिका पत्नियाँ पुनः उसके समीप आयीं, तब उसकी काम-वासना बढ़ गयी और उसने वैराग्य-भाव को झिड़क कर ६ सौ वर्षों तक उनके साथ विहार किया ॥ २-३ ॥

किन्तु स्वरोचिष् की कामासक्ति धर्म के विरुद्ध नहीं थी और वह उदारहृदय होने के कारण धर्म-कर्म का सम्पादन करते हुए, अपनी प्रेमसी पत्नियों के साथ वैषयिक सुखों का भोग करने लगा। तदनन्तर स्वरोचिष् के तीन पुत्र जन्म लिये—१ला) विजय, २रा) मेरुनन्द और ३रा) महाबली प्रभाव। इन्द्रीवर की पुत्री मनोरमा ने विजय को, विभावरी ने मेरुनन्द को और कलावती ने प्रभाव को जन्म दिया ॥ ४-६ ॥

पद्मिनी नाम या विद्या सर्वभोगोपपादिका ।
स तेषां तत्प्रभावेण पिता चक्रे पुरत्रयम् ॥७॥
प्राच्यान्तु विजयं नाम कामरूपे नगोपरि ।
विजयाय सुतायादौ स ददौ पुरमुत्तमम् ॥८॥
उदीच्यां मेरुनन्दस्य पुरीं नन्दवतीमिति ।
ख्याताञ्चकार प्रोत्तुङ्गवप्रप्राकारमालिनीम् ॥९॥
कलावतीसुतस्यापि प्रभावस्य निवेशितम् ।
पुरं तालमिति ख्यातं दक्षिणापथमाश्रितम् ॥१०॥
एवं निवेश्य पुत्रान् स पुरेषु पुरुषर्षभः ।
रेमे ताभिः समं विप्र ! मनोज्ञेष्वतिभूमिषु ॥११॥
एकदा तु गतोऽरण्ये विहरन् स धनुर्द्धरः ।
चकर्ष धनुरालोक्य वराहमतिदूरगम् ॥१२॥
अथाह काचिदभ्येत्य तं तदा हरिणाङ्गना ।
मय्येव पात्यतां बाणः प्रसीदेति पुनः पुनः ॥१३॥
किमनेन हतेनाद्य ममाशु विनिपातय ।
त्वया निपातितो बाणो दुःखान्मां मोक्षयिष्यति ॥१४॥

समस्त भोगविलास की सम्पादिका पद्मिनी नाम की विद्या की शक्ति से उसने अपने तीनों पुत्रों के लिए तीन नगरों के निर्माण करवाए। पूर्व दिशा में पर्वत पर अवस्थित कामरूप प्रदेश में उसने पहले विजय नामक श्रेष्ठतम नगर अपने श्रेष्ठपुत्र विजय को दिया। उत्तर दिशा में ऊँचे-ऊँचे प्राचीर-परकोटों से सुशोभित नन्दवती नाम की नगरी को उसने अपने मझोले पुत्र मेरुनन्दन की नगरी के रूप में प्रसिद्ध कर दिया। दक्षिणापथ में निर्मापित ताल नामक प्रसिद्ध पुर को उसने कलावती के पुत्र प्रभाव को दे दिया। इस प्रकार उस महापुरुष स्वरोचिष् ने अपने तीनों पुत्रों को तीन नगरों में बसा दिया और द्विजवर क्रौष्टुकि ! उसके बाद वह सुन्दर-सुन्दर स्थानों पर अपनी उन प्रेमिका पत्नियों के साथ रमण करने में लग गया ॥ ७-११ ॥

एक समय की बात है कि वह धनुर्धर स्वरोचिष् वन में विहार करने गया और अपने से दूर भागते एक शूकर को देखकर उसे मारने के लिए उसने धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ा ली। उसी समय एक हरिणी उसके पास आयी और उससे आग्रह कर कहने लगी कि वह अपना बाण उस पर चला देने की कृपा करे। वह कहने लगी इस शूकर को मारने से क्या ! बाण मुझ पर चला दो। यदि तुमने मुझ पर बाण चला दिया तो उससे मैं अपने दुःखों से छुटकारा पा जाऊँगी ॥ १२-१४ ॥

स्वरोचिरुवाच—

न ते शरीरं सरुजमस्माभिरुपलक्ष्यते ।
किन्नु तत्कारणं येन त्वं प्राणान् हातुमिच्छसि ॥१५॥

मृग्युवाच—

अन्यास्वासक्तहृदये यस्मिश्चेतः कृतास्पदम् ।
मम तेन विना मृत्युरौषधं किमिहापरम् ॥१६॥

स्वरोचिरुवाच—

कस्त्वां नाभिलषेद् भीरु ! सानुरागासि कुत्र वा ।
यदप्राप्तौ निजान् प्राणान् परित्यक्तुं व्यवस्यसि ॥१७॥

मृग्युवाच—

त्वामेवेच्छामि भद्रन्ते त्वया मेऽवहृतं मनः ।
वृणोम्यहमतो मृत्युं मयि बाणो निपात्यताम् ॥१८॥

स्वरोचिरुवाच—

त्वं मृगी चञ्चलापाङ्गी नररूपधरा वयम् ।
कथं त्वया समं योगो मद्विधस्य भविष्यति ॥१९॥

स्वरोचिष् की उक्ति—

'तेरा शरीर किसी रोग से ग्रस्त हो—ऐसा तो कुछ मुझे पता नहीं चलता, तब ऐसी क्या बात है कि तू प्राण-परित्याग करना चाहती है' ॥ १५ ॥

मृगी ने कहा—

'जिस मृग में मेरा मन आसक्त था, उसका हृदय किसी दूसरी मृगी में आसक्त है। ऐसी स्थिति में मेरे लिए, अपने प्रेमी उस मृग से विरह की व्याधि की औषधि मृत्यु के अतिरिक्त और क्या हो सकती है ? ॥ १६ ॥

स्वरोचिष् की उक्ति—

अरी अधीर मृगी ! कौन ऐसा मृग है जो तुझे नहीं चाहता ! किस मृग में तेरा हृदय आसक्त है, जिसे न पा सकने के कारण तू अपने प्राण छोड़ने पर उतारू है ॥ १७ ॥

मृगी ने कहा—

भगवान् तुम्हारा भला करे। मैं तुम से ही प्रेम करती हूँ। तुमने मेरा हृदय मुझसे छीन लिया है। मैं तो इसीलिए मृत्यु का वरण कर रही हूँ। मुझ पर बाण चला दो ॥ १८ ॥

स्वरोचिष् की उक्ति—

अरी ! तू एक चञ्चल नयनों वाली हरिणी और मैं एक मनुष्यरूपधारी प्राणी ! मेरे जैसे का तुझ से किस प्रकार का प्रेम-प्रसङ्ग संभव है ? ॥ १९ ॥

मृग्युवाच—

यदि सापेक्षितश्चित्तं मयि ते मां परिष्वज ।
यदि वा साधु चित्तन्ते करिष्यामि यथेप्सितम् ।
एतावताहं भवता भविष्याम्यतिमानिता ।।२०।

मार्कण्डेय उवाच—

आलिलिङ्ग ततस्तां स स्वरोचिर्हरिणाङ्गनाम् ।
तेन चालिङ्गिता सद्यः साभूद्दिव्यवपुर्धरा ।।२१।
ततः स विस्मयाविष्टः का त्वमित्यभ्यभाषत ।
सा चास्मै कथयामास प्रेमलज्जाजडाक्षरम् ।।२२।
अहमभ्यर्थिता देवैः काननस्यास्य देवता ।
उत्पादनीयो हि मनुस्त्वया मयि महामते ।।२३।
प्रीतिमत्यां मयि सुतं भूर्लोकपरिपालकम् ।
तमुत्पादय देवानां त्वामहं वचनाद्वदे ।।२४।

मार्कण्डेय उवाच—

ततः स तस्यां तनयं सर्वलक्षणलक्षितम् ।
तेजस्विनमिवात्मानं जनयामास तत्क्षणात् ।।२५।

मृगी की उक्ति—

यदि तुम्हारे मन में मेरे प्रति कोई स्निग्धभाव हो तो मेरा आलिङ्गन करो और यदि तुम्हारा चित्त निर्विकार है, तो मुझे अपने मरने का मनोरथ पूरा करने दो। तुम्हारे इतने ही उपकार से मैं समझूँगी कि तुमने मुझे अपना माना है ।। २० ।।

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

इतना सुनने के बाद ही स्वरोचिष् ने उस हरिणी का आलिङ्गन कर लिया और जैसे ही उन्होंने उसका आलिङ्गन किया कि वह दिव्य शरीर वाली देवाङ्गना बन गयी। यह सब देखकर स्वरोचिष् आश्चर्यचकित हो गए और उससे पूछा—तू कौन है ? उस देवाङ्गना (भूतपूर्व मृगी) ने प्रेम और लज्जा से अस्फुट अक्षरों में उनसे कहा—हे महाबुद्धिमान् स्वरोचिष् ! मैं इस वन की देवी हूँ। देवों ने मुझसे अभ्यर्थना की है कि मेरे गर्भ से तुम्हारे द्वारा 'मनु' का जन्म होना चाहिए। मैं देवों की प्रार्थना के अनुसार ही तुमसे कह रही हूँ कि मैं तुझमें प्रेमासक्त हूँ। तुम मेरे गर्भ से ऐसा पुत्र उत्पन्न करो, जो भूर्लोक का परिपालक हो ।। २१-२४ ।।

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

उसके बाद, स्वरोचिष् ने उस मृगी के गर्भ से तत्काल समस्त महापुरुष-लक्षणों से सुशोभित अपने समान ही एक तेजस्वी पुत्र को उत्पन्न किया। उस पुत्र के जन्म

जातमात्रस्य तस्याथ देववाद्यानि सस्वनुः ।
जगुर्गन्धर्वपतयो ननृतुश्चाप्सरोगणाः ।।२६।
सिषिचुः शीकरैर्नागा ऋषयश्च तपोधनाः ।
देवाश्च पुष्पवर्षञ्च मुमुचुश्च समन्ततः ।।२७।
तस्य तेजः समालोक्य नाम चक्रे पिता स्वयम् ।
द्युतिमानिति येनास्य तेजसा भासिता दिशः ।।२८।
स बालो द्युतिमान्नाम महाबलपराक्रमः ।
स्वरोचिषः सुतो यस्मात्तस्मात् स्वारोचिषोऽभवत् ।।२९।
स चापि विचरन् रम्ये कदाचिद् गिरिनिर्झरे ।
स्वरोचिर्ददृशे हंसं निजपत्नीसमन्वितम् ।।३०।
उवाच स तदा हंसीं साभिलाषां पुनः पुनः ।
उपसंह्रियतामात्मा चिरन्ते क्रीडितं मया ।।३१।
किं सर्वकालं भोगैस्ते आसन्नश्चरमं वयः ।
परित्यागस्य कालो मे तव चापि जलेचरि ।।३२।

हंस्युवाच—

अकालः को हि भोगानां सर्वं भोगात्मकं जगत् ।
यज्ञाः क्रियन्ते भोगार्थं ब्राह्मणैः संयतात्मभिः ।।३३।

लेते ही देवगण के मङ्गल-वाद्य वजने लगे, गन्धर्व-गण गाने लगे, अप्सराएँ नाचने लगीं, दिग्गज अपनी सूंड से पानी छीटने लगे और तपोधनी ऋषि-महर्षि तथा देवगण पुष्पवर्षा करने लगे। अपने उस पुत्र के तेज को देखकर पिता स्वरोचिष् ने स्वयं उसका नाम 'द्युतिमान्' रखा, क्योंकि उस जन्मजात बालक के तेज से दिग्दिगन्त देदीप्यमान हो गये थे। द्युतिमान् नाम का वह बालक महाबली और महापराक्रमी निकला। वह स्वरोचिष् का पुत्र था, इसलिए वह 'स्वारोचिष' नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥ २५-२९ ॥

एक बार एक सुन्दर पहाड़ी झरने के पास विचरण करते हुए स्वरोचिष् ने एक हंस को देखा, जिसके समीप उसकी पत्नी हंसिनी जल विहार कर रही थी। हंसिनी को बहुत कामातुर देखकर हंस ने कहा—'अब अपने आप पर नियन्त्रण कर। तू बहुत समय तक मेरे साथ कामक्रीडा करती रही। अब सदा भोग-विलास में पड़ी रह कर क्या करेगी? अब तो बुढ़ापे के दिन आ पहुँचे। अरी हंसिनी! अब समय आ गया है, जब तू और मैं—दोनों भोग-विलास का परित्याग कर दें ॥ ३०-३२ ॥

हंसिनी बोली—

कौन ऐसा समय है जो सुखभोग के लिए नहीं है? सारा जगत् भोगस्वरूप है। संयतचित्त ब्राह्मण भी भोग के लिए ही यज्ञयागों के अनुष्ठान करते हैं। वड़े विवेकशील

दृष्टादृष्टांस्तथा भोगान् वाञ्छमाना विवेकिनः।
दानानि च प्रयच्छन्ति पूर्तधर्मांश्च कुर्वते ॥३४।
स त्वं नेच्छसि किं भोगान् भोगश्चेष्टफलं नृणाम्।
विवेकिनां तिरश्चाञ्च किं पुनः संयतात्मनाम् ॥३५।

हंस उवाच—

भोगेष्वसक्तचित्तानां परमात्मान्विता मतिः।
भविष्यति कदा सङ्गमुपेतानाञ्च बन्धुषु ॥३६।
पुत्रमित्रकलत्रेषु सक्ताः सीदन्ति जन्तवः।
सरःपङ्कार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव ॥३७।
किं न पश्यसि वा भद्रे! जातसङ्गं स्वरोचिषम्।
आबाल्यात् कामसंसक्तं मग्नं स्नेहाम्बुकर्दमे ॥३८।
यौवनेऽतीव भार्य्यासु साम्प्रतं पुत्रनप्तृषु।
स्वरोचिषो मनो मग्नमुद्धारं प्राप्यते कुतः ॥३९।
नाहं स्वरोचिषस्तुल्यः स्त्रीबाध्यो वा जलेचरि।
विवेकवांश्च भोगानां निवृत्तोऽस्मि च साम्प्रतम् ॥४०।

लोग भी जो दान देते हैं, या (कूप-तटाक निर्माण प्रभृति) पूर्त कर्मों का सम्पादन करते हैं, वह दृष्ट किंवा अदृष्ट (ऐहलौकिक किंवा पारलौकिक) भोग की अभिलाषा से प्रेरित होकर ही करते हैं। तुम्हें क्या भोग की अभिलाषा नहीं? तिर्यग् योनि के जीवों के लिए क्या कहा जाय? मनुष्यों के लिए भी, चाहे वे विवेकवान् हों या संयतचित्त हों, भोग वस्तुतः उनके धर्मकर्मानुष्ठान के अभीष्ट फल होते हैं ॥ ३३-३५ ॥

हंस ने कहा—

भोग में जिनका मन आसक्त नहीं होता, उनका मन परमात्मा में रम जाता है। किन्तु भोग में आसक्त प्राणियों का मन परमात्मा में कब आसक्त होगा? इस जगत् के प्राणी, जो बन्धु-बान्धव, पुत्र-कलत्र तथा इष्टमित्रों में आसक्त रहा करते हैं, वे जलाशय के गहरे कीचड़ में डूबे बूढ़े जंगली हाथियों की भांति दुःख भोगा करते हैं। तू क्या स्वरोचिष् को ही नहीं देखती, जो बचपन से ही भोगासक्त और कामासक्त है और प्रेम-जलाशय के कीचड़ में डूबा हुआ है। अपने यौवनकाल में उसका मन अपनी प्रेमिका-पत्नियों में मग्न था और वृद्धावस्था में पुत्रों और नातियों में मग्न है। उसका कैसे उद्धार हो सकेगा! मैं स्वरोचिष् जैसा नहीं और, अरी हंसिनी! मैं नारी का वशवर्ती भी नहीं। मैं विवेकशील हूँ। अब मैं सब भोग-विलास से निवृत्त हो चुका हूँ ॥ ३६-४० ॥

मार्कण्डेय उवाच—

स्वरोचिरेतदाकर्ण्य जातोद्वेगः खगेरितम् ।
आदाय भार्य्यास्तपसे ययावन्यत्तपोवनम् ॥४१।
तत्र तप्त्वा तपो घोरं सह ताभिरुदारधीः ।
जगाम लोकानमलान्निवृत्ताखिलकल्मषः ॥४२।

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे स्वारोचिषे मन्वन्तरे षट्षष्टितमोऽध्यायः ।

महामुनि मार्कण्डेय ने कहा—

स्वरोचिष् ने जब पक्षी की यह बोली सुनी, तब उसका मन उद्विग्न हो गया। वह अपनी धर्मपत्निओं को साथ लेकर तपश्चरण के लिए अन्यत्र एक तपोवन में चला गया। वह बड़ा उदाराशय था। उसने अपनी धर्मपत्नियों के साथ तपोवन में घोर तपस्या की और अपने समस्त पाप-कलुष का प्रक्षालन करके दिव्य लोक के लिए प्रस्थान किया॥ ४१-४२ ॥

✲

पर्यालोचन

(क) मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय से लेकर पिछले चार-पांच अध्यायों में 'स्वारोचिष मनु' का जो वर्णन है, वह बड़ा विचित्र है। प्रथम मनु अर्थात् स्वायंभुव मनु तो ब्रह्मा प्रजापति के मानस-पुत्र थे, किन्तु स्वारोचिष मनु सर्ग-चक्र के चल निकलने पर एक मनुष्य (स्वरोचिष्) के एक मृगी के आलिङ्गन मात्र से उत्पन्न हुए थे। स्वारोचिष मनु की उत्पत्ति न मानसी थी और न शारीरिक, अपितु शरीर और मन के संयोग मात्र से थी। स्वारोचिष मनु के विषय में श्रीदेवीभागवत के दशम स्कन्ध में, जो इससे सर्वथा भिन्न रूप का उल्लेख है, जिसके अनुसार स्वारोचिष मनु स्वायंभुव मनु के पुत्र प्रियव्रत के पुत्र सिद्ध होते हैं। देखिए श्रीदेवीभागवत (स्कन्ध १०।८।४-१३)—

प्रथमोऽयं मनुः स्वायंभुव उक्तो महामुने।
देव्याराधनतो येन प्राप्तं राज्यमकण्टकम्॥

प्रियव्रतोत्तानपादौ मनुपुत्रौ महौजसौ।
राज्यपालनकर्तारौ विख्यातौ वसुधातले॥

द्वितीयश्च मनुः स्वारोचिष उक्तो मनीषिभिः।
प्रियव्रतसुतः श्रीमानप्रमेयपराक्रमः॥

स स्वारोचिषनामाऽपि कालिन्दीकूलतो मनुः।
निवासं कल्पयामास सर्वसत्त्वप्रियङ्करः॥

जीर्णपत्राशनो भूत्वा तपः कर्तुमनुव्रतः।
देव्याः मूर्तिं मृण्मयीं च पूजयामास भक्तितः॥

एवं द्वादशवर्षाणि वनस्थस्य तपस्यतः।
देवी प्रादुरभूत्तात सहस्रार्कसमद्युतिः॥

ततः प्रसन्ना देवेशी स्तवराजेन सुव्रता।
ददौ स्वारोचिषायैव सर्वमन्वन्तराश्रयम्॥

आधिपत्यं जगद्धात्री तारिणीति प्रथामगात्।
एवं स्वारोचिषमनुस्तारिण्याराधनात्ततः॥

आधिपत्यं च लेभे स सर्वारातिविवर्जितम्।
धर्मं संस्थाप्य विधिवद्राज्यं पुत्रैः समं विभुः॥

भुक्त्वा जगाम स्वर्लोकं निजमन्वन्तराश्रयात्।'

मार्कण्डेयमहापुराण और श्रीदेवीभागवतपुराण के परस्पर भिन्न-भिन्न उपर्युक्त उल्लेखों का समन्वय असम्भव प्रतीत होता है। देवीभागवत के रचयिता ने सावर्णि मनु का वर्णन तो अविकलरूप से मार्कण्डेय महापुराण से ही लिया, किन्तु स्वारोचिष मनु के मार्कण्डेयपुराण के विचित्र वर्णन को सर्वथा छोड़ दिया। श्रीदेवीभागवत के रचयिता ने क्यों ऐसा किया ? इसका उत्तर देना दुष्कर है। इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि देवी भागवत के देवी की भागवती कथा के रूप में रचे जाने के कारण जैसे स्वायंभुव मनु देवी की आराधना से प्रथम मन्वन्तराधिप तथा प्रथम मन्वन्तर के प्रवर्तक हुए, वैसे ही उनके पौत्र स्वारोचिष भी देवी की ही उपासना से द्वितीय मन्वन्तर के प्रवर्तक तथा मन्वन्तराधिप हुए। मार्कण्डेय महापुराण में इसका संकेत नहीं मिलता। मार्कण्डेय पुराण के अनुसार तो सावर्णिक मन्वन्तर से देवी की महिमा और देवी की उपासना का श्रीगणेश होता है, किन्तु इस अध्याय में जिस पद्मिनी-विद्या और उसके प्रभाव का निरूपण है, उससे परम्परया देवी की मान्यता का सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। जब पद्मिनी-विद्या की अधिष्ठात्री लक्ष्मी मानी गयी है, तब वस्तुतः विष्णुमाया महामाया ही अन्ततोगत्वा पद्मिनी-विद्या और उसके माहात्म्य की जननी सिद्ध होती है। यह विषय पर्याप्त तथा अतिरिक्त विचार-विमर्श का विषय है और एक प्रकार से पुराण-पण्डितों के लिए एक चुनौती है।

(ख) इस अध्याय के ८वें श्लोक में कामरूप (आधुनिक असम प्रदेश) में पर्वत पर प्रतिष्ठापित 'विजय' नामक एक नगर का उल्लेख है। महाभारत (भीष्मपर्व ९.४५) में विजय नामक एक प्राचीन भारतीय राज्य का नाम-निर्देश मिलता है। सम्भव है मार्कण्डेय पुराण का 'विजय' नामक राजनगर और महाभारत का 'विजय'—दोनों एक ही स्थान-विशेष हों। किन्तु आधुनिक भारतीय भूगोल में इसका पता लगाना असम्भव है। ९वें और १०वें श्लोकों में क्रमशः उद्दिष्ट भारत की उत्तर दिशा की नन्दवती राजनगरी तथा दक्षिणापथ के ताल नामक राजनगर—ये दोनों पौराणिकों की विस्मृति के गर्भ में विलीन हैं।

(ग) इस अध्याय के सोलहवें अर्थात् 'अन्यास्वासक्तहृदये' आदि श्लोक में भर्तृहरिशतक के निम्नलिखित श्लोक का भाव गूंज सा रहा है—

'यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता,
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या,
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च॥'

(घ) स्वरोचिष् के 'सर्वभूतरुतज्ञान' का वर्णन हंस और हंसिनी के परस्पर वार्तालाप के वर्णन से सम्बद्ध है, जो कि इस अध्याय के ३६-४२ श्लोकों में द्रष्टव्य है। स्वरोचिष् के हृदय में वैराग्य का कारण हंसिनी के प्रति हंस की उक्ति का ज्ञान है। वस्तुतः एक-एक विचित्र एवं रोचक आख्यान-प्रकरण हैं।

।। श्री मार्कण्डेय महापुराण के 'स्वारोचिष मन्वन्तर' वर्णन से सम्बद्ध ६६वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी अनुवाद समाप्त ।।

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

ततः स्वारोचिषं नाम्ना द्युतिमन्तं प्रजापतिम् ।
मनुञ्चकार भगवांस्तस्य मन्वन्तरं शृणु ॥१॥
तत्रान्तरे तु ये देवा मुनयस्तत्सुताश्च ये ।
भूपालाः क्रौष्टुके ये तान् गदतस्त्वं निशामय ॥२॥
देवाः पारावतास्तत्र तथैव तुषिता द्विज ।
स्वारोचिषेऽन्तरे चेन्द्रो विपश्चिदिति विश्रुतः ॥३॥
ऊर्ज्जस्तम्बस्तथा प्राणो दत्तोलिर्ऋषभस्तथा ।
निश्चरश्चार्व्ववीरश्च तत्र सप्तर्षयोऽभवन् ॥४॥
चैत्रकिंपुरुषाद्याश्च सुतास्तस्य महात्मनः ।
सप्तासन् सुमहावीर्य्याः पृथिवीपरिपालकाः ॥५॥
तस्य मन्वन्तरं यावत्तावत्तद्वंशसंभवैः ।
भुक्तेयमवनिः सर्व्वा द्वितोयं वै तदन्तरम् ॥६॥
स्वरोचिषस्तु चरितं जन्म स्वारोचिषस्य च ।
निशम्य मुच्यते पापैः श्रद्दधानो हि मानवः ॥७॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे स्वारोचिषेमन्वन्तरे सप्तषष्टितमोऽध्यायः ।

महामुनि मार्कण्डेय ने कहा—

भगवान् ने द्युतिमान् नाम के स्वारोचिष को प्रजापालक मनु बना दिया । अब उन स्वारोचिष मनु के युग—स्वारोचिष मन्वन्तर के विषय में सुनो ॥१॥

द्विजवर क्रौष्टुकि ! इस स्वारोचिष मन्वन्तर में जो-जो देव, जो-जो मुनि, जो-जो मुनिपुत्र और जो-जो राजा हुए—उनके संबन्ध में कह रहा हूँ । ध्यानपूर्वक सुनो—

इस मन्वन्तर में जो देवगण होते हैं, उन्हें 'पारावत' और 'तुषित' कहा गया है और इसमें जो देवाधिपति इन्द्र होता है, उसकी 'विपश्चित्' नाम से प्रसिद्धि है । इस मन्वन्तर के १) ऊर्ज, २) स्तम्व, ३) प्राण, ४) दत्तोलि, ५) ऋषभ, ६) निश्चर तथा ७) अर्ववीर—ये सप्तर्षि होते हैं ॥२-४॥

इन महात्मा स्वारोचिष मनु के चैत्र, किंपुरुष प्रभृति सात महावीर्य बलशाली तथा पृथिवीपालक पुत्र थे । इनका युग अर्थात् स्वारोचिष मन्वन्तर जितनी अवधि तक था, उतनी अवधि तक स्वारोचिष मनु के वंशज राजगण ने इस वसुन्धरा का सुख-भोग भोगा । इस मन्वन्तर के बाद अन्य मन्वन्तर आता है । जो भी श्रद्धावान् मनुष्य हैं, वे स्वरोचिष् के चरित-माहात्म्य तथा स्वारोचिष के जन्म-वृत्तान्त का श्रवण कर सब पाप-संताप से मुक्त हो जाते हैं ॥५-७॥

पर्यालोचन

(क) स्वारोचिष-मन्वन्तर-वर्णन के इस समापनात्मक अध्याय में इस मन्वन्तर से सम्बद्ध 'पारावत' तथा 'तुषित' नामक जो देव परिगणित हैं, वे विष्णुपुराण (भाग-३, अध्याय १) में भी निर्दिष्ट है। इन्द्र के विपश्चित् नाम का भी विष्णुपुराण के इसी भाग के इसी अध्याय में उल्लेख है। किन्तु सप्तर्षियों के नामों में विष्णु-पुराण और मार्कण्डेय पुराण में कुछ भेद है। दोनों पुराणों के सप्तर्षि-वर्णन में ऊर्ज, स्तम्ब, प्राण तथा ऋषभ ये चार नाम तो समान हैं, किन्तु तीन नाम भिन्न हैं। विष्णु-पुराण में 'राम,' 'निरय' तथा 'पारिवान्' ये नाम परिगणित हैं, किन्तु मार्कण्डेयपुराण में इनके स्थान पर 'दत्तोलि', 'निश्चर' और 'अर्ववीर' नामों का निर्देश है। नामभेद का क्या कारण हो सकता है ? यह निश्चित रूप से कहना कठिन ही नहीं असंभव है। केवल यही कल्पना की जा सकती है कि मार्कण्डेय-पुराणकार के समक्ष स्वारोचिष मन्वन्तर के सप्तर्षि वर्णन का कोई अन्य पौराणिक सम्प्रदाय रहा हो।

(ख) महाभारत के शान्तिपर्व (अध्याय ३४८.३६) में यह उल्लेख किया गया है कि स्वारोचिष मनु को ब्रह्मा प्रजापति द्वारा सात्त्वतधर्म का उपदेश दिया गया था। मार्कण्डेयपुराणकार ने इस उल्लेख पर कोई ध्यान नहीं दिया है। सम्भव है सात्त्वतधर्म का देवी-तत्त्व से कोई विशेष सम्बन्ध न हो, जिसके कारण देवी-तत्त्व की देशना देने वाले मार्कण्डेयपुराणकार ने महाभारत के इस उल्लेख पर जानबूझकर कोई दृष्टिपात नहीं किया है।

।। श्री मार्कण्डेयपुराण के स्वारोचिषमन्वन्तर-समाप्ति के ६७वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त ।।

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

क्रौष्टुकिरुवाच—

भगवन् ! कथितं सर्वं विस्तरेण त्वया मम ।
स्वरोचिषस्तु चरितं जन्म स्वारोचिषस्य तु ॥१॥
या तु सा पद्मिनी नाम विद्या भोगोपपादिका ।
तत्संश्रया ये निधयस्तान् मे विस्तरतो वद ॥२॥
अष्टौ ये निधयस्तेषां स्वरूपं द्रव्यसंस्थितिः ।
भवताभिहितं सम्यक् श्रोतुमिचछाम्यहं गुरो ॥३॥

मार्कण्डेय उवाच—

पद्मिनी नाम या विद्या लक्ष्मीस्तस्याश्च देवता ।
तदाधाराश्च निधयस्तन्मे निगदतः शृणु ॥४॥
यत्र पद्ममहापद्मौ तथा मकरकच्छपौ ।
मुकुन्दो नन्दकश्चैव नीलः शङ्खोऽष्टमो निधिः ॥५॥
सत्यामृद्धौ भवन्त्येते सिद्धिस्तेषां हि जायते ।
एते ह्यष्टौ समाख्याता निधयस्तव क्रौष्टुके ॥६॥

द्विजवर क्रौष्टुकि ने कहा—

भगवन् ! आपने विस्तार के साथ 'स्वरोचिष्' का चरित-वृतान्त तथा 'स्वारोचिष' का जन्म दोनों के विषय में सब कुछ बता दिया ॥१॥

अब, हे गुरुवर ! आप समस्त सांसारिक भोग-विलास को उपलब्ध कराने वाली 'पद्मिनी' नाम की जो विद्या है और उसके वशवर्ती जो निधि-गण हैं, उन सबके विषय में विस्तारपूर्वक बतावें। मैं आपके श्रीमुख से आठ निधियों, उनके स्वरूप एवं उनमें अन्तर्भूत रत्नादि पदार्थों के सम्बन्ध में अच्छी तरह सुनना चाहता हूँ ॥२-३॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

'पद्मिनी' नाम की जो विद्या है, उसकी अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी हैं और वही उस विद्या पर निर्भर जो निधियाँ हैं, उनकी भी अधिष्ठात्री देवी हैं। इस विषय में मैं जो बता रहा हूँ वह सुनो। लक्ष्मी के वशवर्ती ये आठ निधि-गण हैं—१ ला) पद्म, २रा) महापद्म, ३ रा) मकर, ४था) कच्छप, ५वाँ) मुकुन्द ६ ठा) नन्दक, ७वाँ) नील और ८वाँ) शङ्ख। जब किन्हीं मनुष्यों में ऋद्धि-समृद्धि दिखायी दे, तब समझना चाहिए कि उनके पास ये आठ निधियाँ हैं, जिनके विषय में मैंने तुम्हें कहा है और जिनकी सिद्धि पद्मिनी विद्या की सिद्धि से सम्भव है ॥४-६॥

देवतानां प्रसादेन साधुसंसेवनेन च ।
एभिरालोकितं वित्तं मानुषस्य सदा मुने ।।७।
यादृक् स्वरूपं भवति तन्मे निगदतः शृणु ।
पद्मो नाम निधिः पूर्वं स यस्य भवति द्विज ।।८।
सुतस्य तत्सुतानाञ्च तत्पौत्राणाञ्च नित्यशः ।
दाक्षिण्यसारः पुरुषस्तेन चाधिष्ठितो भवेत् ।।९।
सत्त्वाधारो महाभोगो यतोऽसौ सात्त्विको निधिः ।
सुवर्णरूप्यताम्रादिधातूनाञ्च परिग्रहम् ।।१०।
करोत्यतितरां सोऽथ तेषाञ्च क्रयविक्रयम् ।
करोति च तथा यज्ञान् दक्षिणाञ्च प्रयच्छति ।।११।
सभां देवनिकेतांश्च स कारयति तन्मनाः ।
सत्त्वाधारो निधिश्चान्यो महापद्म इति श्रुतः ।।१२।
सत्त्वप्रधानो भवति तेन चाधिष्ठितो नरः ।
करोति पद्मरागादिरत्नानाञ्च परिग्रहम् ।।१३।
मौक्तिकानां प्रवालानां तेषां च क्रयविक्रयान् ।
ददाति योगशीलेभ्यस्तेषामावसथांस्तथा ।।१४।

इन निधियों की सिद्धि देवताओं के कृपा-प्रसाद से तथा साधुजन की सेवा-शुश्रूषा से संभव है। मनुष्यों की समस्त धन-सम्पदा इन निधियों की ही कृपादृष्टि है। अब मुनिवर ! इन निधियों के प्रभाव से प्राप्त धन के स्वरूप के सम्बन्ध में जो कह रहा हूँ वह सुनो। द्विजवर क्रौष्टुकि ! सर्वप्रथम जो निधि है, उसे 'पद्म' कहते हैं। जिस मनुष्य के पास यह निधि है, वह उसके पुत्र, पौत्र तथा पौत्रों के पुत्र-पौत्रों में भी संक्रमण-शील है। इस निधि के द्वारा अधिष्ठित पुरुष बड़ा दानशील होता है, बड़ा सत्त्वगुण सम्पन्न होता है और समस्त सुख भोगों का पात्र बना रहता है क्योंकि यह निधि सात्त्विक निधि है। इसके द्वारा अधिष्ठित मनुष्य सोना-चाँदी-ताँवा प्रभृति बहुमूल्य धातुओं के संग्रह में समर्थ होता है, उन धातुओं के क्रय-विक्रय से धनार्जन करता है, उसके द्वारा यज्ञयागों का अनुष्ठान करता-करवाता है, दान-दक्षिणा देने में मुक्तहस्त होता है और उस निधि के ध्यान से सभाभवनों तथा देवमन्दिरों का निर्माण करवाता है। इस 'पद्म' निधि के अतिरिक्त 'महापद्म' नामक प्रसिद्ध निधि है और यह भी सात्त्विक है। इस निधि द्वारा अधिष्ठित मनुष्य सत्त्वगुणप्रधान होता है, पद्मराग प्रभृति रत्नों का संग्रह करता है, मूँगे-मोतियों के क्रय-विक्रय के कार्य करता है, योगनिरत लोगों को दान देता है, योगियों के आवास-स्थानों का निर्माण कराता है, स्वयं भी

स कारयति तच्छीलः स्वयमेव च जायते ।
तत्प्रसूतास्तथाशीलाः पुत्रपौत्रक्रमेण च ॥१५।
पूर्वर्द्धिमात्रः सप्तासौ पुरुषांश्च न मुञ्चति ।
तामसो मकरो नाम निधिस्तेनावलोकितः ॥१६ ।
पुरुषोऽथ तमःप्रायः सुशीलोऽपि हि जायते ।
बाण-खड्गर्ष्टि-धनुषां चर्म्मणाञ्च परिग्रहम् ॥१७ ।
दंशनानाञ्च कुरुते याति मैत्रीञ्च राजभिः ।
ददाति शौर्य्यवृत्तीनां भूभुजां ये च तत्प्रियाः ॥१८।
क्रयविक्रये च शस्त्राणां नान्यत्र प्रीतिमेति च ।
एकस्यैव भवत्येष नरस्य न सुतानुगः ॥१९ ।
द्रव्यार्थं दस्युतो नाशं संग्रामे चापि स व्रजेत् ।
कच्छपश्च निधिर्योऽसौ नरस्तेनाभिवीक्षितः ॥२० ।

योगी-स्वभाव का हो जाता है और उसकी सन्तान-परम्परा भी उसी के स्वभाव की बन जाती है। यह निधि पुत्र-पौत्रादि परम्परा तक संक्रमणशील है। पूर्वजन्मार्जित पुण्य-सम्पदा से यह प्राप्य है। (इसे साप्तपौरुष निधि कहना चाहिए, क्योंकि) इसके द्वारा अधिष्ठित पुरुष का सात पीढ़ी तक इससे परित्याग नहीं होता। तीसरी निधि जिसे 'मकर' कहते हैं, तामसिक निधि है। इस निधि की कृपादृष्टि का पात्र मनुष्य चाहे वह शीलसम्पन्न भी क्यों न हो, तमोगुण-बहुल हुआ करता है, तीर-तलवार, ऋष्टि-धनुष प्रभृति अस्त्र-शस्त्र तथा कवच-ढाल आदि सामरिक द्रव्यों का अर्जन एवं संग्रह करता है, राजाओं के साथ मित्रता रखता है, पराक्रमशील राजाओं तथा उनके प्रेम-पात्रों को युद्ध-सामग्री प्रदान करता है तथा शस्त्रों के क्रय-विक्रय में लगा रहता है। अन्य किसी कार्य में उसका मन नहीं लगता। यह निधि 'एक पुरुषानुग' है, इसकी प्राप्ति पुत्र-पौत्रादि को नहीं होती। धन के कारण दस्युगण के द्वारा इसका नाश भी संभव है अथवा यह भी संभव है कि वह रणभूमि में युद्ध के लिये जाय और वहाँ मारा जाय। 'कच्छप' नामक जो निधि है, उसकी कृपादृष्टि से देखा गया मनुष्य तमोगुणात्मक होता है, क्योंकि यह निधि ही तामसिक निधि है। इस निधि से प्रभावित मनुष्य अपने प्राक्तन पुण्य के प्रताप से ही समस्त कार्य-कलाप का संपादन करता है, वह किसी का विश्वास नहीं करता, यहाँ तक कि अपने कार्य में संलग्न लोगों में भी वह विश्वस्त नहीं रहता। जैसे कछुआ अपने सभी अङ्गों को सिकोड़ कर बैठा रहता है, वैसे ही 'कच्छप' निधि का अधीनस्थ मनुष्य भी अपने मन को संकुचित कर बैठा रहता है। अपने धन के नाश के भय से व्याकुल वह पुरुष न तो किसी को कुछ दान देता है और न स्वयं अपने धन का भोग करता है। वह अपना धन धरती में गाड़ कर रखता है। यह 'कच्छप' नामक निधि भी एक पुरुषगामी निधि है (सन्ततिगामी नहीं)। 'मुकुन्द' नामक निधि रजो-

तमःप्रधानो भवति यतोऽसौ तामसो निधिः ।
व्यवहारानशेषांस्तु पुण्यजातैः करोति च ।।२१।
कर्मस्थानखिलांश्चैव न विश्वसिति कस्यचित् ।
समस्तानि यथाङ्गानि संहरत्येव कच्छपः ।।२२।
तथा विष्टभ्य चित्तानि तिष्ठत्यायतमानसः ।
न ददाति न वा भुङ्क्ते तद्विनाशभयाकुलः ।।२३।
निधानमुर्व्व्यां कुरुते निधिः सोऽप्येकपूरुषः ।
रजोगुणमयश्चान्यो मुकुन्दो नाम यो निधिः ।।२४।
नरोऽवलोकितस्तेन तद्गुणो भवति द्विज ।
वीणावेणुमृदङ्गानामातोद्यस्य परिग्रहम् ।।२५।
करोति गायतां वित्तं नृत्यताञ्च प्रयच्छति ।
वन्दिनामथ सूतानां विटानां लास्यपाठिनाम् ।।२६।
ददात्यहर्निशं भोगान् भुङ्क्ते तैश्च समं द्विज ।
कुलटासुरतिश्चास्य भवत्यन्यैश्च तद्विधैः ।।२७।
प्रयाति सङ्गमेकञ्च यं निधिर्भजते नरम् ।
रजस्तमोमयश्चान्यो नन्दो नाम महानिधिः ।।२८।
उपैति स्तम्भमधिकं नरस्तेनावलोकितः ।
समस्तधातुरत्नानां पुण्यधान्यादिकस्य च ।।२९।
परिग्रहं करोत्येष तथैव क्रयविक्रयम् ।
आधारः स्वजनानाञ्च आगताभ्यागतस्य च ।।३०।

गुणात्मक है। इस निधि का कृपादृष्टि-पात्र मनुष्य भी, द्विजवर क्रौष्टुकि ! रजोगुणात्मक ही होता है। ऐसा मनुष्य वीणा-वेणु-मृदङ्ग प्रभृति आतोद्य = वाद्यों का संग्रही होता है, गायकों और नर्तकों को धन देता है, भाट-चारण-कथक, विट और लास्य नट—इन सब को, रात-दिन, भोग-योग्य पदार्थ का दान देता है और ऐसे ही लोगों के साथ, द्विजवर क्रौष्टुकि ! वह धन का उपभोग करता है। वह कुलटा नारियों से प्रेम करता है और इसी प्रकार के अन्य समानशील लोगों का संग करता है। यह निधि भी एक मनुष्य पर ही प्रभावशाली है (न कि उसके पुत्र-पौत्रादि पर)। 'नन्द' नामक जो महा-निधि है, वह रजस्तमोगुणात्मक है, जिसके प्रभाव में पड़ने वाला मनुष्य धनमद में बहुत अधिक चूर रहा करता है। इस निधि का कृपापात्र मनुष्य समस्त धातु तथा रत्नादि द्रव्य और विक्रेय धान्यादि का संग्रह करता है और उनके क्रय-विक्रय के कार्य में भी लगा रहता है। ऐसा मनुष्य अपने आत्मीय तथा घर पर आए अतिथि-अभ्यागत जन का

सहते नापमानोक्तिं स्वल्पामपि महामुने ।
स्तूयमानश्च महतीं प्रीतिं बध्नाति यच्छति ॥३१।
यं यमिच्छति वै कामं मृदुत्वमुपयाति च ।
बह्वयो भार्य्या भवन्त्यस्य सूतिमत्योऽतिशोभनाः ॥३२।
रतये सप्त च नरान्निधिर्नन्दोऽनुवर्तते ।
प्रवर्द्धमानोऽथ नरमष्टभागेन सत्तम ॥३३।
दीर्घायुष्ट्वञ्च सर्वेषां पुरुषाणां प्रयच्छति ।
बन्धूनामेव भरणं ये च दूरादुपागताः ॥३४।
तेषां करोति वै नन्दः परलोके न चादृतः ।
भवत्यस्य न च स्नेहः सहवासिषु जायते ॥३५।
पूर्वमित्रेषु शैथिल्यं प्रीतिमन्यैः करोति च ।
तथैव सत्त्वरजसी यो बिभर्ति महानिधिः ॥३६।
स नीलसंज्ञस्तत्सङ्गी नरस्तच्छीलवान् भवेत् ।
वस्त्र-कार्पास-धान्यादि-फल-पुष्पपरिग्रहम् ॥३७।

अवलम्ब होता है। मुनिवर क्रौष्टुकि ! ऐसा मनुष्य थोड़ी सी भी अपमानजनक बात नहीं सह सकता और यदि प्रशंसा की बात हो तो प्रशंसा करने वाले को अपना प्रेमभाजन बना लेता है और उसे पुरस्कार रूप में धन भी दे देता है। उसकी जो भी कामनाएँ होती हैं, उनकी पूर्ति के लिए वह बड़ा विनम्र हो जाता है। उसकी अनेक पत्नियाँ होती हैं, जो कि सन्तान उत्पत्ति में समर्थ, अति सुन्दर तथा कामसुखदायिनी होती है। इस 'नन्द' निधि का अनुगमन वंश के सात पुरुषों तक होता है और इसमें वृद्धि की भी संभावना है। इसलिए इसका अष्टमांश आठवीं पीढ़ी तक भी चला जाता है। इससे प्रभावित सभी पुरुष लम्बी आयु पाने वाले होते हैं। साथ ही साथ इसके प्रभाव में आए पुरुष बन्धु-बान्धवों तथा दूर से आये अतिथिजन का भरण-पोषण किया करते हैं। इससे प्रभावित पुरुषों में परलोक के प्रति आस्था नहीं होती, संग-साथ के लोगों के प्रति स्नेह-भाव भी नहीं रहता, भूतपूर्व मित्रों में मैत्री शिथिल हो जाती है और दूसरे लोगों के साथ प्रेम-व्यवहार प्रारम्भ हो जाता है। 'नील' नामक जो महानिधि है, वह सत्त्वगुणात्मक तथा रजोगुणात्मक है और उस निधि के संग वाले मनुष्य उसी के समान सत्त्व तथा रजोगुण बहुल होते हैं। मुनिवर क्रौष्टुकि ! इस निधि की प्रभाव परिधि में आए लोग वस्त्र-कपास-धान्यादि तथा पुष्प और फल के संग्रह में प्रवृत्त हुआ करते हैं

मुक्ताविद्रुमशङ्खानां शुक्त्यादीनां तथा मुने ।
काष्ठादीनां करोत्येष यच्चान्यज्जलसम्भवम् ।।३८।
क्रयविक्रयमन्येषां नान्यत्र रमते मनः ।
तडागान् पुष्करिण्योऽथ तथाऽऽरामान् करोति च ।।३९।
बन्धश्च सरितां वृक्षांस्तथारोपयते नरः ।
अनुलेपनपुष्पादिभोगं भुक्त्वाभिजायते ।।४०।
त्रिपौरुषश्चापि निधिर्नीलो नामैष जायते ।
रजस्तमोमयश्चान्यः शङ्खसंज्ञो हि यो निधिः ।।४१।
तेनापि नीयते विप्र ! तद्गुणित्वं निधीश्वरः ।
एकस्यैव भवत्येष नरं नान्यमुपैति च ।।४२।
यस्य शङ्खो निधिस्तस्य स्वरूपं क्रौष्टुके ! शृणु ।
एक एवात्मना मिष्टमन्नं भुङ्क्ते तथाम्बरम् ।।४३।
कदन्नभुक् परिजनो न च शोभनवस्त्रधृक् ।
न ददाति सुहृद्भार्य्याभ्रातृपुत्रस्नुषादिषु ।।४४।

तथा मोती-मूंगा-शंख-शुक्ति, काष्ठादि तथा अन्य जलोद्भूत पदार्थों के संचय में लगे रहते हैं और अन्य पदार्थों का भी क्रय-विक्रय किया करते हैं। ऐसे लोगों का मन अन्यत्र नहीं लगता। ऐसे लोग तालाब, बावड़ी, बाग-बगीचे तथा नदी-सेतु आदि पूर्त कर्म करने वाले होते हैं और वृक्षरोपण भी करवाया करते हैं। ऐसे लोगों को अंगराग-पुष्पहार प्रभृति के भोग का भी सौभाग्य मिला करता है। यह 'नील' नामक निधि त्रिपौरुष है, अर्थात् तीन पीढ़ी तक चलने में समर्थ है। अष्टम 'शङ्ख' नामक जो निधि है, वह रजस्तमोमय है। इस निधि से प्रभावित पुरुष भी रजोगुण तथा तमोगुण से युक्त हुआ करते हैं। यह एक पुरुषगामी निधि है। दूसरी पीढ़ी में इसका अनुवर्तन नहीं होता ॥ ७-४२ ॥

मुनिवर क्रौष्टुकि ! 'शङ्ख' नामक इस निधि से युक्त जो मनुष्य होता है, उसके स्वभाव के विषय में सुनो—ऐसा मनुष्य अकेले ही स्वादिष्ट भोजन करता है और अकेले ही सुन्दर वस्त्र पहनता है। उसके परिजन गर्ह्य अन्न का भोजन करते हैं और सुन्दर वस्त्र भी नहीं धारण करते। वह अपने मित्र, अपनी धर्मपत्नी, अपने सहोदर भाई, अपने पुत्र और अपनी पुत्रवधू आदि स्वजनों के लिये कुछ भी भोग्य-पदार्थ नहीं देता। शङ्खनिधि-संपन्न पुरुष सदा अपने पोषण में लगा रहता है। मैंने तुम्हें मनुष्यों को धन-सम्पदा की देवतास्वरूपा इन आठों निधियों के विषय में बता दिया। जैसे एक निधि

स्वपोषणपरः शङ्खी नरो भवति सर्वदा ।
इत्येते निधयः ख्याता नराणामर्थदेवताः ॥४५॥
मिश्रावलोकनान्मिश्राः स्वभावफलदायिनः ।
यथाख्यातस्वभावस्तु भवत्येव विलोकनात् ॥
सर्वेषामाधिपत्ये च श्रीरेषा द्विजपद्मिनी ॥४६॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे निधिनिर्णयो नामाष्टषष्टितमोऽध्यायः ।

से प्रभावित पुरुष को उसका ही फल मिलता है, वैसे ही एकाधिक निधि से प्रभावित पुरुष को स्वभावतः सम्मिलित फल मिलता है। द्विजवर क्रौष्टुकि ! इन सभी निधियों के आधिपत्य में अधिष्ठित लक्ष्मी है और इस लक्ष्मी की सिद्धि-विद्या ही पद्मिनी-विद्या है ॥ ४३-४६ ॥

पर्यालोचन

(क) इस अध्याय का नाम 'निधिनिर्णय' है। यह विषय मार्कण्डेय महापुराण में ही प्रतिपादित प्रतीत होता है। मार्कण्डेय पुराणकार को लक्ष्मी के कृपाप्रसाद से प्राप्य 'पद्मिनी-विद्या' का वर्णन अभीष्ट था। आठ जो निधियां हैं, वे पद्मिनी-विद्या की साधना से प्राप्य लौकिक-वैभव और ऐश्वर्य की ही रूपरेखाएँ हैं। पद्मिनी-विद्या की साधना में संभवतः जात-पाँत का विचार नहीं किया जाता था। इसीलिए यहाँ निधि-निर्णय के प्रसङ्ग में ब्राह्मणादि वर्णों का कोई भेद-भाव प्रतिपादित नहीं हुआ है।

(ख) इस अध्याय के ६ठे श्लोक का सर्वाधिक नवीन हिन्दी-अनुवाद देखिए, जिसे स्वर्गीय डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने अपने द्वारा अनूदित मार्कण्डेयपुराण (१९८३ में प्रकाशित) में किया है—

'ऋद्धि होने पर ही उनकी उत्पत्ति होती है और इन निधिओं की सिद्धि होती है। हे क्रौष्टुकि ! आठ निधियाँ मैंने तुमसे कहीं।'

उपर्युक्त अनुवाद में श्लोक का कोई तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। जब ऋद्धि हो ही गयी, तब निधियों की उत्पत्ति का क्या अर्थ ! और जब ये निधियाँ उत्पन्न हो गयी तब इनकी सिद्धि का क्या तात्पर्य ! इस निरर्थक अनुवाद की अपेक्षा यहाँ जो अनुवाद प्रस्तुत है वह श्लोक-वाक्य के अर्थ की दृष्टि से अधिक युक्तिसंगत है।

श्री पार्जिटर का किया इस श्लोक का अंग्रेजी अनुवाद निम्नलिखित है—

'These live in real good-fortune, Verily perfection springs from them.'

इस अनुवाद में भी उपर्युक्त श्लोक का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। 'सिद्धिस्तेषां हि जायते' का अनुवाद 'Perfection springs from them' किया गया है। किन्तु यहाँ पुराणकार के मन में इन निधियों की सिद्धि का भाव अन्तर्निहित है, न कि इन निधियों से संभाव्य जीवन की ऐश्वर्यमयता का। श्री पार्जिटर के अनुवाद से मार्कण्डेय-पुराणकार का अभिप्रेत अर्थ नहीं निकलता।

(ग) इस अध्याय के ७वें श्लोक का हिन्दी-अनुवाद (डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री कृत) भी बहुत भ्रान्तिपूर्ण है—

डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री का किया ७वें श्लोक का हिन्दी अनुवाद देखिए—

'हे मुने ! देवताओं की कृपा और साधुओं की सम्यक् सेवा से प्राप्त इन निधियों के द्वारा मनुष्य का चित्त सदैव आलोकित रहता है।'

इस अनुवाद पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अनुवादक ने मूल श्लोक-मुद्रण में तो 'वित्त' शब्द मुद्रित किया है और उसके अनुवाद में 'चित्त' अर्थ कर दिया है।

श्री पार्जिटर का किया इस श्लोक का अंग्रेजी अनुवाद देखिए—

'By means of the God's favour and by attendance on good men a man's wealth is always watched over by them.'

इस अनुवाद में भी मार्कण्डेयपुराणकार के मन की बात स्पष्ट प्रतीत नहीं होती। यहाँ जो अनुवाद किया गया है, उससे मार्कण्डेयपुराणकार के इस श्लोक का तात्पर्य अधिक स्पष्ट हो जाता है।

(घ) इस अध्याय के ८वें श्लोक का डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री का किया हिन्दी-अनुवाद नीचे उद्धृत है —

'इन निधियों का जैसा स्वरूप होता है, वह मैं तुम्हें बता रहा हूँ—पहले 'पद्म' नामक निधि को सुनो। हे द्विज ! यह निधि जिसके पास रहती है ॥८॥

भला यह कैसा अनुवाद ! मार्कण्डेयपुराण तो इस ८ वें श्लोक को ९ वें श्लोक से सापेक्ष रूप से रचता है, किन्तु अनुवादकार वेदान्ताचार्य डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने इस ८ वें श्लोक को परम स्वतंत्र मान लिया है, जिसके कारण इसका अनुवाद भी अत्यन्त उच्छृंखल हो गया है।

श्री पार्जिटर का इस श्लोक का अंग्रेजी-अनुवाद निम्नोद्धृत है—

'First, the Nidhi named Padma belongs, O Brahman, to Maya, to his son, and to the sons and grandsons of his son perpetually.'

यहाँ यह तो स्पष्ट ही है कि श्री पार्जिटर ने ८ वें श्लोक को ९ वें श्लोक से सपेक्ष माना है, किन्तु 'स यः' के पाठ के स्थान पर 'मयः' पाठ मान लेने से यह अनुवाद निरर्थक हो गया है। श्री पार्जिटर ने 'मय' शब्द पर पाद-टिप्पणी भी दी है, जो कि नीचे उद्धृत है—

'Maya was an Asura, the great artificer of the Danavas, and constructed a magnificent court for the Pāṇḍavas; See Maha-Bharata, Sabha-Parva I and III.')

यह पादटिप्पणी सर्वथा निरर्थक है, क्योंकि मय तो एक महान् वास्तुशिल्पकार था। उसके पास पद्म नामक निधि नहीं थी। पद्म नामक निधि तो पाण्डवों के पास

होनी चाहिए, जिसके कारण उन्होंने मय से अपने बहुमूल्य विचित्र राजसभागार का निर्माण करवाया।

इसी प्रकार की भ्रान्तियाँ आगे के कुछ श्लोकों के अनुवादों (हिन्दी और अंग्रेजी दोनों) में भी हैं। केवल दिग्दर्शन रूप में ही दो-तीन श्लोकों के अनुवाद की यहाँ समीक्षा की गयी है।

॥ श्री मार्कण्डेयपुराण के निधिनिर्णय-नामक ६८ वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त ॥

❁

ऊनसप्ततितमोऽध्यायः

कौष्टुकिरुवाच—

विस्तरात् कथितं ब्रह्मन् मम स्वारोचिषं त्वया ।
मन्वन्तरं तथैवाष्टौ ये पृष्टा निधयो मया ॥१।
स्वायम्भुवं पूर्वमेव मन्वन्तरमुदाहृतम् ।
मन्वन्तरं तृतीयं मे कथयौत्तमसंज्ञितम् ॥२।

मार्कण्डेय उवाच—

उत्तानपादपुत्रोऽभूदुत्तमो नाम नामतः ।
सुरुच्यास्तनयः ख्यातो महाबलपराक्रमः ॥३।
धर्मात्मा च महात्मा च पराक्रमधनो नृपः ।
अतीत्य सर्वभूतानि बभौ भानुपराक्रमः ॥४।
समः शत्रौ च मित्रे च परे पुत्रे च धर्मवित् ।
दुष्टे च यमवत् साधौ सोमवच्च महामुने ॥५।

द्विजवर क्रौष्टुकि ने कहा—

भगवन् ! आपने, जैसी मैंने जिज्ञासा की थी उसके अनुसार 'स्वारोचिप' मन्वन्तर तथा आठ निधियों का विस्तार से वर्णन कर दिया और इसके पहले आपने 'स्वायंभुव' मन्वन्तर के विषय में बता दिया। अब 'औत्तम' नामक तृतीय मन्वन्तर का निरूपण करने की कृपा करें ॥१-२॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

उत्तानपाद के एक पुत्र थे, जिनका नाम 'उत्तम' था। वे (उत्तानपाद की पत्नी) 'सुरुचि' से उत्पन्न हुए थे। महाबली तथा महापराक्रमी के रूप में वे सर्वत्र प्रसिद्ध थे। वे ऐसे राजा थे जो धर्मात्मा, महात्मा, पराक्रमधनी—सब कुछ थे। वे समस्त भूतवर्ग को अभिभूत करने वाले सूर्य के समान पराक्रमी थे। चाहे शत्रु हो या मित्र हो, पराया हो या अपना पुत्र हो—सबके प्रति धर्मवेदी वे समदर्शी थे। द्विजवर क्रौष्टुकि ! दुष्टों के लिए यमराज के समान भयङ्कर और शिष्टों के लिए चन्द्रमा के समान प्रियङ्कर यदि कोई हो सके तो वे ही थे ॥३-५॥

बाभ्रव्यां बहुलां नाम उपयेमे स धर्मवित् ।
उत्तानपादतनयः शचीमिन्द्र इवोत्तमः ॥६॥
तस्यामतीव तस्यासीद् द्विजवर्य्य मनः सदा ।
स्नेहवच्छशिनो यद्वद्रोहिण्यां निहितास्पदम् ॥७॥
अन्यप्रयोजनासक्तिमुपैति न हि तन्मनः ।
स्वप्ने चैव तदालम्बि मनोऽभूत्तस्य भूभृतः ॥८॥
स च तस्याः सुचार्वङ्ग्या दर्शनादेव पार्थिवः ।
ददाति स्पर्शनं गात्रे गात्रस्पर्शे च तन्मयः ॥९॥
श्रोत्रोद्वेगकरं वाक्यं प्रियमप्यवनीपतेः ।
तस्यापि भूरि सम्मानं मेने परिभवन्ततः ॥१०॥
अवमेने स्रजं दत्तां शुभान्याभरणानि च ।
उत्तस्थावङ्गपीडेव पिबतोऽस्याधरासवम् ॥११॥
भुञ्जता च नरेन्द्रेण क्षणमात्रं करे धृता ।
बुभुजे स्वल्पकं भक्ष्यं द्विज नातिमुदान्विता ॥१२॥

जैसे देवोत्तम इन्द्र ने देवकुमारियों में प्रसिद्ध शची के साथ विवाह किया था, वैसे ही उत्तानपाद के पुत्र धर्मज्ञ उत्तम ने बभ्रु-कुमारी बहुला से विवाह किया था ॥६॥

उनका मन निरन्तर अपनी धर्मपत्नी के प्रति उसी प्रकार प्रेममय रहा करता था, जिस प्रकार चन्द्रमा का चित्त निरन्तर अपनी प्रिया रोहिणी में स्नेहमय रहा करता है। उनका मन कभी-भी किसी दूसरी वस्तु या कार्य में आसक्त नहीं होता था। यहाँ तक कि उन महाराज का मन स्वप्न में भी बहुला में ही रमा रहता था ॥७-८॥

उस सर्वाङ्गसुन्दरी बहुला के दर्शनमात्र से ही वे राजा ऐसा अनुभव किया करते थे, मानों उसका आलिङ्गन-सुख पा रहे हों और उसके आलिङ्गन-सुख का अनुभव करते वे एकमात्र उसी में तन्मय हो जाया करते थे ॥९॥

किन्तु उन राजा के प्रियवचन भी रानी बहुला को बड़े कर्णकटु प्रतीत होते थे और उनके द्वारा उसका सम्मान भी उसे अपमान सा लगता था ॥१०॥

उनके द्वारा प्रेमोपहार रूप से दिए माल्य एवं माङ्गलिक आभूषणों को वह तिरस्कार की दृष्टि से देखा करती थी। जब वे उसका अधरामृत पान करने लगते थे, तब वह ऐसे उठ खड़ी होती थी मानों उसके सारे शरीर में पीड़ा हो रही हो ॥११॥

एक साथ भोजन करते हुये राजा, क्षणभर के लिये भी, उसे हाथ से पकड़ लेते, तब वह नाममात्र के लिए ही भोजन करती थी और द्विजवर क्रौष्टुकि ! जो भी भोजन करती थी प्रसन्नतापूर्वक नहीं करती थी ॥१२॥

एवं तस्यानुकूलस्य नानुकूला महात्मनः ।
प्रभूततरमत्यर्थं चक्रे रागं महीपतिः ॥१३।
अथ पानगतो भूपः कदाचित्तां मनस्विनीम् ।
सुरापूतं पानपात्रं ग्राहयामास सादरः ॥१४।
पश्यतां भूमिपालानां वारमुख्यैः समन्वितः ।
प्रगीयमानमधुरैर्गेयगायनतत्परैः ॥१५।
सा तु नेच्छति तत्पात्रमादातुं तत्पराङ्मुखी ।
समक्षमवनीशानां ततः क्रुद्धः स पार्थिवः ॥१६।
उवाच द्वाःस्थमाहूय निश्वसन्नुरगो यथा ।
निराकृतस्तया देव्या प्रियया पतिरप्रियः ॥१७।
द्वाःस्थैनां दुष्टहृदयामादाय विजने वने ।
परित्यजाशु नैतत्ते विचार्य्यं वचनं मम ॥१८।

मार्कण्डेय उवाच—

ततो नृपस्य वचनमविचार्य्यमवेक्ष्य सः ।
द्वाःस्थस्तत्याज तां सुभ्रूमारोप्य स्यन्दने वने ॥१९।

इस प्रकार राजा तो उससे प्रेम करता था, किन्तु वह उस महापुरुष राजा से विरक्त रहती थी। किन्तु ऐसा करने पर भी राजा उसके प्रति बहुत अधिक अनुरक्त रहा करता था ॥१३॥

एक बार की बात है कि राजा ने मदिरापान करते समय उस मनस्विनी रानी से मदिरा से पवित्र पानपात्र बड़े प्रेम से पकड़वाया ॥१४॥

उस समय राजा मधुर कण्ठ से गाने वाले गेय-गान में लगे वाराङ्गना-वृन्द के बीच बैठे थे और अनेक राजालोग उन्हें देख रहे थे ॥१५॥

राजगण के समक्ष उस रानी ने राजा की ओर से मुँह मोड़ लिया था और अपने हाथ से पानपात्र पकड़ना नहीं चाह रही थी। अपनी उस प्यारी धर्मपत्नी से इस प्रकार तिरस्कृत होकर और यह समझ कर कि वह उन्हें नहीं चाहती, राजा ने सर्प की भाँति फुफकार सा छोड़ा और द्वारपाल को बुलवाया। उन्होंने कहा—'द्वारपाल'! इस हृदय से दुष्ट रानी को जितना शीघ्र हो सके यहाँ से हटाओ और इसे ले जाकर किसी निर्जन वन में छोड़ आओ। मेरी इस आज्ञा पर सोच-विचार करने में न लगो ॥१६-१८॥

महामुनि मार्कण्डेय ने आगे कहा—

द्वारपाल यह सोचकर कि राजा की आज्ञा पर सोच-विचार करना व्यर्थ है, उस सुन्दर रानी को रथ में बैठाकर निर्जन वन में छोड़ आया ॥१९॥

सा च तं विपिने त्यागं नीता तेन महीभृता ।
अदृश्यमाना तं मेने परं कृतमनुग्रहम् ॥२०।
सोऽपि तत्रानुरागार्तिदह्यमानात्ममानसः ।
औत्तानपादिर्भूपालो नान्यां भार्य्यामविन्दत ॥२१।
सस्मार तां सुचार्वङ्गीमहर्निशमनिर्वृतः ।
चकार च निजं राज्यं प्रजा धर्मेण पालयन् ॥२२।
प्रजाः पालयतस्तस्य पितुः पुत्रानिवौरसान् ।
आगत्य ब्राह्मणः कश्चिदिदमाहार्त्तमानसः ॥२३।

ब्राह्मण उवाच—

महाराज ! भृशार्त्तोऽस्मि श्रूयतां गदतो मम ।
नृणामार्तिपरित्राणमन्यतो न नराधिपात् ॥२४।
मम भार्य्या प्रसुप्तस्य केनाप्यपहृता निशि ।
गृहद्वारमनुद्घाट्य तां समानेतुमर्हसि ॥२५।

राजोवाच—

न वेत्सि केनापहृता क्व वा नीता तु सा द्विज ।
यतामि निग्रहे कस्य कुतो वाप्यानयामि ताम् ॥२६।

रानी ने राजा के द्वारा निर्जन वन में अपने परित्याग को राजा का अनुग्रह माना, क्योंकि उसने सोचा कि अब वे उसे नहीं देख पावेंगे ॥२०॥

उत्तानपाद के पुत्र उन राजा ने, जिनका हृदय प्रेम-वेदना की आग में जल रहा था, किसी दूसरी को अपनी धर्मपत्नी के रूप में स्वीकार नहीं किया ॥२१॥

रात-दिन अत्यन्त निर्विण्ण हृदय वे उसी सर्वाङ्गसुन्दरी रानी की स्मृति में लीन रहते रहे और धर्मपूर्वक प्रजा-पालन करते हुए राज्य-संचालन में लगे रहे ॥२२॥

इस प्रकार जब राजा अपने आत्मजों की भाँति प्रजाजन के पालन में लगे हुए थे, एक दुःखी ब्राह्मण कहीं से उनके पास आया और उसने राजा से यह कहा ॥२३॥

ब्राह्मण की उक्ति—

महाराज ! मैं बड़ा दुखी हूँ। मेरी बात सुन लें, क्योंकि राजा को छोड़कर और कोई भी दुःख में पड़े प्रजाजन का रक्षक नहीं होता। बात यह है कि रात में जब मैं सोया हुआ था, कोई आया और घर का दरवाजा खोले बिना ही मेरी पत्नी का अपहरण करके ले गया। आप मेरी पत्नी को ला दें ॥२४-२५॥

राजा को उक्ति—

ब्राह्मण देवता ! तुम यह नहीं जानते कि तुम्हारी पत्नी को कौन ले गया और कहाँ ले गया। तुम्हीं बताओ कि ऐसी स्थिति में मैं किसे दण्ड दूँ और कहाँ से तुम्हारी पत्नी को लाकर तुम्हें दे दूँ ॥२६॥

ब्राह्मण उवाच—

तथैव स्थगिते द्वारि प्रसुप्तस्य महीपते ।
हृता हि भार्य्या किं केनेत्येतद्विज्ञास्यते भवान् ॥२७।
त्वं रक्षिता नो नृपते ! षड्भागादानवेतनः ।
धर्मस्य तेन निश्चिन्ताः स्वपन्ति मनुजा निशि ॥२८।

राजोवाच—

न ते दृष्टा मया भार्य्या यादृग्रूपा च देहतः ।
वयश्चैव समाख्याहि किंशीला ब्राह्मणी च ते ॥२९।

ब्राह्मण उवाच—

कठोरनेत्रा सात्युच्चा ह्रस्वबाहुः कृशानना ।
विरूपरूपा भूपाल न निन्दामि तथैव ताम् ॥३०।
वाचि भूपातिपरुषा न सौम्या सा च शीलतः ।
इत्याख्याता मया भार्य्या सा करालनिरीक्षणा ॥३१।
मनागतीतं भूपाल ! तस्याश्च प्रथमं वयः ।
तादृग्रूपा हि मे भार्य्या सत्यमेतन्मयोदितम् ॥३२।

ब्राह्मण ने कहा—

महाराज ! मेरे गृह का द्वार बन्द था और मैं सोया हुआ था। ऐसी परिस्थिति में मेरी पत्नी का किसलिए और किसने अपहरण किया है, इस बात को आप ही जान सकेंगे। राजन् ! आप हमारे धर्म-कर्म के रक्षक हैं और इस रक्षण के लिए ही आपको वेतन रूप में प्रजाजन अपनी आय का छठा भाग देते हैं और वे निश्चिन्त होकर रात में सोया करते हैं ॥२७-२८॥

राजा ने कहा—

मैंने तुम्हारी पत्नी को कभी देखा नहीं। मुझे क्या पता कि तुम्हारी पत्नी देह की दृष्टि से कैसी है ? उसकी आयु के संबन्ध में कुछ बताओ और यह भी बताओ कि तुम्हारी ब्राह्मणी का शील-स्वभाव कैसा है ? ॥२९॥

ब्राह्मण ने कहा—

महाराज ! मेरी पत्नी कठोर दृष्टि की स्त्री है, बड़ी लम्बी है, बहुत छोटे हाथों वाली है, बड़े पतले मुँह की है और एक शब्द में उसका रूप बड़ा विरूप है। मैं उसकी निन्दा नहीं करता। जैसी है वैसी ही बता रहा हूँ। महाराज ! उसकी बोली बड़ी कर्कश है और उसका स्वभाव भी सौम्य नहीं है। मैंने अपनी विकराल दृष्टि वाली पत्नी का विवरण दे दिया। महाराज ! उसके यौवन की अवस्था कुछ बीत चुकी है। मेरी पत्नी का जो रूप है, वह मैंने आपको बता दिया। मैंने जो कुछ कहा है सच कहा है ॥३०-३२॥

राजोवाच—

अलं ते ब्राह्मण ! तया भार्य्यामन्यां ददामि ते ।
सुखाय भार्य्या कल्याणी दुःखहेतुर्हि तादृशी ।।३३।
कल्ये सुरूपता विप्र ! कारणं शीलमुत्तमम् ।
रूपशीलविहीना या त्याज्या सा तेन हेतुना ।।३४।

ब्राह्मण उवाच—

रक्ष्या भार्य्या महीपाल ! इति नः श्रुतिरुत्तमा ।
भार्य्यायां रक्ष्यमाणायां प्रजा भवति रक्षिता ।।३५।
आत्मा हि जायते तस्यां सा रक्ष्यातो नरेश्वर ।
प्रजायां रक्ष्यमाणायामात्मा भवति रक्षितः ।।३६।
तस्यामरक्ष्यमाणायां भविता वर्णसङ्करः ।
स पातयेन्महीपाल ! पूर्वान् स्वर्गादधः पितॄन् ।।३७।
धर्महानिश्चानुदिनमभार्य्यस्य भवेन्मम ।
नित्यक्रियाणां विभ्रंशात् स चापि पतनाय मे ।।३८।

राजा ने कहा—

ब्राह्मण देवता ! ऐसी पत्नी से तुम्हें क्या लेना-देना । मैं तुम्हें दूसरी पत्नी दूँगा । कल्याणी पत्नी से ही सुख मिलता है । ऐसी पत्नी तो केवल दुःखदायिनी होती है । ब्राह्मण देवता ! नारी की सुरूपता (रूपसौन्दर्यशीलता) उसके कल्याणकर मधुर वचन में है और उसका कारण उसका उत्तम शील-स्वभाव है । जो नारी ऐसे रूप और ऐसे शील से रहित हो, उसका इसीलिए परित्याग ही श्रेयस्कर है ।।३३-३४।।

ब्राह्मण की उक्ति—

महाराज ! पति का धर्म पत्नी की रक्षा है, जैसी कि हमारी श्रुति की उत्तम उक्ति है, क्योंकि पत्नी की रक्षा होने पर ही सन्तान की रक्षा हो सकती है । महाराज ! पत्नी में पति स्वयं जन्म लेता है, इसलिए पत्नी की रक्षा करनी चाहिए । सन्तान की सुरक्षा करना आत्मरक्षा करना है । यदि पत्नी की रक्षा न की जाय तो जो संतति होती है, वह वर्णसंकर होती है और वर्णसंकर संतान, महाराज ! पूर्वज पिता-पितामहों को भी स्वर्ग से गिराने के लिये पर्याप्त है । मैं जब तक धर्मपत्नीविहीन रहूँगा, तब तक मेरा धर्मकर्म प्रतिदिन नष्ट होता रहेगा, क्योंकि नित्यकर्म का अनुष्ठान भ्रष्ट हो जायेगा और उससे मेरा पतन अवश्यम्भावी हो जायेगा । महाराज ! उस धर्मपत्नी से मेरी

तस्याञ्च पृथिवीपाल ! भवित्री मम सन्ततिः ।
तव षड्भागदात्री सा भवित्री धर्महेतुकी ॥३९॥
तदेतत्ते मयाख्याता पत्नी या मे हृता प्रभो ।
तां समानय रक्षायां भवानधिकृतो यतः ॥४०॥

मार्कण्डेय उवाच—

स तस्यैवं वचः श्रुत्वा विमृष्य च नरेश्वरः ।
सर्वोपकरणैर्युक्तमारुरोह महारथम् ॥४१॥
इतश्चेतश्च तेनासौ परिबभ्राम मेदिनीम् ।
ददर्श च महारण्ये तापसाश्रममुत्तमम् ॥४२॥
अवतीर्य्य च तत्रासौ प्रविश्य ददृशे मुनिम् ।
कौश्यां वृष्यां समासीनं ज्वलन्तमिव तेजसा ॥४३॥
स दृष्ट्वा नृपतिं प्राप्तं समुत्थाय त्वरान्वितः ।
संमान्य स्वागतेनैव शिष्यमाहार्घमानय ॥४४॥

संतति का जन्म होना है और वह संतति आपके लिये (कर रूप में) अपनी धनसंपत्ति के षष्ठांश को देने वाली होगी और इस प्रकार वह धर्म का कारण बन जायेगी। महाराज ! मैंने अपनी अपहृत धर्मपत्नी के सम्बन्ध में सब कुछ कह दिया। आप उसे लाकर मुझे दें, क्योंकि प्रजाजन की रक्षा में आप ही अधिकृत हैं ॥३५-४०॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

राजा ने उस ब्राह्मण की ऐसी बातें सुनीं और उन पर सोच-विचार करके समस्त साज-सज्जा से सुशोभित विशाल रथ पर बैठ गए। उस रथ से इधर-उधर चलते-फिरते उन्हों ने पृथिवी का पूरा परिभ्रमण कर लिया। अन्ततः एक महारण्य में उन्होंने एक बड़ा सुन्दर तापसाश्रम देखा। वे रथ से उतर पड़े और उस तापसाश्रम में प्रविष्ट हुए। वहाँ उन्होंने एक मुनि को देखा जो कुशासन पर विराजमान थे और तपस्तेज से देदीप्यमान लग रहे थे ॥४१-४३॥

राजा को आश्रम में आया हुआ देखकर वे मुनि शीघ्र उठ खड़े हुये और स्वागत-सत्कार के वाद उन्होंने अपने शिष्य को कहा—'राजा के लिये अर्घ (सत्कार विधान की

तमाह शिष्यः शनकैर्दातव्योऽर्घोऽस्य किं मुने ।
तदाज्ञापय सञ्चिन्त्य तवाज्ञां हि करोम्यहम् ।।४५।
ततोऽवगतवृत्तान्तो भूपतेस्तस्य स द्विजः ।
सम्भाषासनदानेन चक्रे सम्मानमात्मवान् ।।४६।

ऋषिरुवाच—

किं निमित्तमिहायातो भवान् किन्ते चिकीर्षितम् ।
उत्तानपादतनयं वेद्मि त्वामुत्तमं नृप ।।४७।।

राजोवाच—

ब्राह्मणस्य गृहाद् भार्य्या केनाप्यपहृता मुने ।
अविज्ञातस्वरूपेण तामन्वेष्टुमिहागतः ।।४८।
पृच्छामि यत्ते तन्मे त्वं प्रणतस्यानुकम्पया ।
अभ्यागतस्याथ गृहं भगवन् ! वक्तुमर्हसि ।।४९।

सामग्री) ले आओ' । शिष्य ने अपने गुरु से धीरे से कहा—'मुनिवर ! क्या इस राजा के लिये अर्घ-प्रदान उचित है ।' सोच समझकर आप आज्ञा दें। आपकी आज्ञा के अनुसार मैं कार्य कर दूँगा । उस ब्राह्मण मुनि ने राजा का सब वृत्तान्त (ध्यान-दृष्टि से) जान लिया और आत्मस्थ होकर सम्भाषण तथा आसन-दान द्वारा ही उनका सम्मान किया ।।४४-४६।।

ऋषि ने कहा—

राजन् ! किस कारण आपका यहाँ पदार्पण हुआ । आप क्या करना चाहते हैं ? मैं जानता हूँ कि आप उत्तानपाद के पुत्र उत्तम हैं ।। ४७ ।।

राजा की उक्ति—

मुनिवर ! एक ब्राह्मण की पत्नी का, उसके घर से, किसी ने, जिसके विषय में कुछ भी पता नहीं चलता, अपहरण कर लिया है। उसकी पत्नी को ही ढूढ़ने मैं यहाँ आया हुआ हूँ। मैं विनयावनत होकर आपसे जो पूछना चाहता हूँ, उसे कृपा कर बतावें । भगवन् ! मैं आपके गृह पर अतिथि के रूप में आया हूँ। मेरे प्रश्न का उत्तर देना आपके लिए उचित है ।। ४८-४९ ।।

ऋषिरुवाच—

पृच्छ मामवनीपाल ! यत् प्रष्टव्यमशङ्कितः ।
वक्तव्यञ्चेत्तव मया कथयिष्यामि तत्त्वतः ॥५०।

राजोवाच—

गृहागताय यो मह्यं प्रथमे दर्शने मुने ।
त्वया समुद्यतो दातुं कथं सोऽर्घो निर्वर्तितः ॥५१।

ऋषिरुवाच—

त्वद्दर्शनेन रभसादाज्ञप्तोऽयं मया नृप ।
यदा तदाहमेतेन शिष्येण प्रतिबोधितः ॥५२।
एष वेत्ति जगत्यत्र मत्प्रसादादनागतम् ।
यथाहं समतीतञ्च वर्त्तमानञ्च सर्वतः ॥५३।
आलोच्याज्ञापयेत्युक्ते ततो ज्ञातं मयापि तत् ।
ततो न दत्तवानर्घमहं तुभ्यं विधानतः ॥५४।

ऋषि की उक्ति—

महाराज ! आप निःशङ्क होकर जो कुछ भी पूछना चाहते हैं पूछें। यदि मुझे आपके प्रश्न के सम्बन्ध में कुछ कहना होगा तो मैं सब कुछ ठीक-ठीक कहूँगा ॥ ५० ॥

राजा ने कहा—

मुनिवर ! जब मैं आपके आश्रम पर आया था तो मेरे प्रथम दर्शन में ही आप मुझे अर्घ-प्रदान के लिए उद्यत हुए थे, किन्तु किस कारणवश आपने वह अर्घप्रदान रोक दिया ॥ ५१ ॥

ऋषि की उक्ति—

राजन् ! आपका दर्शन करते ही मैंने जब शीघ्र अपने शिष्य को अर्घ लाने के लिए कहा तब मेरे शिष्य ने मुझे सचेत कर किया। मेरी कृपा से मेरा यह शिष्य संसार में भविष्य की घटना उसी प्रकार जान लेता है, जिस प्रकार मैं सर्वत्र अतीत और वर्तमान की घटनाएँ जान लेता हूँ। जब उसने मुझसे कहा कि सोच-समझ कर अर्घ लाने की आज्ञा दें, तब मैं उसकी बात समझ गया और इसीलिए मैंने आपको शास्त्र-

सत्यं राजन्! त्वमर्घार्हः कुले स्वायम्भुवस्य च।
तथापि नार्घयोग्यं त्वां मन्यामो वयमुत्तमम् ॥५५॥

राजोवाच—

किं कृतं हि मया ब्रह्मन्! ज्ञानादज्ञानतोऽपि वा।
येन त्वत्तोऽर्घमर्हामि नाहमभ्यागतश्चिरात् ॥५६॥

ऋषिरुवाच—

किं विस्मृतन्ते यत्पत्नी त्वया त्यक्ता च कानने।
परित्यक्तस्तया सार्द्धं त्वया धर्मो नृपाखिलः ॥५७॥
पक्षेण कर्मणो हान्या प्रयात्यस्पर्शतां नरः।
विण्मूत्रैर्वार्षिकी यस्य हानिस्ते नित्यकर्मणः ॥५८॥
पत्न्यानुकूलया भाव्यं यथाशीलेऽपि भर्त्तरि।
दुःशीलापि तथा भार्य्या पोषणीया नरेश्वर ॥५९॥

विहित अर्घ-प्रदान नहीं किया। राजन्! आप स्वायंभुववंश के हैं और इसलिए अर्घ के योग्य हैं, किन्तु आपको मैं अर्घ-प्रदान के लिए सर्वथा योग्य नहीं मानता ॥ ५२-५५ ॥

राजा की उक्ति—

भगवन्! जानते हुए या अनजाने में मैंने ऐसा कौन सा कार्य किया है, जिसके कारण बहुत देर से आपका अभ्यागत होने पर भी मैं आपके द्वारा अर्घ के योग्य नहीं माना जा रहा हूँ ॥ ५६ ॥

ऋषि की उक्ति—

राजन्! क्या आप भूल गए कि आपने अपनी पत्नी को वनवासिनी बना दिया है। उसके परित्याग के साथ आपने अपने समस्त धर्म-कर्म का परित्याग कर दिया है। एक पक्ष तक धर्मानुष्ठान में क्षति होने पर मनुष्य मल-मूत्र में सने हुए की भाँति अस्पृश्य हो जाता है और आपके धर्म-कर्म में तो वर्ष भर की क्षति हो चुकी है। यह ठीक है कि पति चाहे जैसा भी हो, उसकी पत्नी को उसके अनुकूल होना चाहिए, किन्तु राजन्! यह भी तो उचित है कि पत्नी यदि दुष्ट स्वभाव की हो जाय, तो पति का कर्तव्य उसकी

प्रतिकूला हि सा पत्नी तस्य विप्रस्य या हृता ।
तथापि धर्मकामोऽसौ त्वामुद्योतितवान् नृप ।।६०।
चलतः स्थापयस्यन्यान् स्वधर्मेषु महीपते ।
त्वां स्वधर्माद्विचलितं कोऽपरः स्थापयिष्यति ।।६१।

मार्कण्डेय उवाच—

विलक्ष्यः स महीपाल इत्युक्तस्तेन धीमता ।
तथेत्युक्त्वा च पप्रच्छ हृतां पत्नीं द्विजन्मनः ।।६२।
भगवन् ! केन नीता सा पत्नी विप्रस्य कुत्र वा ।
अतीतानागतं वेत्ति जगत्यवितथं भवान् ।।६३।

ऋषिरुवाच—

तां जहाराद्रितनयो बलाको नाम राक्षसः ।
द्रक्ष्यसे चाद्य तां भूप ! उत्पलावतके वने ।।६४।

रक्षा करना है। राजन् उस ब्राह्मण की पत्नी, जिसका अपहरण हुआ, उस ब्राह्मण के अनुरूप नहीं थी, किन्तु उस ब्राह्मण ने धर्म-कर्म के अनुष्ठान की अभिलाषा से उसे ढूंढ़ लाने के लिए आपको उद्युक्त किया। राजन् ! आप तो धर्म से विचलित मनुष्यों को धर्म में पुनः स्थापित करते हैं, किन्तु और कौन है जो आपको, जो स्वयं धर्म से विचलित हो चुके हैं, धर्म में पुनः प्रतिष्ठापित कर सकेगा ।। ५७-६१ ।।

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

उस बुद्धिमान् मुनि के द्वारा ऐसा कहे जाने पर राजा लज्जित हो गए और उन्होंने अपना अपराध स्वीकार कर लिया। इसके बाद उन्होंने मुनि से ब्राह्मण की अपहृत पत्नी के सम्बन्ध में पूंछा। उन्होंने कहा—भगवन् ! उस ब्राह्मण की पत्नी का किसने अपहरण किया है और उसे कहां ले गया है ? आप तो संसार में भूत और भावी सभी घटनाओं के वस्तुतः ज्ञाता हैं। आप उसके विषय में मुझे बता दें ।। ६२-६३ ।।

ऋषि ने कहा—

अद्रि का पुत्र बलाक नाम का एक राक्षस है। उसी ने उस ब्राह्मणी का अपहरण किया है। राजन् ! उत्पलावतक वन में जाने पर आप आज ही उसे देख लेंगे। आप जाँय और यथाशीघ्र पत्नी से वियुक्त उस ब्राह्मणवर्य को उसकी पत्नी से मिलवा दें।

गच्छ संयोजयाशु त्वं भार्य्यया हि द्विजोत्तमम् ।
मा पापास्पदतां यातु त्वमिवासौ दिने दिने ।।६५।।

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे औत्तममन्वन्तरे एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ।

ऐसा न हो कि आपकी भाँति वह ब्राह्मण भी प्रतिदिन पाप का पात्र बनता चला जाय ॥ ६४-६५ ॥

पर्यालोचन

(क) इस अध्याय में औत्तम मन्वन्तर का प्राचीन पौराणिक आख्यान वर्णित है। औत्तम मन्वन्तर स्वायंभुव मनु के वंश में उत्पन्न महाराज उत्तानपाद के पुत्र 'उत्तम' के नाम से प्रारम्भ होता है। मार्कण्डेयपुराणकार पर उत्तम के उदात्त चरित के साथ उनकी महारानी बहुला के गर्हणीय चरित के चित्रण में गुणाढ्य की बृहत्कथा के कतिपय राजनायक और राजनायिका के चरित्र-चित्रण का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। उत्तम के ही आख्यान में एक ब्राह्मण और उसकी कुरूप ब्राह्मणी पत्नी की अन्तर्भूत कथा भी बड़ी रोचक है। ब्राह्मण को धर्मपरायण और राजा उत्तम को धर्मभ्रष्ट चित्रित करने में मार्कण्डेयपुराणकार के समसामयिक जीवन की कुछ झांकी भी मिल जाती है। इस अध्याय में आर्षज्ञान की त्रिकालदर्शिता का जो प्रसङ्ग आता है, वह प्राचीन भारतीय जातीय मान्यता का प्रकाशक है।

(ख) प्रथम महापुराण ब्रह्मपुराण (५ म अध्याय में) औत्तम मन्वन्तर का बहुत संक्षिप्त उल्लेख है। मार्कण्डेयपुराण से प्राचीन विष्णुपुराण (तृतीय अंश-अध्याय १ म) में भी उत्तम मनु का निम्नलिखित श्लोकार्ध (३ य अंश, १ म अध्याय) में नाम निर्देश किया हुआ है—

"तृतीयेऽप्यन्तरे ब्रह्मन्नुत्तमो नाम यो मनुः।"

उपर्युक्त दोनों पुराणों में उत्तम मनु से संबद्ध कोई आख्यान नहीं है। मार्कण्डेय-पुराणकार-वर्णित उत्तम मनु के आख्यान के मूलस्रोत के संम्बन्ध में कुछ कहना असंभव है। इतना ही कहा जा सकता है कि आख्यान बड़ा रोचक है।

(ग) इस अध्याय का ५८ वां श्लोक और श्रीपार्जिटर द्वारा किया गया उसका अंग्रेजी अनुवाद उद्धृत किया जा रहा है। श्लोक निम्नलिखित है —

"पक्षेण कर्मणो हान्या प्रयात्यस्पर्शतां नरः।
विण्मूत्रैः वार्षिकी यस्य हानिस्ते नित्यकर्मणः॥"

और इस श्लोक का अंग्रेजी अनुवाद निम्निलिखित है—

"Through neglect of religions acts a man becomes unfit to be touched by his adherents, like one on whom ordure and urine have been showered, thou hast neglected an act of permanent observance."

"अर्थात् धर्म-कर्म में असावधानी के कारण मनुष्य उसी प्रकार अपने लोगों के द्वारा अस्पृश्य माना जाता है, जिस प्रकार वह मनुष्य अस्पृश्य माना जाता है, जिस पर मल और मूत्र छिड़क दिया जाय। तुमने तो अपने नित्यधर्म के अनुष्ठान में बड़ी असावधानी की है"।

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'वार्षिकी' शब्द का अर्थ, शब्दार्थ-निर्णय के 'शब्दान्तर-संनिधि' रूप हेतु पर दृष्टिपात किए बिना किया गया है, क्योंकि पादटिप्पणी में श्रीपार्जिटर ने लिखा है—

"Varshiki, a noun, not given in the dictionery, it must apparently mean a 'shower',, जिसका अभिप्राय यह है कि 'वार्षिकी' शब्द संज्ञापद है, जो कि शब्दकोश में नहीं दिया गया है, किन्तु इसका अर्थ 'जल छिड़कना' ही प्रतीत होता है।

यहां जो अनुवाद किया गया है, उसमें 'वार्षिकी' का अर्थ 'पक्षेण' (पाक्षिक) शब्द के सान्निध्य के कारण वार्षिक अथवा वर्षपर्यन्त किया गया है, जिससे पूरा श्लोकार्थ संगत हो जाता है।

पुराणकारों की शैली काव्यकारों से भिन्न होती है। इस श्लोक का, इसीलिए, निम्नलिखित अन्वय ध्यान में रखा गया है, जिसकी दृष्टि से अनुवाद किया गया है—

"कर्मणो हान्या नरः पक्षेण (तथैव) अस्पर्शतां प्रयाति (यथा) विण्मूत्रैः, यस्य ते नित्यकर्मणो वार्षिकी हानिः (तस्य अस्पर्शतायाः कथैव का)।'

पुराणकार ऐसा मानकर जहां-तहां वाक्य-रचना कर देते हैं कि समसामयिक पाठक एक-आध पद के अध्याहार से उनका आशय हृदयङ्गम कर लेंगे।

पुराणों के अनुवाद में क्लिष्टता का यह बहुत बड़ा कारण है।

श्री मार्कण्डेयपुराण के 'औत्तम मन्वन्तर' से सम्बद्ध ६९वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त।

सप्ततितमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

अथारुरोह स्वरथं प्रणिपत्य महामुनिम् ।
तेनाख्यातं वनन्तच्च प्रययावुत्पलावतम् ॥१॥
यथाख्यातस्वरूपाञ्च भार्य्यां भर्त्रा द्विजस्य ताम् ।
भक्षयन्तीं ददार्शाथ श्रीफलानि नरेश्वरः ॥२॥
पप्रच्छ च कथं भद्रे ! त्वमेतद्वनमागता ।
स्फुटं ब्रवीहि वैशालेरपि भार्य्या सुशर्मणः ॥३॥

ब्राह्मण्युवाच—

सुताहमतिरात्रस्य द्विजस्य वनवासिनः ।
पत्नी विशालपुत्रस्य यस्य नाम त्वयोदितम् ॥४॥
साहं हृता बलाकेन राक्षसेन दुरात्मना ।
प्रसुप्ता भवनस्यान्ते भ्रातृमातृवियोजिता ॥५॥
भस्मीभवतु तद्रक्षो येनास्म्येवं वियोजिता ।
मात्रा भ्रातृभिरन्यैश्च तिष्ठाम्यत्र सुदुःखिता ॥६॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

इसके बाद राजा उत्तम महामुनि को प्रणाम करके अपने रथ पर बैठ गए और महामुनि के द्वारा बताए गए उत्पलावत नामक वन की ओर चल पड़े। राजा के उस ब्राह्मण की पत्नी को, जिसका स्वरूप-स्वभाव उसके पति के द्वारा उन्हें बताया गया था, बेल का फल खाती हुई देखा। उन्होंने उससे पूछा—अरी सौभाग्यवती ! तू तो विशाल के पुत्र विप्र सुशर्मा की धर्मपत्नी हो ! ठीक-ठीक बता तू इस वन में कैसे आ पहुँची ॥१-३॥

ब्राह्मण-पत्नी ने कहा—

महाराज ! मैं इस वन में निवास करने वाले द्विजवर अतिरात्र की पुत्री हूँ और विशाल के पुत्र की पत्नी हूँ, जिनका नाम आपने लिया है। मैं तो अपने घर के अन्तिम छोर पर सो रही थी, जहाँ से 'बलाक' नामक दुष्ट राक्षस ने मेरा अपहरण कर लिया और मैं अपने भाई और अपनी माँ से बिछुड़ गयी। उस राक्षस का संहार हो जिसने मुझे मेरी माता, मेरे भाई और मेरे स्वजनों से वियुक्त कर दिया है, जिसके

अस्मिन् वनेऽतिगहने तेनानीयाहमुज्झिता ।
न वेद्मि कारणं किं तन्नोपभुङ्क्ते न खादति ॥७।

राजोवाच—

अपि तज्ज्ञायते रक्षस्त्वामुत्सृज्य क्व वै गतम् ।
अहं भर्त्रा तवैवात्र प्रेषितो द्विजनन्दिनि ॥८।

ब्राह्मण्युवाच—

अस्यैव काननस्यान्ते स तिष्ठति निशाचरः ।
प्रविश्य पश्यतु भवान् न बिभेति ततो यदि ॥९।

मार्कण्डेय उवाच—

प्रविवेश ततः सोऽथ तया वर्त्मनि दर्शिते ।
ददृशे परिवारेण समवेतञ्च राक्षसम् ॥१०।
दृष्टमात्रे ततस्तस्मिन् त्वरमाणः स राक्षसः ।
दूरादेव महीं मूर्ध्ना स्पृशन् पादान्तिकं ययौ ॥११।

राक्षस उवाच—

ममात्रागच्छता गेहं प्रसादस्ते महान् कृतः ।
प्रशाधि किं करोम्येष वसामि विषये तव ॥१२।

कारण दुःख की मारी मैं यहाँ वन में रह रही हूँ। इस गहन वन में लाकर उस राक्षस ने मुझे छोड़ दिया है। मुझे पता नहीं उसने ऐसा क्यों किया ? क्योंकि न तो वह मेरा उपभोग करता है और न मुझे खा ही लेता है ॥४-७॥

राजा बोले—

क्या तू जानती है कि वह राक्षस तुझे इस वन में छोड़कर कहाँ चला गया है। अरी ब्राह्मणकुमारी ! तेरे पति ने ही मुझे यहाँ तुझे ढूँढ़ने के लिये भेजा है ॥८॥

ब्राह्मण-पत्नी बोली—

वह राक्षस इसी वन के अन्तिम छोर पर रहता है। यदि आप उससे भयभीत नहीं हैं, तो वन में जाइये और उसे देख लीजिए ॥९॥

महामुनि मार्कण्डेय ने कहा—

इसके बाद राजा ब्राह्मणी द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से उस वन में प्रवेश कर गए और उन्होंने सपरिवार उस राक्षस को देख लिया। जैसे ही राजा ने उस राक्षस को देखा, वैसे ही वह राक्षस शीघ्रतापूर्वक दूर से ही राजा का अभिनन्दन करने के लिए अपने मस्तक से धरती छूते हुए राजा के चरणों के समीप पहुँच गया ॥१०-११॥

राक्षस बोला—

महाराज ! यहाँ मेरे आवास पर आकर आपने मुझ पर बड़ी कृपा की है। आप आज्ञा करें—मुझे क्या करना है ? मैं तो आपके राज्य में रह रहा

अर्घञ्चेमं प्रतीच्छ त्वं स्थीयताञ्चेदमासनम् ।
वयं भृत्या भवान् स्वामी दृढमाज्ञापयस्व माम् ।।१३।

राजोवाच—

कृतमेव त्वया सर्वं सर्वामेवातिथिक्रियाम् ।
किमर्थं ब्राह्मणवधूस्त्वयानीता निशाचर ।।१४।
नेयं सुरूपा सन्त्यन्या भार्य्यार्थञ्चेद् हृता त्वया ।
भक्ष्यार्थं चेत्कथं नात्ता त्वयैतत्कथ्यतां मम ।।१५।

राक्षस उवाच—

न वयं मानुषाहारा अन्ये ते नृप ! राक्षसाः ।
सुकृतस्य फलं यत्तु तदश्नीमो वयं नृप ।।१६।
स्वभावञ्च मनुष्याणां योषिताञ्च विमानिताः ।
मानिताश्च समश्नीमो न वयं जन्तुखादकाः ।।१७।

हूँ। आप इस अर्घ को ग्रहण करें और इस आसन पर विराजें। आप हमारे स्वामी हैं और हम आपके सेवक। आप निश्चिन्त होकर मुझे अपने आदेश से अवगत करावें ।।१२-१३।।

राजा ने कहा—

अरे राक्षस! तूने तो सब कुछ कर दिया, तूने विधिवत् मेरा आतिथ्य-सत्कार किया। किन्तु एक बात मुझे बता कि तूने ब्राह्मण की पत्नी का अपहरण क्यों किया? यदि तू उसे अपनी पत्नी बनाने के लिए लाया, तो वह ब्राह्मण-पत्नी सुन्दर सुरूप कहाँ! सुन्दर तो दूसरी अनेकों स्त्रियाँ थीं। यदि उसे भक्षण करने के लिये तू लाया, तो तुमने अब तक उसका भक्षण क्यों नहीं किया? ।।१४-१५।।

राक्षस बोला—

महाराज! हम लोग राक्षस हैं, किन्तु हम मनुष्यमांस के भोजी नहीं। वे राक्षस दूसरे प्रकार के होते हैं जो मनुष्य का मांस-भक्षण करते हैं। हम लोग तो लोगों के पुण्य के फल के भोजी हैं। चाहे तो हमें (राक्षस मानकर) अपमानित करें या (हमारी शक्ति के कारण) हमारा सम्मान करें, हम लोग तो स्त्रियों और पुरुषों के स्वभाव का भक्षण करते हैं, जीव-जन्तुओं का भक्षण नहीं करते। जब हम मनुष्यों की क्षमाशीलता

यदस्माभिर्नृणां क्षान्तिर्भुक्ता क्रुध्यन्ति ते तदा ।
भुक्ते दुष्टे स्वभावे च गुणवन्तो भवन्ति च ।।१८।
सन्ति नः प्रमदा भूप ! रूपेणाप्सरसां समाः ।
राक्षस्यस्तासु तिष्ठत्सु मानुषीषु रतिः कथम् ।।१९।

राजोवाच—

यद्येषा नोपभोगाय नाहाराय निशाचर ।
गृहं प्रविश्य विप्रस्य तत्किमेषा हृता त्वया ।।२०।

राक्षस उवाच—

मन्त्रवित् स द्विजश्रेष्ठो यज्ञे यज्ञे गतस्य मे ।
रक्षोघ्नमन्त्रपठनात् करोत्युच्चाटनं नृप ।।२१।
वयं बुभुक्षितास्तस्य मन्त्रोच्चाटनकर्मणा ।
क्व यामः सर्वयज्ञेषु स ऋत्विग् भवति द्विजः ।।२२।

का भक्षण कर लेते हैं, तब वे हम पर क्रुद्ध हो जाते हैं। किन्तु जब हम उनके दुष्ट स्वभाव का भक्षण कर लेते हैं, तब वे सुशील हो जाया करते हैं। महाराज ! हमारी अपनी जो राक्षसी स्त्रियाँ हैं, वे रूप में देवाङ्गनाओं के समान हैं। ऐसी राक्षस-सुन्दरियों के रहते मानवी से हमारा क्या लगाव हो सकता है ? ॥१६-१९॥

राजा ने कहा—

अरे राक्षस ! यदि यह ब्राह्मणी तेरे उपभोग के योग्य नहीं और न तेरे आहार के योग्य है, तब उस ब्राह्मण के घर में घुस कर तूने इसका अपहरण क्यों किया ? ।।२०।।

राक्षस बोला—

राजन् ? वह द्विजवर बड़ा मन्त्रवेता है और इसलिए जब मैं एक यज्ञ के बाद दूसरे यज्ञ में, बलि-भक्षण के लिए जाता था, तब वह 'रक्षोघ्न' मन्त्रों के पाठ से मेरा उच्चाटन कर देता था। रक्षोघ्न मन्त्रों की उच्चाटन-शक्ति से मैं भूखा रह जाता था। मैं जाता तो कहाँ जाता ! जिस यज्ञ में जाता उस यज्ञ में ऋत्विक् रूप से वही उपस्थित दिखायी देता। इसीलिए मैंने उसकी पत्नी के अपहरण से उसके मन को

ततोऽस्माभिरिदन्तस्य वैकल्यमुपपादितम् ।
पत्न्या विना पुमानिज्याकर्मयोग्यो न जायते ॥२३।

मार्कण्डेय उवाच—

वैकल्योच्चारणात्तस्य ब्राह्मणस्य महामतेः ।
ततः स राजातिभृशं विषण्णः समजायत ॥२४।
वैकल्यमेवं विप्रस्य वदन्मामेव निन्दति ।
अनर्हमर्घस्य च मां सोऽप्याह मुनिसत्तमः ॥२५।
वैकल्यं तस्य विप्रस्य राक्षसोऽप्याह मे यथा ।
अपत्नीकतया सोऽहं सङ्कटं महदास्थितः ॥२६।

मार्कण्डेय उवाच—

एवं चिन्तयतस्तस्य पुनरप्याह राक्षसः ।
प्रणामनम्रो राजानं बद्धाञ्जलिपुटो मुने ॥२७।
नरेन्द्राज्ञाप्रदानेन प्रसादः क्रियतां मम ।
भृत्यस्य प्रणतस्य त्वं युष्मद्विषयवासिनः ॥२८।

विकल (उद्विग्न) बना देने का उपद्रव किया, क्योंकि बिना पत्नी के कोई पति यज्ञ-याग के अनुष्ठान के लिए योग्य नहीं रह सकता ॥२१-२३॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

उस महामति ब्राह्मण की मानसिक उद्विग्नता के विषय में राक्षस की बात से राजा बहुत अधिक दुःखी हो गए। वे सोचने लगे कि राक्षस ने ब्राह्मण की मानसिक विकलता की बात बताकर वस्तुतः उन्हीं की निन्दा की है और उस मुनिवर ब्राह्मण ने भी उन्हें अर्घ-समर्पण के अयोग्य कहा था। राक्षस ने भी ब्राह्मण-देवता के मानसिक सन्ताप का जो कारण बताया, उसे जानकर, अपनी धर्मपत्नी से विमुक्त होने के कारण, वे अपने आपको बहुत बड़े संकट में पड़ा सोचने लगे ॥२४-२६॥

महामुनि मार्कण्डेय ने आगे कहा—

मुनिवर क्रौष्टुकि ! जब राजा इस प्रकार के सोच-विचार में पड़े थे, तब वह राक्षस विनयावनत होकर, हाथ जोड़कर उनसे कहने लगा—'महाराज ! आप आज्ञा

राजोवाच—

स्वभावं वयमश्नीमस्त्वयोक्तं यन्निशाचर ।
तदर्थिनो वयं येन कार्येण श्रृणु तन्मम ॥२९।

अस्यास्त्वयाद्य ब्राह्मण्या दौःशील्यमुपभुज्यताम् ।
येन त्वयात्तदौःशील्या तद्विनीता भवेदियम् ॥३०।

नीयतां यस्य भार्य्येयं तस्य वेश्म निशाचर ।
अस्मिन् कृते कृतं सर्वं गृहमभ्यागतस्य मे ॥३१।

मार्कण्डेय उवाच—

ततः स राक्षसस्तस्याः प्रविश्यान्तः स्वमायया ।
भक्षयामास दौःशील्यं निजशक्त्या नृपाज्ञया ॥३२।

दौःशील्येनातिरौद्रेण पत्नी तस्य द्विजन्मनः ।
तेन सा संपरित्यक्ता तमाह जगतीपतिम् ॥३३।

दें, आपकी आज्ञा मुझ पर आपकी कृपा होगी। मैं आपके राज्य में रहने वाला आपका एक विनम्र सेवक हूँ ॥२७-२८॥

राजा की उक्ति—

अरे राक्षस! तूने मुझसे कहा है कि तुम लोग मनुष्यों के स्वभाव के भक्षक हो! मुझे अपना याचक समझो और मैं जो चाहता हूँ उसे सुन लो। आज तू इस ब्राह्मणी के दुष्ट स्वभाव का भक्षण कर ले, क्योंकि तेरे द्वारा उसकी दुःशीलता के भक्षण कर लिए जाने से वह एक सुशील गृहिणी बन जायेगी। राक्षस! इसे उसके घर पहुँचा दे, जिसकी यह पत्नी है। यदि तू ने यह कार्य कर दिया तो तेरे घर पर अतिथि रूप से उपस्थित मेरा समस्त आतिथ्य सम्पन्न हो गया ॥२९-३१॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

तब, राजाज्ञा पाकर, वह राक्षस अपनी माया से उस ब्राह्मणी में अन्तःप्रविष्ट हो गया और अपनी शक्ति से उसने उस ब्राह्मणी की दुःशीलता का भक्षण कर लिया। उस ब्राह्मण-देवता की उस पत्नी ने, जिसको भयंकर दुःशीलता (राक्षस के द्वारा भक्षित हो जाने पर) उसे छोड़ चुकी थी, राजा से कहा—'राजन्! मेरे पूर्वजन्म के कर्म का

स्वकर्मफलपाकेन भर्तुस्तस्य महात्मनः ।
वियोजिताहं तद्धेतुरयमासीन्निशाचरः ॥३४।
नास्य दोषो न वा तस्य मम भर्तुर्महात्मनः ।
ममैव दोषो नान्यस्य सुकृतं ह्युपभुज्यते ॥३५।
अन्यजन्मनि कस्यापि विप्रयोगः कृतो मया ।
सोऽयं ममाप्युपगतः को दोषोऽस्य महात्मनः ॥३६।

राक्षस उवाच—

प्रापयामि तवादेशादिमां भर्तृगृहं प्रभो ।
यदन्यत्करणीयन्ते तदाज्ञापय पार्थिव ॥३७।

राजोवाच—

अस्मिन् कृते कृतं सर्वं त्वया मे रजनीचर ।
आगन्तव्यञ्च ते वीर ! कार्य्यकाले स्मृतेन मे ॥३८।

ही यह विपाक था, जिसके कारण मैं अपने महात्मा पति से वियुक्त कर दी गयी थी। यह राक्षस उसमें हेतुमात्र है। न तो इस राक्षस का कोई दोष है और न मेरे उन महात्मा पतिदेव का। यह सब मेरा ही दोष समझिए। एक के सुकृत का दूसरा उपभोग नहीं करता। पिछले किसी जन्म में मेरे द्वारा किसी का विप्रयोग किया गया होगा और मेरे उसी दुष्कर्म के परिणाम-स्वरूप इस जन्म में मैं अपने पति से विप्रयुक्त की गयी हूँ। इस महात्मा राक्षस का कोई दोष नहीं ।।३२-३६।।

राक्षस की उक्ति—

महाराज ! आपके आदेशानुसार इस ब्राह्मणी को मैं इसके पति के घर पहुँचा दूँगा। इसके अतिरिक्त मुझे और जो कार्य करना है, उसके विषय में भी आप आज्ञा करें।।३७।।

राजा की उक्ति—

अरे भाई राक्षस ! यह कार्य कर देने पर तूने मेरा सब कार्य कर दिया। किन्तु भविष्य में कार्य पड़ने पर जब कभी मैं तुम्हारा स्मरण करूँ, तुम अवश्य मेरे समक्ष उपस्थित हो जाना ।।३८।।

राजोवाच—

स्वभावं वयमश्नीमस्त्वयोक्तं यन्निशाचर ।
तदर्थिनो वयं येन कार्येण शृणु तन्मम ॥२९।

अस्यास्त्वयाद्य ब्राह्मण्या दौःशील्यमुपभुज्यताम् ।
येन त्वयात्तदौःशील्या तद्विनीता भवेदियम् ॥३०।

नीयतां यस्य भार्य्येयं तस्य वेश्म निशाचर ।
अस्मिन् कृते कृतं सर्वं गृहमभ्यागतस्य मे ॥३१।

मार्कण्डेय उवाच—

ततः स राक्षसस्तस्याः प्रविश्यान्तः स्वमायया ।
भक्षयामास दौःशील्यं निजशक्त्या नृपाज्ञया ॥३२।

दौःशील्येनातिरौद्रेण पत्नी तस्य द्विजन्मनः ।
तेन सा संपरित्यक्ता तमाह जगतीपतिम् ॥३३।

दें, आपकी आज्ञा मुझ पर आपकी कृपा होगी। मैं आपके राज्य में रहने वाला आपका एक विनम्र सेवक हूँ ॥२७-२८॥

राजा की उक्ति—

अरे राक्षस ! तूने मुझसे कहा है कि तुम लोग मनुष्यों के स्वभाव के भक्षक हो ! मुझे अपना याचक समझो और मैं जो चाहता हूँ उसे सुन लो। आज तू इस ब्राह्मणी के दुष्ट स्वभाव का भक्षण कर ले, क्योंकि तेरे द्वारा उसकी दुःशीलता के भक्षण कर लिए जाने से वह एक सुशील गृहिणी बन जायेगी। राक्षस ! इसे उसके घर पहुँचा दे, जिसकी यह पत्नी है। यदि तू ने यह कार्य कर दिया तो तेरे घर पर अतिथि रूप से उपस्थित मेरा समस्त आतिथ्य सम्पन्न हो गया ॥२९-३१॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

तब, राजाज्ञा पाकर, वह राक्षस अपनी माया से उस ब्राह्मणी में अन्तःप्रविष्ट हो गया और अपनी शक्ति से उसने उस ब्राह्मणी की दुःशीलता का भक्षण कर लिया। उस ब्राह्मण-देवता की उस पत्नी ने, जिसको भयंकर दुःशीलता (राक्षस के द्वारा भक्षित हो जाने पर) उसे छोड़ चुकी थी, राजा से कहा—'राजन् ! मेरे पूर्वजन्म के कर्म का

स्वकर्मफलपाकेन भर्तुस्तस्य महात्मनः ।
वियोजिताहं तद्धेतुरयमासीन्निशाचरः ॥३४॥
नास्य दोषो न वा तस्य मम भर्तुर्महात्मनः ।
ममैव दोषो नान्यस्य सुकृतं ह्युपभुज्यते ॥३५॥
अन्यजन्मनि कस्यापि विप्रयोगः कृतो मया ।
सोऽयं ममाप्युपगतः को दोषोऽस्य महात्मनः ॥३६॥

राक्षस उवाच—

प्रापयामि तवादेशादिमां भर्तृगृहं प्रभो ।
यदन्यत्करणीयन्ते तदाज्ञापय पार्थिव ॥३७॥

राजोवाच—

अस्मिन् कृते कृतं सर्वं त्वया मे रजनीचर ।
आगन्तव्यञ्च ते वीर ! कार्य्यकाले स्मृतेन मे ॥३८॥

ही यह विपाक था, जिसके कारण मैं अपने महात्मा पति से वियुक्त कर दी गयी थी। यह राक्षस उसमें हेतुमात्र है। न तो इस राक्षस का कोई दोष है और न मेरे उन महात्मा पतिदेव का। यह सब मेरा ही दोष समझिए। एक के सुकृत का दूसरा उपभोग नहीं करता। पिछले किसी जन्म में मेरे द्वारा किसी का विप्रयोग किया गया होगा और मेरे उसी दुष्कर्म के परिणाम-स्वरूप इस जन्म में मैं अपने पति से विप्रयुक्त की गयी हूँ। इस महात्मा राक्षस का कोई दोष नहीं ।।३२-३६।।

राक्षस की उक्ति—

महाराज ! आपके आदेशानुसार इस ब्राह्मणी को मैं इसके पति के घर पहुँचा दूँगा। इसके अतिरिक्त मुझे और जो कार्य करना है, उसके विषय में भी आप आज्ञा करें।।३७।।

राजा की उक्ति—

अरे भाई राक्षस ! यह कार्य कर देने पर तूने मेरा सब कार्य कर दिया। किन्तु भविष्य में कार्य पड़ने पर जब कभी मैं तुम्हारा स्मरण करूँ, तुम अवश्य मेरे समक्ष उपस्थित हो जाना ॥३८॥

मार्कण्डेय उवाच—

तथेत्युक्त्वा तु तद्रक्षस्ताभादाय द्विजाङ्गनाम् ।
निन्ये भर्तृगृहं शुद्धां दौःशोल्यापगमात्तदा ।।३९।

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे औत्तममन्वन्तरे सप्ततितमोऽध्यायः ।

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

उस राक्षस ने 'जैसी आज्ञा महाराज !' कह कर उस ब्राह्मण-पत्नी को, जो दुःशीलता के दूर हो जाने से शुद्ध हो गयी थी, अपने साथ लेकर उसके पति के घर पर पहुँचा दिया ।।३९।।

पर्यालोचन

(क) पिछले अध्याय से आरम्भ किया गया औत्तम मन्वन्तर का आख्यान इस अध्याय में भी वर्णित है। स्वारोचिष मन्वन्तर के आख्यान की भाँति औत्तम मन्वन्तर का भी आख्यान बड़ा रोचक और विचित्र है। औत्तम मन्वन्तर के प्रवर्तक 'उत्तम' और ब्राह्मण-पत्नी का अपहरण करने वाले 'राक्षस' का वार्तालाप, जिसमें राक्षस अपने आपको अन्य समस्त राक्षसों से विशिष्ट बताता है, क्योंकि वह मनुष्य का मांसभक्षी नहीं, अपितु मनुष्य के दुष्ट स्वभाव का भक्षक है, मार्कण्डेयपुराणकार की यदि कल्पना है, तो बड़ी विचित्र कल्पना है। श्रीदेवीभागवत में भी औत्तम मन्वन्तर का वर्णन किया हुआ है, किन्तु उसमें मार्कण्डेयपुराण के आख्यान का कुछ भी संकेत नहीं मिलता। देखिये श्रीदेवीभागवत का औत्तम मन्वन्तर वर्णन (स्कन्ध १०, ९.१३-१६)—

'तृतीय उत्तमो नाम प्रियव्रतसुतो मनुः ॥
गङ्गाकूले तपस्तप्त्वा वाग्भवं सञ्जपन् रहः।
वर्षाणि त्रीण्युपवसन् देव्यनुग्रहमाविशत् ॥
स्तुत्वा देवीं स्तोत्रवरैर्भक्तिभावितमानसः।
राज्यं निष्कण्टकं लेभे सन्ततिं चिरकालिकीम् ॥
राज्योत्थान्यानि सौख्यानि भुक्त्वा धर्मान् युगस्य च।
सोऽप्याजगाम पदवीं राजर्षिवरभाविताम् ॥'

उपर्युक्त वर्णन में मार्कण्डेयपुराण के वर्णन जैसी कोई बात नहीं दिखायी देती।

(ख) इस अध्याय के 'मन्त्रवित् स द्विजश्रेष्ठः' आदि २१ वें श्लोक में 'रक्षोघ्न' मन्त्र का निर्देश किया गया है। याज्ञिक मन्त्रवेत्ता हुआ करते थे और मन्त्र की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न भी हुआ करते थे।

रक्षोघ्न-मन्त्र से क्या अभिप्राय है? 'रक्षोघ्न-मन्त्र' आथर्वण आभिचारिक मन्त्र हैं। अथर्ववेद के १२ वें काण्ड के २रे अध्याय के 'क्रव्याद सूक्त' नामक प्रथम सूक्त के निम्नलिखित मन्त्र देखिए, जिनमें राक्षसों के विनाश के निमित्त अग्निदेव तथा इन्द्र का स्तवन है—

'स्तुवानमग्न आवह यातुधानं किमीदिनम्।
त्वं हि देव वन्दितो हन्ता दस्योर्बभूविथ ॥'

'त्वमग्ने यातुधानान् उपबद्धाँ इहावह।
अथैषामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्चतु ॥'

इसी प्रकार अथर्ववेद के इसी काण्ड के इसी अध्याय के द्वितीय क्रव्याद सूक्त के निम्नांकित मन्त्र देखिए, जिसमें राक्षसनिषूदन के लिये अग्निदेव की प्रार्थना की गयी है—

'यत्रैषामग्ने जनिमानि वेत्थ
गुहा सतामत्रिणां जातवेदः।
तांस्त्वं ब्रह्मणा वावृधानो
जह्येषां शततर्हमग्ने ॥'

अर्थात् 'हे अग्निदेव'! जहाँ कहीं भी नरमांसभक्षी राक्षसों के जन्मस्थान हों अथवा उनके गुप्त निवास-स्थान हों, वहाँ पहुँच कर आप उनका समूलोन्मूलन करें और उनके द्वारा किए जाने वाले दुष्कर्मों का सर्वथा निवारण करें।'

इस अध्याय की ही उपर्युक्त पंक्ति में 'उच्चाटन' का उल्लेख है। उच्चाटन षट्कर्म के अन्तर्गत एक आभिचारिक कर्मविशेष है। 'षट्कर्म' में मारण, मोहन, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन और वशीकरण—ये षड्विध अभिचार अन्तर्भूत हैं। उच्चाटन रूपी अभिचार कर्म में 'दुर्गा' को देवता माना गया है। कृष्णपक्ष की अष्टमी अथवा चतुर्दशी तिथि में शनिवार के दिन इस कर्म के अनुष्ठान का विधान है। 'शारदातनय' में उच्चाटन की निम्नलिखित परिभाषा दी गयी है—

'उच्चाटनं स्वदेशादेर्भ्रंशनं परिकीर्तितम्।'

(ग) गृहस्थधर्म में दीक्षित पुरुषों के लिए पञ्चविध यज्ञ के अनुष्ठान का अनिवार्य रूप से विधान धर्मशास्त्रों के द्वारा प्रमाणित है। सपत्नीक यज्ञानुष्ठान की परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है, जो आज भी भारत में प्रचलित है। इसी परम्परा का पुष्टीकरण यहाँ द्विजवर और राजा के वार्तालाप प्रसङ्ग में दिखायी देता है। सीताविरह में दाशरथि राम की सीता की स्वर्णप्रतिमा बनाकर यज्ञानुष्ठान की कथा में इसी धर्मशास्त्रानुमोदित मर्यादा के पालन का वर्णन है।

श्री मार्कण्डेयपुराण के औत्तम-मन्वन्तर वर्णन से सम्बद्ध ७०वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

तां प्रेषयित्वा राजापि स्वभर्तृगृहमङ्गनाम् ।
चिन्तयामास निःश्वस्य किमत्र सुकृतं भवेत् ।।१।

अनर्घयोग्यता कष्टं स मामाह महामनाः ।
वैकल्यं विप्रमुद्दिश्य तथाहायं निशाचरः ।।२।

सोऽहं कथं करिष्यामि त्यक्ता पत्नी मया हि सा ।
अथवा ज्ञानदृष्टिं तं पृच्छामि मुनिसत्तमम् ।।३।

सञ्चिन्त्येत्थं स भूपालः समारुह्य च तं रथम् ।
ययौ यत्र स धर्मात्मा त्रिकालज्ञो महामुनिः ।।४।

अवरुह्य रथात् सोऽथ तं समेत्य प्रणम्य च ।
यथावृत्तं समाचख्यौ राक्षसेन समागमम् ।।५।

ब्राह्मण्या दर्शनञ्चैव दौःशील्यापगमं तथा ।
प्रेषणं भर्तृगेहे च कार्य्यमागमने च यत् ।।६।

महामुनि मार्कण्डेय ने आगे कहा—

राजा उत्तम ने भी उस ब्राह्मणी को उसके पतिगृह के लिए प्रेषित कराया और स्वयं आह भरते सोच-विचार में पड़ गए कि 'क्या करूँ, जिसमें कल्याण हो। एक ओर तो उस महामना ब्राह्मण ने अर्घ-ग्रहण के लिए मुझे अयोग्य कहा, जिससे मुझे दुःख हुआ और दूसरी ओर इस राक्षस ने (पत्नीवियुक्त) ब्राह्मण की मानसिक उद्विग्नता की बात कह कर मेरी मानसिक उद्विग्नता का संकेत किया। इसलिए अब मैं क्या करूँ, क्योंकि मैंने भी अपनी धर्मपत्नी का परित्याग किया है अथवा मैं ज्ञानदृष्टि उन मुनिवर ब्राह्मण देवता से पूछूँ कि क्या करूँ।' यह सब सोचते-विचारते राजा अपने उसी रथ पर आरूढ़ हुए और वहाँ जा पहुँचे, जहाँ वे त्रिकालदर्शी धर्मात्मा महामुनि ब्राह्मण देवता रहते थे। वहाँ पहुँच कर वे रथ से उतर पड़े और उनके पास पहुँच कर उन्हें प्रणाम किया तथा राक्षस से भेंट होने की जैसी घटना घटी थी उससे उन्हें अवगत कराया। उन्होंने उन महामना ब्राह्मण देवता को ब्राह्मणी का दर्शन, ब्राह्मणी की दुःशीलता से मुक्ति, पतिगृह के लिए ब्राह्मणी का प्रेषण और अपने आने का कारण—सब कुछ बता दिया ॥ १-६ ॥

ऋषिरुवाच—

ज्ञातमेतन्मया पूर्वं यत् कृतन्ते नराधिप ।
कार्य्यमागमने चैव मत्समीपे तवाखिलम् ॥७॥
पृच्छ मामिह किं कार्य्यं मयेत्युद्विग्नमानसः ।
त्वय्यागते महोपाल ! शृणु कार्य्यञ्च यत्त्वया ॥८॥
पत्नी धर्मार्थकामानां कारणं प्रबलं नृणाम् ।
विशेषतश्च धर्मस्य सन्त्यक्तस्त्यजता हि ताम् ॥९॥
अपत्नीको नरो भूप ! न योग्यो निजकर्मणाम् ।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वैश्यः शूद्रोऽपि वा नृप ॥१०॥
त्यजता भवता पत्नीं न शोभनमनुष्ठितम् ।
अत्याज्यो हि यथा भर्त्ता स्त्रीणां भार्य्या तथा नृणाम् ॥११॥

राजोवाच—

भगवन् ! किं करोम्येष विपाको मम कर्मणाम् ।
नानुकूलानुकूलस्य यस्मात्त्यक्ता ततो मया ॥१२॥
यद्यत्करोति तत् क्षान्तं दह्यमानेन चेतसा ।
भगवंस्तद्वियोगार्तिबिभीतेनान्तरात्मना ॥१३॥

ऋषिवर ब्राह्मण की उक्ति—

राजन् ! आपने जो कुछ किया वह सब मुझे पहले ही पता चल गया और मेरे पास आपके आने का जो कारण है, वह सब भी मैं जान गया। आपका मन उद्विग्न है, आप कहें कि मुझे क्या करना है ? राजन् ! जब आप मेरे पास आ ही गए तब जिस उद्देश्य से आप आए वह भी मैं बताता हूँ। सुन लीजिए—मनुष्य के धर्म-अर्थ और काम रूप पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए उसकी धर्मपत्नी एक शक्तिशाली कारण है और धर्मानुष्ठान के लिए तो वह विशेष रूप से परम कारण है। आपने अपनी पत्नी का परित्याग करके धर्म का परित्याग किया है। राजन् ! धर्मपत्नी के बिना मनुष्य, चाहे वह ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो अथवा शूद्र ही क्यों न हो, अपने धर्म-कर्म के अनुष्ठान के योग्य नहीं रह जाता। अपनी धर्मपत्नी का परित्याग कर के आपने अच्छा नहीं किया। जैसे पत्नी के लिए अपने पति का परित्याग अनुचित है, वैसे ही पति के लिए अपनी पत्नी का परित्याग भी अनुचित है ॥ ७-११ ॥

राजा की उक्ति—

भगवन् ! मैं क्या करूँ ? यह सब मेरे कर्मों का विपाक है। मैं अपनी पत्नी पर प्राण देता था, किन्तु वह मुझसे विमुख रहा करती थी। वस्तुतः यही बात थी, जिसके कारण मैंने उसका परित्याग किया। वह मेरी इच्छा के विरुद्ध जो भी करती रही,

साम्प्रतं तु वने त्यक्ता न वेद्मि क्व नु सा गता ।
भक्षिता वापि विपिने सिंहव्याघ्रनिशाचरैः ॥१४।

ऋषिरुवाच—

न भक्षिता सा भूपाल ! सिंहव्याघ्रनिशाचरैः ।
सा त्वविप्लुतचारित्रा साम्प्रतन्तु रसातले ॥१५।

राजोवाच—

सा नीता केन पातालमास्ते साऽदूषिता कथम् ।
अत्यद्भुतमिदं ब्रह्मन् ! यथावद्वक्तुमर्हसि ॥१६।

ऋषिरुवाच—

पाताले नागराजोऽस्ति प्रख्यातश्च कपोतकः ।
तेन दृष्टा त्वया त्यक्ता भ्रममाणा महावने ॥१७।

उससे मेरा मन जल-भुन जाता रहा, किन्तु उसके विरह की भावी मर्मान्तिक पीड़ा के भय से मैं उसे क्षमा करता रहा। इस समय मैंने उसे वन में भेजकर उसका परित्याग कर दिया है। मैं कुछ नहीं जानता कि वह कहाँ चली गयी अथवा वन में ही सिंह-व्याघ्र अथवा निशाचरों ने उसे मार खाया ॥ १२-१४ ॥

ऋषि की उक्ति—

महाराज ! उसे सिंह, व्याघ्र अथवा निशाचरों ने नहीं मार खाया है। वह नारी निर्दुष्ट चरित्र की है और इस समय पाताल-लोक में है ॥ १५ ॥

राजा बोले—

उसे पाताल-लोक में कौन ले गया ? और अब तक वह निर्दुष्ट चरित्र की कैसे है ? भगवन् ! यह सब बड़े आश्चर्य की बात है। जो कुछ जैसे हुआ वह कृपाकर मुझे बता दें ॥ १६ ॥

ऋषि ने कहा—

राजन् ! पाताल-लोक में कपोतक नाम का एक प्रसिद्ध नागराज है। उसने तुम्हारे द्वारा परित्यक्त होने पर, महावन में इधर-उधर घूमती रानी को देखा, जो कि रूप से सुन्दरी और युवती थी और उसके प्रति अनुरक्त होने तथा उससे सम्बद्ध समस्त

सा रूपशालिनी तेन सानुरागेण पार्थिव ।
वेदितार्थेन पातालं नीता सा युवती तदा ॥१८।

ततस्तस्य सुता सुभ्रूर्नन्दा नाम महीपते ।
भार्य्या मनोरमा चास्य नागराजस्य धीमतः ॥१९।

तया मातुः सपत्नीयं सा भवित्रीति शोभना ।
दृष्टा स्वगेहं सा नीता गुप्ता चान्तःपुरे शुभा ॥२०।

यदा तु याचिता नन्दा न ददाति नृपोत्तरम् ।
मूका भविष्यसीत्याह तदा तां तनयां पिता ॥२१।

एवं शप्ता सुता तेन सा चास्ते तत्र भूपते ।
नीता तेनोरगेन्द्रेण धृता तत्सुतया सती ॥२२।

मार्कण्डेय उवाच—

ततो राजा परं हर्षमवाप्य तमपृच्छत ।
द्विजवर्य्यं स्वदौर्भाग्यकारणं दयितां प्रति ॥२३।

वृत्तान्त के ज्ञान के कारण वह (नागराज) उसे पाताल-लोक में ले गया । महाराज ! उस बुद्धिमान् नागराज की नन्दा नाम की एक सुन्दर पुत्री है और मनोरमा नाम की रूपवती धर्मपत्नी है । नन्दा, यह सोचकर कि रानी सुन्दर है और भविष्य में उसकी माता की सपत्नी (सौत) बनेगी, उसे देखते ही अपने भवन में ले गयी और अन्तःपुर में उसे छिपाकर रखने लगी । राजन् ! नागराज के द्वारा रानी की याचना करने पर जब नन्दा ने कोई उत्तर नहीं दिया, तब उसके पिता नागराज ने अपनी उस पुत्री को शाप दे दिया—'जा, गूंगी हो जा' । राजन् ! नागराज की वह पुत्री शाप के कारण गूंगी बनी पाताल-लोक में ही रहती है और नागराज के द्वारा अपहृत रानी की सुरक्षा करती है, जिसके कारण रानी अभी-भी सती-साध्वी बची है ॥ १७-२२ ॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

यह सब सुनकर राजा (उत्तम) अत्यधिक आनन्दित हुए और द्विजवर मुनि से अपनी प्रिय धर्मपत्नी के संबन्ध से अपने दुर्भाग्य के कारण के विषय में पूछा ॥ २३ ॥

राजोवाच—

भगवन् ! सर्वलोकस्य मयि प्रीतिरनुत्तमा ।
किन्नु तत्कारणं येन स्वपत्नी नातिवत्सला ।।२४।

मम चासावतीवेष्टा प्राणेभ्योऽपि महामुने ।
सा च मां प्रति दुःशीला ब्रूहि यत्कारणं द्विज ।।२५।

ऋषिरुवाच—

पाणिग्रहणकाले त्वं सूर्य्यभौमशनैश्चरैः ।
शुक्रवाचस्पतिभ्याञ्च तव भार्य्यावलोकिता ।।२६।

तन्मुहूर्त्तेऽभवच्चन्द्रस्तस्याः सोमसुतस्तथा ।
परस्परविपक्षौ तौ ततः पार्थिव ! ते भृशम् ।।२७।

तद्गच्छ त्वं स्वधर्मेण परिपालय मेदिनीम् ।
पत्नीसहायः सर्व्वाश्च कुरु धर्मवतीः क्रियाः ।।२८।

राजा की उक्ति—

भगवन् ! क्या कारण है कि मेरे प्रति और सब लोग तो बहुत अधिक प्रेमभाव रखते हैं, किन्तु मेरी अपनी पत्नी मुझ से बहुत प्रेम नहीं करती ? महामुनि ! मैं तो उसे अपने प्राणों से भी अधिक प्रेम करता हूँ, किन्तु वह मेरे प्रति दुःशील रहा करती है ? ।। २४-२५ ।।

ऋषि बोले—

बात ऐसी है कि जब आपसे उसका पाणिग्रहण हो रहा था, तब आप पर सूर्य, मंगल तथा शनैश्चर—इन तीन ग्रहों की दृष्टि पड़ रही थी और आपकी होने वाली धर्मपत्नी को शुक्र तथा बृहस्पति—ये दोनों ग्रह देख रहे थे। साथ ही साथ, राजन् ! उसी मुहूर्त में आपकी पत्नी की जन्मपत्री में चन्द्र और आपकी जन्मपत्री में बुध—ये परस्पर अत्यन्त विरोधी ग्रह पड़े थे। अब आप जाँय। राजधर्म के अनुसार पृथिवी का पालन करें तथा अपनी धर्मपत्नी के साथ समस्त धर्म-कर्म के अनुष्ठान में लग जाँय ।। २६-२८ ।।

मार्कण्डेय उवाच—

इत्युक्ते प्रणिपत्यैनमारुह्य स्यन्दनं ततः ।
उत्तमः पृथिवीपाल आजगाम निजं पुरम् ॥२९॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे औत्तममन्वन्तरे एकसप्ततितमोऽध्यायः ।

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

ऋषि के द्वारा ऐसा कहे जाने पर राजा उत्तम ने उन्हें प्रणाम किया और अपने रथ पर आरूढ़ होकर अपने राजनगर के लिए प्रस्थान किया ॥ २९ ॥

पर्यालोचन

(क) इस अध्याय के 'पत्नी धर्मार्थकामानां कारणम्' आदि ९वें श्लोक में धर्मपत्नी को धर्म-अर्थ-काम रूप पुरुषार्थत्रय का परम कारण प्रतिपादित किया गया है। धर्म-पत्नी विषयक यह भावना धर्मशास्त्रानुमोदित है। मनुस्मृति के तृतीय अध्याय के नीचे लिखे श्लोक (५५, ५६, ६०) इस प्रसङ्ग में द्रष्टव्य हैं—

'पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः॥
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः॥
सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥'

(ख) याज्ञवल्क्य-स्मृति का नीचे लिखा श्लोक (गृहस्थधर्मप्रकरण ५.१२१) गृहस्थ के लिए धर्मपत्नी के साथ पञ्चयज्ञविधान का निर्देश करता प्रतीत होता है—

'भार्यारतिः शुचिर्भृत्यभर्ता श्राद्धक्रियारतः।
नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्चयज्ञान्न हापयेत्॥'

इस श्लोक की 'मिताक्षरा' व्याख्या में निम्नाङ्कित नमस्कार मन्त्र का उल्लेख है, जिससे अनुमानतः यह सिद्ध होता है कि अग्निहोत्रादि तथा नित्यनैमित्तिककाम्य श्राद्धों के अनुष्ठानों में गृहस्थ का सपत्नीक होना आवश्यक है—

'देवताभ्यः पितृभ्यश्च महायोगिभ्य एव च।
नमः स्वाहायै स्वधायै नित्यमेव नमो नमः॥'

(ग) पति और पत्नी के गृहस्थधर्म-विषयक कर्तव्यों के सम्बन्ध में भविष्यपुराण के निम्नाङ्कित श्लोक उद्धरणीय हैं—

'या पतिं दैवतं पश्येन्मनोवाक्कायकर्मभिः।
तच्छरीरार्धजातेव सर्वदा हितमाचरेत्॥
तत्प्रियान् प्रियवत् पश्येत्तद् द्वेष्यान् द्वेष्यवत्सदा।
अधर्मानर्थयुक्तेभ्योऽयुक्ता चास्य निवर्तते॥
प्रियं किमस्य किं पथ्यं साम्यं चास्य कथं भवेत्।
ज्ञात्वैवं सर्वभृत्येषु न प्रमाद्येत वै द्विजाः।
देवतापितृकार्येषु भर्तुः स्नानाशनादिषु।
सत्कारेऽभ्यागतानां च यथौचित्यं न हापयेत्॥'

(घ) इस अध्याय के 'पाणिग्रहणकाले त्वम्' आदि श्लोकों (२७, २८) में पाणि-ग्रहण-संस्कार के समय ग्रहों के फलाफल का जो निर्देश है, वह प्राचीन ज्यौतिषिक-शास्त्र का अनुसरण है। वराहमिहिर कृत बृहत्संहिता (विवाहपटलाध्याय, श्लोक १०८) का नीचे उद्धृत श्लोक इस प्रसङ्ग में द्रष्टव्य है—

'स्थानेऽष्टमे गुरुबुधौ नियतं वियोगं
मृत्युं शशी भृगुसुतश्च तथैव राहुः।
सूर्यः करोत्यविधवां सरुजां महीजः
सूर्यात्मजो धनवतीं पतिवल्लभां च ॥'

श्री मार्कण्डेयपुराण के 'औत्तममन्वन्तर' से सम्बद्ध ७१वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त।

❖

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

ततः स्वनगरं प्राप्य तं ददर्श द्विजं नृपः।
समेतं भार्य्यया चैव शीलवत्या मुदान्वितम् ॥१॥

ब्राह्मण उवाच—

राजवर्य्य ! कृतार्थोऽस्मि यतो धर्म्मो हि रक्षितः।
धर्मज्ञेनेह भवता भार्य्यामानयता मम ॥२॥

राजोवाच—

कृतार्थस्त्वं द्विजश्रेष्ठ ! निजधर्मानुपालनात्।
वयं सङ्कटिनो विप्र ! येषां पत्नी न वेश्मनि ॥३॥

ब्राह्मण उवाच—

नरेन्द्र ! सा हि विपिने भक्षिता श्वापदैर्यदि।
अलन्तया किमन्यस्या न पाणिर्गृह्यते त्वया।
क्रोधस्य वशमागम्य धर्म्मो न रक्षितस्त्वया ॥४॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

तदनन्तर राजा उत्तम अपनी राजधानी में पहुँचे और उन्होंने वहाँ उन ऋषि-वर ब्राह्मण को देखा, जो अपनी शीलवती धर्मपत्नी के साथ होने से बड़े प्रसन्नचित्त लग रहे थे ॥ १ ॥

ब्राह्मण-देवता की उक्ति—

महाराज ! मैं कृतार्थ हो गया, क्योंकि आप धर्मज्ञानी हैं और इसीलिए आपने मेरी धर्मपत्नी को मेरे पास पहुँचाया, जिससे मेरे धर्म की रक्षा हो गई॥ २ ॥

राजा की उक्ति—

द्विजराज ! अपने धर्म के अनुपालन से आप तो कृतकृत्य हो गए, किन्तु मैं बड़े सङ्कट में पड़ा हूँ, क्योंकि मेरे राजभवन में मेरी धर्मपत्नी नहीं है ॥ ३ ॥

ब्राह्मण देवता बोले—

राजन् ! यदि आपकी वनवासिनी धर्मपत्नी को वन के हिंस्र जन्तुओं ने मार खाया है, तब उसकी चिन्ता छोड़िए। आप दूसरी राजकन्या का पाणिग्रहण कीजिए। क्रोधावेश में आकर आपने अपने धर्म की रक्षा नहीं की ॥ ४ ॥

राजोवाच—

न भक्षिता मे दयिता श्वापदैः सा हि जीवति ।
अविदूषितचारित्रा कथमेतत्करोम्यहम् ॥५॥

ब्राह्मण उवाच—

यदि जीवति ते भार्य्या न चैव व्यभिचारिणी ।
तदपत्नीकताजन्म किं पापं क्रियते त्वया ॥६॥

राजोवाच—

आनीतापि हि सा विप्र ! प्रतिकूला सदैव मे ।
दुःखाय न सुखायालं तस्या मैत्री न वै मयि ।
तथा त्वं कुरु यत्नं मे यथा सा वशगामिनी ॥७॥

ब्राह्मण उवाच—

तव संप्रीतये तस्या वरेष्टिरुपकारिणी ।
क्रियते मित्रकामैर्या मित्रविन्दां करोमि ताम् ॥८॥
अप्रीतयोः प्रीतिकरी सा हि संजननी परम् ।
भार्य्यापत्योर्मनुष्येन्द्र ! तान्तवेष्टिं करोम्यहम् ॥९॥

राजा की उक्ति—

मेरी प्रियपत्नी को जङ्गली जानवरों ने नहीं मार खाया है। वह जीवित है और उसका चरित्र भी निर्दुष्ट है। मुझे समझ में नहीं आता कि ऐसी स्थिति में मैं क्या करूँ? ॥ ५ ॥

ब्राह्मण-देवता बोले—

यदि आपकी पत्नी जीवित है और चरित्र से भी निर्दुष्ट है, तब आप अपत्नीक रहने से सम्भूत पाप के भागी क्यों हो रहे हैं? ॥ ६ ॥

राजा की उक्ति—

यदि मैं उसे ले भी आऊं तब भी वह सदा मुझसे विमुख ही रहेगी, जिससे मेरे दुःख का कारण बनी रहेगी न कि सुख का, क्योंकि वह मुझसे प्रेम नहीं करती। आप ही कोई यत्न करें, जिससे वह मेरी वशवर्तिनी हो सके ॥ ७ ॥

ब्राह्मण-देवता बोले—

राजन् ! आपके प्रति उसके हृदय में प्रेम-भाव उत्पन्न करने में एक उत्तम इष्टि ही उपकारक हो सकती है, जिसे लोग दो व्यक्तियों में मैत्री-भावना की कामना से सम्पादित किया करते हैं! मैं उसी 'मित्रविन्दा' नाम की इष्टि का आपके लिए अनुष्ठान करूँगा। राजन् ! 'मित्रविन्दा' इष्टि वह इष्टि है जो कि किसी कारणवश परस्पर विमुख दो व्यक्तियों के हृदय में परस्पर प्रेम-भाव की जननी है और वह इष्टि पति-पत्नी में

यत्र तिष्ठति सा सुभ्रूस्तव भार्य्या महीपते ।
तस्मादानीयतां सा ते परां प्रीतिमुपैष्यति ॥१०॥

मार्कण्डेय उवाच—

इत्युक्तः स तु सम्भारानशेषानवनीपतिः ।
आनिनाय चकारेष्टिं स च तां द्विजसत्तमः ॥११॥
सप्तकृत्वः स तु तदा चकारेष्टिं पुनः पुनः ।
तस्य राज्ञो द्विजश्रेष्ठो भार्य्यासम्पादनाय वै ॥१२॥
यदारोपितमैत्रीन्तामसन्यत महामुनिः ।
स्वभर्त्तरि तदा विप्रस्तमुवाच नराधिपम् ॥१३॥
आनीयतां नरश्रेष्ठ ! या तवेष्टात्मनोऽन्तिकम् ।
भुंक्ष्व भोगांस्तया सार्द्धं यज यज्ञांस्तथादृतः ॥१४॥

मार्कण्डेय उवाच—

इत्युक्तस्तेन विप्रेण भूपालो विस्मितस्तदा ।
सस्मार तं महावीर्य्यं सत्यसन्धं निशाचरम् ॥१५॥

दाम्पत्य-भाव की भी सृष्टि करती है। मैं आपके लिए वही इष्टि करूंगा। राजन् ! आपकी सुन्दर पत्नी जहाँ भी हो, वहाँ से उसे आप ले आवें। (इस इष्टि के बाद) वह आपके प्रति अत्यधिक प्रेमभाव रखने लगेगी ॥ ८-१० ॥

महामुनि मार्कण्डेय ने कहा—

ब्राह्मण देवता के द्वारा ऐसा कहे जाने पर राजा (उत्तम) 'मित्रविन्दा' इष्टि के उपयुक्त समस्त यज्ञ-सामग्री-सम्भार ले आए और ब्राह्मण देवता ने इष्टि प्रारम्भ कर दी। उन द्विजवर ऋषि ने उस इष्टि को एक बार नहीं सात बार सम्पादित किया, जिसमें राजा की पत्नी वस्तुतः धर्मपत्नी बन जाय। जब उन महामुनि ब्राह्मण देवता को पता चल गया कि राजा की पत्नी के हृदय में राजा के प्रति प्रेम उत्पन्न हो गया है, तब उन्होंने राजा से कहा—महाराज ! आप अपनी प्राणप्रिया को अपने समीप ले आवें और उसके साथ समस्त सांसारिक भोगों का उपभोग करें तथा उससे सम्मान-सत्कार पाकर उसके साथ यज्ञ-यागों का अनुष्ठान करें ॥ ११-१४ ॥

महामुनि मार्कण्डेय ने कहा—

उस ब्राह्मणदेवता की ऐसी बात सुनकर राजा (उत्तम) आश्चर्यचकित हो गए और उन्होंने महाशक्तिशाली सत्यप्रतिज्ञ उस राक्षस का (जिसने ब्राह्मणदेवता की पत्नी

स्मृतस्तेन तदा सद्यः समुपेत्य नराधिपम् ।
किं करोमीति सोऽप्याह प्रणिपत्य महामुने ॥१६॥
ततस्तेन नरेन्द्रेण विस्तरेण निवेदिते ।
गत्वा पातालमादाय राजपत्नीमुपाययौ ॥१७॥
आनीता चातिहार्देन सा ददर्श तदा पतिम् ।
उवाच च प्रसीदेति भूयोभूयो मुदान्विता ॥१८॥
ततः स राजा रभसा परिष्वज्याह मानिनीम् ।
प्रिये ! प्रसन्न एवाहं भूयोऽप्येवं ब्रवीषि किम् ॥१९॥

पत्न्युवाच—

यदि प्रसादप्रवणं नरेन्द्र ! मयि ते मनः ।
तदेतदभियाचे त्वां तत् कुरुष्व ममार्हणम् ॥२०॥

राजोवाच—

निःशङ्कं ब्रूहि मत्तो यद्भवत्या किञ्चिदीप्सितम् ।
तदलभ्यं न ते भीरु ! तवायत्तोऽस्मि नान्यथा ॥२१॥

का अपहरण किया था) स्मरण किया। मुनिवर क्रौष्टुकि ! राजा के द्वारा स्मरण किए जाने पर वह राक्षस अविलम्ब उनके पास पहुँचा और उन्हें प्रणाम कर बोला—'आज्ञा करें, महाराज ! मुझे क्या करना है।' राक्षस की यह बात सुनने के बाद राजा ने विस्तारपूर्वक सभी बातें उसे बता दीं और वह राक्षस पाताल-लोक में जा पहुँचा और राजा की पत्नी को लाकर राजा के समक्ष उपस्थित हुआ। राक्षस के द्वारा लायी गयी राजपत्नी ने बड़े प्रेम से पति को देखा और आनन्दातिरेक से भर कर बार-बार प्रसन्न हो महाराज !' कृपा करें' की रट लगाने लगी। राजा ने बड़े आवेग के साथ अपनी उस मानिनी पत्नी का आलिङ्गन किया और उससे कहा—'प्रिये ! मैं तो तुम पर सदा प्रसन्न हूँ। बार-बार तुम इसकी क्यों रट लगा रही हो ? ॥ १५-१९ ॥

राजपत्नी की उक्ति—

महाराज ! यदि आप मुझ पर हृदय से प्रसन्न हैं, तब मैं आपसे एक याचना करती हूँ। मेरी याचना सफल बना कर आप वस्तुतः मुझे सम्मानित कर देंगे ॥ २० ॥

राजा की उक्ति—

अरी प्रिये ! तू निःशङ्क होकर कह कि तू क्या चाहती है। तू जो कुछ भी चाहेगी वह तुझे अवश्य मिलेगा। मैं तो तेरे वश में हूँ। मुझे अन्यथा न समझना ॥ २१ ॥

पत्न्युवाच—

मदर्थं तेन नागेन सुता शप्ता सखी मम ।
मूका भविष्यसीत्याह सा च मूकत्वमागता ।।२२।
तस्याः प्रतिक्रियां प्रीत्या मम शक्नोति चेद्भवान् ।
वाग्विघातप्रशान्त्यर्थं ततः किं न कृतं मम ।।२३।

मार्कण्डेय उवाच—

ततः स राजा तं विप्रमाहास्मिन् कीदृशी क्रिया ।
तन्मूकतापनोदाय स च तं प्राह पार्थिवम् ।।२४।

ब्राह्मण उवाच—

भूप ! सारस्वतीमिष्टिं करोमि वचनात्तव ।
पत्नी तवेयमानृण्यं यातु तद्वाक्प्रवर्तनात् ।।२५।

मार्कण्डेय उवाच—

इष्टिं सारस्वतीं चक्रे तदर्थं स द्विजोत्तमः ।
सारस्वतानि सूक्तानि जजाप च समाहितः ।।२६।

राजपत्नी की उक्ति—

उस नागराज ने मेरी सखी, अपनी पुत्री को, मेरे कारण, शाप दिया कि 'तू गूंगी हो जा' । उसके शाप के कारण मेरी वह सखी गूंगी हो गयी । मुझ पर यदि आप प्रसन्न हैं तो मेरी सखी के गूंगेपन का प्रतिकार करने में समर्थ होवें, जिसमें उसकी वाणी का जो विघ्न है, वह दूर हो जाय । आपने यदि यह कार्य कर दिया तो मेरा सब कार्य सम्पन्न कर दिया ।। २२-२३ ।।

महामुनि मार्कण्डेय ने कहा—

उसके बाद राजा ने उन महामुनि ब्राह्मणदेवता से कहा कि नागराज के शाप से उसकी पुत्री के गूंगेपन की आधि-व्याधि के निराकरण के लिये क्या उपाय है ? उनकी यह बात सुनकर ब्राह्मणदेवता ने उनसे कहा ।। २४ ।।

ब्राह्मणदेवता की उक्ति—

राजन् ! आपके कहने के अनुसार मैं सारस्वती इष्टि का अनुष्ठान करूंगा, जिससे आपकी पत्नी अपनी सखी में बोलने की शक्ति के लौट आने पर उसके ऋण से उऋण हो जाय ।। २५ ।।

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

उन महामुनि ब्राह्मणदेवता ने राजपत्नी की सखी की वाणी के उद्धार के लिए 'सारस्वती' इष्टि की और समाहितचित्त होकर सारस्वत सूक्तों के जप किए । उसके बाद जब नागराज की पुत्री (नन्दा) में बोलने की शक्ति आ गयी, तब उस समय पाताल

ततः प्रवृत्तवाक्यान्तां गर्गः प्राह रसातले ।
उपकारः सखीभर्त्रा कृतोऽयमतिदुष्करः ॥२७।
इत्थं ज्ञानं समासाद्य नन्दा शीघ्रगतिः पुरम् ।
ततो राज्ञीं परिष्वज्य स्वसखीमुरगात्मजा ॥२८।
तञ्च संस्तूय भूपालं कल्याणोक्त्या पुनः पुनः ।
उवाच मधुरं नागी कृतासनपरिग्रहा ॥२९।
उपकारः कृतो वीर ! भवता यो ममाधुना ।
तेनास्म्याकृष्टहृदया यद्ब्रवीमि शृणुष्व तत् ॥३०।
तव पुत्रो महावीर्य्यो भविष्यति नराधिप ।
तस्याप्रतिहतं चक्रमस्यां भुवि भविष्यति ॥३१।
सर्व्वार्थशास्त्रतत्त्वज्ञो धर्मानुष्ठानतत्परः ।
मन्वन्तरेश्वरो धीमान् ! भविष्यति स वै मनुः ॥३२।

मार्कण्डेय उवाच—

इति दत्वा वरं तस्मै नागराजसुता ततः ।
सखीं तां संपरिष्वज्य पातालमगमन्मुने ॥३३।

लोक में विराजमान ऋषिराज गर्ग ने नागकुमारी से कहा 'तुम्हारी सखी के पति ने तुम्हारे लिए अत्यन्त दुष्कर उपकार कार्य कर दिया है। नागकुमारी नन्दा को जब ये सब बातें पता चलीं तो वह द्रुतगति से राजा के अन्तःपुर में पहुँचकर अपनी सखी राज-रानी के गले लग गयी। साथ ही साथ, बड़े मांगलिक वचनों से बारम्बार राजा की स्तुति करती हुई, आसन पर बैठकर, बड़ी मीठी बोली में उनसे बोली—'महावीर राजन् ! आपने मेरा अभी-अभी जो उपकार किया है, उससे मेरा हृदय आपके प्रति कृतज्ञता के भावों से आकृष्ट हो गया है। मैं आपसे कुछ निवेदन करूँगी। आप मेरा निवेदन सुन लें। राजन्। आपका पुत्र जन्म लेगा और वह महापराक्रमी होगा। इस पृथिवी में उसका राजचक्र सर्वत्र अप्रतिहत वेग से चलता रहेगा। आपका वह पुत्र अर्थ-शास्त्रों के समस्त तत्त्वों का मर्मज्ञ होगा, धर्मकर्म के अनुष्ठान में तत्पर रहेगा, बड़ा बुद्धिमान् होगा और मन्वन्तर का स्वामी 'मनु' हो जाएगा ॥ २६-३२ ॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

मुनिवर क्रौष्टुकि ! नागराज की पुत्री ने राजा को इस प्रकार का वर दिया और अपनी सखी राजरानी का आलिङ्गन करके पाताल-लोक के लिए प्रस्थान कर

तत्र तस्य तया सार्द्धं रमतः पृथिवीपतेः ।
जगाम कालः सुमहान् प्रजाः पालयतस्तथा ।।३४।
ततः स तस्यान्तनयो जज्ञे राज्ञो महात्मनः ।
पौर्णमास्यां यथा कान्तश्चन्द्रः संपूर्णमण्डलः ।।३५।
तस्मिन् जाते मुदं प्रापुः प्रजाः सर्व्वा महात्मनि ।
देवदुन्दुभयो नेदुः पुष्पवृष्टिः पपात च ।।३६।
तस्य दृष्ट्वा वपुः कान्तं भविष्यं शीलमेव च ।
औत्तमश्चेति मुनयो नाम चक्रुः समागताः ।।३७।
जातोऽयमुत्तमे वंशे तत्र काले तथोत्तमे ।
उत्तमावयवस्तेन औत्तमोऽयं भविष्यति ।।३८।

मार्कण्डेय उवाच—

उत्तमस्य सुतः सोऽथ नाम्ना ख्यातस्तथौत्तमः ।
मनुरासीत्तत्प्रभावो भागुरे श्रूयतां मम ।।३९।
उत्तमाख्यानमखिलं जन्म चैवौत्तमस्य च ।
नित्यं शृणोति विद्वेषं स कदाचिन्न गच्छति ।।४०।

दिया। इधर राजनगर में अपनी प्रिय-पत्नी के साथ सुखभोग करते तथा राजधर्मानुसार प्रजा-पालन करते राजा का बहुत अधिक समय व्यतीत हो गया। तदनन्तर उस महात्मा राजा को अपनी पत्नी के गर्भ से उसी भाँति एक चक्रवर्ती सम्राट् होने वाला पुत्र उत्पन्न हुआ, जिस भाँति पूर्णिमा के गर्भ से संम्पूर्ण मण्डल चन्द्रमा उत्पन्न होता है। उस महापुरुषरूप पुत्र के जन्म लेने पर समस्त प्रजाजन आनन्दमग्न हो गए, देवों की दुन्दुभि बजने लगी और उन्होंने पुष्पवृष्टि प्रारम्भ कर दी। उसके जन्म होने पर मुनिजन राजभवन में पधारे तथा उसके सुन्दर शरीर को देखकर और भविष्य में उसकी सुशीलता को जानकर उन्होंने उसका 'औत्तम'—नाम रख दिया। वह राजपुत्र उत्तमवंश में उत्पन्न होने, उत्तम राशि नक्षत्र में जन्म लेने तथा उत्तम अङ्ग-प्रत्यङ्ग से सुशोभित होने के कारण 'औत्तम' नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥ ३३-३८ ॥

महामुनि मार्कण्डेय ने आगे कहा—

भृगुवंशावतंस क्रौष्टुकि मुनि ! वह राजपुत्र राजा उत्तम का पुत्र होने के कारण 'औत्तम' नाम से प्रसिद्ध हुआ और औत्तम मनु बना। उस औत्तम मनु के प्रभाव के विषय में मुझसे सुन लो—जो मनुष्य राजा उत्तम का समस्त आख्यान और 'औत्तम' मनु के जन्म की कथा का नित्य श्रवण करेंगे, उनके प्रति कोई भी विद्वेष-भाव नहीं रखेगा। साथ ही साथ राजा उत्तम के आख्यान और औत्तम के जन्म वृत्तान्त का श्रवण

इष्टैर्दारैस्तथा पुत्रैर्बन्धुभिर्वा कदाचन ।
वियोगो नास्य भविता शृण्वतः पठतोऽपि वा ।।४१।
तस्य मन्वन्तरं ब्रह्मन् ! वदतो मे निशामय ।
श्रूयतां तत्र यश्चेन्द्रो ये च देवास्तथर्षयः ।।४२।

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे औत्तममन्वन्तरे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ।

अथवा पठन करने वाले लोग अपनी अभीष्ट वस्तु, अपनी पत्नी, अपने पुत्र और अपने बन्धु-बान्धवों के वियोग का दुःख कदापि नहीं भोगेंगे। अब मुनिवर क्रौष्टुकि ! औत्तम का जो मन्वन्तर है, उसके विषय में कह रहा हूँ। उसे ध्यानपूर्वक, मेरी ओर देखते, सुनो और यह भी सुन लो कि उस मन्वन्तर में कौन इन्द्र होगा, कौन-कौन देव होंगे और कौन-कौन ऋषि होंगे ।। ३९-४२ ।।

पर्यालोचन

(क) इस अध्याय में भी औत्तम मन्वन्तर का ही आख्यान वर्णित है। औत्तम मनु का ऐसा आख्यान अन्य किसी भी महापुराण में नहीं मिलता। इस अध्याय के 'तत्र संप्रीतये तस्याः' आदि ८वें श्लोक में एक 'इष्टि' का उल्लेख है, जिसे 'मित्रविन्दा' कहा गया है। अन्य अनेक इष्टियों की भाँति यह इष्टि भी दर्शपौर्णमासयाग की एक इति-कर्तव्यता अथवा अनुष्ठान-प्रक्रिया से सम्बद्ध है। यह इष्टि नित्य इष्टि नहीं, अपितु काम्य इष्टि है। श्रौतसूत्र में इस इष्टि का नाम 'मित्रप्राप्तिकामेष्टि' रखा गया है। कात्यायन श्रौतसूत्र (११,२,३,४,३) में 'मित्रप्राप्तिकामेष्टि' (मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय में निर्दिष्ट मित्रविन्देष्टि का ही नामान्तर) के विषय में यह प्रतिपादन है—

'मित्रप्राप्तिकामेष्टिः अग्नि-सोम-वरुण-मित्र-इन्द्र-बृहस्पति-सवितृ-पूषन्-सरस्वती-देवताका तत्र याज्यादिः'।

अर्थात् इस इष्टि के देवता, अग्नि, सोम, वरुण, मित्र, इन्द्र, बृहस्पति, सविता, पूषा तथा सरस्वती हैं तथा इन देवताओं से सम्बद्ध मन्त्र ही इसमें याज्यादि रूप में प्रयुक्त होते हैं।

(ख) इसी अध्याय के 'भूप सारस्वतीमिष्टिं करोमि' आदि श्लोक में 'सारस्वती इष्टि' का निरूपण किया गया है। इस इष्टि का प्रयोजन यहाँ नागकुमारी नन्दा की मूकता की व्याधि का निवारण है। यह इष्टि भी काम्य इष्टि है। सम्भवतः इस इष्टि में ऋग्वेद के 'वागाम्भृणी-सूक्त' (मं० १० अ० ६ १० सू० १२५) के मन्त्रों का प्रयोग होता रहा होगा। इस सम्भावना का आधार इस सूक्त का निम्नलिखित मन्त्र द्रष्टव्य है—

अ॒हमे॒व स्व॒यमि॒दं व॑दामि
जुष्टं॑ दे॒वेभि॑रु॒त मानु॑षेभिः।
यं का॒मये॒ तं त॑मु॒ग्रं कृ॑णोमि
तं ब्र॒ह्माणं॒ तमृषिं॒ तं सु॑मे॒धाम् ॥'

वाणी की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती की इष्टि से वाक्सूक्त के उपर्युक्त मन्त्र के आधार पर मूक मानव में वाणी का प्रवर्तन संभाव्य है।

(ग) खण्ड (ख) में निर्दिष्ट सारस्वती इष्टि के अनुष्ठान और उसके प्रभाव का तन्त्रसम्भव निरूपण काश्मीरिक महाकवि क्षेमेन्द्र के 'कविकण्ठाभरण' के नीचे लिखे श्लोकों (प्रथम सन्धि ६-१३) में किया हुआ प्रतीत होता है—

'ॐ स्वस्त्यङ्कं स्तुमः सिद्धमन्तराद् यमितीप्सितम्।
उद्यदूर्जपदं देव्या ऋ ॠ ऌ ॡ निगूहनम् ॥
एकमैश्वर्यसंयुक्तमोजोवर्धनमौषधम् ।
अन्तरान्तः कलाखण्डगलद्घनसुधाङ्कितम् ॥
चन्द्रोच्छलज्जलं प्रोज्झदज्ञानं टठसंयुतम् ।
डम्बरप्रौढकिरणं तथतां दधनुन्नतम् ॥

परं फलप्रदं बद्धमूलोद्भवमयं वपुः ।
रम्यं लघुवरं शर्म वर्षत्सर्वसहाक्षरम् ॥

एतां नमः सरस्वत्यै यः क्रियामातृकां जयेत् ।
क्षेममैन्द्रं स लभते भव्योऽभिनववाग्भवम् ॥

श्वेतां सरस्वतीं मूर्ध्नि चन्द्रमण्डलमध्यगाम् ।
अक्षराभरणां ध्यायेद् वाङ्मयामृतवर्षिणीम् ॥

त्रिकोणयुगमध्ये तु तडित्तुल्यां प्रमोदिनीम् ।
स्वर्गमार्गोद्गतां ध्यायेत् पराममृतवाहिनीम् ॥

निर्विकारां निराकारां शक्तिं ध्यायेत् परापराम् ।
एषा बीजमयी वाच्या त्रयी वाक्काममुक्तिभूः ॥

उपर्युक्त सरस्वती पूजा-विधि तान्त्रिक है। वैदिक, पौराणिक, तान्त्रिक– सभी परम्पराओं में सरस्वती इष्टि वाणी के प्रवर्तन, मनःकामना के पूरण तथा परम पुरुषार्थ के लाभ के लिए प्रचलित दिखायी देती है और आज भी किसी न किसी रूप में प्रचलित ही है।

श्री मार्कण्डेयपुराण के 'औत्तम-मन्वन्तर' से सम्बद्ध ७२ वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त ॥

✲

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

मन्वन्तरे तृतीयेऽस्मिन् औत्तमस्य प्रजापतेः ।
देवानिन्द्रमृषीन् भूपान् निबोध गदतो मम ॥१॥
स्वधामानस्तथा देवा यथानामानुकारिणः ।
सत्याख्यश्च द्वितीयोऽन्यस्त्रिदशानां तथा गणः ॥२॥
तृतीये तु गणे देवाः शिवाख्या मुनिसत्तम ।
शिवाः स्वरूपतस्ते तु श्रुताः पापप्रणाशनाः ॥३॥
प्रतर्दनाख्यश्च गणो देवानां मुनिसत्तम ।
चतुर्थस्तत्र कथित औत्तमस्यान्तरे मनोः ॥४॥
वशवर्तिनः पञ्चमेऽपि देवास्तत्र गणे द्विज ।
यथाख्यातस्वरूपास्तु सर्वे एव महामुने ॥५॥
एते देवगणाः पञ्च स्मृता यज्ञभुजस्तथा ।
मन्वन्तरे मनुश्रेष्ठे सर्वे द्वादशका गणाः ॥६॥

महामुनि मार्कण्डेय ने कहा—

तीसरे मन्वन्तर में जो कि प्रजापति औत्तम का मन्वन्तर है, जो देवगण, इन्द्र, ऋषिगण और राजगण हैं' उनके विषय में बता रहा हूँ—ध्यान देकर सुनो। इस मन्वन्तर में प्रथम देवगण 'स्वधामन्' नाम का है जो कि यथा नाम तथा गुण है, (अर्थात् अपने स्वाभाविक तेज से देदीप्यमान है और दिव्य कर्मों से विद्योतित है)। द्वितीय देवगण 'सत्य' नाम का है। मुनिवर क्रौष्टुकि ! तृतीय देवगण का नाम 'शिव' है, जो कि स्वरूप से ही शिव अथवा मङ्गलकारक है और इसीलिए पाप-सन्ताप का प्रणाशक कहा गया है। मुनिवर ! चतुर्थ देवगण 'प्रतर्दन' नाम से प्रसिद्ध है। 'औत्तम' मन्वन्तर में मैंने ये चार देवगण बताए। द्विजवर ! इस मन्वन्तर में पञ्चम देवगण भी है, जिसे 'वशवर्ती' कहा जाता है। महामुनि ! ये सभी देवगण अपने नाम को सार्थक करने वाले देवगण हैं। ये पाँचों देवगण 'यज्ञभुक्' नाम से स्मरण किए जाते हैं। औत्तम मनु के इस श्रेष्ठ मन्वन्तर के देवगण-पञ्चक में प्रत्येक में बारह-बारह देवता होते हैं ॥१-६॥

तेषामिन्द्रो महाभागस्त्रैलोक्ये स गुरुर्भवेत् ।
शतं क्रतूनामाहृत्य सुशान्तिर्नाम नामतः ॥७॥
यस्योपसर्गनाशाय नामाक्षरविभूषिता ।
अद्यापि मानवैर्गाथा गीयते तु महीतले ॥८॥
सुशान्तिर्देवराट् कान्तः सुशान्ति स प्रयच्छति ।
सहितः शिवसत्याद्यैस्तथैव वशवर्तिभिः ॥९॥
अजः परशुचिर्दिव्यो महाबलपराक्रमः ।
पुत्रस्तस्य मनोरासन् विख्यातास्त्रिदशोपमाः ॥१०॥
तत्सूतिसम्भवैर्भूमिः पालिताभून्नरेश्वरैः ।
यावन्मन्वन्तर तस्य मनोरुत्तमतेजसः ॥११॥
चतुर्युगानां संख्याता साधिका ह्येकसप्ततिः ।
कृतत्रेतादिसंज्ञानां यान्युक्तानि युगे मया ॥१२॥
स्वतेजसा हि तपसो वरिष्ठस्य महात्मनः ।
तनयाश्चान्तरे तस्मिन् सप्त सप्तर्षयोऽभवन् ॥१३॥
तृतीयमेतत्कथितं तव मन्वन्तरं मया ।
तामसस्य चतुर्थन्तु मनोरन्तरमुच्यते ॥१४॥

इन देवों का राजा जो इन्द्र होता है, वह महान् ऐश्वर्य वाला, त्रैलोक्य का गुरु शतसंख्यक क्रतुओं का अनुष्ठाता एवं अनुष्ठापक होता है और 'सुशान्ति' नाम से प्रसिद्ध होता है। पृथिवी-लोक के लोग आज भी विविध उपसर्गों अथवा उपद्रवों के निवारण के लिए उसके नामाक्षर से विभूषित गाथा-गीति गाया करते हैं, जिसका अभिप्राय यह है 'कान्तिमय देवराज सुशान्ति शिव तथा सत्य प्रभृति एवं वशवर्ती नामक देवगणों के साथ सब विघ्नबाधाओं का प्रशमन करें, जैसा कि वे करते रहते हैं।' इस औत्तम मनु के अज, परशुचि और दिव्य नाम से प्रसिद्ध महाबली एवं महापराक्रमी तीन पुत्र हुए थे। इन तीनों की सन्तानों की वंश-परम्परा के राजगण ने औत्तम मन्वन्तर की अवधि में समस्त भूमण्डल पर शासन किया था। मैंने मन्वन्तर की अवधि के विषय में पहले ही बता दिया है कि एक मन्वन्तर ७१ कृत-त्रेता-द्वापर तथा कलि संज्ञक युगों के काल से कुछ अधिक काल का होता है। उन महात्मा महाराज उत्तम के सर्वोत्तम तपस्तेज के प्रभाव से उनके वश में सात राजपुत्र ऐसे हुए, जो सात ऋषि के रूप में यशस्वी बन गये॥ ७-१३ ॥

प्रियशिष्य क्रौष्टुकि ! इस प्रकार मैंने तृतीय 'औत्तम' मन्वन्तर का वर्णन तुम्हें सुना दिया। अब मैं 'तामस' नामक चतुर्थ मन्वन्तर के विषय में बताऊंगा। तामस मनु

वियोनिजन्मनो यस्य यशसा द्योतितं जगत् ।
जन्म तस्य मनोर्ब्रह्मन् ! श्रूयतां गदतो मम ॥१५॥
अतीन्द्रियमशेषाणां मनूनाञ्चरितन्तथा ।
तथा जन्मापि विज्ञेयं प्रभावश्च महात्मनाम् ॥१६॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे औत्तममन्वन्तरे त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥

'वियोनिजन्मा' थे। उनकी यशोदीप्ति से समस्त जगत् विद्योतित हो गया था। इस मनु के जन्म के सम्बन्ध में, मुनिवर क्रौष्टुकि ! मैं कह रहा हूँ, सुनो। जैसे सभी महात्मा मनुओं का चरित मनुष्यों के लिए एक अतीन्द्रिय विषय है, वैसे ही उनका जन्म और उनका प्रभाव भी इन्द्रियातीत ही है॥ १४-१६ ॥

❋

पर्यालोचन

(क) इस अध्याय में तृतीय मन्वन्तर के देव-ऋषि-राजगणादि का परिगणन-पूर्वक निरूपण किया गया है। मार्कण्डेयपुराण से प्राचीन माने गए विष्णुपुराण में भी मन्वन्तर-वर्णन के प्रसङ्ग में औत्तम-मन्वन्तर और उसके देवादि का वर्णन मिलता है। देखिए विष्णुपुराण के तृतीय अंश के प्रथम अध्याय के नीचे लिखे श्लोक (१३-१५)—

'तृतीयेऽप्यन्तरे ब्रह्मन्नुत्तमो नाम यो मनुः।
सुशान्तिर्नाम देवेन्द्रो मैत्रेयाऽऽसीत् सुरेश्वरः॥
सुधामानस्तथा सत्या जपाश्चाथ प्रतर्दनाः।
वशवर्तिनश्च पञ्चैते गणा द्वादशकाः स्मृताः॥
वशिष्ठतनया ह्येते सप्त सप्तर्षयोऽभवन्।
अजः परशुदीप्ताद्यास्तथोत्तममनोः सुताः॥'

उपर्युक्त विष्णुपुराणगत श्लोक-सन्दर्भ में मार्कण्डेय में उल्लिखित 'स्वधामन्' के स्थान पर 'सुधामन्' तथा शिव के स्थान पर 'जप' नामक देवगण का नाम-निर्देश है। ऐसा प्रतीत होता है, मानों औत्तम-मन्वन्तर का कहीं अन्यत्र पुराण-प्रतिपादित वर्णन विष्णुपुराण में संक्षिप्त कर दिया गया है।

(ख) हरिवंशपुराण के हरिवंशवर्णन में भी तृतीय औत्तम मन्वन्तर का निरूपण किया गया है, जो कि निम्नलिखित श्लोकों (१६-२०) में द्रष्टव्य है—

'इदं तृतीयं वक्ष्यामि तन्निबोध नराधिप॥
वशिष्ठपुत्राः सप्तासन् वाशिष्ठा इति विश्रुताः।
हिरण्यगर्भस्य सुता ऊर्जा नाम महौजसः॥
ऋषयोऽत्र मया प्रोक्ताः कीर्त्यमानान्निबोध मे।
औत्तमेयान् महाराज दशपुत्रान् मनोरमान्॥
ईष ऊर्जस्तनूजश्च मधुर्माधव एव च।
शुचिः शुक्रः सहश्चैव नमस्यो नभ एव च॥
भानवस्तत्र देवाश्च मन्वन्तरमुदाहृतम्॥'

हरिवंशपुराण के औत्तम मन्वन्तर का उपर्युक्त वर्णन बड़ा संक्षिप्त है। इस वर्णन में औत्तम मनु के दस पुत्रों का नामोल्लेख है, जो कि मार्कण्डेयपुराण में नहीं है। हरिवंश में राजगण के निरूपण पर अधिक ध्यान दिया गया है, किन्तु मार्कण्डेयपुराण में देवगण तथा ऋषिगण का विशद वर्णन है।

श्रीदेवीभागवत में भी इस तीसरे मन्वन्तर अर्थात् औत्तम मन्वन्तर का वर्णन किया हुआ है, किन्तु इसमें औत्तम मनु की विशिष्टता में देवी की उपासना पर विशेष ध्यान दिया गया है।

श्री मार्कण्डेयपुराण के 'औत्तम-मन्वन्तर' से सम्बद्ध ७३वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त।

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

राजाभूद् भुवि विख्यातः स्वराष्ट्रो नाम वीर्य्यवान् ।
अनेकयज्ञकृत् प्राज्ञः संग्रामेष्वपराजितः ॥१॥
तस्यायुः सुमहत्प्रादात् मन्त्रिणाराधितो रविः ।
पत्नीनाञ्च शतन्तस्य धन्यानामभवद् द्विज ॥२॥
तस्य दीर्घायुषः पत्न्यो नातिदीर्घायुषो मुने ।
कालेन जग्मुर्निधनं भृत्यमन्त्रिजनास्तथा ॥३॥
स भार्य्याभिस्तथायुक्तो भृत्यैश्च सहजन्मभिः ।
उद्विग्नचेताः संप्राप वीर्य्यहानिमहर्निशम् ॥४॥
तं वीर्य्यहीनं निभृतैर्भृत्यैस्त्यक्तं सुदुःखितम् ।
अनन्तरो विमर्द्दाख्यो राज्याच्च्यावितवांस्तदा ॥५॥
राज्याच्च्युतः सोऽपि वनं गत्वा निर्विण्णमानसः ।
तपस्तेपे महाभागे वितस्तापुलिने स्थितः ॥६॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

द्विजवर क्रौष्टुकि ! स्वराष्ट्र नाम का बलवीर्यशाली, यज्ञ-यागों का कर्ता, महाबुद्धिमान् तथा युद्ध में सदा विजयी एक राजा था, जो भू-मण्डल में प्रसिद्ध था। मन्त्र की आराधना से प्रसन्न सूर्य भगवान् ने उसे लम्बी आयु दी थी। साथ ही साथ, वह सौभाग्यवती सौ पत्नियों का पति था। स्वयं तो वह दीर्घायु था, किन्तु मुनिराज ! उसकी पत्नियाँ अल्पायु थीं। काल के कोप से वे सब मर गयीं थीं और उसके (विश्वासपात्र) भृत्यगण तथा मन्त्रिगण भी काल के गाल में चले गए थे। अपनी पत्नियों और अपने सहजन्मा सेवकों से वियुक्त हो जाने पर वह बड़ा उद्विग्नहृदय रहा करता था और प्रतिदिन उसको बलवीर्यहीन, विश्वस्त भृत्यों से वियुक्त तथा अत्यन्त दुःखित देखकर उसके राष्ट्र के समीपवर्ती विमर्द नामक राजा ने उसे राज्य से परिच्युत कर दिया था। राज्यच्युत हो जाने पर अत्यन्त निर्विण्णहृदय वह भूतपूर्व भाग्यशाली राजा वन में चला गया और वितस्ता नदी के तट पर तपश्चरण में लग गया ॥ १-६ ॥

ग्रीष्मे पञ्चतमा भूत्वा वर्षास्वभ्रावकाशिकः ।
जलशायी च शिशिरे निराहारो यतव्रतः ॥७॥
ततस्तपस्यतस्तस्य प्रावृट्काले महाप्लवः ।
बभूवानुदिनं मेघैर्वर्षद्भिरनुसन्ततम् ॥८॥
न दिग्विज्ञायते पूर्व्वा दक्षिणा वा न पश्चिमा ।
नोत्तरा तमसा सर्व्वमनुलिप्तमिवाभवत् ॥९॥
ततोऽतिपूरेण नृपः स नद्याः प्रेरितस्तटम् ।
प्रार्थयन्नापि नावाप ह्रियमाणोऽतिवेगिना ॥१०॥
अथ दूरे जलौघेन ह्रियमाणो महीपतिः ।
आससाद जले रौहीं स पुच्छे जगृहे च ताम् ॥११॥
तेन प्लवेन स ययावूह्यमानो महीतले ।
इतश्चेतश्चान्धकारे आससाद तटन्ततः ॥१२॥
विस्तारि पङ्कमत्यर्थं दुस्तरं स नृपस्तरन् ।
तथैव कृष्यमाणोऽन्यद्रम्यं वनमवाप सः ॥१३॥
तत्रान्धकारे सा रौही चकर्ष वसुधाधिपम् ।
पुच्छे लग्नं महाभागं कृशं धमनिसन्ततौ ॥१४॥

निराहार तथा व्रत में संयतचित्त वह ग्रीष्म ऋतु में पञ्चाग्नि तप करने लगा, वर्षाकाल में जलवर्षी मेघों की छाया में रहने लगा और शिशिर ऋतु में जलशयन करने लगा। इस प्रकार की तपस्या में जब वह लगा था, तब एक बार वर्षा-ऋतु में प्रतिदिन, निरन्तर मूसलाधार जल-वर्षण करने वाले मेघों के कारण वितस्ता (आजकल की झेलम) नदी में बहुत बड़ी बाढ़ आ गयी। अनवरत जलवर्षण से न तो पूर्व दिशा का पता चलता था और न दक्षिण दिशा का, न तो पश्चिम दिशा दीख पड़ती थी और न उत्तर दिशा। ऐसा लगता था जैसे समस्त संसार अन्धकार से लिप-पुत गया हो ॥ ७-९ ॥

वितस्ता की बड़े वेग से बढ़ती बाढ़ से वह जलाप्लाव में बह गया और बहते-बहते बहुत चाहते हुए भी तट तक नहीं पहुँच सका। बाढ़ के वेग से डूबता-उतराता वह भूतल तक तो पहुँच गया, किन्तु इधर-उधर ढूंढते-ढांढते हुए भी तट तक नहीं पहुँच सका। वह राजा बहुत बड़े क्षेत्र में फैले अतिदुस्तर कीचड़ में चलते-फिरते और जल के वेग से इधर-उधर खिंचते हुए एक रमणीय वन में जा पहुँचा। वहाँ अन्धकार में एक रोहित हरिणी उस भाग्यवान् राजा को, जिसकी धमनियाँ बड़ी दुर्बल हो गयी थीं और जो उसकी पूँछ पकड़े था, अपने साथ खींचने लगी। अन्धकार में दौड़ता वह

तस्याश्च स्पर्शसंभूतामवापमुदमुत्तमाम् ।
सोऽन्धकारे भ्रमन् भूयो मदनाकृष्टमानसः ॥१५॥
विज्ञाय सानुरागं तं पृष्ठस्पर्शनतत्परम् ।
नरेन्द्रं तद्वनस्यान्तः सा मृगी तमुवाच ह ॥१६॥
किं पृष्ठं वेपथुमता करेण स्पृशसे मम ।
अन्यथैवास्य कार्य्यस्य सञ्जाता नृपते गतिः ॥१७॥
नास्थाने वो मनो यातं नागम्याहं तवेश्वर ।
किन्तु त्वत्सङ्गमे विघ्नमेष लोलः करोति मे ॥१८॥

मार्कण्डेय उवाच—

इति श्रुत्वा वचस्तस्या मृग्याश्च जगतीपतिः ।
जातकौतूहलो रौहीमिदं वचनमब्रवीत् ॥१९॥
का त्वं ब्रूहि मृगी वाक्यं कथं मानुषवद्वदेत् ।
कश्चैव लोलो यो विघ्नं त्वत्सङ्गे कुरुते मम ॥२०॥

मृग्युवाच—

अहन्ते दयिता भूप ! प्रागासमुत्पलावती ।
भार्य्या शताग्रमहिषी दुहिता दृढधन्वनः ॥२१॥

राजा उस मृगी के स्पर्श से सम्भूत परम आनन्द में मग्न हो गया और कामातुर हृदय हो गया। उस मृगी ने, उस राजा को अपने पृष्ठ-भाग के स्पर्श में तत्पर जानकर, अपने पर कामाकुल देखा और उसे वन के भीतर ले गयी जहाँ उसने उससे पूछा—महाराज ! आप काँपते हाथों से मेरी पीठ क्यों छू रहे हो ! आपका यह आचरण मुझे कुछ दूसरे प्रकार का प्रतीत हुआ है। आपका मन कहीं अनुचित स्थान पर तो नहीं चला गया है। राजन् ! मैं आपके रतिक्रीडन के अयोग्य नहीं हूँ। किन्तु एक बात है कि मेरे पेट में जो 'लोल' बैठा है, वही मुझसे आपकी रतिक्रीडा में विघ्न कर रहा है ॥ १०-१८ ॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

राजा ने उस मृगी की जब ऐसी बात सुनी तो वे बड़े कुतूहल में पड़ गए और उन्होंने उस मृगी से कहा—'तू कौन है; मृगी, भला, मनुष्यवाणी में कैसे बोल सकती है ? और यह 'लोल' कौन है, तो तेरे संग मेरे सहवास में विघ्न डाल रहा है ॥ १९-२० ॥

मृगी बोली—

राजन् ! मैं पहले दृढधन्वा की पुत्री उत्पलावती थी, आपको प्रियपत्नी थी और आपकी सैकड़ों पत्नियों में सर्वप्रमुख राजमहिषी थी ॥ २१ ॥

राजोवाच—

किन्तु यावत् कृतं कर्म येनेमां योनिमागता ।
पतिव्रता धर्मपरा सा चेत्थं कथमीदृशी ॥२२॥

मृग्युवाच—

अहं पितृगृहे बाला सखीभिः सहिता वनम् ।
रन्तुं गता ददर्शैकं मृगं मृग्या समागतम् ॥२३॥
ततः समीपवर्त्तिन्या मया सा ताडिता मृगी ।
मया त्रस्ता गतान्यत्र क्रुद्धः प्राह ततो मृगः ॥२४॥
मूढे किमेवं मत्तासि धिक्ते दौःशील्यमीदृशम् ।
आधानकालो येनायं त्वया मे विफलीकृतः ॥२५॥
वाचं श्रुत्वा ततस्तस्य मानुषस्येव भाषतः ।
भीता तमब्रुवं कोऽसीत्येतां योनिमुपागतः ॥२६॥
ततः स प्राह पुत्रोऽहमृषेर्निर्वृतिचक्षुषः ।
सुतपा नाम मृग्यान्तु साभिलाषो मृगोऽभवम् ॥२७॥
इमाश्चानुगतः प्रेम्णा वाञ्छितश्चानया वने ।
त्वया वियोजिता दुष्टे तस्माच्छापं ददामि ते ॥२८॥

राजा बोले—

तूने ऐसा कौन सा कर्म किया, जिससे तू इस मृगयोनि में आ गयी ? तू धर्मपरायण पतिव्रता नारी अब क्यों कर ऐसी हो गयी ? ॥ २२ ॥

मृगी बोली--

पहले किसी समय जब मैं पितृगृह में एक किशोरी थी, तब अपनी सखियों के साथ विहार करने के लिए एक वन में गयी थी, जहाँ मैंने एक मृग के साथ एक मृगी को देखा। वह मृगी मेरे समीप थी और मैंने उसे मारा। मुझसे भयभीत होकर वह वहाँ से अन्यत्र भाग गयी, जिससे मृग क्रुद्ध हो गया और मुझसे बोला—'अरी मूढ किशोरी ! तू इस प्रकार मतवाली हो रही हो, तेरी ऐसी दुःशीलता को धिक्कार है। मेरा यह समय अपनी मृगी में वीर्य के आधान का समय था, जिसे तूने निष्फल कर दिया। मनुष्य की भाँति उस मृग की वाणी सुनकर मैं डर गयी और मैंने उससे कहा— 'तू कौन है जिसका इस मृगयोनि में जन्म हुआ है ?' तब उसने मुझसे कहा—मैं निर्वृतिचक्षु नाम के ऋषि का पुत्र हूँ, मेरा नाम सुतपस् (सुतपा) है। एक मृगी पर

मया चोक्तं तवाज्ञानादपराधः कृतो मुने।
प्रसादं कुरु शापं मे न भवान् दातुमर्हति ॥२९॥

इत्युक्तः प्राह मां सोऽपि मुनिरित्थं महीपते।
न प्रयच्छामि शापं ते यद्यात्मानं ददासि मे ॥३०॥

मया चोक्तं मृगी नाहं मृगरूपधरा वने।
लप्स्यसेऽन्यां मृगीन्तावन्मयि भावो निवर्त्यताम् ॥३१॥

इत्युक्तः कोपरक्ताक्षः स प्राह स्फुरिताधरः।
नाहं मृगी त्वयेत्युक्तं मृगी मूढे भविष्यसि ॥३२॥

ततो भृशं प्रव्यथिता प्रणम्य मुनिमब्रुवम्।
स्वरूपस्थमतिक्रुद्धं प्रसीदेति पुनः पुनः ॥३३॥

बालानभिज्ञा वाक्यानां ततः प्रोक्तमिदं मया।
पितर्य्यसति नारीभिर्व्रियते हि पतिः स्वयम् ॥३४॥

सति ताते कथञ्चाहं वृणोमि मुनिसत्तम।
सापराधाथवा पादौ प्रसीदेश नमाम्यहम् ॥३५॥

कामातुर हो जाने के कारण मैं मृग हो गया हूँ। मैं वन में इस मृगी के प्रेम में पड़ गया और इसके पीछे लग गया। यह भी मुझे चाहने लगी। तू दुष्ट है, जिसने मुझे उससे वियुक्त कर दिया है। इसलिए मैं तुझे शाप देता हूँ।' मैंने उससे कहा—'मुनिवर! अज्ञानवश मुझसे यह अपराध हो गया है। आप मुझ पर कृपा करें; आप मुझे शाप न दें। राजन्! मैंने जब यह बात कही तब उस मुनि ने यह कहा—यदि तू आत्मसमर्पण कर दे तो तुझे शाप नहीं दूँगा ॥ २३-३० ॥

मैंने उस मृग से कहा—'मैं मृगी नहीं, इस वन में तुझे कोई दूसरी मृगी मिल जायेगी। मेरे प्रति अपना यह कामभाव हटाओ'। मेरे द्वारा ऐसा कहने पर उसकी आँखें क्रोध से लाल हो गयीं और फड़कते ओठ से उसने कहा—'अरी मूढ़! तूने कहा कि तू मृगी नहीं है तो जा, तू मृगी हो जा'। ऐसी बात सुनकर मैं बड़ी दुःखित हो गयी और उस मृगरूपधारी मुनि से जब वे मनुष्य रूप में परिवर्तित हो कर अत्यन्त क्रुद्ध हो गए, तब मैं बार-बार 'कृपा करें मुनिराज! मैं एक अबोध बाला हूँ, मैं क्या बोलना चाहिए—यह भी नहीं जानती। इसीलिए मेरे मुँह से ऐसी बात निकल गयी है। जब पिता न हों तभी कोई कुमारी

प्रसीदेति प्रसीदेति प्रणताया महामते ।
इत्थं लालप्यमानायाः स प्राह मुनिपुङ्गवः ॥३६।

न भवत्यन्यथा प्रोक्तं मम वाक्यं कदाचन ।
मृगी भविष्यसि मृता वनेऽस्मिन्नेव जन्मनि ॥३७।

मृगत्वे च महाबाहुस्तव गर्भमुपैष्यति ।
लोलो नाम मुनेः पुत्रः सिद्धवीर्य्यस्य भामिनि ॥३८।

जातिस्मरा भवित्री त्वं तस्मिन् गर्भमुपागते ।
स्मृतिं प्राप्य तथा वाचं मानुषीमीरयिष्यसि ॥३९।

तस्मिन् जाते मृगीत्वात् त्वं विमुक्ता पतिनार्चिता ।
लोकानवाप्स्यसि प्राप्या ये न दुष्कृतकर्मभिः ॥४०।

सोऽपि लोलो महावीर्य्यः पितृशत्रून् निपात्य वै ।
जित्वा वसुन्धरां कृत्स्नां भविष्यति ततो मनुः ॥४१।

एवं शापमहं लब्ध्वा मृता तिर्य्यक्त्वमागता ।
त्वत्संस्पर्शाच्च गर्भोऽसौ संभूतो जठरे मम ॥४२।

स्त्री स्वयं अपने पति का वरण कर सकती है। मुनिवर ! मेरे तो पिता जीवित हैं। मैं अपने मन से कैसे पति का वरण कर लूँ। मैं अपराधिनी हूँ। आप मुझ पर कृपा करें। मैं आपके चरणों पर नतमस्तक हूँ।' महामति राजन् ! उनके आगे नतमस्तक 'कृपा करें, कृपा करें' की रट लगाती मुझे उन मुनिवर ने कहा—मेरे मुँह से जो बात निकल गयी, वह कदापि अन्यथा नहीं हो सकती। इस जन्म में जब तू मरेगी तो इस वन में मृगी के रूप में जन्म लेगी और जब तू मृगयोनि में आ जायेगी तब, अरी सुन्दरी ! सिद्धवीर्य नामक मुनि का 'लोल' नामक पुत्र तेरे गर्भ में आयेगा। जब वह तेरे गर्भ में आयेगा तब तुझे अपने पूर्वजन्म की स्मृति होगी और जब तुझे पूर्वजन्म का स्मरण हो जायेगा तब तू मनुष्य की वाणी में बोलने लगेगी। जब उसका जन्म हो जायेगा, तब तेरा इस मृगीरूप से छूटकारा हो जायेगा। तेरा पति तुझे मानने लगेगा और तू उन लोकों को प्राप्त कर लेगी, जिन्हें दुष्कर्म करने वाले नहीं प्राप्त कर सकते ॥३१-४०॥

'तेरा पुत्र वह लोल महावीर्यशाली होगा और अपने पिता के शत्रुओं को परास्त कर समस्त भूलोक पर विजय पायेगा, जिसके वाद वह 'मनु' हो जायेगा। ऐसा शाप पाकर जब मैं मरी तो तिर्यग्योनि (मृगयोनि) में पहुँच गयी और अब तुम्हारे स्पर्शमात्र से मैं गर्भवती हो गयी हूँ। इसीलिए मैंने कहा था कि मुझमें जो आपका मन लग गया

अतो ब्रवीमि नास्थाने तव यातं मनो मयि ।
न चाप्यगम्या गर्भस्थो लोलो विघ्नं करोत्यसौ ।।४३।

मार्कण्डेय उवाच—

एवमुक्तस्ततः सोऽपि राजा प्राप्य परां मुदम् ।
पुत्रो ममारीञ्जित्वेति पृथिव्यां भविता मनुः ।।४४।
ततस्तं सुषुवे पुत्रं सा मृगी लक्षणान्वितम् ।
तस्मिन् जाते च भूतानि सर्व्वाणि प्रययुर्मुदम् ।।४५।
विशेषतश्च राजासौ पुत्रे जाते महाबले ।
सा विमुक्ता मृगी शापात् प्राप लोकाननुत्तमान् ।।४६।
ततस्तस्यर्षयः सर्वे समेत्य मुनिसत्तम ।
अवेक्ष्य भाविनीमृद्धिं नाम चक्रुर्महात्मनः ।।४७।
तामसीं भजमानायां योनिं मातर्यजायत ।
तमसा चावृते लोके तामसोऽयं भविष्यति ।।४८।

है, वह अनुचित स्थान में नहीं लगा है और मैं आपके सहवास के अयोग्य भी नहीं हूँ। केवल मेरे गर्भ में अवस्थित जो लोल है, वही आपके साथ मेरी रति-लीला में बाधक बन रहा है ।। ४१-४३ ।।

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

ऐसा कहे जाने पर वे राजा, यह जानकर कि उनका पुत्र शत्रुञ्जय होगा और भू-लोक में 'मनु' के रूप में अवतीर्ण होगा, अत्यधिक आनन्दित हुए। कुछ समय बाद उस मृगी ने महापुरुष के लक्षणों से लक्षित पुत्र को जन्म दिया, जिसके जन्म लेते ही समस्त जीव-जन्तु प्रसन्न हृदय हो गए। यह जानकर कि उनका वह पुत्र महाबलवीर्य-शाली होगा, राजा विशेष रूप से प्रसन्न हुए। वह मृगी भी शाप विमुक्त हो गयी और सर्वश्रेष्ठ लोक में पहुँच गयी। मुनिवर क्रौष्टुकि ! सभी ऋषि-महर्षि उस पुत्र के समीप एकत्र हुये और उसकी होने वाली ऐश्वर्यसमृद्धि को देखकर उन्होंने उसका नामकरण किया। इस पुत्र ने तामसी योनि में जन्म पाने वाली जननी के गर्भ से जन्म लिया है और उस समय जन्म लिया है, जब सारा संसार संतमसावृत था। इसलिए इसका नाम

ततः स तामसस्तेन पित्रा संवर्द्धितो वने ।
जातबुद्धिरुवाचेदं पितरं मुनिसत्तम ।।४९।
कस्त्वं तात कथं वाहं पुत्रो माता च का मम ।
किमर्थमागतश्च त्वमेतत् सत्यं ब्रवीहि मे ।।५०।

मार्कण्डेय उवाच—

ततः पिता यथावृत्तं स्वराज्यच्यावनादिकम् ।
तस्याचष्टे महाबाहुः पुत्रस्य जगतीपतिः ।।५१।
श्रुत्वा तत् सकलं सोऽपि समाराध्य च भास्करम् ।
अवाप दिव्यान्यस्त्राणि ससंहाराण्यशेषतः ।।५२।
कृतास्त्रस्तानरीन् जित्वा पितुरानीय चान्तिकम् ।
अनुज्ञातान् मुमोचाथ तेन स्वं धर्ममास्थितः ।।५३।
पितापि तस्य स्वान् लोकांस्तपोयज्ञसमार्जितान् ।
विसृष्टदेहः संप्राप्तो दृष्ट्वा पुत्रमुखं सुखम् ।।५४।

'तामसं' होगा । वह 'तामस' अपने पिता से उस वन में ही पालित-पोषित हुआ और जब उसमें बुद्धि विकसित होने लगी तब उसने, मुनिवर क्रौष्टुकि ! अपने पिता से यह पूछा—पिताजी ! आप कौन हैं ? कैसे मैं आपका पुत्र हूँ ? मेरी माता कौन है ? आप यहाँ क्यों कर आए हैं ? मुझे यह सब सच-सच बता दें ।।४४-५०।।

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

अपने पुत्र की ये बातें सुनकर, पिता ने, जो महापराक्रमी पृथिवीपालक राजा थे, अपने राज्य से परिच्युत होने आदि से संबद्ध सभी घटनाएँ, जैसे वे घटी थीं, अपने पुत्र को बता दीं । पुत्र ने सब बातें सुनी और भगवान् सूर्य की आराधना से दिव्य अस्त्रों को प्राप्त किया तथा उनके साथ ही उन अस्त्रों के निवर्तन के मंत्र भी जान लिये । दिव्यास्त्रों के प्रयोग में प्रवीण होकर उसने उनके शत्रुगण को पराजित किया और उन्हें अपने पिता के पास लिवा लाया । अपने धर्मपालन पर कटिबद्ध होते हुए उसने उन सब शत्रुओं को छोड़ दिया, जिनके विषय में उसके पिता ने आज्ञा दी । उसके पिता ने भी, जो प्रसन्नतापूर्वक अपने पुत्र का मुख देख चुके थे, अपने शरीर-त्याग के बाद

जित्वा समस्तां पृथिवीं तामसाख्यः स पार्थिवः।
तामसाख्यो मनुरभूत्तस्य मन्वन्तरं शृणु ॥५५॥

ये देवा यत्पतिर्यश्च देवेन्द्रो ये तथर्षयः।
ये पुत्राश्च मनोस्तस्य पृथिवीपरिपालकाः ॥५६॥

सत्यास्तथान्ये सुधियः सुरूपा हरयस्तथा।
एते देवगणास्तत्र सप्तविंशतिका मुने ॥५७॥

महाबलो महावीर्य्यः शतयज्ञोपलक्षितः।
शिखिरिन्द्रस्तथा तेषां देवानामभवद्विभुः ॥५८॥

ज्योतिर्धर्मा पृथुः काव्यश्चैत्रोऽग्निर्वलकस्तथा।
पीवरश्च तथा ब्रह्मन्! सप्त सप्तर्षयोऽभवन् ॥५९॥

नरः क्षान्तिः शान्तदान्तजानुजङ्घादयस्तथा।
पुत्रास्तु तामसस्यासन् राजानः सुमहाबलाः ।६०।

तपश्चरण तथा क्रतु-सम्पादन से अर्जित दिव्य लोकों को प्राप्त कर लिया।' तामस नाम का वह राजकुमार जब राजा बना, तब उसने समस्त भूमण्डल पर विजय पायी और वह तामस नाम का 'मनु' बन गया ॥५१-५५॥

अब, मुझसे तामस मन्वन्तर का विवरण सुन लो। मुझसे सुन लो कि तामस मन्वन्तर में कौन-कौन देव थे, कौन उनका स्वामी देवेन्द्र था, कौन-कौन ऋषि थे और उस तामस मनु के पृथिवी-पालक कौन-कौन पुत्र थे। तामस मन्वन्तर में सत्य, सुधी, सुरूप तथा हरि नाम के देवगण थे और इन चारों देवगणों में २७-२७ देवता थे। इस मन्वन्तर में महाबलशाली, महावीर्यशाली, शतसंख्यक महायोगों के कर्ता देवताओं के स्वामी जो इन्द्र थे, उनका 'शिखि' नाम था। द्विजवर क्रौष्टुकि ! उस मन्वन्तर के सप्तर्षि १) ज्योतिधर्मा, २) पृथु, ३) काव्य, ४) चैत्र, ५) अग्नि, ६) वलक तथा ७) पीवर नाम के थे। तामस मनु के नर, क्षान्ति, शान्त, दान्त, जानु तथा जंघ प्रभृति महाबली पुत्र थे जो कि राजा थे। प्रिय शिष्य क्रौष्टुकी ! मैंने तुम्हें तामस मन्वन्तर के विषय में यह

इत्येतत्तामसं विप्र मन्वन्तरमुदाहृतम् ।
यः पठेत् शृणुयाद्वापि तमसा स न बाध्यते ।।६१।

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे 'तामसमन्वन्तरे' चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ।

सब बता दिया। जो मनुष्य इस मन्वन्तर का आख्यान सुनेगा या पढ़ेगा, उसे अज्ञान के अन्धकार को कोई बाधा नहीं होगी ।।५६-६१।।

पर्यालोचन

(क) इस अध्याय में 'तामस मनु' का आख्यान वर्णित है, जिनके नाम से तामस मन्वन्तर का प्रारम्भ होता है, जो कि चतुर्थ मन्वन्तर है। अन्य पुराणों में 'तामस मनु' से सम्बद्ध ऐसा विचित्र आख्यान नहीं मिलता। मार्कण्डेय पुराण के इस अध्याय में तामस मनु के पिता स्वराष्ट्र, शत्रु द्वारा पराजय से स्वराष्ट्र के हृदय में निर्वेद, निर्विण्ण स्वराष्ट्र का वितस्ता (आजकल झेलम) नदी के पुलिन पर घोर तपश्चरण, वितस्ता के महाप्लव में स्वराष्ट्र का निमज्जोन्मज्जन, शापग्रस्त मृगरूपधारिणी देवाङ्गना की सहायता से वितस्ता के जलप्लाव से स्वराष्ट्र का जीवन-संरक्षण, मृगी बनी देवाङ्गना के प्रति स्वराष्ट्र की कामासक्ति, ऋषिशाप से मृगयोनि में जन्म लेने वाली उत्पलावती नाम की उस देवाङ्गना के गर्भ से स्वराष्ट्र के पुत्र का जन्म, तामसी योनि वाली माता के गर्भ से घोर संतमस में जन्म लेने के कारण स्वराष्ट्र के पुत्र का 'तामस' नाम से नामकरण-संस्कार, तामस का युवावस्था में सर्वास्त्रसंचालन में कौशल तथा तामस द्वारा अपने पिता स्वराष्ट्र के विजेता शत्रुराजगण का समूलोन्मूलन प्रभृति अनेक रोचक आख्यान-खण्डों से युक्त तामस मनु का विचित्र आख्यान वर्णित है। मार्कण्डेय-पुराण में ही यह आख्यान मिलता है, अन्यत्र नहीं—यह भी एक अनुसंधेय विषय है।

(ख) इस अध्याय में तामस मन्वन्तर के देवगण, ऋषिगण तथा राजगण का भी वर्णन किया गया है। तामस मन्वन्तर के विषय में विष्णुपुराण के श्लोक (३.१६-१९) द्रष्टव्य हैं—

'तामसस्यान्तरे देवाः सुपारा हरयस्तथा।
सत्याश्च सुधियश्चैव सप्तविंशतिका गणाः॥
शिविरिन्द्रस्तथा चासीच्छतयज्ञोपलक्षणः।
सप्तर्षयश्च ये तेषां नामानि मे शृणु॥
ज्योतिर्धामा पृथुः काव्यश्चैत्रोऽग्निर्वनकस्तथा।
पीवरश्चर्षयो ह्येते सप्त तत्रापि चान्तरे॥
नरः ख्यातिः केतुरूपो जानुजङ्घादयस्तथा।
पुत्रास्तु तामसस्यासन् राजानः सुमहाबलाः॥'

दोनों महापुराणों में देवगण की गणना में भेद दिखायी देता है। जहाँ विष्णु-पुराण में दो ही देवगण परिगणित हैं, वहाँ मार्कण्डेयपुराण में चार। इसी प्रकार ऋषिगण की गणना में जो सात नाम परिगणित हैं, उनमें भी भेद है। इसका कारण एक पृथक् गवेषणा का विषय है।

(ग) श्रीमद्भागवत (८.१.२७-३०) में भी तामस मनु और उनके नाम से प्रसिद्ध मन्वन्तर का संक्षेप में निरूपण किया गया है—

'चतुर्थ उत्तमभ्राता मनुर्नाम्ना च तामसः।
पृथुः ख्यातिर्नरः केतुरित्याद्या दश तत्सुताः॥

सत्यका हरयो वीरा देवास्त्रिशिख ईश्वरः।
ज्योतिर्धामादयः सप्त ऋषयस्तामसेऽन्तरे॥

देवा वैधृतयो नाम विधृतेस्तनया नृप।
नष्टाः कालेन यैर्वेदा विधृताः स्वेन तेजसा॥

तत्रापि जज्ञे भगवान् हरिण्यां हरिमेधसः।
हरिरित्याहृतो येन गजेन्द्रो मोचितो ग्रहात्॥'

श्रीमद्भागवत के उपर्युक्त तामस मन्वन्तर के वर्णन और इस अध्याय के तामस मन्वन्तर के वर्णन में पर्याप्त भिन्नता है। ऐसा क्यों है? यह विषय पुराणविदों के लिये विचारणीय है।

श्री मार्कण्डेयपुराण के 'तामस मन्वन्तर' से सम्बद्ध ७४वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी अनुवाद समाप्त।

*

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

पञ्चमोऽपि मनुर्ब्रह्मन् रैवतो नाम विश्रुतः।
तस्योत्पत्तिं विस्तरशः शृणुष्व कथयामि ते ॥१॥
ऋषिरासीन्महाभाग ऋतवागिति विश्रुतः।
तस्यापुत्रस्य पुत्रोऽभूद्रेवत्यन्ते महात्मनः ॥२॥
स तस्य विधिवच्चक्रे जातकर्मादिकाः क्रियाः।
तथोपनयनादींश्च स चाशीलोऽभवन्मुने ॥३॥
यतः प्रभृति जातोऽसौ ततः प्रभृति सोऽप्यृषिः।
दीर्घरोगपरामर्शमवाप मुनिपुङ्गवः ॥४॥
माता तस्य परामार्ति कुष्ठरोगादिपीडिता।
जगाम स पिता चास्य चिन्तयामास दुःखितः ॥५॥
किमेतदिति सोऽप्यस्य पुत्रोऽप्यत्यन्तदुर्मतिः।
जग्राह भार्य्यामन्यस्य मुनिपुत्रस्य सम्मुखीम् ॥६॥
ततो विषण्णमनसा ऋतवागिदमुक्तवान्।
अपुत्रता मनुष्याणां श्रेयसे न कुपुत्रता ॥७॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

द्विजवर क्रौष्टुकि! पञ्चम 'मनु' रैवत भी प्रसिद्ध मनु हो चुके हैं। उनकी उत्पत्ति के विषय में मैं विस्तारपूर्वक तुम्हें बता रहा हूँ ॥ १ ॥

ऋतवाक् नाम के एक महैश्वर्यशाली प्रसिद्ध ऋषि थे, जिनका कोई पुत्र नहीं था। उन महात्मा का रेवती नक्षत्र के अन्तिम चरण में एक पुत्र हुआ। उन्होंने अपने उस पुत्र से जातकर्म प्रभृति उपनयनादि संस्कार शास्त्रविहित विधि से किए। किन्तु मुनिवर क्रौष्टुकि! उनका वह पुत्र शीलहीन निकला। जिस समय उसका जन्म हुआ, उसी समय से वे मुनिश्रेष्ठ ऋषि लम्बी बीमारी से ग्रस्त हो गए। उसकी माता कुष्ठ प्रभृति रोगों से पीड़ित हो गयी और बहुत कष्ट में पड़ गयी। यह देखकर वे ऋषि बड़े दुःखित हो गए और सोच-विचार करने लगे—'क्या कारण है कि उनका पुत्र ऐसा अत्यन्त दुर्बुद्धि निकला कि एक मुनिकुमार की पत्नी को, उनकी आँखों के सामने ही, अपनी बना लिया। बहुत दुःखित हृदय से ऋतवाक् ने कहा कि मनुष्य के लिए अपुत्रता कुपुत्रता से अधिक श्रेयस्कर है ॥ २-७ ॥

कुपुत्रो हृदयायासं सर्वदा कुरुते पितुः ।
मातुश्च स्वर्गसंस्थांश्च स्वपितॄन् पातयत्यधः ॥८॥
सुहृदां नोपकाराय पितॄणाञ्च न तृप्तये ।
पित्रोर्दुःखाय धिग् जन्म तस्य दुष्कृतकर्मणः ॥९॥
धन्यास्ते तनया येषां सर्वलोकाभिसम्मताः ।
परोपकारिणः शान्ताः साधुकर्मण्यनुव्रताः ॥१०॥
अनिर्वृतं तथा मन्दं परलोकपराङ्मुखम् ।
नरकाय न सद्गत्यै कुपुत्रालम्बि जन्मनः ॥११॥
करोति सुहृदां दैन्यमहितानां तथा मुदम् ।
अकाले च जरां पित्रोः कुपुत्रः कुरुते ध्रुवम् ॥१२॥

मार्कण्डेय उवाच—

एवं सोऽत्यन्तदुष्टस्य पुत्रस्य चरितैर्मुनिः ।
दह्यमानमनोवृत्तिर्वृत्तं गर्गमपृच्छत ॥१३॥

कारण यह है कि कुपुत्र सदा माता और पिता का हृदय व्यथित किया करता है और अपने दिवङ्गत पितृगण को भी स्वर्ग से परिच्युत कर दिया करता है। उससे न तो उसके सुहृज्जनों का कोई उपकार होता है और न उसके माता-पिता का मन संतृप्त होता है। ऐसे दुश्चरित्र पुत्र के जन्म को धिक्कार है, जो केवल माता-पिता को दुःख देने के लिए होता है ॥ ८-९ ॥

वे माता-पिता धन्य हैं, जिनके पुत्र सभी लोगों के द्वारा अभिनन्दनीय माने जाते हैं, परोपकार-परायण हुआ करते हैं, स्वभाव से शान्त होते हैं और सत्कर्मानुष्ठान में सदा तत्पर रहा करते हैं ॥ १० ॥

कुपुत्र के जन्मदाता हम दोनों (पिता और माता) नरक में पतन के लिए जन्म लिए हैं, न कि स्वर्ग पर आरोहण के लिए, क्योंकि हमारे जीवन में कोई शान्ति-सुख नहीं और न किसी सत्कार्य के प्रति कोई उत्साह है। हमारा जीवन वस्तुतः परलोक-पराङ्मुख है, क्योंकि हमारे पुत्र ने हमें नरकवास का दुःख देने के लिए ही जन्म लिया है। कुपुत्र अपने सुहृज्जनों को दुःखित किया करता हैं और शत्रुजनों को सुखी और इतना हीं नहीं, वह निःसंदिग्धरूप से अपने माता-पिता को, असमय में ही, जराजीर्ण बना देता है ॥ ११-१२ ॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

उस मुनि ने, जिनके हृदय में निगूढ़ पुत्र-प्रेम का भाव, पुत्र की दुश्चरित्रता से जल कर राख हो रहा था, ऋषिवर गर्ग से इस विषय में पूछा ॥ १३ ॥

ऋतंवागुवाच—

सुव्रतेन पुरा वेदा गृहीता विधिवन्मया ।
समाप्य वेदान् विधिवत् कृतो दारपरिग्रहः ॥१४।
सदारेण क्रियाः कार्य्याः श्रौताः स्मार्ता वषट्क्रियाः ।
न मे न्यूनाः कृताः काश्चिद्यावदद्य महामुने ॥१५।
गर्भाधानविधानेन न काममनुरुध्यता ।
पुत्रार्थं जनितश्चायं पुन्नाम्नो बिभ्यता मुने ॥१६।
सोऽयं किमात्मदोषेण मम दोषेण वा मुने ।
अस्मद्दुःखवहो जातो दौःशील्याद् बन्धुशोकदः ॥१७।
रेवत्यन्ते मुनिश्रेष्ठ ! जातोऽयं तनयस्तव ।
तेन दुःखाय ते दुष्टे काले यस्मादजायत ॥१८।
न तेऽपचारो नैवास्य मातुर्नायं कुलस्य ते ।
तस्य दौःशील्यहेतुस्तु रेवत्यन्तमुपागतम् ॥१९।

मुनि ऋतवाक् की उक्ति—

ऋषिराज ! मैंने ब्रह्मचर्यव्रत का पूर्णतया पालन करते हुए पहले विधिवत् स्वाध्यायाध्ययन किया तथा वेदाध्ययन की समाप्ति के बाद विधिवत् विवाह करके गार्हस्थ्य व्रत का पालन किया, जिसमें श्रौत तथा स्मार्त गृहमेध तथा पितृमेध से सम्बद्ध समस्त धर्मकर्म का मैंने सपत्नीक अनुष्ठान किया। हमारी धर्मक्रियाओं में आजतक कोई त्रुटि नहीं हुई। मुनिवर ! पुंनामक नरक के भय से, पुत्र की कामना करते, गर्भाधान की शास्त्रीय विधि के अनुसार, न कि भोग-विलास की भावना से हमने पुत्र उत्पन्न किया। मुनिवर ! मुझे पता नहीं कि हमारा पुत्र अपने दोष से अथवा मेरे दोष से अपनी दुःशीलता के कारण हम दोनों—माता-पिता के लिए दुःखदायी हो गया है और बन्धु-बान्धवों के भी शोक-सन्ताप का कारण बन गया है ॥ १४-१७ ॥

ऋषिराज गर्ग की उक्ति—

मुनिवर ! आपके इस पुत्र ने रेवती नक्षत्र के अन्तिम चरण में जन्म लिया है और यह रेवती नक्षत्र-चरण बड़ा दुष्ट काल होता है, जिसके कारण आप दुःखी हैं। इसमें न तो आपका कोई अपराध है, न आपके पुत्र का, न उसकी माता का और न आपके कुल का। आपके पुत्र के दुश्चारित्र्य का कारण यही रेवती नक्षत्र का अन्तिम चरण है (जिसमें आपके पुत्र का जन्म हुआ है।) ॥ १८-१९ ॥

ऋतवागुवाच—

यस्मान्ममैकपुत्रस्य रेवत्यन्तसमुद्भवम् ।
दौःशील्यमेतत् सा तस्मात् पततामाशु रेवती ॥२०॥

मार्कण्डेय उवाच—

तेनैवं व्याहृते शापे रेवत्यृक्षं पपात ह ।
पश्यतः सर्वलोकस्य विस्मयाविष्टचेतसः ॥२१॥
रेवत्यृक्षञ्च पतितं कुमुदाद्रौ समन्ततः ।
भावयामास सहसा वनकन्दरनिर्झरम् ॥२२॥
कुमुदाद्रिश्च तत्पातात् ख्यातो रैवतकोऽभवत् ।
अतीव रम्यः सर्वस्यां पृथिव्यां पृथिवीधरः ॥२३॥
तस्यर्क्षस्य तु या कान्तिर्जाता पङ्कजिनी सरः ।
ततो जज्ञे तदा कन्या रूपेणातीव शोभना ॥२४॥
रेवतीकान्तिसम्भूतां तां दृष्ट्वा प्रमुचो मुनिः ।
तस्या नाम चकारेत्थं रेवती नाम भागुरे ॥२५॥
पोषयामास चैवैतां स्वाश्रमाभ्याससम्भवाम् ।
प्रमुचः स महाभागस्तस्मिन्नेव महाचले ॥२६॥

ऋतवाक् बोले—

ऋषिवर ! यदि रेवती नक्षत्र के अन्तिम चरण में जन्म लेने के कारण मेरे एकमात्र पुत्र का स्वभाव इतना दुष्ट हो गया है, तो मैं शाप देता हूँ कि रेवती नक्षत्र आकाश से गिर पड़े ॥ २० ॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

उन ऋतवाक् मुनि के ऐसे शापोच्चार के कारण रेवती नक्षत्र, विस्मयाविष्ट लोकत्रय की आँखों के सामने, आकाश से नीचे गिर पड़ा। जब वह रेवती नक्षत्र समस्त कुमुदाद्रि पर गिर पड़ा, तब अकस्मात् चतुर्दिक् कुमुद पर्वत के वन, कन्दर और निर्झर—उसके आलोक से दीप्तिमय हो गए। रेवती नक्षत्र के पतन के कारण कुमुदाद्रि रैवतक पर्वत के नाम से प्रसिद्ध हो गया। यह रैवतक पर्वत समस्त भूलोक में अत्यन्त, रमणीय पर्वत है। रेवती नक्षत्र की जो कान्ति थी, वह 'पङ्कजिनी' नामक सरोवर के रूप में परिणत हो गयी, जिससे एक अत्यन्त सुरूप-सुन्दर कन्या उत्पन्न हो गयी। रेवती नक्षत्र की कान्ति से उत्पन्न उस कन्या को देखकर, द्विजवर भागुरि ! (क्रौष्टुकि !) प्रमुच नाम के एक मुनि ने उसका नाम रेवती रख दिया। अपने आश्रम के समीप जन्म लेने के कारण प्रमुच नामक उन ऐश्वर्यशाली मुनि ने उस कन्या का उसी महापर्वत (रैवतक) पर पालन-पोषण किया। उस रूपवती कन्या को जब उन्होंने

तान्तु यौवनिनीं दृष्ट्वा कन्यकां रूपशालिनीम् ।
स मुनिश्चिन्तमामास कोऽस्या भर्ता भवेदिति ।।२७।
एवं चिन्तयतस्तस्य ययौ कालो महान् मुने ।
न चाससाद सदृशं वरं तस्या महामुनिः ।।२८।
ततस्तस्या वरं प्रष्टुमग्नि स प्रमुचो मुनिः ।
विवेश वह्निशालां वै प्रष्टारं प्राह हव्यभुक् ।।२९।
महाबलो महावीर्य्यः प्रियवाग् धर्मवत्सलः ।
दुर्गमो नाम भविता भर्ता ह्यस्या महीपतिः ।।३०।

मार्कण्डेय उवाच--

अनन्तरञ्च मृगयाप्रसङ्गेनागतो मुने ।
तस्याश्रमपदं धीमान् दुर्गमः स नराधिपः ।।३१।
प्रियव्रतान्वयभवो महाबलपराक्रमः ।
पुत्रो विक्रमशीलस्य कालिन्दीजठरोद्भवः ।।३२।
स प्रविश्याश्रमपदं तां तन्वीं जगतीपतिः ।
अपश्यमानस्तमृषिं प्रियेत्यामन्त्र्य पृष्टवान् ।।३३।

यौवनावस्था में पहुँची देखा, तो उनके मन में यह चिन्ता उत्पन्न हुई कि इसका पति कौन होगा ? मुनिवर क्रौष्टुकि ! इसी चिन्ता में प्रमुच का बहुत समय व्यतीत हो गया, किन्तु तब भी उन्हें उसके योग्य कोई वर नहीं मिल पाया। तब प्रमुच मुनि उस कन्या के वर के विषय में जानने के लिए अग्निशाला में गए और उन्होंने अग्निदेव से पूँछा। अग्निदेव ने प्रश्नकर्ता प्रमुच मुनि से यह कहा—'इस कन्या का पति दुर्गम नाम का एक राजा होगा, जो कि महाबली, महावीर्यशाली, प्रियभाषी तथा धर्मपालक होगा।।२१-३०।।

महामुनि मार्कण्डेय ने आगे कहा—

इसके बाद, मुनिवर क्रौष्टुकि ! वह दुर्गम नामक बुद्धिमान् राजा, आखेट के प्रसङ्गवश उन प्रमुच मुनि के आश्रम में आया। वह राजा (स्वायंभुव मनु के वंशज) महाराज प्रियव्रत के वंश का था, बड़ा बली और बड़ा पराक्रमी था, राजा विक्रमशील का पुत्र था और राजरानी कालिन्दी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। वह राजा जब प्रमुच मुनि के आश्रम में पहुँचा, तब उसने उस रूपवती कन्या को देखा और प्रमुच मुनि को न देखकर उसे 'प्रिये' ! सम्बोधन से सम्बोधित कर उससे पूछा ।। ३१-३२ ।।

राजोवाच—

क्व गतो भगवानस्मादाश्रमान्मुनिपुङ्गवः ।
तं प्रणेतुमिहेच्छामि तत् त्वं प्रब्रूहि शोभने ।।३४।

मार्कण्डेय उवाच—

अग्निशालां गतो विप्रस्तच्छ्रुत्वा तस्य भाषितम् ।
प्रियेत्यामन्त्रणञ्चैव निश्चक्राम त्वरान्वितः ।।३५।

स ददर्श महात्मानं राजानं दुर्गमं मुनिः ।
नरेन्द्रचिह्नसहितं प्रश्रयावनतं पुरः ।।३६।

तस्मिन् दृष्टे ततः शिष्यमुवाच स तु गौतमम् ।
गौतमानीयतां शीघ्रमर्घोऽस्य जगतीपतेः ।।३७।

एकस्तावदयं भूपश्चिरकालादुपागतः ।
जामाता च विशेषेण योग्योऽर्घस्य मतो मम ।।३८।

मार्कण्डेय उवाच—

ततः स चिन्तयामास राजा जामातृकारणम् ।
विवेद च न तन्मौनी जगृहेऽर्घञ्च तं नृपः ।।३९।

राजा की उक्ति—

अरी सुन्दरी ! भगवान् मुनिराज इस आश्रम से कहाँ गए हैं। मैं उन्हें प्रणाम करने का इच्छुक हूँ। इसलिए मुझे बताओ ।। ३४ ।।

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

अग्निशाला में गये द्विजवर प्रमुच मुनि ने उस राजा की बोली सुनी और 'प्रिये' का आमन्त्रण सुनते ही शीघ्रता से बाहर निकल पड़े। उन प्रमुच मुनि ने महात्मा राजा दुर्गम को देखा, जो कि समस्त राजलक्षणों से सुशोभित था और उनके सामने विनयावनत पड़ा था। उस राजा को देखते ही, उन्होंने, अपने शिष्य गौतम से कहा 'गौतम ! शीघ्रातिशीघ्र महाराज के लिए 'अर्घ ले जाओ'। एक तो राजा हैं, जो कि बहुत समय के बाद मेरे आश्रम पर पधारे हुये हैं और विशेषरूप से मेरे जामाता (दामाद) हैं, जिसके कारण मेरी दृष्टि में ये अर्घ-ग्रहण के सर्वथा योग्य हैं ।। ३५-३८ ।।

महामुनि मार्कण्डेय कहते गए—

वह राजा इस सोच में पड़ गया कि क्यों कर वह प्रमुच मुनि का जामाता हो सकता है। वह इस विषय में कुछ भी न जान सका और मौन रह कर उसने अर्घ ग्रहण कर लिया। उन द्विजवर महामुनि ने, अर्घ ग्रहण करके आसन पर विराजमान उस

तमासनगतं विप्रो गृहीतार्घं महामुनिः।
स्वागतं प्राह राजेन्द्रमपि ते कुशलं गृहे ॥४०॥
कोषे बलेऽथ मित्रेषु भृत्यामात्ये नरेश्वर।
तथात्मनि महाबाहो यत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥४१॥
पत्नी च ते कुशलिनी यत एवानुतिष्ठति।
पृच्छाम्यस्यास्ततो नाहं कुशलिन्योऽपरास्तव ॥४२॥

राजोवाच—

त्वत्प्रसादादकुशलं न क्वचिन्मम सुव्रत।
जातकौतूहलश्चास्मि मम भार्य्यात्र का मुने ॥४३॥

ऋषिरुवाच—

रेवती सुमहाभागा त्रैलोक्यस्यापि सुन्दरी।
तव भार्य्या वरारोहा तां त्वं राजन्न वेत्सि किम् ॥४४॥

राजोवाच—

सुभद्रां शान्ततनयां कावेरीतनयां विभो।
सुराष्ट्रजां सुजाताञ्च कदम्बाञ्च वरूथजाम् ॥४५॥

राजा का स्वागत-सत्कार किया और उससे उसके राजभवन, उसके राजकोष, उसके सैन्यबल, उसके मित्र राजगण, उसके सेवकवृन्द और उसके अमात्यमण्डल के कुशल-मंगल के विषय में पूछा और अन्त में उसका कुशलक्षेम जानना चाहा, क्योंकि समस्त प्रकृतिवर्ग तो राजा में ही अन्ततः प्रतिष्ठित रहता है। उन्होंने उसकी पत्नी के कुशल-मंगल की भी जिज्ञासा की, जो कि उन्हीं के आश्रम में थी। उसकी अन्य पत्नियां तो सकुशल होंगी ही—इसलिए उनके विषय में कुछ नहीं पूँछा ॥ ३९-४२ ॥

राजा की उक्ति—

व्रती मुनिवर ! आपकी कृपा से मेरी किसी भी वस्तु में कोई अकुशल-वार्ता नहीं। किन्तु, मुनिराज ! यहाँ मेरी कौन पत्नी है ? इस विषय में मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है ॥ ४३ ॥

ऋषि बोले—

राजन् ! सौभाग्यशालिनी, त्रैलोक्य-सुन्दरी तथा रमणीरत्न 'रेवती' नाम की अपनी पत्नी को क्या तुम नहीं जानते ? ॥ ४४ ॥

राजा ने कहा—

भगवन् द्विजवर ! मेरे घर पर १) सुभद्रा, २) शान्त कुमारी, ३) कावेरी पुत्री, ४) सुराष्ट्रजा, ५) सुजाता, ६) वरूथकुमारी कदम्बा, ७) विपाठा और ८) नन्दिनी—ये

विपाठां नन्दिनीञ्चैव वेद्मि भार्य्यां गृहे द्विज ।
तिष्ठन्ति मे न भगवन् रेवतीं वेद्मि कान्वियम् ।।४६।

ऋषिरुवाच—
प्रियेति साम्प्रतं येयं त्वयोक्ता वरवर्णिनी ।
किं विस्मृतन्ते भूपाल ! श्लाघ्येयं गृहिणी तव ।।४७।

राजोवाच—
सत्यमुक्तं मया किन्तु भावो दुष्टो न मे मुने ।
नात्र कोपं भवान् कर्तुमर्हत्यस्मासु याचितः ।।४८।

ऋषिरुवाच—
तत्त्वं ब्रवीषि भूपाल ! न भावस्तव दूषितः ।
व्याजहार भवानेतद्वह्निना नृप चोदितः ।।४९।
मया पृष्टो हुतवहः कोऽस्या भर्त्तेति पार्थिव ।
भविता तेन चाप्युक्तो भवानेवाद्य वै वरः ।।५०।
तद्गृह्यतां मया दत्ता तुभ्यं कन्या नराधिप ।
प्रियेत्यामन्त्रिता चेयं विचारं कुरुषे कथम् ।।५१।

मेरी पत्नियां हैं, जिन्हें मैं जानता हूँ। किन्तु 'रेवती' नाम की मेरी कौन पत्नी है ? यह मैं नहीं जानता ।। ४५-४६ ।।

ऋषि बोले—

जिस सुन्दरी को अभी-अभी तुमने 'प्रिये !' सम्बोधन से सम्बोधित किया, उसे राजन् ! क्या तुम भूल गए ? रेवती तुम्हारी श्लाघनीय गृहिणी है ।। ४७ ।।

राजा ने कहा—

मुनिवर ! यहाँ आश्रम में रहने वाली एक कन्या को मैंने 'प्रिये !' अवश्य कहा। किन्तु उसके प्रति मेरे मन में कोई दुर्भाव नहीं था। मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि ऐसे सम्बोधन के लिए आप मुझपर क्रोध नहीं करेंगे ।। ४८ ।।

ऋषि बोले—

राजन् ! तुम सच कह रहे हो। 'प्रिये ! सम्बोधन में, तुम्हारे मन में कोई दुर्भाव नहीं था। यह सम्बोधन तुमने अग्निदेव की प्रेरणा से प्रेरित होकर किया था। राजन् ! अग्निशाला में मैं अग्निदेव से यही पूँछ रहा था कि मेरी कुमारी कन्या का कौन पति होगा ? अग्निदेव ने मुझसे कहा कि 'इसके पति तुम्हीं हो जो आज वर रूप में यहाँ आए हो।' राजन् ! तुम्हें मैं अपनी कन्या का दान दे रहा हूँ। इसे स्वीकार करो ! यह वही कन्या है, जिसे तुमने 'प्रिये' शब्द से आमन्त्रित किया था। अब क्या सोच-विचार कर रहे हो ?।। ४९-५१ ।।

मार्कण्डेय उवाच—

ततोऽसावभवन्मौनी तेनोक्तः पृथिवीपतिः ।
ऋषिस्तथोद्यतः कर्तुं तस्या वैवाहिकं विधिम् ॥५२।
तमुद्यतं सा पितरं विवाहाय महामुने ।
उवाच कन्या यत्किञ्चित् प्रश्रयावनतानना ॥५३।
यदि मे प्रीतिमांस्तात प्रसादं कर्तुमर्हसि ।
रेवत्यृक्षे विवाहं मे तत्करोतु प्रसादितः ॥५४।

ऋषिरुवाच—

रेवत्यृक्षं न वै भद्रे चन्द्रयोगि व्यवस्थितम् ।
अन्यानि सन्ति ऋक्षाणि सुभ्रु वैवाहिकानि ते ॥५५।

कन्योवाच—

तात तेन विना कालो विफलः प्रतिभाति मे ।
विवाहो विफले काले मद्विधायाः कथं भवेत् ॥५६।

ऋषिरुवाच—

ऋतवागिति विख्यातस्तपस्वी रेवतीं प्रति ।
चकार कोपं क्रुद्धेन तेनर्क्षं विनिपातितम् ॥५७।

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

ऋषि के ऐसा कहने पर राजा चुप हो गए और तब ऋषि कन्या की वैवाहिक विधि सम्पन्न करने के लिए उद्यत हो गए ॥५२॥

मुनिवर क्रौष्टुकि ! राजा के साथ उसका विवाह करने के लिये उद्यत देखकर, उस कन्या ने अपने पिता उन ऋषि से, विनीतभाव से, सिर झुकाए कुछ कहा। पिताजी ! यदि आप मुझसे स्नेह करते हैं, तो मुझ पर यह कृपा कीजिये कि मेरा विवाह, प्रसन्नचित्त होकर रेवती नक्षत्र में कर दीजिए ॥५३-५४॥

ऋषि ने कहा—

अरी कल्याणी ! रेवती नक्षत्र अब चन्द्रमा से संयुक्त नहीं रहता। दूसरे अनेक नक्षत्र हैं, जो तेरे विवाह के लिये उपयुक्त हैं ॥५५॥

कन्या की उक्ति—

पिताजी ! रेवती नक्षत्र के बिना मेरे विवाह का समय विफल प्रतीत होता है और विरुद्धफलदायक काल में मेरी जैसी कन्या का विवाह कैसे हो सकता है ? ॥५६॥

ऋषि बोले—

वात यह है कि ऋतवाक् नाम के एक प्रसिद्ध तपस्वी ऋषि रेवती नक्षत्र के प्रति क्रुद्ध हो गए थे और क्रोध के आवेश में आकर उन्होंने रेवती नक्षत्र को आकाश

मया चास्मै प्रतिज्ञाता भार्य्येति मदिरेक्षणा ।
न चेच्छसि विवाहं त्वं सङ्कटं नः समागतम् ।।५८।

कन्योवाच—

ऋतवाक् स मुनिस्तात किमेवं तप्तवांस्तपः ।
न त्वया मम तातेन ब्रह्मबन्धोः सुतास्मि किम् ।।५९।

ऋषिरुवाच—

ब्रह्मबन्धोः सुता न त्वं बाले नैव तपस्विनः ।
सुता त्वं मम यो देवान् कर्तुमन्यान् समुत्सहे ।।६०।

कन्योवाच—

तपस्वी यदि मे तातस्तत्किमृक्षमिदं दिवि ।
समारोप्य विवाहो मे तदृक्षे क्रियते न तु ।।६१।

ऋषिरुवाच—

एवं भवतु भद्रन्ते भद्रे प्रीतिमती भव ।
आरोपयामीन्दुमार्गे रेवत्यृक्षं कृते तव ।।६२।

मण्डल से गिरा दिया था। मैंने प्रतिज्ञा की थी कि तुम सरीखी सुन्दर कन्या का इस राजा से विवाह करूँ। यदि तू विवाह नहीं करना चाहती, तब तो मैं बड़े संकट में पड़ गया ।।५७-५८।।

कन्या की उक्ति—

पिताजी ! क्या ऋतवाक् ऋषि ने ऐसी विकट तपस्या की थी (कि उन्होंने रेवती नक्षत्र को आकाश से गिरा दिया ?) क्या मेरे पिता आपने ऐसी तपस्या नहीं की है ? क्या मैं सच्चे तपस्वी ब्राह्मण की पुत्री नहीं ? ।।५९।।

ऋषि ने कहा—

अरी बेटी ! तू नकली ब्राह्मण की पुत्री नहीं और न किसी तपस्वी की पुत्री है। तू मेरी पुत्री है, जो देवों को भी अदेव बना देने और अदेवों को भी देव बना देने में समर्थ है ।।६०।।

कन्या की उक्ति—

पिताजी ! जब आप ऐसे तपस्वी हैं, तो क्या आप इस रेवती नक्षत्र को आकाश में पुनः स्थापित करके इसी नक्षत्र में मेरा विवाह क्यों नहीं कर देते ? ।।६१।।

ऋषि ने कहा—

अरी कल्याणी ! यही होगा। तेरा कल्याण हो। अब प्रसन्न हो जा। मैं तेरे लिए रेवती नक्षत्र को चन्द्रमा के मार्ग पर पुनः प्रतिष्ठापित कर रहा हूँ ।।६२।।

मार्कण्डेय उवाच—

ततस्तपःप्रभावेण रेवत्यृक्षं महामुनिः ।
यथापूर्वन्तथा चक्रे सोमयोगि द्विजोत्तम ॥६३।
विवाहञ्चैव दुहितुर्विधिवद् मन्त्रयोगिनम् ।
निष्पाद्य प्रीतिमान् भूयो जामातारमथाब्रवीत् ॥६४।
औद्वाहिकन्ते भूपाल कथ्यतां किं ददाम्यहम् ।
दुर्लभ्यमपि दास्यामि ममाप्रतिहतन्तपः ॥६५।

राजोवाच—

मनोः स्वायम्भुवस्याहमुत्पन्नः सन्ततौ मुने ।
मन्वन्तराधिपं पुत्रं त्वत्प्रसादाद् वृणोम्यहम् ॥६६।

ऋषिरुवाच—

भविष्यत्येष ते कामो मनुस्त्वत्तनयो महीम् ।
सकलां भोक्ष्यते भूप धर्मविच्च भविष्यति ॥६७।

मार्कण्डेय उवाच—

तामादाय ततो भूपः स्वमेव नगरं ययौ ।
तस्मादजायत सुतो रेवत्यां रैवतो मनुः ॥६८।

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

द्विजवर क्रौष्टुकि ! इसके बाद ऐसा हुआ कि उन महामुनि ने अपने तपोबल से रेवती नक्षत्र को पहले की भाँति चन्द्रमा से संयुक्त कर दिया। उन्होंने अपनी कन्या का उस राजा के साथ भी विवाह कर दिया और विवाह कर देने के बाद प्रसन्न होकर अपने जामाता से कहा—'राजन् ! कहिये, विवाह के उपलक्ष्य में आपको क्या दूँ ? दुर्लभ भी पदार्थ मैं आपको दूँगा। मेरे तपोबल का कहीं कोई प्रतिघातक अथवा बाधक नहीं है ॥६३-६५॥

राजा की उक्ति—

ऋषिराज ! स्वायम्भुव मनु के वंश में मैं उत्पन्न हुआ हूँ। आपकी यदि कृपा हो तो आपसे मैं अपने लिए ऐसे पुत्र को माँगता हूँ, जो मन्वन्तर का अधीश्वर हो जाय ॥६६॥

ऋषि बोले—

राजन् ! आपकी यह कामना पूरी होकर रहेगी। आपका जो पुत्र होगा वह ऐसा 'मनु' होगा, जो सम्पूर्ण भूमण्डल का भोग करेगा और धर्मवेत्ता होगा ॥६७॥

महामुनि मार्कण्डेय ने आगे कहा—

उसके बाद अपनी उस धर्मपत्नी को साथ लेकर राजा अपनी राजधानी में पहुँचे। उनकी धर्मपत्नी, मेरी कन्या उस रेवती से एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो कि 'रैवत'

समेतः सकलैर्धर्मैर्मानवैरपराजितः ।
विज्ञाताखिलशास्त्रार्थो वेदविद्यार्थशास्त्रवित् ॥६९॥
तस्य मन्वन्तरे देवान् मुनिदेवेन्द्रपार्थिवान् ।
कथ्यमानान् मया ब्रह्मन् निबोध सुसमाहितः ॥७०॥
सुमेधसस्तत्र देवास्तथा भूपतयो द्विज ।
वैकुण्ठश्चामिताभश्च चतुर्दश चतुर्दश ॥७१॥
तेषां देवगणानान्तु चतुर्णामपि चेश्वरः ।
नाम्ना विभुरभूदिन्द्रः शतयज्ञोपलक्षकः ॥७२॥
हिरण्यलोमा वेदश्रीरूद्र्ध्वबाहुस्तथापरः ।
वेदबाहुः सुधामा च पर्जन्यश्च महामुनिः ॥७३॥
वसिष्ठश्च महाभागो वेदवेदान्तपारगः ।
एते सप्तर्षयश्चासन् रैवतस्यान्तरे मनोः ॥७४॥
बलबन्धुर्महावीर्य्यः सुयष्टव्यस्तथापरः ।
सत्यकाद्यास्तथैवासन् रैवतस्य मनोः सुताः ॥७५॥
रैवतान्तास्तु मनवः कथिता ये मया तव ।
स्वायम्भुवाश्रया ह्येते स्वारोचिषमृते मनुम् ॥७६॥

नाम का मनु बना। वे रैवत मनु समस्त धर्मों से समन्वित मानव से अपराजित तथा अपराजेय, समस्त शास्त्रों के अर्थतत्त्व के विज्ञाता तथा वेदविद्या एवं अर्थशास्त्र में पारंगत बने ॥६८-६९॥

मुनिवर क्रौष्टुकि! रैवत मनु के राज्यकाल में जो देव, ऋषि, देवेन्द्र तथा उनके वंशज राजा हुए, उनके विषय में मैं बता रहा हूँ। समाहितचित्त होकर सुनो -

द्विजवर क्रौष्टुकि! रैवत मन्वन्तर में सुमेधस्, भूपति, वैकुण्ठ तथा अभिताभ–ये चार देवगण थे और प्रत्येक में १४-१४ देवता थे। इन चतुर्विध देवगण का जो अधीश्वर था, जिसका नाम विभु था वही, इस मन्वन्तर में इन्द्र था, जिसने शत-संख्यक महाक्रतुओं का सम्पादन किया था। इस मन्वन्तर में १) हिरण्यलोमा, २) वेदश्री, ३) ऊर्ध्वबाहु, ४) वेदबाहु, ५) सुधामा, ६) महामुनि पर्जन्य तथा ७) वेद-वेदान्त पारंगत महैश्वर्यशाली वसिष्ठ –ये सात ऋषि थे। रैवत मनु के बलबन्धु, महावीर्य, सुयष्टव्य तथा सत्यक प्रभृति पुत्र थे। मैंने रैवत मनु तक जिन मनुओं का, प्रिय शिष्य क्रौष्टुकि! वर्णन किया है, वे सब स्वारोचिष मनु को छोड़कर, स्वायंभुव मनु से सम्बद्ध

[य एषां शृणुयान्नित्यं पठेदाख्यानमुत्तमम् ।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यो लोकं प्राप्नोत्यभीप्सितम् ।।७७।]

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे रैवतमन्वन्तरे पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

हैं । [जो भी नित्यप्रति इन मनुओं के श्रेष्ठ आख्यान का श्रवण अथवा पठन करेगा, वह सभी पापों से मुक्त रहा करेगा और अपने अभीप्सित लोकों की प्राप्ति में समर्थ होगा] ।। ७०-७७ ।।

*

पर्यालोचन

(क) इस अध्याय में पञ्चम मनु अर्थात् रैवत मनु का आख्यान वर्णित है। रैवत मनु का आख्यान भी तामस तथा चाक्षुष मनु के आख्यानों की भाँति बड़ा विचित्र और रोचक है। रैवत मनु के पिता स्वायंभुव मनु के वंशज दुर्गम के पुत्र का नाम रैवत पड़ा और रेवती के पालक पिता एक महर्षि के आशीर्वाद से रैवत को मन्वन्तराधिप का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस आख्यान में देवीभागवत में वर्णित देवी-प्रसाद से रैवत के मनु रूप में प्रतिष्ठित होने की कोई बात नहीं आती।

(ख) विष्णुपुराण (३, १, २०-२४) में रैवत मनु और रैवत मन्वन्तर का निम्न-लिखित वर्णन मिलता है—

'पञ्चमे वापि मैत्रेय रैवतो नाम नामतः।
मनुर्विभुश्च तत्रेन्द्रो देवांश्चात्रान्तरे शृणु॥
अमिताभा भूतरया वैकुण्ठाः ससुमेधसः।
एते देवगणास्तत्र चतुर्दश चतुर्दश॥
हिरण्यरोमा वेदश्रीरूर्ध्वबाहुस्तथापरः।
वेदबाहुः सुधामा च पर्जन्यश्च महामुनिः॥
एते सप्तर्षयो विप्र तत्रासन् रैवतेऽन्तरे।
बलबन्धुश्च संभाव्यः सत्यकाद्याश्च तत्सुताः।
नरेन्द्राश्च महावीर्या बभूवुर्मुनिसत्तम॥'

विष्णुपुराण में वर्णित ऋषिगण के परिगणन और मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय में ऋषिगण के परिगणन में कुछ नामभेद हैं। इसका भी कारण विचारणीय है।

(ग) श्रीदेवीभागवत (स्कन्ध १०, अध्याय ८, श्लोक २१-२४) में रैवत मनु के सम्बन्ध में निम्नलिखित उल्लेख है—

'पञ्चमो मनुराख्यातो रैवतस्तामसानुजः।
कालिन्दीकूलमाश्रित्य जजाप कामसंज्ञकम्॥
बीजं परमवाग्दर्पदायकं साधकाश्रयम्।
एतदाराधनादाप स्वाराज्यर्द्धिमनुत्तमाम्॥
बलमप्रतिहितं लोके सर्वसिद्धिविधायकम्।
सन्ततिं चिरकालीनां पुत्रपौत्रमयीं शुभाम्॥
धर्मान् व्यस्य व्यवस्थाप्य विषयानुपभुज्य च।'

देवीभागवत के उपर्युक्त वर्णन में रैवत भी देवी की उपासना से ही मनु रूप में मान्य बने निर्दिष्ट किए गए हैं। सम्भवतः मार्कण्डेयपुराण के 'देवीमाहात्म्य' से प्रभावित होकर ही देवीभागवतकार ने सावर्णि मनु से पूर्व के भी सभी मनुओं के मनुत्व में देवी की ही दयादृष्टि का निरूपण किया है।

श्री मार्कण्डेयपुराण के 'रैवत मन्वन्तर' प्रसङ्ग समाप्ति के साथ ७५वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त।

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

इत्येतत् कथितं तुभ्यं पञ्च मन्वन्तरं तव ।
चाक्षुषस्य मनोः षष्ठं श्रूयतामिदमन्तरम् ॥१॥
अन्यजन्मनि जातोऽसौ चक्षुषः परमेष्ठिनः ।
चाक्षुषत्वमतस्तस्य जन्मन्यस्मिन्नपि द्विज ॥२॥
जातं माता निजोत्सङ्गे स्थितमुल्लाप्य तं पुनः ।
परिष्वजति हार्देन पुनरुल्लापयत्यथ ॥३॥
जातिस्मरः स जातो वै मातुरुत्सङ्गमास्थितः ।
जहास तं तदा माता संक्रुद्धा वाक्यमब्रवीत् ॥४॥
भीतास्मि किमिदं वत्स ! हासो यद्वदने तव ।
अकालबोधः सञ्जातः कच्चित् पश्यसि शोभनम् ॥५॥

महामुनि मार्कण्डेय ने कहा—

प्रियशिष्य क्रौष्टुकि ! मैंने इस प्रकार तुम्हारे लिए पाँच मन्वन्तरें का वर्णन कर दिया । अब मुझसे छठे चाक्षुष मन्वन्तर के विषय में सुन लो ॥ १ ॥

छठे मन्वन्तर को चाक्षुष मन्वन्तर इसलिए कहते हैं, क्योंकि अपने पूर्व जन्म में भी प्रजापति परमेष्ठी के चक्षुः-सभूत होने के कारण इस मनु का नाम 'चाक्षुष' था और इसलिए इस जन्म में भी इस मनु का नाम 'चाक्षुष' ही है । जव इस मनु ने जन्म लिया, तव उसकी माता उसे अपनी गोद में वैठाकर उससे वोल-वोलकर उसे भी वुलवाने के लिए वार-वार प्रयत्न करती और बड़े प्रेम से उसे गले लगाती । 'वह कुछ वोले'— इसके लिए उससे कुछ न कुछ बोला करती थी । अपनी माता की गोद में वैठा वह बालक 'जातिस्मर' हो गया, (अर्थात् उसमें अपने पूर्वजन्मों की स्मृति जाग उठी) और वह हंस पड़ा । उसे हँसता देखकर उसकी माता बड़ी क्रुद्ध हो गई और उससे बोली— मेरे बच्चे ! मैं तो भयभीत हो रही हूँ, क्योंकि तुम्हारे मुख पर यह हंसी दिखायी दे रही है । क्या वात है ? क्या तुझे इसी अवस्था में अकाल बोध (असमय में ज्ञान) तो नहीं हो रहा है ? क्या कोई अच्छी बात तो नहीं सोच रहे हो ॥ २-५ ॥

पुत्र उवाच—

मामत्तुमिच्छति पुरो मार्ज्जारी किं न पश्यसि ।
अन्तर्द्धानगता चेयं द्वितीया जातहारिणी ।।६।
पुत्रप्रीत्या च भवती सहार्द्रा मामवेक्षती ।
उल्लाप्योल्लाप्य बहुशः परिष्वजति मां यतः ।।७।
उद्भूतपुलका स्नेहसम्भवास्राविलेक्षणा ।
ततो ममागतो हासः शृणु चाप्यत्र कारणम् ।।८।
स्वार्थे प्रसक्ता मार्ज्जारी प्रसक्तं मामवेक्षते ।
तथान्तर्द्धानगा चैव द्वितीया जातहारिणी ।।९।
स्वार्थाय स्निग्धहृदया यथैवैते ममोपरि ।
प्रवृत्ते स्वार्थमास्थाय तथैव प्रतिभासि मे ।।१०।
किन्तु मदुपभोगाय मार्ज्जारी जातहारिणी ।
त्वन्तु क्रमेणोपभोग्यं मत्तः फलमभीप्ससि ।।११।
न मां जानासि कोऽप्येष न चैवोपकृतं मया ।
सङ्गतं नातिकालीनं पञ्चसप्तदिनात्मकम् ।।१२।

पुत्र की उक्ति—

माँ ! क्या मेरे सामने बैठी बिल्ली को नहीं देख रही हो, जो मुझे खा लेना चाहती है ? और दूसरी जो जातहारिणी (जन्म लेते ही बच्चे को चुरा लेने वाली डाइन) थी और अभी-अभी कहीं अन्तर्हित हो गयी है, उसे भी तूने नहीं देखा ? पुत्र-प्रेम के कारण तू स्नेहविह्वल होकर मुझे ही देखती रही, क्योंकि बार-बार मुझे बुलवाने की चेष्टा करती हुई तू मुझे गले लगाती रही । तू आनन्द से रोमांचित हो रही है और मेरे प्रति स्नेह के कारण तेरी आँखें आनन्द के अश्रुकणों से भींग रही हैं—यही देखकर मुझे हंसी आ गयी । इस हंसी का जो कारण है, वह सुनो ।। ६-८ ।।

बिल्ली तो अपने स्वार्थ में लिप्त है और स्वार्थलिप्त होने के कारण मुझे बार-बार देख रही है । इसके अतिरिक्त दूसरी जो जातहारिणी थी, जो कहीं लुप्त हो गयी, वह भी अपने स्वार्थवश मुझ पर बड़ी स्निग्धहृदय हो रही थी । जैसे ये दोनों अपने-अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए मुझे बड़े स्नेह से देख रही थीं, वैसे ही मैं समझता हूँ कि तू भी अपने स्वार्थ की दृष्टि से मुझ पर अपनी स्निग्ध दृष्टि गड़ाए हुई हो । उन दोनों और तुझ में भेद यही है कि वे दोनों (मार्जारी और जातहारिणी) तो अविलम्ब मेरा उपभोग करना चाह रही थीं और तुम क्रमशः मुझसे मिलने वाले फल के उपभोग की इच्छुक हो । तू तो यह जानती नहीं कि मैं कौन हूँ और न मेरे द्वारा तेरा कोई उपकार ही हुआ है । तेरी और मेरी संगत बहुत समय तक चलने वाली नहीं, क्योंकि यह अधिक

तथापि स्निह्यसे सास्रा परिष्वजसि चाप्यति ।
तातेति वत्स ! भद्रेति निर्व्यलीकं ब्रवीषि माम् ॥१३॥

मातोवाच—

न त्वाहमुपकारार्थं वत्स ! प्रीत्या परिष्वजे ।
न चेदेतद्भवत्प्रीत्यै परित्यक्तास्म्यहं त्वया ॥१४॥
स्वार्थो मया परित्यक्तो यस्त्वत्तो मे भविष्यति ।
इत्युक्त्वा सा तमुत्सृज्य निष्क्रान्ता सूतिकागृहात् ॥१५॥
जडाङ्गबाह्यकरणं शुद्धान्तःकरणात्मकम् ।
जहार तं परित्यक्तं सा तदा जातहारिणी ॥१६॥
सा हृत्वा तं तदा बालं विक्रान्तस्य महीभृतः ।
प्रसूतपत्नीशयने न्यस्य तस्याददे सुतम् ॥१७॥
तमप्यन्यगृहे नीत्वा गृहीत्वा तस्य चात्मजम् ।
तृतीयं भक्षयामास सा क्रमाज्जातहारिणी ॥१८॥

से अधिक पाँच या सात दिन तक ही चल पायेगी। तब भी तू मुझसे स्नेह कर रही है, आनन्दाश्रुओं से भरी आँखों के साथ मुझे गले लगा रही है और 'मेरे बच्चे, मेरे बेटे, मेरे दुलारे' आदि सम्बोधनों से निष्कपट भाव से मुझे सम्बोधित करती जा रही है ॥ ९-१३ ॥

माता की प्रत्युक्ति—

'मेरे बच्चे ! तुझसे मेरा कोई उपकार होगा—इसलिए मैं स्नेहविह्वल होकर तुझे गले नहीं लगा रही। यदि मेरी यह चेष्टा तूझे अच्छी नहीं लगती, तब तो मैं यही समझूंगी कि तूने मुझसे मुँह मोड़ लिया है। तुझसे मेरा जो स्वार्थ कभी सिद्ध होगा, उसका मैंने परित्याग कर दिया'। यह सब बोलती हुई वह बालक को छोड़कर सूतिका-गृह से बाहर चली गयी ॥ १४-१५ ॥

जैसे ही वह चली गयी, वैसे ही जातहारिणी डाइन ने माता के द्वारा परित्यक्त उस बालक को, जिसके हाथ पैर भी नहीं चल रहे थे और न जिसकी बाह्येन्द्रियाँ ही अपने कर्मों में समर्थ थीं, जो वस्तुतः शुद्ध अन्तःकरण रूप था, चुरा ले गयी। उस जातहारिणी ने उस बालक को चुरा कर महाराज विक्रान्त की पत्नी के, जिसने एक बच्चे को जन्म दिया था, पर्यङ्क पर रख दिया और उसके बच्चे को उठा ले गयी ॥ १६-१७ ॥

उसे उठा ले जाकर वह उसे किसी दूसरे के घर में रख आयी और उसके बच्चे की (जो उसके चुराये बच्चों में तीसरा था) देह क्रमशः खा गयी। वह जातहारिणी एक के बाद एक तीन बच्चों को चुराती है और जो तीसरा होता है, उसे बड़ी क्रूरता से

हृत्वा हृत्वा तृतीयन्तु भक्षयत्यतिनिर्घृणा ।
करोत्यनुदिनं सा नु परिवर्तन्तथान्ययोः ।।१९।
विक्रान्तोऽपि ततस्तस्य सुतस्यैव महीपतिः ।
कारयामास संस्कारान् राजन्यस्य भवन्ति ये ।।२०।
आनन्देति च नामास्य पिता चक्रे विधानतः ।
मुदा परमया युक्तो विक्रान्तः स नराधिपः ।।२१।
कृतोपनयनं तन्तु गुरुराह कुमारकम् ।
जनन्याः प्रागुपस्थानं क्रियताञ्चाभिवादनम् ।।२२।
स गुरोस्तद्वचः श्रुत्वा विहस्यैवमथाब्रवीत् ।
वन्द्या मे कतमा माता जननी पालनी नु किम् ।।२३।

गुरुरुवाच—

न त्वियं ते महाभाग ! जनयित्री रुथात्मजा ।
विक्रान्तस्याग्रमहिषी हैमिनी नाम नामतः ।।२४।

आनन्द उवाच—

इयं जनित्री चैत्रस्य विशालग्रामवासिनः ।
विप्राग्र्यबोधपुत्रस्य योऽस्यां जातोऽन्यतो वयम् ।।२५।

चबा जाती है और जिन दो बच्चों को नहीं खाती उनकी अदला-बदली कर देती है। प्रतिदिन का उसका यही काम है ।। १८-१९ ।।

राजा विक्रान्त ने भी उसी (किसी दूसरे के) बालक के वे सभी संस्कार सम्पन्न करवाये जो क्षत्रिय के बालक के संस्कार होते हैं। पिता राजा विक्रान्त ने नामकरण संस्कार की विधि के अनुसार अपने उस बालक का नाम 'आनन्द' रखा और वे प्रसन्नता से गद्गद हो गए। उपनयन-संस्कार हो जाने पर गुरु ने कुमारावस्था में पहुँचे उस बालक से कहा—'जाओ पहले अपनी माता के सम्मुख जाओ और उनका अभिवादन करो'। गुरु की इस बात को सुनकर वह बालक हँस पड़ा और हँसते हुए गुरु से कहने लगा—'मैं किस माता का अभिवादन करूँ ? उसका, जो मेरी जन्मदायिनी हैं अथवा उसका, जो मेरी पालनकारिणी हैं ।। २०-२३ ।।

गुरु की उक्ति—

अरे भाग्यवान् ! यह रुथकुमारी क्या तेरी माता नहीं ? यह जो विक्रान्त महाराज की पट्टमहिषी है और जिसका नाम हैमिनी है ।। २४ ।।

आनन्द बोला—

यह चैत्र नामक उस बालक की जननी है जो 'विशाल' नामक ग्राम के निवासी 'अग्र्यबोध' नामक ब्राह्मण का पुत्र है। इस जननी से चैत्र का जन्म हुआ है। मेरा जन्म एक दूसरी जननी से हुआ है ।। २५ ।।

गुरुरुवाच—

कुतस्त्वं कथयानन्द ! चैत्रः को वा त्वयोच्यते ।
सङ्कटं महदाभाति क्व जातोऽत्र ब्रवीषि किम् ।।२६।

आनन्द उवाच—

जातोऽहमवनीन्द्रस्य क्षत्रियस्य गृहे द्विज ।
तत्पत्न्यां गिरिभद्रायामाददे जातहारिणी ।।२७।
तयात्र मुक्तो हैमिन्या गृहीत्वा च सुतञ्च सा ।
बोधस्य द्विजमुख्यस्य गृहे नीतवती पुनः ।।२८।
भक्षयामास च सुतं तस्य बोधद्विजन्मनः ।
स तत्र द्विजसंस्कारैः संस्कृतो हैमिनीसुतः ।।२९।
वयमत्र महाभाग ! संस्कृता गुरुणा त्वया ।
मया तव वचः कार्य्यमुपैमि कतमां गुरो ।।३०।

गुरुरुवाच—

अतीव गहनं वत्स ! सङ्कटं महदागतम् ।
न वेद्मि किञ्चिन्मोहेन भ्रमन्तीव हि बुद्धयः ।।३१।

'आनन्द ! तूने किससे जन्म लिया है ? और यह 'चैत्र' कौन है, जिसका तुम नाम ले रहे हो ? यह तो बड़े संकट की बात प्रतीत होती है। तेरा जन्म किससे हुआ है ? इस विषय में क्या कह रहे हो ॥ २६ ॥

गुरु की उक्ति—

द्विजवर ! मैं तो 'अवनीन्द्र' नामक एक क्षत्रिय पिता का पुत्र हूँ, जिसका जन्म उसकी धर्मपत्नी 'गिरिभद्रा' से हुआ है। जन्म लेते ही मुझे एक जातहारिणी (नवजात शिशुओं को चुराने वाली डाइन) उठा ले गयी और यहाँ रख गयी। उसने हैमिनी के नवजात बालक को ले जाकर बोध नामक एक ब्राह्मणवर्य के घर पर रख दिया। उसने 'बोध' नामक ब्राह्मण के पुत्र को तो खा लिया और हैमिनी का जो पुत्र था, उसके वे सब संस्कार हो चुके जो ब्राह्मण-पुत्र के विहित हैं। महाभाग ! आप मेरे गुरु हैं, क्योंकि आपने मेरा (उपनयन) संस्कार किया है। आपकी आज्ञा का पालन मेरा धर्म है। आप ही बतावें—'मैं किस माता के सामने जाऊँ और उसे प्रणाम करूँ' ॥ २७-३० ॥

गुरु की उक्ति—

वत्स ! यह तो बहुत बड़ा संकट आ पहुँचा। मुझे तो कुछ समझ में नहीं आ रहा है। मेरी तो बुद्धि चकरा रही है। मैं तो मोह में पड़ गया हूँ ॥ ३१ ॥

आनन्द उवाच—

मोहस्यावसरः कोऽत्र जगत्येवं व्यवस्थिते ।
कः कस्य पुत्रो विप्रर्षे ! को वा कस्य नु बान्धवः ।।३२।
आरभ्य जन्मनो नृणां सम्बन्धित्वमुपैति यः ।
अन्ये सम्बन्धिनो विप्र ! मृत्युना सन्निर्वर्तिताः ।।३३।
अत्रापि जातस्य सतः सम्बन्धो योऽस्य बान्धवैः ।
सोऽप्यस्तङ्गते देहे प्रयात्येषोऽखिलक्रमः ।।३४।
अतो ब्रवीमि संसारे वसतः को न बान्धवः ।
को वापि सततं बन्धुः किं वो विभ्राम्यते मतिः ।।३५।
पितृद्वयं मया प्राप्तमस्मिन्नेव हि जन्मनि ।
मातृद्वयञ्च किञ्चित्रं यदन्यद् देहसम्भवे ।।३६।
सोऽहं तपः करिष्यामि त्वया यो ह्यस्य भूपतेः ।
विशालग्रामतः पुत्रश्चैत्र आनीयतामिह ।।३७।

आनन्द बोला—

जब संसार की यही दशा है, तो इसमें मोह का कैसा अवसर ! विप्रवर ! इस संसार में कौन किसका पुत्र है ? और कौन किसका बन्धु-बान्धव है ? ।। ३२ ।।

जन्म होने के बाद ही कोई, किन्हीं लोगों के साथ, किसी न किसी नाते से जुड़ जाता है और उसके जो दूसरे सम्बन्धी हैं, वे विप्रवर ! मृत्यु के द्वारा दूर कर दिए जाते हैं ।। ३३ ।।

साथ ही साथ, जो जन्म लेता है और जीवित रहता है, उसका उसके बान्धवों से जो सम्बन्ध है, वह भी उसके शरीर-नाश पर समाप्त हो जाता है। यही इस संसार की गति है ।। ३४ ।।

इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि इस संसार में रहने वाले का बन्धुबान्धव कोई भी हो सकता है। अथवा कौन ऐसा है, जो किसी का सदा बन्धु-बान्धव रहा करता है ? आपकी बुद्धि इस विषय में क्यों चकरा रही है ? ।। ३५ ।।

इसी जन्म में मुझे दो पुरुष तो पिता के रूप में मिले और दो नारियाँ माता के रूप में मिलीं। दूसरे जन्म में क्या पता कि मेरे कौन पिता होंगे और कौन माता होगी ? इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? ।। ३६ ।।

इसलिए, गुरु जी ! मैं तो तपस्या करूँगा। आप इस राजा का जो पुत्र है, जिसका नाम चैत्र है, उसे विशालग्राम के विप्रगृह से यहाँ (इस राजभवन में) ले आइए ।। ३७ ।।

मार्कण्डेय उवाच--

ततः स विस्मितो राजा सभार्य्यः सह बन्धुभिः ।
तस्मान्निवर्त्य ममतामनुमेने वनाय तम् ।।३८।
चैत्रमानीय तनयं राज्ययोग्यं चकार सः ।
संमान्य ब्राह्मणं येन पुत्रबुद्धया स पालितः ।।३९।
सोऽप्यानन्दस्तपस्तेपे बाल एव महावने ।
कर्म्मणां क्षपणार्थाय विमुक्तेः परिपन्थिनाम् ।।४०।
तपस्यन्तं ततस्तञ्च प्राह देवः प्रजापतिः ।
किमर्थं तप्यसे वत्स ! तपस्तीव्रं वदस्व तत् ।।४१।

आनन्द उवाच—

आत्मनः शुद्धिकामोऽहं करोमि भगवंस्तपः ।
बन्धाय मम कर्माणि यानि तत्क्षपणोन्मुखः ।।४२।

ब्रह्मोवाच—

क्षीणाधिकारो भवति मुक्तियोग्यो न कर्मवान् ।
सत्त्वाधिकारवान् मुक्तिमवाप्स्यति ततो भवान् ।।४३।

महामुनि मार्कण्डेय ने कहा—

यह सब सुन कर राजा बड़े विस्मित हुए और रानी तथा अन्य सगे-सम्बन्धी भी विस्मय में पड़ गए। राजा ने उस बालक से अपना पितृप्रेम हटाया और उसे (तपश्चरण के लिए) वन में जाने की अनुमति दे दी। वे, चैत्र को, जो उनका अपना पुत्र था, ले आए और उसे राजा बनाने के योग्य बना दिया। उन्होंने उस ब्राह्मण का बड़ा सम्मान-सत्कार किया, जिसने चैत्र को, अपना पुत्र मान कर पाला-पोसा था। आनन्द भी, बाल्यावस्था में ही, महावन में चला गया और मोक्ष के विघातक कर्मों के विपाक के क्षपण के लिए उसने अपने आपको तपस्या में लगा दिया। उसे तपश्चरण में लीन देख-कर ब्रह्मा प्रजापति ने उससे कहा—वत्स ! इतनी घोर तपस्या क्यों कर रहे हो ? बोलो—क्या बात है ? ।। ३८-४१ ।।

आनन्द बोला—

भगवन् ! आत्मशुद्धि की कामना से मैं यह तप कर रहा हूँ। मेरे जो कर्म मेरे संसार-बन्धन के कारण हैं, उनके क्षपण (विनाश) के लिए मैं उद्यत हो गया हूँ ।। ४२ ।।

ब्रह्मा बोले—

मोक्ष पाने के योग्य तो वह होता है, जिसके कर्म तथा कर्मफल-स्वामित्व का क्षय हो जाता है। कर्मवान् मनुष्य मोक्ष के योग्य नहीं होता। तुम्हारा तो समस्त प्राणिजाति

आनन्द उवाच—

मोहस्यावसरः कोऽत्र जगत्येवं व्यवस्थिते ।
कः कस्य पुत्रो विप्रर्षे ! को वा कस्य नु बान्धवः ।।३२।
आरभ्य जन्मनो नृणां सम्बन्धित्वमुपैति यः ।
अन्ये सम्बन्धिनो विप्र ! मृत्युना सन्निवर्तिताः ।।३३।
अत्रापि जातस्य सतः सम्बन्धो योऽस्य बान्धवैः ।
सोऽप्यस्तङ्गते देहे प्रयात्येषोऽखिलक्रमः ।।३४।
अतो ब्रवीमि संसारे वसतः को न बान्धवः ।
को वापि सततं बन्धुः किं वो विभ्राम्यते मतिः ।।३५।
पितृद्वयं मया प्राप्तमस्मिन्नेव हि जन्मनि ।
मातृद्वयञ्च किञ्चित्रं यदन्यद् देहसम्भवे ।।३६।
सोऽहं तपः करिष्यामि त्वया यो ह्यस्य भूपतेः ।
विशालग्रामतः पुत्रश्चैत्र आनीयतामिह ।।३७।

आनन्द बोला—

जब संसार की यही दशा है, तो इसमें मोह का कैसा अवसर ! विप्रवर ! इस संसार में कौन किसका पुत्र है ? और कौन किसका बन्धु-बान्धव है ? ॥ ३२ ॥

जन्म होने के बाद ही कोई, किन्हीं लोगों के साथ, किसी न किसी नाते से जुड़ जाता है और उसके जो दूसरे सम्बन्धी हैं, वे विप्रवर ! मृत्यु के द्वारा दूर कर दिए जाते हैं ॥ ३३ ॥

साथ ही साथ, जो जन्म लेता है और जीवित रहता है, उसका उसके बान्धवों से जो सम्बन्ध है, वह भी उसके शरीर-नाश पर समाप्त हो जाता है। यही इस संसार की गति है ॥ ३४ ॥

इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि इस संसार में रहने वाले का बन्धुबान्धव कोई भी हो सकता है। अथवा कौन ऐसा है, जो किसी का सदा बन्धु-बान्धव रहा करता है ? आपकी बुद्धि इस विषय में क्यों चकरा रही है ? ॥ ३५ ॥

इसी जन्म में मुझे दो पुरुष तो पिता के रूप में मिले और दो नारियाँ माता के रूप में मिलीं। दूसरे जन्म में क्या पता कि मेरे कौन पिता होंगे और कौन माता होगी ? इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? ॥ ३६ ॥

इसलिए, गुरु जी ! मैं तो तपस्या करूँगा। आप इस राजा का जो पुत्र है, जिसका नाम चैत्र है, उसे विशालग्राम के विप्रगृह से यहाँ (इस राजभवन में) ले आइए ॥ ३७ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

ततः स विस्मितो राजा सभार्य्यः सह बन्धुभिः ।
तस्मान्निवर्त्य ममतामनुमेने वनाय तम् ॥३८।
चैत्रमानीय तनयं राज्ययोग्यं चकार सः ।
संमान्य ब्राह्मणं येन पुत्रबुद्धया स पालितः ॥३९।
सोऽप्यानन्दस्तपस्तेपे बाल एव महावने ।
कर्म्मणां क्षपणार्थाय विमुक्तेः परिपन्थिनाम् ॥४०।
तपस्यन्तं ततस्तञ्च प्राह देवः प्रजापतिः ।
किमर्थं तप्यसे वत्स ! तपस्तीव्रं वदस्व तत् ॥४१।

आनन्द उवाच—

आत्मनः शुद्धिकामोऽहं करोमि भगवंस्तपः ।
बन्धाय मम कर्माणि यानि तत्क्षपणोन्मुखः ॥४२।

ब्रह्मोवाच—

क्षीणाधिकारो भवति मुक्तियोग्यो न कर्मवान् ।
सत्त्वाधिकारवान् मुक्तिमवाप्स्यति ततो भवान् ॥४३।

महामुनि मार्कण्डेय ने कहा—

यह सब सुन कर राजा बड़े विस्मित हुए और रानी तथा अन्य सगे-सम्बन्धी भी विस्मय में पड़ गए। राजा ने उस बालक से अपना पितृप्रेम हटाया और उसे (तपश्चरण के लिए) वन में जाने की अनुमति दे दी। वे, चैत्र को, जो उनका अपना पुत्र था, ले आए और उसे राजा बनाने के योग्य बना दिया। उन्होंने उस ब्राह्मण का बड़ा सम्मान-सत्कार किया, जिसने चैत्र को, अपना पुत्र मान कर पाला-पोसा था। आनन्द भी, बाल्यावस्था में ही, महावन में चला गया और मोक्ष के विघातक कर्मों के विपाक के क्षपण के लिए उसने अपने आपको तपस्या में लगा दिया। उसे तपश्चरण में लीन देख-कर ब्रह्मा प्रजापति ने उससे कहा—वत्स ! इतनी घोर तपस्या क्यों कर रहे हो ? बोलो—क्या बात है ? ॥ ३८-४१ ॥

आनन्द बोला—

भगवन् ! आत्मशुद्धि की कामना से मैं यह तप कर रहा हूँ। मेरे जो कर्म मेरे संसार-बन्धन के कारण हैं, उनके क्षपण (विनाश) के लिए मैं उद्यत हो गया हूँ ॥ ४२ ॥

ब्रह्मा बोले—

मोक्ष पाने के योग्य तो वह होता है, जिसके कर्म तथा कर्मफल-स्वामित्व का क्षय हो जाता है। कर्मवान् मनुष्य मोक्ष के योग्य नहीं होता। तुम्हारा तो समस्त प्राणिजाति

भवता मनुना भाव्यं षष्ठेन व्रज तत् कुरु ।
अलन्ते तपसा तस्मिन् कृते मुक्तिमवाप्स्यसि ॥४४।

मार्कण्डेय उवाच—

इत्युक्तो ब्रह्मणा सोऽपि तथेत्युक्त्वा महामतिः ।
तत्कर्माभिमुखो यातस्तपसो विरराम ह ॥४५।
चाक्षुषेत्याह तं ब्रह्मा तपसो विनिवर्तयन् ।
पूर्वनाम्ना बभूवाथ प्रख्यातश्चाक्षुषो मनुः ॥४६।
उपयेमे विदर्भां स सुतामुग्रस्य भूभृतः ।
तस्याश्चोत्पादयामास पुत्रान् प्रख्यातविक्रमान् ॥४७।
तस्य मन्वन्तरेशस्य येऽन्तरे त्रिदशा द्विज ।
ये चर्षयस्तथैवेन्द्रो ये सुताश्चास्य तान् शृणु ॥४८।
आप्या नाम सुरास्तत्र तेषामेकोऽष्टको गणः ।
प्रख्यातकर्मणां विप्र ! यज्ञे हव्यभुजामयम् ॥४९।
प्रख्यातबलवीर्य्याणां प्रभामण्डलदुर्दृशाम् ।
द्वितीयश्च प्रसूताख्यो देवानामष्टको गणः ॥५०।

पर स्वामित्व होगा और उसकी समाप्ति पर तुम्हें मोक्ष मिलेगा। तुम्हें ६ठा मनु बनना है। इसलिए यहाँ से जाओ और ऐसा कर्म करो, जिससे तुम मनु हो जाओ। मनु हो जाने के वाद तुम्हारी मुक्ति हो जायेगी। तुम्हें इस तपस्या से क्या लेना-देना ॥ ४३-४४ ॥

महामुनि मार्कण्डेय ने कहा—

ब्रह्मा के ऐसा कहने पर वह बुद्धिमान् बालक भी 'आपकी आज्ञा का पालन करूँगा'—यह कह कर तपस्या से विरत हो गया और मनु बनने के उपयुक्त धर्मकर्मानुष्ठान में लग गया। उसे तपस्या से विरत करते हुए, ब्रह्मा ने उसे 'चाक्षुष' कहा था। ब्रह्मा द्वारा प्रदत्त अपने पहले नाम, अर्थात् 'चाक्षुष' नाम से ही वह प्रसिद्ध चाक्षुष मनु वन गया ॥ ४५-४६ ॥

उसने 'उग्र' नामक राजा की पुत्री विदर्भा से विवाह किया और उससे प्रसिद्ध पराक्रमी पुत्रों को जन्म दिया। इस चाक्षुष मनु के मन्वन्तर में जो-जो देवगण हैं, जो-जो ऋषिगण हैं, जो देवेन्द्र है और जो-जो राजपुत्र हैं उनके विषय में सुनो ॥ ४७-४८ ॥

इस मन्वन्तर में आप्य नामक जो देव हैं, उनका एक गण है, जिसमें आठ देवता होते हैं। यह गण उन देवों का गण है, जो अपने कर्मों से वड़े यशस्वी हो चुके हैं और जिन्हें यज्ञ-यागों में हव्य-समर्पण किया जाता है। इसमें दूसरा जो 'प्रसूत' नामक देवगण है, वह बलवीर्य में प्रसिद्ध तथा तीव्र तेज से दुर्निरीक्ष्य देवों का गण है और इसमें भी

तथैवाष्टक एवान्यो भव्याख्यो देवतागणः ।
चतुर्थश्च गणस्तत्र यूथगाख्यस्तथाष्टकः ॥५१॥
लेखसंज्ञास्तथैवान्ये तत्र मन्वन्तरे द्विज ।
पञ्चमे च गणे देवास्तत्संज्ञा ह्यमृताशिनः ॥५२॥
शतं क्रतूनामाहृत्य यस्तेषामधिपोऽभवत् ।
मनोजवस्तथैवेन्द्रः संख्यातो यज्ञभागभुक् ॥५३॥
सुमेधा विरजाश्चैव हविष्मानुन्नतो मधुः ।
अतिनामा सहिष्णुश्च सप्तासन्निति चर्षयः ॥५४॥
ऊरु-पुरु-शतद्युम्नप्रमुखाः सुमहाबलाः ।
चाक्षुषस्य मनोः पुत्राः पृथिवीपतयोऽभवन् ॥५५॥
एतत्ते कथितं षष्ठं मया मन्वन्तरं द्विज ।
चाक्षुषस्य तथा जन्म चरितञ्च महात्मनः ॥५६॥
साम्प्रतं वर्तते योऽयं नाम्ना वैवस्वतो मनुः ।
सप्तमीयेऽन्तरे तस्य देवाद्यास्तान् शृणुष्व मे ॥५७॥
[य इदं कीर्तयेद् धीमान् चाक्षुषस्यान्तरं भुवि ।
शृणुते च लभेत् पुत्रानारोग्यसुखसम्पदम् ॥५८॥]

इति श्रीमाण्डेयपुराणे षष्ठं मन्वन्तरं समाप्तम्, अध्यायः षट्सप्ततितमः ॥७६॥

आठ देव होते हैं। तीसरा 'भव्य' नामक जो देवगण है, उसमें भी आठ देवता हैं। इसमें चौथा जो देवगण है, वह 'यूथग' नाम का है और यह भी आठ देवताओं का गण है। द्विजवर क्रौष्टुकि ! इस मन्वन्तर में पाँचवाँ देवगण 'लेख' नाम का है, क्योंकि इसमें जो-जो अमृतभोगी देव हैं, वे लेख-संज्ञक हैं ॥ ४९-५२ ॥

इस मन्वन्तर में क्रतुशत का आहर्ता जो देवाधिपति इन्द्र है, वह 'मनोजव' नामक है और वह यज्ञभाग के भोजन का अधिकारी है ॥ ५३ ॥

इस मन्वन्तर में १) सुमेधस्, २) विरजस्, ३) हविष्मान्, ४) उन्नत, ५) मधु, ६) अभिताभ तथा ७) सहिष्णु—ये सप्तर्षि हैं ॥ ५४ ॥

चाक्षुष मनु के जो पुत्र पृथिवीपति हो चुके हैं, उनमें ऊरु, पुरु तथा शतद्युम्न प्रमुख हैं, जो कि महाबलशाली हो चुके हैं। द्विजवर क्रौष्टुकि ! मैंने तुम्हारे समक्ष छठे मन्वन्तर अर्थात् चाक्षुष मन्वन्तर का वर्णन कर दिया और साथ ही चाक्षुष मनु के जन्म तथा उन महात्मा के चरित का भी आख्यान सुना दिया। आजकल जो 'मनु' हैं, जिसे वैवस्वत मनु कहते हैं, उनके मन्वन्तर में जो कि सप्तम मन्वन्तर है, जो देव-इन्द्र-ऋषि प्रभृति हैं, उनके सम्बन्ध में मुझसे सुन लो। [जो बुद्धिमान् पुरुष इस पृथिवी पर, चाक्षुष मन्वन्तर का गुण-कीर्तन करता है अथवा गुण-श्रवण करता है, उसे पुत्र लाभ होता है तथा वह आरोग्य एवं सुख सम्पत्ति की प्राप्ति का अधिकारी हो जाता है।] ॥५५-५८॥

पर्यालोचन

(क) इस अध्याय में 'चाक्षुष' नामक षष्ठ मनु और उनके मन्वन्तर के आरम्भ का विस्तृत आख्यान वर्णित है। प्रजापति परमेष्ठी के चक्षु अथवा नेत्र से पूर्व जन्म में उत्पन्न होने के कारण इनका नाम 'चाक्षुष' पड़ा है। परमेष्ठी के नेत्र से सम्भूत चाक्षुष मनु का जो आख्यान मार्कण्डेयपुराण में उपलब्ध होता है, वह अन्य किसी पुराण में उपलब्ध नहीं होता। मार्कण्डेयपुराण में यह आख्यान कहाँ से आया—इसका कुछ पता नहीं चलता। किन्तु आख्यान बड़ा विचित्र और रोचक है। चाक्षुष मनु के रूप में प्रसिद्ध होने के पहले इनका नाम चैत्र था और राज्यसुख के भोग से विरक्त होकर संसारबन्धन से छुटकारा पाने के लिए ये वन में चले गए तथा तपश्चरण में लीन हो गए। किन्तु प्रजापति ब्रह्मा ने इन्हें तपश्चरण से मुक्त करवाया, क्योंकि जिस महान् कार्य के लिए इनका पुनर्जन्म हुआ था, उसे सम्पन्न किए बिना मोक्ष की प्राप्ति का अधिकारी बनना अनुचित ही नहीं असम्भव भी माना जाता है। ब्रह्मा से ही षष्ठ मनु के रूप में प्रतापी राजा बनने, प्रजापालक तथा वंशपरम्परा के प्रवर्तन करने का आशीर्वाद पाकर चैत्र ही चाक्षुष मनु के रूप में प्रसिद्ध हुए।

(ख) विष्णुपुराण में भी चाक्षुष मनु का वर्णन मिलता है, किन्तु इनके जन्म से सम्बद्ध कोई आख्यान नहीं मिलता। देखिये विष्णुपुराण में 'चाक्षुष' नामक ६ठे मनु और उनके मन्वन्तर के विषय में निम्नलिखित श्लोक (३.१.२६-२९)—

'षष्ठे मन्वन्तरे चासीच्चाक्षुषाख्यस्तथा मनुः।
मनोजवस्तथैवेन्द्रो देवानपि निबोध मे॥

आप्याः प्रसूता भव्याश्च पृथुकाश्च दिवौकसः।
महानुभावा लेखाश्च पञ्चैते ह्यष्टका गणाः॥

सुमेधा विरजाश्चैव हविष्मानुत्तमो मधुः।
अतिनामा सहिष्णुश्च सप्तासन्निति चर्षयः॥

ऊरुः पूरुः शतद्युम्नप्रमुखाः सुमहाबलाः।
चाक्षुषस्य मनोः पुत्राः पृथिवीपतयोऽभवन्॥'

मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय के ५४ और ५५ श्लोक विष्णुपुराण के उपर्युक्त २७वें और २८वें श्लोक से, पदयोजना की दृष्टि से, सर्वथा समान हैं।

(ग) श्रीमद्भागवत (स्कन्ध ८, अध्याय ५, श्लोक ७-१०) में चाक्षुष मन्वन्तर का संक्षिप्त निरूपण किया गया है—

'षष्ठश्च चक्षुषः पुत्रश्चाक्षुषो नाम वै मनुः।
पूरुपुरुषसुद्युम्नप्रमुखाश्चाक्षुषात्मजाः ॥

इन्द्रो मन्त्रद्रुमस्तत्र देवा आप्यादयो गणाः।
मुनयस्तत्र वै राजन् हविष्मद्वीरकादयः॥

तत्राऽपि देवः सम्भूत्यां वैराजस्याऽभवत् सुतः।
अजितो नाम भगवानंशेन जगतः पतिः॥
पयोधिं येन निर्मथ्य सुराणां साधिता सुधा।
भ्रममाणोऽम्भसि धृतः कूर्मरूपेण मन्दरः॥'

श्रीमद्भागवत के उपर्युक्त उल्लेख में चाक्षुष मन्वन्तर के इन्द्र का नाम मन्त्रद्रुम है, किन्तु विष्णुपुराण और मार्कण्डेयपुराण में निर्दिष्ट इन्द्र का नाम मनोजव है। यह नामभेद कैसे हो गया? यह भी एक समस्या है। श्रीमद्भागवत के अनुसार भगवान् विष्णु के कूर्म-रूप में अवतार का युग चाक्षुष मन्वन्तर का युग है।

(घ) श्रीदेवीभागवत के नवम स्कन्ध के नवम अध्याय में भी चाक्षुष मनु का वर्णन मिलता है। देखिए नीचे लिखे श्लोक (१-२९)—

'अथातः श्रूयतां चित्रं देवीमाहात्म्यमुत्तमम्।
अङ्गपुत्रेण मनुना यथाप्तं राज्यमुत्तमम्॥
अङ्गस्य राज्ञः पुत्रोऽभूच्चाक्षुषो मनुरुत्तमः।
षष्ठः सुपुल्हं नाम ब्रह्मर्षिं शरणं गतः॥
ब्रह्मर्षे त्वामहं प्राप्तः शरणं प्रणतार्तिहन्।
शाधि मां किङ्करं स्वामिन् येनाहं प्राप्नुयां श्रियम्॥
मेदिन्याश्चाधिपत्यं मे स्याद्यथावदखण्डितम्।
अव्याहतं भुजबलं शस्त्रास्त्रनिपुणं क्षमम्॥
संततिश्चिरकालीनाऽप्यखण्डं वय उत्तमम्।
अन्तेऽपवर्गलाभश्च स्यात्तथोपदिशाऽद्य मे॥
इत्येवं वचनं तस्य मनोः कर्णपथेऽभवत्।
प्रत्युवाच मुनिः श्रीमान् देव्याः संराधनं परम्॥
राजन्नाकर्णय वचो मम श्रोत्रसुखं महत्।
शिवामाराधयाऽद्य त्वं तत्प्रसादादिदं भवेत्॥
कीदृगाराधनं देव्यास्तस्याः परमपावनम्।
केनाकारेण कर्तव्यं कारुण्याद् वक्तुमर्हसि॥
राजन्नाकर्ण्यतां देव्याः पूजनं परमव्ययम्।
वाग्भवं बीजमव्यक्तं संजप्यमनिशं तथा॥

....

एवं स मुनिवर्येण पुल्हेन प्रबोधितः॥
अङ्गपुत्रस्तपस्तप्तुं जगाम विरजां नदीम्॥
स च तेपे तपस्तीव्रं वाग्भवस्य जपे रतः।
बीजस्य पृथिवीपालः शीर्णपर्णाशनो विभुः॥

जानासि देवदेवेसि यत्प्राथ्यं मनसेप्सितम् ।
अन्तर्यामिस्वरूपेण तत्सर्वं देवपूजिते ॥

तथापि मम भाग्येन जातं यत्तव दर्शनम् ।
ब्रवीमि देवि मे देहि राज्यं मन्वन्तराश्रितम् ॥

दत्तं मन्वन्तरस्यास्य राज्यं राजन्यसत्तम ।
पुत्रा महाबलास्ते च भविष्यन्ति गुणाधिकाः ॥

राज्यं निष्कण्टकं भावि मोक्षोऽन्ते चाऽपि निश्चितः ।
एवं दत्त्वा वरं देवी मनवे वरमुत्तमम् ॥

जगामाऽदर्शनं सद्यस्तेन भक्त्या च संस्तुता ।
सोऽपि राजा मनुः षष्ठः प्रसादात्तु तदाश्रयात् ॥

बभूव मनुमान्योऽसौ सार्वभौमसुखैर्वृतः ।
पुत्रास्तस्य बलोद्रिक्ताः कायभारसहादृताः ॥...

एवं च चाक्षुषमनुर्देव्याराधनतः प्रभुः ।
बभूव मनुवर्योऽसौ जगामान्ते शिवापदम् ॥'

श्रीदेवीभागवत के ऊपर दिए उद्धरण से चाक्षुष मनु की एक नयी ही आख्यान रेखा उभरती है। सभी मनुओं के मनुत्व में देवी की भक्ति परम कारण के रूप में निर्दिष्ट है—यह देवीभागवत के मन्वन्तर-वर्णन की एक विशेषता है।

श्री मार्कण्डेयपुराण के षष्ठ मन्वन्तर वर्णन की समाप्ति के साथ ७६वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त ॥

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

मार्तण्ड रस्यवेर्भार्या तनया विश्वकर्मणः ।
संज्ञा नाम महाभाग तस्यां भानुरजीजनत् ॥१।
मनुं प्रख्यातयशसमनेकज्ञानपारगम् ।
विवस्वतः सुतो यस्मात्तस्माद्वैवस्वतस्तु सः ॥२।
संज्ञा च रविणा दृष्टा निमीलयति लोचने ।
यतस्ततः सरोषोऽर्कः संज्ञां निष्ठुरमब्रवीत् ॥३।
मयि दृष्टे सदा यस्मात् कुरुषे नेत्रसंयमम् ।
तस्माज्जनिष्यसे मूढे प्रजासंयमनं यमम् ॥४।

मार्कण्डेय उवाच—

ततः सा चपलां दृष्टिं देवी चक्रे भयाकुला ।
विलोलितदृशं दृष्ट्वा पुनराह च तां रविः ॥५।
यस्माद्विलोलिता दृष्टिर्मयि दृष्टे त्वयाधुना ।
तस्माद्विलोलां तनयां नदीं त्वं प्रसविष्यसि ॥६।

महामुनि मार्कंण्डेय ने कहा—

महाभाग क्रौष्टुकि ! विश्वकर्मा की 'संज्ञा' नाम की एक पुत्री थी। वह मार्तण्ड भगवान् सूर्य की पत्नी बनी। सूर्य भगवान् ने उससे महायशस्वी तथा विविधज्ञान-पारङ्गत 'मनु' को जन्म दिया। इस मनु का नाम विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र होने के नाते वैवस्वत पड़ा ॥ १-२ ॥

जब भी सूर्य संज्ञा पर दृष्टिपात करते थे, तभी वह अपनी आँखें बन्द कर लेती थी। उसके इस व्यवहार से सूर्य रुष्ट हो गए और उन्होंने उससे बड़ी निष्ठुर बात कही। उन्होंने कहा कि जब मैं तुझे देखता हूँ, तब तू अपने नेत्रसंयम कर लेती है (आँखें मूँद लेती है), इसलिए अरी मूढ ! तू ऐसे पुत्र को जन्म देगी, जो जीव-जन्तुओं का संयमन अथवा नियन्त्रण करने वाला 'यम' कहा जाएगा ॥ ३-४ ॥

महामुनि मार्कण्डेय ने कहा—

(पति के द्वारा प्रदत्त यह शाप-वचन सुनकर) संज्ञा भयभीत हो गयी और उसके नेत्रों में चंचलता आ गयी। सूर्य ने चंचल आँखों वाली उसे देखकर पुनः शाप दिया— जब मैंने तुझे देखा तब तू अभी फिर अपनी आँखें इधर-उधर नचाने लगी। अब तू ऐसी पुत्री को जन्म देगी, जो एक चंचल प्रवाह वाली नदी होगी ॥ ५-६ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

ततस्तस्यान्तु संजज्ञे भर्तृशापेन तेन वै ।
यमश्च यमुना चेयं प्रख्याता सुमहानदी ॥७।

सापि संज्ञा रवेस्तेजः सेहे दुःखेन भामिनी ।
असहन्ती च सा तेजश्चिन्तयामास वै तदा ॥८।

किङ्करोमि क्व गच्छामि क्व गतायाश्च निर्वृतिः ।
भवेन्मम कथं भर्ता कोपमर्कश्च नैष्यति ॥९।

इति संचिन्त्य बहुधा प्रजापतिसुता तदा ।
बहु मेने महाभागा पितृसंश्रयमेव सा ॥१०।

ततः पितृगृहे गन्तुं कृतबुद्धिर्यशस्विनी ।
छायामयीमात्मतनुं निर्ममे दयितां रवेः ॥११।

ताञ्चोवाच त्वया वेश्मन्यत्र भानोर्यथा मया ।
तथा सम्यगपत्येषु वर्तितव्यं यथा रवौ ॥१२।

पृष्टयापि न वाच्यन्ते तथैतद्गमनं मम ।
सैवास्मि नाम संज्ञेति वाच्यमेतत्सदा वचः ॥१३।

महामुनि मार्कण्डेय ने कहा—

तदनन्तर, पति के उस शाप से, संज्ञा के गर्भ से (प्रजा-संयमन) 'यम' और प्रसिद्ध महानदी 'यमुना' का जन्म हुआ । सुन्दरी संज्ञा ने भी, बड़े कष्ट के साथ अपने पति सूर्यदेव के तेज का सहन किया । किन्तु उनके तेज को (प्रतिदिन) सहन करने में असमर्थता का अनुभव करती सोच-विचार में पड़ गयी । वह सोचने लगी—'क्या करूं, कहाँ चली जाऊं,कहाँ चले जाने पर शान्ति मिलेगी'? क्या मेरे पतिदेव भगवान् सूर्य क्रुद्ध नहीं होंगे ?' प्रजापति की उस सौभाग्यवती पुत्री ने बार-बार इसी प्रकार सोचते-विचारते मन में यही निश्चय किया कि पिता की शरण लेने में ही कल्याण होगा ॥७-१०॥

इसके बाद यशस्विनी सूर्य-पत्नी 'संज्ञा' ने अपने पिता के घर पर जाने का निश्चय कर लिया और अपनी देह को छाया के रूप में परिवर्तित कर दिया । उसने छाया से कहा—मेरे पति सूर्य भगवान् के भवन में, जैसे मैं किया करती थी, वैसे तू भी मेरी सन्तानों से सौम्य व्यवहार करना और मेरे पति सूर्यदेव के प्रति भी सौम्य व्यवहार करना । मेरे पति के पूछने पर भी तू उनसे पिता के घर मेरे चले जाने की बात न बताना । तू उनसे सदा यही कहना कि तू ही उनकी पत्नी है, जिसका नाम 'संज्ञा' है ॥ ११-१३ ॥

छायासंज्ञोवाच—

आकेशग्रहणाद् देवि ! आशापाच्च वचस्तव ।
करिष्ये कथयिष्यामि वृत्तन्तु शापकर्षणात् ॥१४।
इत्युक्ता सा तदा देवी जगाम भवनं पितुः ।
ददर्श तत्र त्वष्टारं तपसा धूतकल्मषम् ॥१५।
बहुमानाच्च तेनापि पूजिता विश्वकर्मणा ।
तस्थौ पितृगृहे सा तु कञ्चित्कालमनिन्दिता ॥१६।
ततस्तां प्राह चार्वङ्गी पिता नातिचिरोषिताम् ।
स्तुत्वा च तनयां प्रेमबहुमानपुरःसरम् ॥१७।
त्वान्तु मे पश्यतो वत्से दिनानि सुबहून्यपि ।
मुहूर्त्तार्द्धसमानि स्युः किन्तु धर्मो विलुप्यते ॥१८।
बान्धवेषु चिरं वासो नारीणां न यशस्करः ।
मनोरथो बान्धवानां नार्य्या भर्तृगृहे स्थितिः ॥१९।
सा त्वं त्रैलोक्यनाथेन भर्त्रा सूर्य्येण सङ्गता ।
पितृगेहे चिरं कालं वस्तुं नार्हसि पुत्रिके ॥२०।

छायासंज्ञा की उक्ति—

संज्ञा देवी ! जब तक सूर्यदेव मेरे केशपाश पकड़ कर न खींचे अथवा शाप न दें तब तक तू जैसा कहती है, वैसा ही करती रहूँगी । किन्तु केशग्रहण अथवा शापदान की दशा में जो वस्तुस्थिति है, उससे उन्हें अवगत करा दूँगी । छाया संज्ञा के इस प्रकार कहे जाने पर संज्ञा देवी अपने पिता के घर चली गयी और उसने निष्कलुष अपने पिता त्वष्टा (विश्वकर्मा) को देखा ॥ १४-१५ ॥

उसके पिता विश्वकर्मा ने उसे समादरपूर्वक बड़ा सम्मान दिया । कुछ समय तक वह किसी के निन्दावचन सुने बिना, पिता के घर पर रही । वह सुन्दरी सूर्यपत्नी, जब कुछ दिनों तक ही अपने पिता के घर में रही, तब बड़े प्रेम और बड़े मान-सम्मान से अपनी पुत्री को सराहते पिता ने कहा—'बेटी ! तुझे अपनी आंखों के सामने देखते, मेरे इतने अधिक दिन, आधे क्षण के समान बीत गए । किन्तु मुझे इस बात का डर है कि तेरे धर्म की हानि हो रही है । नारी के लिए अपने सगे-सम्बन्धियों के बीच बहुत दिन तक निवास श्लाध्य नहीं माना जाता, क्योंकि नारी के सगे-सम्बन्धी यही मानते-मनाते हैं कि विवाहोपरान्त उसका स्थान पति-गृह है । इसलिए मेरी बेटी ! जब तेरा विवाह त्रैलोक्य के स्वामी भगवान् सूर्य से हो चुका है, तब तेरा पितृगृह में बहुत समय

सा त्वं भर्तृगृहं गच्छ तुष्टोऽहं पूजितासि मे ।
पुनरागमनं कार्य्यं दर्शनाय शुभे मम ॥२१।

मार्कण्डेय उवाच—

इत्युक्ता सा तदा पित्रा तथेत्युक्त्वा च सा मुने ।
संपूजयित्वा पितरं जगामाथोत्तरान् कुरून् ॥२२।
सूर्य्यतापमनिच्छन्ती तेजसस्तस्य बिभ्यती ।
तपश्चचार तत्रापि वडवारूपधारिणी ॥२३।
संज्ञेयमिति मन्वानो द्वितीयायामहस्पतिः ।
जनयामास तनयौ कन्याञ्चैकां मनोरमाम् ॥२४।
छायासंज्ञा त्वपत्येषु यथा स्वेष्वतिवत्सला ।
तथा न संज्ञाकन्यायां पुत्रयोश्चान्ववर्तत ॥२५।
लालनाद्युपभोगेषु विशेषमनुवासरम् ।
मनुस्तत् क्षान्तवानस्या यमस्तस्या न चक्षमे ॥२६।
ताडनाय च वै कोपात् पादस्तेन समुद्यतः ।
तस्याः पुनः क्षान्तिमता न तु देहे निपातितः ॥२७।

तक निवास उचित नहीं है। इसलिए अब तू अपने पति के घर चली जा। तुझ पर मैं बहुत प्रसन्न हूं। तुझे मैंने सम्मान दिया है। अरी कल्याणी! मुझसे भेंट करने तू पुनः आ जाना ॥ १६-२१ ॥

महामुनि मार्कण्डेय ने कहा—

मुनिवर क्रौष्टुकि! जब पिता ने उससे ऐसा कहा, तब उसने भी 'हां, ऐसा ही करूंगी' कह दिया और पिता की पूजा-प्रतिष्ठा करने के बाद उत्तर कुरुदेश की ओर चल पड़ी ॥ २२ ॥

सूर्य के तेज से भय खाती और सूर्य के ज्योति-सन्ताप की अनिच्छुक वह वहाँ (उत्तर कुरुवर्ष में) वड़वा (घोड़ी) का रूप धारण किये तपस्या करने लगी ॥ २३ ॥

दूसरी अर्थात् छायासंज्ञा को ही वास्तविक संज्ञा मानकर सूर्य भगवान् ने उससे दो पुत्र और एक सुन्दर कन्या को जन्म दिया ॥ २४ ॥

छायासंज्ञा अपनी सन्तानों के प्रति जैसा मातृ-वात्सल्य रखती थी, वैसा संज्ञा के पुत्रों और पुत्री के प्रति नहीं रखने लगी ॥ २५ ॥

माँ के लाड-प्यार आदि सुख के भोगों में प्रतिदिन का यह भेद-भाव मनु ने तो सहन कर लिया, किन्तु यम के लिए यह सब असह्य हो गया ॥ २६ ॥

यम ने छाया-संज्ञा के ताडन के लिए क्रोधवश अपना पैर तो उठा लिया, किन्तु क्षमा-प्रदान के भाव से उसे उसके (छाया-संज्ञा के) शरीर पर नहीं गिरने दिया ॥ २७ ॥

ततः शशाप तं कोपाच्छायासंज्ञा यमं द्विज ।
किञ्चित् प्रस्फुरमाणौष्ठी विचलत्पाणिपल्लवा ॥२८॥
पितुः पत्नीममर्य्यादं यन्मां तर्ज्जयसे पदा ।
भुवि तस्मादयं पादस्तवाद्यैव पतिष्यति ॥२९॥

मार्कण्डेय उवाच—

इत्याकर्ण्य यमः शापं मात्रा दत्तं भयातुरः ।
अभ्येत्य पितरं प्राह प्रणिपातपुरःसरम् ॥३०॥

यम उवाच—

तातैतन्महदाश्चर्य्यं न दृष्टमिति केनचित् ।
माता वात्सल्यमुत्सृज्य शापं पुत्रे प्रयच्छति ॥३१॥
यथा मनुर्ममाचष्टे नेयं माता तथा मम ।
विगुणेष्वपि पुत्रेषु न माता विगुणा भवेत् ॥३२॥

मार्कण्डेय उवाच—

यमस्यैतद्वचः श्रुत्वा भगवांस्तिमिरापहः ।
छायासंज्ञां समाहूय पप्रच्छ क्व गतेति सा ॥३३॥

द्विजवर क्रौष्टुकि ! छाया-संज्ञा क्रोधाकुल हो उठी और उसने फड़कते ओठों और कांपते हाथों से यम को शाप दे दिया ॥ २८ ॥

'तू अपने पिता की पत्नी को इस प्रकार उद्दण्डता दिखाते, पैर उठा कर धमका रहा है। जा, तेरा पैर, आज ही तेरे शरीर से अलग होकर धरती पर गिर जायगा' ॥ २९ ॥

महामुनि मार्कण्डेय ने कहा—

यम माता के द्वारा दिए गए शाप-वचन सुनकर, भयभीत होकर, पिता के पास गया और उन्हें प्रणाम करने के बाद उसने उनसे कहा ॥ ३० ॥

यम की उक्ति—

पिताजी ! एक बहुत बड़ा आश्चर्य है, जिसे आजतक किसी ने नहीं देखा है। क्या माता वात्सल्य-भाव को तिलाञ्जलि देकर पुत्र को शाप दे सकती है ? जैसे मेरे भाई मनु का कहना है कि यह मेरी माता नहीं है, वैसे ही मैं भी यह कहना चाहता हूँ कि यह मेरी माता नहीं हो सकती, क्योंकि पुत्र भले ही दुष्ट हो जाय, माता कभी दुष्ट नहीं हुआ करती ॥ ३१-३२ ॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

यम की यह बात सुनकर भगवान् सूर्य ने, जो कि संसार के सन्तमस का नाश करने वाले हैं, छायासंज्ञा को बुलवाया और उससे पूछा कि वह (संज्ञा) कहाँ गयी है ॥ ३३ ॥

सा चाह तनया त्वष्टुरहं संज्ञा विभावसो ।
पत्नी तव त्वयापत्यान्येतानि जनितानि मे ॥३४॥
इत्थं विवस्वतः सा तु बहुशः पृच्छतो यदा ।
नाचचक्षे ततः क्रुद्धो भास्वांस्तां शप्तुमुद्यतः ॥३५॥
ततः सा कथयामास यथावृत्तं विवस्वतः ।
विदितार्थश्च भगवान् जगाम त्वष्टुरालयम् ॥३६॥
ततः स पूजयामास तदा त्रैलोक्यपूजितम् ।
भास्वन्तं परया भक्त्या निजगेहमुपागतम् ॥३७॥
संज्ञां पृष्टस्तदा तस्मै कथयामास विश्वकृत् ।
आगतैवेह मे वेश्म भवतः प्रेषितेति वै ॥३८॥
दिवाकरः समाधिस्थो वडवारूपधारिणीम् ।
तपश्चरन्तीं ददृशे उत्तरेषु कुरुष्वथ ॥३९॥
सौम्यमूर्तिः शुभाकारो मम भर्त्ता भवेदिति ।
अभिसन्धिश्च तपसो बुबुधेऽस्या दिवाकरः ॥४०॥
शातनं तेजसो मेऽद्य क्रियतामिति भास्करः ।
तश्चाह विश्वकर्माणं संज्ञायाः पितरं द्विज ॥४१॥

छायासंज्ञा ने कहा भगवन्—मैं ही त्वष्टा की पुत्री संज्ञा हूँ और आपकी पत्नी हूँ, जिसके गर्भ से आपने इन बच्चों को जन्म दिया है ॥ ३४ ॥

जब सूर्य बार-बार उससे संज्ञा के विषय में पूछने लगे और उसने ठीक उत्तर नहीं दिया, तब वे क्रुद्ध हो गए और शाप देने के लिए उद्यत हो उठे ॥ ३५ ॥

तब छाया-संज्ञा ने, जो घटना घटी थी, उससे उन्हें अवगत करा दिया। भगवान् सूर्य, अन्ततः, त्वष्टा (विश्वकर्मा) के घर पहुँचे ॥ ३६ ॥

त्वष्टा (विश्वकर्मा) नें त्रैलोक्य द्वारा पूजित तथा अपने आवास पर आये साक्षात् भगवान् सूर्य की बड़ी श्रद्धा-भक्ति से अर्चा-पूजा की ॥ ३७ ॥

उन्होंने संज्ञा के सम्बन्ध में पूछा और विश्वकर्मा ने उनसे कहा कि 'वह मेरे घर आयी थी, किन्तु मैंने उसे आपके घर भेज दिया है' ॥ ३८ ॥

भगवान् सूर्य समाधिस्थ हुए और उन्होंने वडवारूप में परिवर्तित संज्ञा को उत्तर कुरुवर्ष में तपश्चरण में लगी देख लिया। संज्ञा की तपस्या के पीछे सूर्य को, उस की मनोवृत्ति का पता चल गया कि वह इसलिए तपस्या कर रही है, जिसमें उसके पति (भगवान् सूर्य) सौम्य मूर्ति तथा मनोरम शरीरधारी हो जाँय। द्विजवर क्रौष्टुकि! भगवान् सूर्य ने संज्ञा के पिता अपने श्वसुर विश्वकर्मा से कहा कि वे आज ही उनके

संवत्सरभ्रमेस्तस्य विश्वकर्मा रवेस्ततः ।
तेजसः शातनश्चक्रे स्तूयमानश्च दैवतैः ।।४२।

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे वैवस्वतमन्वन्तरे सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ।

तेज को काट-छांट कर कम कर दें। विश्वकर्मा ने वर्षपर्यन्त ब्रह्माण्ड का भ्रमण करने वाले भगवान् भास्कर के तेज को काट-छांट कर घटा दिया और उनके इस कार्य के लिए देववृन्द उनका स्तुति-गान करने लगे ।। ३९-४२ ।।

पर्यालोचन

(क) वैवस्वत मनु के वर्णन से सम्बद्ध इस अध्याय में वैवस्वत मनु की विचित्र कथा कही गयी है। यह कथा हरिवंशपुराण में भी प्रायः इसी रूप में आती है। विष्णु-पुराण में इस कथा का कोई निर्देश नहीं मिलता। स्वायम्भुव मनु से प्रारम्भ कर वैवस्वत मनु पर्यन्त सप्तसंख्यक मनु तथा इन मनुओं के मन्वन्तर में परिगणित देव-मुनि राजगण—सभी श्री विष्णु की ही विभूतियाँ हैं—इस आशय का विष्णुपुराण का निम्न-लिखित श्लोक (३, १, ४६) ध्यान देने योग्य है—

सर्वे च देवा मनवः समस्ताः सप्तर्षयो ये मनुसूनवश्च।
इन्द्रश्च योऽयं त्रिदशेशभूतो विष्णोरशेषास्तु विभूतयस्ताः ॥'

(ख) श्रीमद्भागवत (स्कन्ध ८, अध्याय १३) में वैवस्वत मन्वन्तर का संक्षिप्त उल्लेख निम्नलिखित है—

'मनुर्विवस्वतः पुत्रः श्राद्धदेव इति श्रुतः।
सप्तमो वर्तमानो यस्तदपत्यानि मे शृणु ॥
इक्ष्वाकुर्नभगश्चैव धृष्टः शर्यातिरेव च।
नरिष्यन्तोऽथ नाभागः सप्तमो दिष्ट उच्यते ॥
करुषश्च पृषध्रश्च दशमो वसुमान् स्मृतः।
मनोर्वैवस्वतस्यैते दश पुत्राः परन्तप ॥
आदित्या वसवो रुद्रा विश्वेदेवा मरुद्गणाः।
अश्विनावृभवो राजन्निन्द्रस्तेषां पुरन्दरः।
कश्यपोऽत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वामित्रोऽथ गौतमः।
जमदग्निर्भरद्वाज इति सप्तर्षयः स्मृताः ॥
अत्राऽपि भगवज्जन्म कश्यपाददितेरभूत्।
आदित्यानामवरजो विष्णुर्वामनरूपधृक् ॥'

इस उल्लेख में एक विशेषता है, वह यह है कि इसी मन्वन्तर में भगवान् विष्णु वामन रूप में अवतीर्ण हुए थे।

(ग) श्रीदेवीभागवत के १०म स्कन्ध के १०म अध्याय (श्लोक १-२) में वैवस्वत मनु के विषय में निम्ननिर्दिष्ट उल्लेख देखिए—

'सप्तमो मनुराख्यातो मनुर्वैवस्वतः प्रभुः।
श्राद्धदेवः परानन्दभोक्ता मान्यस्तु भूभुजाम् ॥
स च वैवस्वतमनुः परदेव्याः प्रसादतः।
तथा तत्तपसा चैव जातो मन्वन्तराधिपः ॥'

देवी की तपस्या से सब कुछ संभाव्य है—यही एक सूत्र श्रीदेवीभागवत में एक-वाक्यता का ताना-बाना वुनता दिखायी देता है।

॥ श्री मार्कण्डेयपुराण के 'वैवस्वत मन्वन्तर' प्रसंग से सम्बद्ध ७७वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त ॥

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

ततस्तं तुष्टुवुर्देवास्तथा देवर्षयो रविम् ।
वाग्भिरोड्यमशेषस्य त्रैलोक्यस्य समागताः ॥१॥

देवा ऊचुः —

नमस्ते ऋक्स्वरूपाय सामरूपाय ते नमः ।
यजुःस्वरूपरूपाय साम्नान्धामवते नमः ॥२॥
ज्ञानैकधामभूताय निर्धूततमसे नमः ।
शुद्धज्योतिःस्वरूपाय विशुद्धायामलात्मने ॥३॥
वरिष्ठाय वरेण्याय परस्मै परमात्मने ।
नमोऽखिलजगद्व्यापिस्वरूपायात्ममूर्त्तये ॥४॥
इदं स्तोत्रवरं रम्यं श्रोतव्यं श्रद्धया नरैः ।
शिष्यो भूत्वा समाधिस्थो दत्त्वा देयं गुरोरपि ॥५॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

(विश्वकर्मा द्वारा तेजःशातन के वाद) विश्वकर्मा के आवास पर समागत देवों और देवर्षियों ने समस्त त्रैलोक्य के पूज्य भगवान् सूर्य का स्तुति-गान प्रारम्भ किया ॥१॥

देवों का सूर्य स्तवन—

भगवन् भास्कर! ऋक्स्वरूप आप को नमस्कार है, सामस्वरूप आपको नमस्कार है, यजुःस्वरूप आपको नमस्कार है और साम के समस्त तेजस्वरूप आपको नमस्कार है ॥२॥

ज्ञान के एक मात्र निधानभूत आपको नमस्कार है, संतमस के संहारक आपको नमस्कार है, शुद्ध ज्योतिःस्वरूप आपको नमस्कार है और विशुद्ध निर्मल आत्मस्वरूप आपको नमस्कार है ॥३॥

त्रैलोक्य में सर्वश्रेष्ठ आपको नमस्कार है, समस्त त्रैलोक्य के पूज्य आपको नमस्कार है, परात्पर परमात्मस्वरूप आपको नमस्कार है, समस्त जगत् में व्याप्त स्वरूप आपको नमस्कार है और आत्ममूर्ति आपको नमस्कार है ॥४॥

मनुष्यों के लिए इस सर्वश्रेष्ठ सूर्य-स्तोत्र का समाहितचित्त होकर बड़ी श्रद्धा के साथ, गुरु की शिष्यता स्वीकार कर, गुरुमुख से श्रवण करना आवश्यक है और तदनन्तर गुरुदक्षिणा का प्रदान भी आवश्यक है। शून्यचित्त (निर्भाव) होकर इस सूर्य-

न शून्यभूतैः श्रोतव्यमेतत्तु सफलं भवेत् ।
सर्वकारणभूताय निष्ठायै ज्ञानचेतसाम् ॥६।
नमः सूर्य्यस्वरूपाय प्रकाशात्मस्वरूपिणे ।
भास्कराय नमस्तुभ्यं तथा दिनकृते नमः ॥७।
शर्वरीहेतवे चैव सन्ध्याज्योत्स्नाकृते नमः ।
त्वं सर्वमेतद् भगवन् जगदुद्भ्रमता त्वया ॥८।
भ्रमत्याविद्धमखिलं ब्रह्माण्डं सचराचरम् ।
त्वदंशुभिरिदं स्पृष्टं सर्वं सञ्जायते शुचि ॥९।
क्रियते त्वत्करैः स्पर्शाज्जलादीनां पवित्रता ।
होमदानादिको धर्मो नोपकाराय जायते ॥१०।
तावद्यावन्न संयोगि जगदेतत् त्वदंशुभिः ।
ऋचस्ते सकला ह्येता यजूंष्येतानि चान्यतः ॥११।
सकलानि च सामानि निपतन्ति त्वदङ्गतः ।
ऋङ्मयस्त्वं जगन्नाथ ! त्वमेव च यजुर्मयः ॥१२।

स्तोत्र का श्रवण वर्जित है। समाहितचित्तता के साथ ही इसका श्रवण फलदायक होता है, क्योंकि सूर्य ही जगत् के समस्त कारणों के कारण हैं और वे ही उन लोगों के लिए, जिनके हृदय में ज्ञानज्योति प्रज्वलित है, परमगति हैं ॥ ५-६ ॥

भगवन् ! सूर्य-स्वरूप आपको नमस्कार है, प्रकाशमय आत्मस्वरूप आपको नमस्कार है, त्रैलोक्य के प्रकाशकस्वरूप आपको नमस्कार है और दिनकरस्वरूप आप को नमस्कार है ॥७॥

रात्रि के कारणस्वरूप आपको नमस्कार है और संध्या तथा ज्योत्स्ना के निदानस्वरूप आपको नमस्कार है। भगवन् ! यह समस्त दृश्यजात आपका ही रूप है। समस्त जगत् में भ्रमण करने वाले आप ही हैं ॥८॥

भगवन् ! आपके भ्रमण के ही कारण, यह समस्त चराचर ब्रह्माण्ड, जो आपसे ही सम्बद्ध है, भ्रमणशील हुआ करता है। आपकी किरणों के स्पर्शमात्र से ही संसार की समस्त वस्तुएँ पवित्र हो जाती हैं ॥९॥

आपकी किरणों के संपर्क से ही जलादि समस्त भौतिक पदार्थों में पवित्रता का संक्रमण हो जाता है, क्योंकि बिना ऐसा हुए, अग्निहोत्र तथा दान-दक्षिणा प्रभृति धर्म-कर्म से लोक का कोई उपकार सम्भव नहीं ॥१०॥

भगवन् ! जब तक आपकी किरणों के साथ जगत् का संयोग नहीं होता, तब-तक जगत् को कोई लाभ नहीं होता। भगवन् ! समस्त ऋक्सूक्त, समस्त यजुःसंघ, समस्त सामसंघात आपके अङ्ग से ही आविर्भूत हुए हैं। जगन्नाथ ! आप ही ऋङ्मय हैं, आप

यतः साममयश्चैव ततो नाथ ! त्रयीमयः ।
त्वमेव ब्रह्मणो रूपं परञ्चापरमेव च ।।१३।
मूर्त्तामूर्त्तस्तथा सूक्ष्मः स्थूलरूपस्तथा स्थितः ।
निमेषकाष्ठादिमयः कालरूपः क्षयात्मकः ।।
प्रसीद स्वेच्छया रूपं स्वतेजःशमनं कुरु ।।१४।

मार्कण्डेय उवाच—

एवं संस्तूयमानस्तु देवैर्देवर्षिभिस्तथा ।
मुमोच स्वं तदा तेजस्तेजसां राशिरव्ययः ।।१५।
यत्तस्य ऋङ्मयं तेजो भविता तेन मेदिनी ।
यजुर्मयेनापि दिवं स्वर्गः साममयं रवेः ।।१६।
शातितास्तेजसो भागा ये त्वष्ट्रा दश पञ्च च ।
त्वष्ट्रैव तेन शर्वस्य कृतं शूलं महात्मना ।।१७।
चक्रं विष्णोर्वसूनाञ्च शङ्कवोऽथ सुदारुणाः ।
पावकस्य तथा शक्तिः शिबिका धनदस्य च ।।१८।
अन्येषामसुरारीणामस्त्राण्युग्राणि यानि वै ।
यक्षविद्याधराणाञ्च तानि चक्रे स विश्वकृत् ।।१९।

ही यजुर्मय हैं और आप ही साममय हैं। इसीलिए आप त्रयीमय हैं। आपका ही रूप 'पर और अपर ब्रह्म' का रूप है। आप ही मूर्त तथा अमूर्त-दोनों हैं; आप ही सूक्ष्म भी हैं और स्थूल भी हैं, आप ही क्षयात्मक काल हैं, जो कि क्षण, काष्ठादि विविध भागों में विभक्त हैं। आप कृपा करें और अपनी इच्छा से अपने ज्योतिःपुञ्जात्मक रूप तथा अपने (विश्वदहन समर्थ) तेज का शमन करें ।।११-१४।।

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

इस प्रकार देवों और देवर्षियों के द्वारा जब स्तुति की गयी, तब तेज के अक्षय राशिस्वरूप भगवान् सूर्य ने अपने तेज के कुछ अंश का परित्याग कर दिया ।।१५।।

इस प्रकार सूर्य भगवान् का जो ऋङ्मय तेज था वह पृथिवी लोक के रूप में, जो यजुर्मय तेज था वह अन्तरिक्ष-लोक के रूप में और जो साममय तेज था वह स्वर्गलोक के रूप में परिणत हो गया। महात्मा विश्वकर्मा ने उनके तेज के जो १५ भाग काट-छाँट दिये थे, उनसे उन्होंने भगवान् शङ्कर के त्रिशूल का निर्माण किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने उन्हीं से विष्णु भगवान् के सुदर्शन चक्र, वसुगण के दारुण शङ्कु-शस्त्र, अग्निदेव की दाहकशक्ति, कुबेर की शिबिका (पालकी) तथा अन्य समस्त देवों, यक्षों और विद्याधरों के भयङ्कर अस्त्र-शस्त्रों की सृष्टि की ।।१६-१९।।

ततश्च षोडशं भागं बिभर्त्ति भगवान् विभुः ।
तत्तेजः पञ्चदशधा शातितं विश्वकर्म्मणा ॥२०।

ततोऽश्वरूपधृग्भानुरुत्तरानगमत् कुरून् ।
ददृशे तत्र संज्ञाञ्च वडवारूपधारिणीम् ॥२१।

सा च दृष्ट्वा तमायान्तं परपुंसो विशङ्कया ।
जगाम संमुखं तस्य पृष्ठरक्षणतत्परा ॥२२।

ततश्च नासिकायोगं तयोस्तत्र समेतयोः ।
नासत्यदस्रौ तनयावश्वीवक्त्रविनिर्गतौ ॥२३।

रेतसोऽन्ते च रेवन्तः खड्गी चर्म्मी तनुत्रधृक् ।
अश्वारूढः समुद्भूतो बाणतूणसमन्वितः ॥२४।

ततः स्वरूपमतुलं दर्शयामास भानुमान् ।
तस्यैषा च समालोक्य स्वरूपं मुदमाददे ॥२५।

स्वरूपधारिणीञ्चेमामानिनाय निजाश्रयम् ।
संज्ञां भार्य्यां प्रीतिमतीं भास्करो वारितस्करः ॥२६।

यही कारण है कि अब भगवान् सूर्य अपने तेज का १६ वां भाग ही धारण करते हैं, क्योंकि विश्वकर्मा ने १५ भाग तो काट-छांट दिए थे ॥२०॥

तदनन्तर भगवान् सूर्य अश्व का रूप धारण कर उत्तर कुरुवर्ष में गए और वहाँ उन्होंने बडवा (घोड़ी) रूप धारण करने वाली (अपनी पत्नी) संज्ञा को देखा ॥२१॥

उन्हें आता हुआ देखकर और यह सोच कर कि उसके पति के अतिरिक्त कोई दूसरा आ रहा है, वह उनके सामने जा खड़ी हुई, जिसमें उसका पृष्ठ-भाग सुरक्षित रहे ॥२२॥

आमने-सामने खड़े उन दोनों की नाक एक दूसरे से सट गयी और वडवा रूपिणी संज्ञा से नासत्य और दस्र नाम के दो पुत्र उत्पन्न हो गए ॥२३॥

अश्वरूपधारी सूर्य के वीर्यपात के अन्त में रेवन्त नाम के एक और पुत्र ने जन्म लिया, जो जन्म लेते ही खड्गधारी, ढालधारी, कवचधारी, अश्वारूढ तथा वाण एवं तूणीरधारी था ॥२४॥

उसके बाद भगवान् सूर्य ने अपने अनुपम रमणीय स्वरूप का प्रदर्शन किया और संज्ञा ने जब उनके उस रूप को देखा तो प्रसन्नता से खिल उठी ॥२५॥

जल के क्षयकारक भगवान् भास्कर अपना वास्तविक रूप-धारण करने वाली संज्ञा को, जो उनकी धर्मपत्नी थी और उन्हें देखकर बड़ी प्रसन्न थी, अपने आवास पर

ततः पूर्वसुतो योऽस्याः सोऽभूद्वैवस्वतो मनुः ।
द्वितीयश्च यमः शापाद्धर्मदृष्टिरभूत् सुतः ॥२७॥
कृमयो मांसमादाय पादतोऽस्य महीतले ।
पतिष्यन्तीति शापान्तं तस्य चक्रे पिता स्वयम् ॥२८॥
धर्मदृष्टिर्यतश्चासौ समो मित्रे तथाऽहिते ।
ततो नियोगं तं याम्ये चकार तिमिरापहः ॥२९॥
यमुना च नदी जज्ञे कलिन्दान्तरवाहिनी ।
अश्विनौ देवभिषजौ कृतौ पित्रा महात्मना ॥३०॥
गुह्यकाधिपतित्वे च रेवन्तोऽपि नियोजितः ।
च्छायासंज्ञासुतानाञ्च नियोगः श्रूयतां मम ॥३१॥
पूर्वजस्य मनोस्तुल्यश्छायासंज्ञासुतोऽग्रजः ।
ततः सावर्णिकीं संज्ञामवाप तनयो रवेः ॥३२॥
भविष्यति मनुः सोऽपि बलिरिन्द्रो यदा तदा ।
शनैश्चरो ग्रहाणाञ्च मध्ये पित्रा नियोजितः ॥३३॥

ले आये । उसके बाद उन दोनों का जो पहला पुत्र था वह वैवस्वत मनु हो गया और 'यम' नामक जो दूसरा पुत्र था वह (छायासंज्ञा) के शाप के कारण धर्मदृष्टि (न्यायकर्ता) हो गया । यम के पिता सूर्य ने ही शाप का अन्त यह कह कर कर दिया कि इसके पैर से मांस के टुकड़े लेकर कीड़े पृथिवी पर गिर पड़ेंगे । यम के धर्मदृष्टि होने के कारण उसके लिए मित्र और शत्रु एक समान थे । इसीलिये भगवान् सूर्य ने यम को प्रजा-नियन्त्रण के कार्य में नियुक्त कर दिया। महात्मा सूर्यदेव ने ही, पिता होने के नाते, अपनी पुत्री यमुना को कलिन्द देश के मध्य में प्रवाहित होने वाली नदी बना दिया और दोनों अश्विनीकुमारों को देववैद्य बना दिया । रेवन्त को उन्होंने गुह्यकों के अधिपति पद पर नियुक्त कर दिया । अब छायासंज्ञा के पुत्रों के लिये उन्होंने जो अधिकार दिये, उनके विषय में मुझसे सुनो ॥२६-३१॥

छायासंज्ञा का जो ज्येष्ठ पुत्र था, जो अपने से बड़े संज्ञापुत्र मनु के समान था, वह पिता सूर्य के द्वारा 'सावर्णिक' नाम से विभूषित किया गया ॥३२॥

वह सावर्णिक भी उस समय मनु बनेगा, जब बलि इन्द्रपद पर आसीन होंगे । पिता सूर्य ने शनैश्चर को ग्रहों की मध्यस्थता के अधिकार पर नियुक्त कर दिया ॥३३॥

तयोस्तृतीया या कन्या तपती नाम सा कुरुम् ।
नृपात् संवरणात् पुत्रमवाप मनुजेश्वरम् ॥३४।
तस्य वैवस्वतस्याहं मनोः सप्तममन्तरम् ।
कथयामि सुतान् भूपानृषीन् देवान् सुराधिपम् ॥३५।

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे सावर्णिके मन्वन्तरे वैवस्वतोत्पत्तिर्नामाष्टसप्ततितमोऽध्यायः ।

इन दोनों पुत्रों के अतिरिक्त छायासंज्ञा की 'तपती' नाम की जो पुत्री थी, वह अपने पति संवरण नामक राजा से महाराज कुरु नामक पुत्र की माता बन गयी ॥३४॥

अब मैं इस सप्तम वैवस्वत मन्वन्तर में जो मनुपुत्र राजगण, ऋषिगण, देवगण तथा देवराज इन्द्र हो चुके हैं, उनके विषय में कहूँगा ॥३५॥

*

पर्यालोचन

(क) इस अध्याय का विषय वैवस्वत मनु की उत्पत्ति का वर्णन है। वैवस्वत शब्द से हीं यह स्पष्ट है कि यह मनु विवस्वान् अथवा सूर्य के पुत्र थे। इस अध्याय में सूर्य की अनन्त ज्योतिर्मयता और दीप्तिमत्ता का पौराणिक आख्यान के रूप में निरूपण किया गया है। विश्वकर्मा द्वारा प्रदीप्त सूर्यमण्डल के तक्षण का जो आख्यान है, वह बड़ा रोचक है। विश्वकर्मा द्वारा सूर्य के प्रदीप्त तेज के शातन अर्थात् क्षीण किए जाने के बाद ही सूर्य भगवान् के दर्शन में देवगण समर्थ हो सके और समस्त देवों ने सूर्य का स्तवन किया। देववृन्द द्वारा सूर्य-स्तवन के विषय में 'नमस्ते ऋक्स्वरूपाय सामरूपाय ते नमः' (श्लोक २) प्रभृति जो श्लोक हैं, उनमें ऋषि-कवियों द्वारा प्रत्यभिज्ञात वेद-वाङ्मय के देवता सविता के स्वरूप का ही प्रकारान्तर से निरूपण किया हुआ है। मार्कण्डेयपुराणकार के हृदय में ऐसा प्रतीत होता है, मानो वेदचतुष्टय में प्रसिद्ध निम्न-लिखित मन्त्र के मनन-चिन्तन की क्रिया अनवरत गतिशील है—

'ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥'
(ऋग्वेद मं० ३, अ० ५, सू० ६२, मन्त्र १०)

मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय के ४थे श्लोक में जो 'वरेण्य' पद प्रयुक्त है, वह उपर्युक्त गायत्री-मन्त्र के मनन-चिन्तन का ही परिणाम है।

ऋग्वेद (मं० ४, अ० ५, सू० ५३, मन्त्र २) में निम्नलिखित मन्त्र आता है—

'दिवो धर्ता भुवनस्य प्रजापतिः
पिशङ्गं द्रापिं प्रतिमुञ्चते कविः।
विचक्षणः पृथयन्नापृण-
न्नुर्वजीजनत् सविता सुम्नमुक्थ्यम् ॥'

उपर्युक्त मन्त्र का ही निगूढ़ अभिप्राय इस अध्याय के नीचे लिखे श्लोक (४) में प्रतिबिम्बित-सा झलक रहा है—

'वरिष्ठाय वरेण्याय परस्मै परमात्मने।
नमोऽखिलजगद्व्यापिस्वरूपायात्ममूर्तये ॥'

सूर्योपासना का प्रारम्भ वैदिक युग से ही हुआ है। पौराणिक युग में यही सूर्योपासना भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रचलित रही है। आजकल भी नैष्ठिक धर्मप्राण जनता सूर्य की उपासना करती है। आजकल की सूर्योपासना पौराणिक युग की ही देन है।

(ख) 'ओ३म् भूर्भुवः स्वः' की व्याहृति का बड़ा सुन्दर अभिप्राय इस अध्याय के निम्नाङ्कित श्लोक (१६) में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है—

'यत्तस्य ऋङ्मयं तेजो भविता तेन मेदिनी।
यजुर्मयेनाऽपि दिवं स्वर्गः साममयं रवेः॥'

(ग) कलियुग में सौर धर्म का परम्परागत माहात्म्य भविष्यपुराण के ब्राह्मपर्व के १९ वें अंश के निम्नलिखित श्लोक-सन्दर्भ (८-२१) में वर्णित है—

'अज्ञानार्णवमग्नानां सर्वेषां प्राणिनामयम्।
सौरधर्मो ह्ययं श्रीमान् परतीरप्रदो यतः॥

ये स्मरन्ति रविं भक्त्या कीर्तयन्ति च ये खग।
पूजयन्ति च ये नित्यं ते गताः परमं पदम्॥

आत्मद्रोहः कृतस्तेन जातेनैव खगाधिप।
नार्चितो येन देवेशः सहस्रकिरणो रविः॥

सुचिरं संभ्रमत्यस्मिन् दुःखदे च भवार्णवे।
जराभूतमहाग्राहे तृष्णावेलाकुलापरे॥

मानुष्यं दुर्लभं प्राप्य येऽर्चयन्ति दिवाकरम्।
तेषां हि सफलं जन्म कृतार्थास्ते नरोत्तमाः॥

सूर्यभक्तिपरा ये च ये च तद्गतमानसाः।
ये स्मरन्ति सदा सूर्यं न ते दुःखस्य भागिनः॥

ये वाञ्छन्ति महाभोगान् राज्यं वा त्रिदशालये।
सौभाग्यं कीर्तिमतुलां भोगं त्यागं यशः श्रियम्॥

सौन्दर्यं जगतः ख्यातिः कीर्तिधर्मादयः स्मृताः।
फलान्येतानि वै पुत्र सूर्यभक्तिविधेर्बुध॥

तस्मात् संपूजयेत् सूर्यं सर्वदेवगणार्चितम्।
दुर्लभा भास्करे भक्तिर्दुर्लभं च तदर्चनम्॥

दानं च दुर्लभं तस्मै तद्धोमश्च सुदुर्लभः ।
दुर्लभं तस्य विज्ञानं तदभ्यासोऽपि दुर्लभः ॥

सुदुर्लभतरं ज्ञेयं तदाराधनमुत्तमम् ।
लाभस्तेषां मनुष्याणां ये रविं शरणं गताः ॥

येषामिहेश्वरे भानौ नित्यं सूर्ये गतं मनः ।
नमस्कारादिसंयुक्तं रविरित्यक्षरद्वयम् ॥

जिह्वाग्रे वर्तते यस्य सफलं तस्य जीवितम् ।
य एवं पूजयेद् भानुं श्रद्धया परयाऽन्वितः ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यः स नरो नात्र संशयः ॥'

(घ) सूर्यपूजा तथा सौरधर्म का विषय एक महाग्रन्थ का विषय है। 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' की वैदिक भावना पौराणिक काल में सूर्योपासना के रूप में परिणत दिखायी देती है और सौरधर्म उसी के नियामक रूप में प्रवर्तित प्रतीत होता है। 'कोणार्क' का सूर्यमन्दिर सूर्यपूजा का एक महान् प्रतीक है, जिसकी वास्तुकला में सूर्यरश्मियों के विक्रमवैचित्र्य की अभिव्यञ्जना का पूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है। लोलार्कषष्ठी का व्रतानुष्ठान, जो आज भी काशी और उसके व्यापक परिसर में किया जाया करता है, हिन्दू-धर्म पर पुराणों की नियामक शक्ति का परिणाम-सा लगता है।

(ङ) कालक्रम की दृष्टि से मार्कण्डेयपुराण से प्राचीन विष्णुपुराण (२.११.१०) का निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है, जिसमें सूर्य-विषयक वही भावना संक्षेप में, 'सूर्य-स्तवन' में, विशद रूप से अभिव्यक्त है—

'अङ्गमेषा त्रयी विष्णोर्ऋग्यजुःसामसंज्ञिता ।
विष्णुशक्तिरवस्थानं सदादित्ये करोति सा ॥'

अर्थात् सूर्यमण्डल साक्षात् वैष्णवी-शक्ति का अधिष्ठान है। तात्पर्य यह है कि सूर्योपासना श्रीविष्णु की आराधना का एक प्रकारविशेष है।

(च) वराहपुराण में सूर्य की ज्ञानशक्तिमय सनातन आत्मतत्त्व की मूर्ति के रूप में परिकल्पना की गयी है। देखिये वराहपुराण के आदित्योत्पत्ति नामक अध्याय के निम्नलिखित श्लोक—

'योऽसावात्मा ज्ञानशक्तिरेक एव सनातनः ।
स द्वितीयं यदा चैच्छत् तदा तेजः समुत्थितम् ॥

तत् सूर्य इति भास्वांस्तु अन्योन्येन महात्मनः ।
लोलीभूतानि तेजांसि भासयन्ति जगत्त्रयम् ॥

तस्मिन् सर्वे सुराः सिद्धा गणाः सर्वे महर्षिभिः ।
स्वयंभूता इति विभो तस्मात् सूर्यस्तु सोऽभवत् ॥'

उपर्युक्त अभिप्राय का आदिस्रोत निम्नलिखित प्रसिद्ध मन्त्र है, जो आज भी प्रयोग में प्रचलित है—

'आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥'

श्री मार्कण्डेयपुराण के सावर्णिक मन्वन्तर-वर्णन से संबद्ध 'वैवस्वतोत्पत्ति' नामक ७८वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त ॥

ऊनाशीतितमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

आदित्या वसवो रुद्राः साध्या विश्वे मरुद्गणाः ।
भृगवोऽङ्गिरसश्चाष्टौ यत्र देवगणाः स्मृताः ॥१।
आदित्या वसवो रुद्रा विज्ञेयाः कश्यपात्मजाः ।
साध्याश्च मरुतो विश्वे धर्मपुत्रगणास्त्रयः ॥२।
भृगोस्तु भृगवो देवाः पुत्रा ह्यङ्गिरसः सुताः ।
एष सर्गश्च मारीचो विज्ञेयः साम्प्रताधिपः ॥३।
ऊर्ज्जस्वी नाम चैवेन्द्रो महात्मा यज्ञभागभुक् ।
अतीतानागता ये च वर्तन्ते साम्प्रतञ्च ये ॥४।
सर्वे ते त्रिदशेन्द्रास्तु विज्ञेयास्तुल्यलक्षणाः ।
सहस्राक्षाः कुलिशिनः सर्व एव पुरन्दराः ॥५।
मघवन्तो वृषाः सर्वे शृङ्गिणो गजगामिनः ।
ते शतक्रतवः सर्वे भूताभिभवतेजसः ॥६।
धर्माद्यैः कारणैः शुद्धैराधिपत्यगुणान्विताः ।
भूतभव्यभवन्नाथाः शृणु चैतत् त्रयं द्विज ॥७।

महामुनि मार्कण्डेय ने कहा—

इस मन्वन्तर में ये आठ देवगण हैं—१) आदित्य, २) वसु, ३) रुद्र, ४) साध्य, ५) विश्व, ६) मरुत्, ७) भृगु और ८) अङ्गिरा। इनमें आदित्य, वसु और रुद्र—ये तीन कश्यप-पुत्र देवगण हैं तथा साध्य, मरुत् और विश्व ये धर्म-पुत्र देवगण हैं ॥ १-२ ॥

'भृगु' देवगण भृगु-पुत्र हैं और अङ्गिरागण (अङ्गिरस) अङ्गिरा के पुत्र हैं। यह देवसर्ग मारीच सर्ग है और नवीन सर्ग है ॥ ३ ॥

वैवस्वत मन्वन्तर में जो इन्द्र है, उसे ऊर्जस्वी कहा जाता है। यह इन्द्र भी यज्ञ-भाग का भोक्ता होता है। जो इन्द्र हो चुके हैं, आगे होने वाले हैं और अभी विद्यमान हैं, उन सबको देवराज—समान लक्षण अर्थात् सहस्राक्ष, वज्रधारी तथा पुरन्दर माना जाता है। ये सभी इन्द्र 'मघवा' के नाम से विख्यात हैं। ये सभी वृष (महाबली), शृङ्गी, गजगामी, शतक्रतु, समस्त भूतजात के पराभव-कारक तेज से तेजोमय, धर्मप्रभृति शुद्ध कारणों से स्वर्लोकाधिपत्य के गुणों से सुशोभित तथा भूत, भविष्य तथा वर्तमान—तीनों युगों के अधिराज हुआ करते हैं। इसके बाद त्रैलोक्य (लोकत्रय) के विषय में सुन लो ॥ ४-७ ॥

भूर्लोकोऽयं स्मृता भूमिरन्तरिक्षं दिवः स्मृतम् ।
दिव्याख्यश्च तथा स्वर्गस्त्रैलोक्यमिति गद्यते ।।८।
अत्रिश्चैव वसिष्ठश्च काश्यपश्च महानृषिः ।
गौतमश्च भरद्वाजो विश्वामित्रोऽथ कौशिकः ।।९।
तथैव पुत्रो भगवानृचीकस्य महात्मनः ।
जमदग्निस्तु सप्तैते मुनयोऽत्र तथान्तरे ।।१०।
इक्ष्वाकुर्नाभगश्चैव धृष्टः शर्यातिरेव च ।
नरिष्यन्तश्च विख्यातो नाभागारिष्ट एव च ।।११।
करूषश्च पृषध्रश्च वसुमान् लोकविश्रुतः ।
मनोर्वैवस्वतस्यैते नव पुत्राः प्रकीर्तिताः ।।१२।
वैवस्वतमिदं ब्रह्मन् ! कथितन्ते मयान्तरम् ।
अस्मिन् श्रुते नरः सद्यः पठिते चैव सत्तम ।
मुच्यते पातकैः सर्वैः पुण्यञ्च महदश्नुते ।।१३।

॥ इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे सावर्णिके मन्वन्तरे वैवस्वतकीर्तनं नामैकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥

भूर्लोक यह भूलोक है, द्युलोक (भुवर्लोक) अन्तरिक्ष-लोक है और दिव्यलोक स्वर्लोक कहा जाया करता है। इस प्रकार ये तीनों त्रैलोक्य कहे जाते हैं ॥ ८ ॥

इस वैवस्वत मन्वन्तर के ये सप्तर्षि हैं—१) अत्रि, २) वसिष्ठ, ३) महर्षि कश्यप, ४) गौतम, ५) भरद्वाज, ६) कौशिक विश्वामित्र तथा ७) महात्मा ऋचीक के पुत्र भगवान् जमदग्नि ॥ ९-१० ॥

वैवस्वत मनु के नौ पुत्र कहे गये हैं—१) इक्ष्वाकु, २) नाभाग, ३) धृष्ट, ४) शर्याति, ५) नरिष्यन्त, ६) नाभागारिष्ट, ७) करुष, ८) पृषध्र और ९) लोकविश्रुत वसुमान् ॥ ११-१२ ॥

द्विजवर क्रौष्टुकि ! मैंने तुम्हें इस वैवस्वत मन्वन्तर के विषय में जो कुछ कहना था कह दिया। इस मन्वन्तर के आख्यान के श्रवण अथवा पठन से मनुष्य समस्त पाप-सन्ताप से छुटकारा पा जाता है और महापुण्य का भागी होता है ॥ १३ ॥

*

पर्यालोचन

(क) मार्कण्डेयपुराण की अपेक्षा प्राचीन विष्णुपुराण (अंश ३, अध्याय १) में वैवस्वत मनु के विषय में निम्नलिखित उल्लेख उद्धरणीय हैं—

'विवस्वतः सुतो विप्र श्राद्धदेवो महाद्युतिः।
मनुः स वर्तते श्रीमान् साम्प्रतं सप्तमेऽन्तरे॥

आदित्यवसुरुद्राद्या देवाश्चात्र महामुने।
पुरन्दरस्तथैवाऽत्र मैत्रेय ! त्रिदशेश्वरः॥

वसिष्ठः कश्यपोऽथात्रिर्जमदग्निः सगौतमः।
विश्वामित्रभरद्वाजौ सप्त सप्तर्षयोऽत्र च॥

इक्ष्वाकुश्चैव नाभागो धृष्टः शर्यातिरेव च।
नरिष्यन्तश्च विख्यातो नाभ उद्दिष्ट एव च॥

करुषश्च पृषध्रश्च वसुमान् लोकविश्रुतः।
मनोर्वैवस्वतस्यैते नव पुत्रास्तु धार्मिकाः॥

विष्णुशक्तिरनौपम्या सावोद्रिक्ता स्थितौ स्थिता।
मन्वन्तरेष्वशेषेषु देवत्वेनाऽधितिष्ठति॥'

विष्णुपुराण के उपर्युक्त श्लोक-सन्दर्भ तथा मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय के श्लोक-सन्दर्भ (१-१२) में पर्याप्त साम्य दिखाई देता है। विष्णुपुराण में जो वर्ण्य संक्षिप्त रूप से वर्णित है, वह मार्कण्डेयपुराण में विशद रूप से व्याख्यात है।

वैवस्वत मनु को, जो कि सप्तम मनु हैं, विष्णुपुराण में स्पष्टतया 'श्राद्धदेव' कहा गया है। सम्भवतः यही कारण है कि आजकल भी प्रचलित्त नित्य-नैमित्तिक तथा काम्य अनुष्ठानों में श्राद्धदेव वैवस्वत मनु का स्मरण अनिवार्य रूप से मांगलिक माना जाता है।

वैवस्वत मनु के नव पुत्र दोनों पुराणों में परिगणित हैं, किन्तु कुछ नाम भिन्न से प्रतीत होते हैं। इस नामभेद का कारण लिपिभेद भी हो सकता है।

दोनों पुराणों के लिपिकार भिन्न-भिन्न व्यक्ति होंगे। संभवतः इसीलिए मार्कण्डेय पुराण में 'नाभग' और 'अरिष्ट' नामों के स्थान पर विष्णुपुराण में 'नाभ' और 'उद्दिष्ट' नाम आ गये हैं। यह भी एक अनुसंधेय विषय है।

(ख) हरिवंशपुराण में वैवस्वत मनु के सम्बन्ध में जो उल्लेख मिलता है, वह कुछ भिन्न प्रकार का है। देखिए 'हरिवंश' के हरिवंशपर्व के १२वें अंश के निम्नलिखित श्लोक (१-२०)—

'विवस्वान् कश्यपाज्जज्ञे दाक्षायण्यामरिन्दम।
तस्य भार्याऽभवत् संज्ञा त्वाष्ट्री देवी विवस्वतः॥

सुरेणुरिति विख्याता त्रिषु लोकेषु भामिनी।
सा वै भार्या भगवती मार्तण्डस्य महात्मनः॥

भर्तृरूपेण नाऽतुष्यद्रूपयौवनशालिनी।
संज्ञा नाम सुतपसा दीप्तेनेह समन्विता॥

आदित्यस्य हि तद्रूपं मण्डलस्थस्य तेजसा।
गात्रेषु परिदग्धं वै नातिकान्तमिवाऽभवत्॥

न खल्वयं मृतोऽण्डस्य इति स्नेहादभाषत।
अज्ञानात् कश्यपस्तस्मान्मार्तण्ड इति चोच्यते॥

तेजस्त्वभ्यधिकं तात नित्यमेव विवस्वतः।
येनातितापयामास त्रींल्लोकान् कश्यपात्मजः॥

त्रीण्यपत्यानि कौरव्य संज्ञायां तपतांवरः।
आदित्यो जनयामास कन्या द्वौ च प्रजापती॥

मनुर्वैवस्वतः पूर्वं श्राद्धदेवः प्रजापतिः।
यमश्च यमुना चैव यमजौ संबभूवतुः॥

सा विवर्णं तु तद्रूपं दृष्ट्वा संज्ञा विवस्वतः।
असहन्ती च स्वां छायां सवर्णां निर्ममे ततः॥

मायामयी तु सा संज्ञा तस्याश्छाया समुत्थिता।
प्राञ्जलिः प्रणता भूत्वा छायासंज्ञा नरेश्वर॥

उवाच किं मया कार्यं कथयस्व शुचिस्मिते।
स्थितास्मि तव निर्देशे शाधि मां वरवर्णिनी॥

अहं यास्यामि भद्रं ते स्वमेव भवनं पितुः।
त्वयेह भवने मह्यं वस्तव्यं निर्विकारया॥

इमौ च बालकौ मह्यं कन्या चेयं सुमध्यमा।
संभाव्यास्ते न चाख्येयमिदं भगवते क्वचित्॥

आकचग्रहणाद् देवि आशापान्नैव कर्हिचित्।
आख्यास्यामि मतं तुभ्यं गच्छ देवी यथासुखम्॥

समादिश्य सवर्णां तु तथेत्युक्त्वा च सा तया।
त्वष्टुः समीपमगमद् व्रीडितेव तपस्विनी॥

पितुः समीपगा सा तु पित्रा निर्भर्त्सिता तदा।
भर्तुः समीपं गच्छेति नियुक्ता च पुनः पुनः॥

अगच्छद् वडवा भूत्वाऽऽच्छाद्य रूपमनिन्दिता।
कुरूनथोत्तरान् गत्वा तृणान्येव चचार ह॥

द्वितीयायां तु संज्ञायां संज्ञेयमिति चिन्तयन्।
आदित्यो जनयामास पुत्रमात्मसमं तदा॥

पूर्वजस्य मनोस्तात सदृशोऽयमिति प्रभुः।
सवर्णत्वान्मनोर्भूयः सावर्ण इति चोक्तवान्॥

मनुरेवाभवन्नाम्ना सावर्ण इति चोच्यते।
द्वितीयो यः सुतस्तस्याः सः विज्ञेयः शनैश्चरः॥' इत्यादि।

उपर्युक्त उल्लेख में मार्कण्डेयपुराण में सावर्णि मनु की उत्पत्ति का आख्यान भी घुलामिला दिखायी देता है। मार्कण्डेयपुराण की पदावली भी एक आध श्लोकों में अविरल रूप से प्रयुक्त की गयी प्रतीत होती है। यह भी एक विचारणीय विषय है।

(ग) वैवस्वत मनु के वंशजों के विषय में हरिवंशपुराण के इसी पर्व में निम्नलिखित उक्ति है—

'मनोर्वैवस्वतस्यासन् पुत्रा वै नव तत्समाः।
इक्ष्वाकुश्चैव नाभागो धृष्णुः शर्यातिरेव च॥

नरिष्यश्च तथा प्रांशुर्नाभारिष्टसप्तमाः ।
करुषश्च पृषध्रश्च नवैते भरतर्षभ ॥'

मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय में वैवस्वत मनु के वंशजों के नाम कुछ भिन्न हैं। यह भी एक समस्या है, जो पुराणविद् विद्वानों से अपना समाधान खोजती है।

श्री मार्कण्डेयपुराण के सार्वणिक-मन्वन्तर-प्रसंग से सम्बद्ध 'वैवस्वत-कीर्तन नामक ७९वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त।

अशीतितमोऽध्यायः

क्रौष्टुकिरुवाच—

स्वायम्भुवाद्याः कथिताः सप्तैते मनवो मम ।
तदन्तरेषु ये देवा राजानो मुनयस्तथा ॥१॥
अस्मिन् कल्पे सप्त येऽन्ये भविष्यन्ति महामुने ।
मनवस्तान् समाचक्ष्व ये च देवादयश्च ये ॥२॥

मार्कण्डेय उवाच—

कथितस्तव सावर्णिश्छायासंज्ञासुतश्च यः ।
पूर्वजस्य मनोस्तुल्यः स मनुर्भविताष्टमः ॥३॥
रामो व्यासो गालवश्च दीप्तिमान् कृप एव च ।
ऋष्यश्रृङ्गस्तथा द्रोणस्तत्र सप्तर्षयोऽभवन् ॥४॥
सुतपाश्चामिताभाश्च मुख्याश्चैव त्रिधा सुराः ।
विंशकः कथिताश्चैषां त्रयाणां त्रिगुणो गणः ॥५॥

क्रौष्टुकि ने कहा—

मुनिवर ! आपने स्वायंभुव मनु से प्रारम्भ कर सात मनुओं का वर्णन कर दिया। आपने इन मन्वन्तरों के देवगण, राजगण तथा मुनिगण का भी निरूपण कर दिया। इस कल्प में जो अन्य सात मनु होंगे, उनके विषय में अब आप बतावें और उनमें जो देवादिगण होते हैं, उन्हें भी बतावें ॥१-२॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

मैंने तुम्हें छायासंज्ञा के पुत्र जिस सावर्णि के सम्बन्ध में पहले कहा है, वह अपने पूर्वज (अग्रज) वैवस्वत मनु के समान होगा और आठवाँ मनु होगा ॥३॥

इस मन्वन्तर के सप्तर्षि क्रमशः १) राम, २) व्यास, ३) गालव, ४) दीप्तिमान्, ५) कृप, ६) ऋष्यशृङ्ग और ७) द्रोण होंगे ॥४॥

सुतपा, अमिताभ तथा मुख्य—ये इस मन्वन्तर के त्रिविध देवगण होंगे, जिनमें प्रत्येक में २०-२० देव होंगे और इस प्रकार सब मिलाकर ६० देवता इस मन्वन्तर से सम्बद्ध देवगण होंगे ॥ ५ ॥

तपस्तप्तश्च शक्रश्च द्युतिर्ज्योतिः प्रभाकरः ।
प्रभासो दयितो धर्मस्तेजोरश्मिश्चिरक्रतुः ॥६।
इत्यादिकस्तु सुतपा देवानां विंशको गणः ।
प्रभुर्विभुर्विभासाद्यस्तथान्यो विंशको गणः ॥७।
सुराणाममिताभानां तृतीयमपि मे शृणु ।
दमो दान्तो ऋतः सोमो वित्ताद्याश्चैव विंशतिः ॥८।
मुख्या ह्येते समाख्याता देवा मन्वन्तराधिपाः ।
मारीचस्यैव ते पुत्राः कश्यपस्य प्रजापतेः ॥९।
भविष्याश्च भविष्यन्ति सावर्णस्यान्तरे मनोः ।
तेषामिन्द्रो भविष्यस्तु बलिर्वैरोचनिर्मुने ॥१०।
पाताल आस्ते योऽद्यापि दैत्यः समयबन्धनः ।
विरजाश्चार्ववीरश्च निर्मोहः सत्यवाक् कृतिः ।
विष्णवाद्याश्चैव तनयाः सावर्णस्य मनोर्नृपाः ॥११।

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणेऽशीतितमोऽध्यायः ।

सुतपा नामक देवगण में १) तप, २) तप्त, ३) शक्र, ४) द्युति, ५) ज्योति, ६) प्रभाकर, ७) प्रभास, ८) दयित, ९) धर्म, १०) तेजोरश्मि और ११) चिरक्रतु प्रभृति २० देवता होंगे। इनके अतिरिक्त प्रभु, विभु तथा विभास आदि अन्य २० देवताओं का एक अतिरिक्त गण होगा ॥६-७॥

यह विंशतिसंख्यक देवता अमिताभ नामक देवगण में परिगणित होंगे। अब तीसरे देवगण के विषय में सुनो। इसमें दम, दान्त, ऋत, सोम तथा वित्त प्रभृति बीस देवता होंगे। यह तीसरा देवगण मुख्य नामक देवगण होगा, जिसमें सभी देवता मन्वन्तराधिप होंगे। ये सब मरीचिपुत्र प्रजापति काश्यप के पुत्र होंगे ॥८-९॥

ये सब भावी सावर्णि मन्वन्तर के भावी देवगण हैं। इन भावी देवों के भावी इन्द्र, मुनिवर क्रौष्टुकि ! विरोचनपुत्र बलि होंगे। यह दैत्य विरोचनपुत्र बलि, जो एक संविदा के बंधन में बँधा हैं, आज भी पाताल-लोक में विराजमान है। इस सावर्णिक मनु के १) विरजस्, २) अर्ववीर, ३) निर्मोह, ४) सत्यवाक्, ५) कृति तथा ६) विष्णु प्रभृति जो पुत्र होंगे, वे सब राजा होंगे ॥१०-११॥

✲

पर्यालोचन

(क) आजकल भी भारत के चतुर्दिक् जो भी श्रौत-स्मार्त धर्म-कर्म के अनुष्ठान किए जाते हैं उनसे संबद्ध सङ्कल्पों में सप्तम मन्वन्तर, अर्थात् वैवस्वत मन्वन्तर और उसके २८वें कलियुग का स्मरण अवश्य किया जाता है। इस मन्वन्तर के बाद आने वाले जो अन्य सात मन्वन्तर पुराणों में वर्णित और परिगणित हैं वे निम्नलिखित हैं—

८वाँ—सावर्णि अथवा सावर्णिक,

९वाँ—दक्षसावर्णि,

१०वाँ—ब्रह्मसावर्णि,

११वाँ—धर्मसावर्णि,

१२वाँ—रुद्रसावर्णि,

१३वाँ—रौच्यसावर्णि और

१४वाँ—इन्द्रसावर्णि,

उपर्युक्त ८ से १४ मन्वन्तरों में पहला, अर्थात् आठवाँ जो मन्वन्तर है, उसे सावर्णि मन्वन्तर कहा गया है। यह अध्याय 'देवीमाहात्म्य' तथा देवी के वरदान से सावर्णि मनु के रूप में प्रख्यात होने वाले चैत्रवंशोद्भव सुरथ महाराज के, तेरह अध्यायों तक चलने वाले आख्यान के संक्षिप्त भूमिका बन्ध के रूप में रचित है।

'सावर्णि' शब्द का अभिप्राय 'सवर्णा' का पुत्र है। सवर्णा शब्द वस्तुतः विश्वकर्मा की पुत्री तथा सूर्य की पत्नी 'संज्ञा' से सर्वथा 'छायासंज्ञा' का ही पर्यायवाचक शब्द है। सवर्णा अथवा छायासंज्ञा का पुत्र 'सावर्णि' अपने पूर्वज वैवस्वत मनु के समान प्रतापी होने के कारण एक मन्वन्तर का प्रवर्तक कहा गया है। यह मन्वन्तर 'सावर्णि' मन्वन्तर के नाम से ही जाना जाता है। भगवती विष्णुमाया की उपासना से सावर्णि मनु के रूप में जन्म लेने वाले सुरथ महाराज के आगे कहे जाने वाले आख्यान से यह स्पष्ट है कि इसी ८वें, अर्थात् सावर्णि मन्वन्तर से देवी की महिमा की प्रत्यभिज्ञा पौराणिक युग के ऋषि-महर्षियों के हृदय में जन्म लेती है और भी समस्त भारत में जो देवी-पूजा होती है, उसके प्रवर्तन का कारण बनी हुयी है।

(ख) इस अध्याय के चतुर्थ श्लोक में सप्तर्षियों की गणना में सर्वप्रथम 'राम' नामक जिस ऋषि की गणना है, वह दशरथ-पुत्र राम नहीं, अपितु जामदग्न्य (परशुराम) ऋषि हैं। इसी श्लोक में निर्दिष्ट गालव ऋषि के संबन्ध में मार्कण्डेयपुराण के २०वें और २१वें अध्यायों में पर्याप्त उल्लेख हैं। महाभारत के अनुशासन पर्व (२४९-५९) में भी गालव ऋषि का सविस्तर वर्णन है। गालव ऋषि ब्रह्मवेदी होने के नाते अजर-अमर कहे गए हैं।

(ग) सावर्णि मन्वन्तर के देवेन्द्र तथा सप्तर्षि-गणना के विषय में श्रीविष्णुपुराण (३.२.२) का निम्नलिखित उल्लेख है—

सूर्यस्य पत्नी संज्ञाऽभूत्तनया विश्वकर्मणः।
मनुर्यमो यमी चैव तदपत्यानि वै मुने॥

असहन्ती च सा भर्तुस्तेजश्छायां युयोज वै।
भर्तृशुश्रूषणेऽरण्यं स्वयं च तपसे ययौ॥

संज्ञेयमित्यथार्कश्च छायायामात्मजत्रयम्।
शनैश्चरं मनुं चान्यं तपतीं चाप्यजीजनत्॥

छायासंज्ञा ददौ शापं यमाय कुपिता यदा।
तदाऽन्येयमसौ बुद्धिरित्यासीद्यमसूर्ययोः॥

ततो विवस्वानाख्याते तयैवारण्यसंस्थिताम्।
समाधिदृष्ट्या ददृशे तामश्वां तपसि स्थिताम्॥

वाजिरूपधरः सोऽथ तस्या देवावथाश्विनौ।
जनयामास रेवन्तं रेतसोऽन्ते च भास्करः॥

आनिन्ये च पुनः संज्ञां स्वस्थानं भगवान् रविः।
तेजसः शमनं चास्य विश्वकर्मा चकार ह॥

भ्रममारोप्य सूर्यं तु तस्य तेजोनिशातनम्।
कृतवानष्टमं भागं स व्यशातयदव्ययम्॥

यत्तस्माद् वैष्णवं तेजः शातितं विश्वकर्मणा।
जाज्वल्यमानमपतत्तद् भूमौ मुनिसत्तम॥

त्वष्टैव तेजसा तेन विष्णोश्चक्रमकल्पयत् ।
त्रिशूलं चैव शर्वस्य शिविकां धनदस्य च ॥

शक्तिं गुहस्य देवानामन्येषां च यदायुधम् ।
तत्सर्वं तेजसा तेन विश्वकर्मा व्यवर्धयत् ॥

छायासंज्ञासुतो योऽसौ द्वितीयः कथितो मनुः ।
पूर्वजस्य सवर्णोऽसौ सार्वणिस्तेन कथ्यते ॥

तस्य मन्वन्तरं ह्येतत् सार्वणिकमथाष्टमम् ।
तच्छृणुष्व महाभाग भविष्यत् कथयामि ते ॥

सार्वणिस्तु मनुर्योऽसौ मैत्रेय भविता ततः ।
सुतपाश्चामिताभाश्च मुख्याश्चापि तथा सुराः ॥

तेषां गणश्च देवानामेकैको विंशकः स्मृतः ।
सप्तर्षीनपि वक्ष्यामि भविष्यान् मुनिसत्तम ॥

दीप्तिमान् गालवो रामः कृपो द्रौणिस्तथापरः ।
मत्पुत्रश्च तथा व्यास ऋष्यशृङ्गश्च सप्तमः ॥

विष्णुप्रसादादनघः पातालान्तरगोचरः ।
विरोचनसुतस्तेषां बलिरिन्द्रो भविष्यति ॥

विरजाश्चोर्वंवीरश्च निर्मोकाद्यास्तथा परे ।
सावर्णेस्तु मनोः पुत्रा भविष्यन्ति नरेश्वराः ॥

विष्णुपुराण के उपर्युक्त उद्धरण में सार्वणि मनु को छायासंज्ञा-सवर्णा के पुत्र के रूप में प्रतिपादित किया गया है। अन्य उल्लेख मार्कण्डेयपुराण के आख्यानों से मिलते-जुलते हैं।

(घ) श्रीदेवीभागवत में मार्कण्डेयपुराण में ही वर्णित अष्टम सार्वणि मनु की कथा शब्दान्तर में वर्णित है। श्रीदेवीभागवत के १० म स्कन्ध के १३वें अध्याय के निम्नलिखित श्लोक (८९-९२) इसके प्रमाण रूप में द्रष्टव्य हैं—

'राजन् ! निष्कण्टकं राज्यं ज्ञानं वै मोहनाशनम् ।
भविष्यति मया दत्तमस्मिन्नेव भवे तव ॥

अन्यच्च शृणु भूपाल जन्मान्तरविचेष्टितम् ।
भानोर्जन्म समासाद्य सार्वणिर्भविता भवान् ॥

तत्र मन्वन्तरस्यापि पतित्वं बहुविक्रमम् ।
सन्ततिं बहुलां चापि प्राप्स्यते मद्वराद्भवान् ॥

एवं दत्त्वा वरं देवी जगामादर्शनं तदा ।
सोऽपि देव्याः प्रसादेन जातो मन्वन्तराधिपः ॥'

श्री मार्कण्डेयपुराण के ८०वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त ।

※

एकाशीतितमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

सार्वर्णिः सूर्य्यतनयो यो मनुः कथ्यतेऽष्टमः ।
निशामय तदुत्पत्तिं विस्तराद् गदतो मम ॥१॥
महामायानुभावेन यथा मन्वन्तराधिपः ।
स बभूव महाभागः सार्वर्णिस्तनयो रवेः ॥२॥
स्वारोचिषेऽन्तरे पूर्व्वं चैत्रवंशसमुद्भवः ।
सुरथो नाम राजाऽभूत् समस्ते क्षितिमण्डले ॥३॥
तस्य पालयतः सम्यक् प्रजाः पुत्रानिवौरसान् ।
बभूवुः शत्रवो भूपाः कोलाविध्वंसिनस्तथा ॥४॥
तस्य तैरभवद् युद्धमतिप्रबलदण्डिनः ।
न्यूनैरपि स तैर्युद्धे कोलाविध्वंसिभिर्जितः ॥५॥
ततः स्वपुरमायातो निजदेशाधिपोऽभवत् ।
आक्रान्तः स महाभागस्तैस्तदा प्रबलारिभिः ॥६॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

(प्रियशिष्य क्रौष्टुकि !) सूर्यपुत्र सार्वर्णि की उत्पत्ति के विषय में, जिन्हें (पुराणवेत्ता लोग) अष्टम मनु कहते हैं, मैं विस्तारपूर्वक जो कह रहा हूँ, उस पर ध्यान देते हुए सुनो ॥ १ ॥

महामाया के प्रभाव से, महामाया के महाभक्त सूर्यपुत्र सार्वर्णि कैसे मन्वन्तराधिप हो गए (इसी विषय का मैं विस्तार से वर्णन कर रहा हूँ) ॥ २ ॥

स्वारोचिष् मन्वन्तर के युग में, बहुत पहले, चैत्रवंश में उत्पन्न सुरथ नाम के एक राजा थे, जो समस्त भूमण्डल पर राज्य करते थे ॥ ३ ॥

जब ये अपने पुत्रों की भाँति अपने प्रजाजन के पालन-पोषण में लगे थे, तब कोलाविध्वंसक राजागण इनके शत्रु बन गए ॥ ४ ॥

उन शत्रुओं के साथ इनका युद्ध हुआ। वैसे तो इनके पास अत्यन्त शक्तिशाली चतुरङ्गिणी सेना थी और इनके शत्रु इनकी अपेक्षा बहुत कम सैन्यशक्ति रखते थे, किन्तु ये अपने कोलाविध्वंसक शत्रुओं के द्वारा परास्त हो गए ॥ ५ ॥

परास्त होने के बाद वे अपनी राजधानी में लौट आए और केवल अपने ही जनपद के राजा होकर रह गए। महाभाग्यशाली राजा की ऐसी दशा देखकर, इनके प्रबल शत्रुओं ने, इन पर पुनः आक्रमण कर दिया ॥ ६ ॥

अमात्यैर्बलिभिर्दुष्टैर्दुर्बलस्य दुरात्मभिः ।
कोषो बलञ्चापहृतं तत्रापि स्वपुरे ततः ॥७॥
ततो मृगयाव्याजेन हृतस्वाम्यः स भूपतिः ।
एकाकी हयमारुह्य जगाम गहनं वनम् ॥८॥
स तत्राश्रममद्राक्षीद् द्विजवर्य्यस्य मेधसः ।
प्रशान्तश्वापदाकीर्णं मुनिशिष्योपशोभितम् ॥९॥
तस्थौ कञ्चित् स कालञ्च मुनिना तेन सत्कृतः ।
इतश्चेतश्च विचरंस्तस्मिन् मुनिवराश्रमे ॥१०॥
सोऽचिन्तयत् तदा तत्र ममत्वाकृष्टचेतनः ।
मत्पूर्व्वैः पालितं पूर्व्वं मया हीनं पुरं हि तत् ।
मद्भृत्यैस्तैरसद्वृत्तैर्धर्म्मतः पाल्यते न वा ॥११॥
न जाने स प्रधानो मे शूरहस्ती सदामदः ।
मम वैरिवशं यातः कान् भोगानुपलप्स्यते ॥१२॥

इनकी शक्ति क्षीण देखकर, इन्हीं के दुष्ट, दुरात्मा अमात्यों ने, जो अधिक शक्तिशाली बन गए थे, इनकी राजधानी में ही, इनके कोश और सैन्य दोनों को अपने हाथ में कर लिया ॥ ७ ॥

राज्य के आधिपत्य से परिच्युत किए गए वह राजा, शिकार करने के बहाने, घोड़े पर सवार होकर एक घने जङ्गल में जा पहुँचे ॥ ८ ॥

प्रियशिष्य क्रौष्टुकि ! (अब राजा सुरथ की चरित्र गाथा सुनो) उस वन में उस राजा ने, (जो वर-प्राप्ति के सर्वथा योग्य थे), सुमेधा मुनि का आश्रम देखा, जिसमें हिंसक वन्य-जीव भी, (मुनि की अहिंसा-शक्ति से, परस्पर वैरभाव भूलकर) शान्त बन गए थे। वह आश्रम शिष्यरूप से एकत्र हुए मुनिजनों से सर्वतः सुशोभित हो रहा था ॥ ९ ॥

वहाँ मुनि सुमेधा ने उनका सत्कार-सम्मान किया और वे उस मुनिवर के आश्रम में इधर-उधर विचरण करते हुए कुछ समय तक रहे ॥ १० ॥

उस आश्रम में रहते हुए भी, अपने राजपाट के मोह-ममत्व के वशीभूत होने के कारण, वे चिन्ता करने लगे कि उनके पूर्वजों और उनके द्वारा, राजधर्मानुसार, जिस राज्य का पालन होता था, उसका उनके बिना, उनके दुराचारी सेवक, अमात्य, राजधर्मानुसार पालन करते होंगे या नहीं ? ॥ ११ ॥

वे सोचने लगे कि पता नहीं बड़े प्रेम से पाला-पोसा उनका शक्तिशाली "सदामद" नामक गजराज उनके शत्रुओं के हाथ में पड़ जाने पर कैसा पालन-पोषण पाता होगा ? ॥ १२ ॥

ये ममानुगता नित्यं प्रसादधनभोजनैः ।
अनुवृत्तिं ध्रुवं तेऽद्य कुर्व्वन्त्यन्यमहीभृताम् ॥१३॥
असम्यग्व्ययशीलैस्तैः कुर्व्वद्भिः सततं व्ययम् ।
संचितः सोऽतिदुःखेन क्षयं कोशो गमिष्यति ॥१४॥
एतच्चान्यच्च सततं चिन्तयामास पार्थिवः ।
तत्र विप्राश्रमाभ्यासे वैश्यमेकं ददर्श सः ॥१५॥
स पृष्टस्तेन कस्त्वं भोः हेतुश्चागमनेऽत्र कः ।
सशोक इव कस्मात्त्वं दुर्म्मना इव लक्ष्यसे ॥१६॥
इत्याकर्ण्य वचस्तस्य भूपतेः प्रणयोदितम् ।
प्रत्युवाच स तं वैश्यः प्रश्रयावनतो नृपम् ॥१७॥

वैश्य उवाच--

समाधिर्नाम वैश्योऽहमुत्पन्नो धनिनां कुले ।
पुत्रदारैर्निरस्तश्च धनलोभादसाधुभिः ॥१८॥

उनकी चिन्ता तव और बढ़ गयी जब उन्होंने यह सोचा कि जो राजसेवक पहले उनसे मिले दान-सम्मान और वेतन-भोग के कारण उनके अनुजीवी थे, वे अब दूसरे राजाओं की सेवा में लगे होंगे ॥ १३ ॥

यह सोचकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ कि बड़े परिश्रम से संचित किया हुआ उनका राजकोष, उनके अमात्यों द्वारा, जिनके स्वभाव में धन के अपव्यय का दुर्व्यसन था, निरन्तर व्यय किए जाने के कारण अवश्य ही नष्ट हो जाएगा ॥ १४ ॥

इन बातों की चिन्ता के अतिरिक्त और भी बातों—जैसे कि अपने रनिवास, अपनी राजधानी आदि की दुर्दशा की चिन्ता में भी वे डूबने-उतराने लगे। इन्हीं चिन्ताओं में उलझे हुए उन्होंने, सुमेधा मुनि के आश्रम के समीप, उस तपोवन में एक वैश्य सज्जन को देखा ॥ १५ ॥

वे उस वैश्य से पूछने लगे कि वह कौन है ? क्यों कर आश्रम में आया है ? क्यों दुःखी दिखायी दे रहा है ? क्यों बहुत ही अन्यमनस्क है ? ॥ १६ ॥

राजा की इस प्रकार की स्नेह-सिक्त वाणी सुनकर उस वैश्य ने बड़ी विनम्रता से उनसे अपने सम्बन्ध में निवेदन करना आरम्भ किया ॥ १७ ॥

वैश्यवर समाधि ने कहा--

महाराज ! मैं जाति से वैश्य हूँ और मेरा नाम समाधि है। एक धनी-मानी वैश्य-कुल में मेरा जन्म हुआ है; किन्तु धन के लोभ के कारण, मेरे दुष्ट पुत्र-कलत्र ने, मुझे घर से बाहर निकाल दिया है ॥ १८ ॥

विहीनश्च धनैर्दारैः पुत्रैरादाय मे धनम् ।
वनमभ्यागतो दुःखी निरस्तश्चाप्तबन्धुभिः ।।१९।
सोऽहं न वेद्मि पुत्राणां कुशलाकुशलात्मिकाम् ।
प्रवृत्तिं स्वजनानाञ्च दाराणाञ्चात्र संस्थितः ।।२०।
किं नु तेषां गृहे क्षेममक्षेमं किं नु साम्प्रतम् ।
कथं ते किं नु सद्वृत्ताः दुर्वृत्ताः किं नु मे सुताः ।।२१।

राजोवाच—

यैर्निरस्तो भवांल्लुब्धैः पुत्रदारादिभिर्धनैः ।
तेषु किं भवतः स्नेहमनुबध्नाति मानसम् ।।२२।

वैश्य उवाच—

एवमेतद्यथा प्राह भवानस्मद्गतं वचः ।
किं करोमि न बध्नाति मम निष्ठुरतां मनः ।।२३।

मैं शोकाकुल इसलिए हूँ कि मेरे बन्धु-बान्धवों ने मेरा साथ छोड़ दिया है। मुझे दुःख इसलिए है कि मेरे पुत्र-कलत्र ने मेरा सारा धन हड़प लिया है और घर छोड़ कर वन में इसलिए आ पहुँचा हूँ कि जब पुत्र-कलत्र ने मेरी सब सम्पत्ति छीन ली और बन्धु-बान्धवों ने मेरा साथ छोड़ दिया तो घर से क्या नाता रखता ॥ १९ ॥

यह सब होने पर भी और यहाँ वन में पहुँच जाने पर भी मुझे चिन्ता लगी रहती है कि मेरे पुत्र-कलत्र और मेरे इष्ट-मित्र कुशल से हैं अथवा नहीं और उनका कैसा हाल है ? ॥ २० ॥

मैं बस इसी चिन्ता में डूबा रहता हूँ कि आजकल मेरे घर में पुत्र-कलत्र का कुशल-क्षेम है या नहीं और उनका आचार-व्यवहार सज्जनोचित है अथवा नहीं ? ॥ २१ ॥

राजा सुरथ बोले—

वैश्यवर ! तुम्हारे जिन स्त्री-पुत्रों ने, धन के लोभ में, तुम्हें घर से बाहर निकाल दिया है, उनके प्रति क्या तुम्हारे मन में अभी स्नेह बना हुआ है ? ॥ २२ ॥

वैश्यवर समाधि ने कहा—

महाराज ! कुछ ऐसा ही है। आपने मेरे मन की बात कही है। मैं स्वयं नहीं समझ पा रहा हूँ कि मेरा मन अपने उन स्त्री-पुत्रों के प्रति निष्ठुर क्यों नहीं हो पाता ॥ २३ ॥

यैः सन्त्यज्य पितृस्नेहं धनलुब्धैर्निराकृतः ।
पतिस्वजनहार्दं च हार्दि तेष्वेव मे मनः ॥२४॥
किमेतन्नाभिजानामि जानन्नपि महामते ।
यत्प्रेमप्रवणं चित्तं विगुणेष्वपि बन्धुषु ॥२५॥
तेषां कृते मे निःश्वासो दौर्मनस्यं च जायते ।
करोमि किं यन्न मनस्तेष्वप्रीतिषु निष्ठुरम् ॥२६॥

मार्कण्डेय उवाच—

ततस्तौ सहितौ विप्र तं मुनिं समुपस्थितौ ।
समाधिर्नाम वैश्योऽसौ स च पार्थिवसत्तमः ॥२७॥
कृत्वा तु तौ यथान्यायं यथार्हं तेन संविदम् ।
उपविष्टौ कथाः काश्चिच्चक्रतुर्वैश्य-पार्थिवौ ॥२८॥

राजोवाच—

भगवंस्त्वामहं प्रष्टुमिच्छाम्येकं वदस्व तत् ।
दुःखाय यन्मे मनसः स्वचित्तायत्ततां विना ॥२९॥

पितृभक्ति और पति-प्रेम को तिलाञ्जलि देकर, मेरे धन के लोभी, मेरे जिन पुत्रों और पत्नियों ने मुझे घर से निर्वासित कर दिया है, उन्हीं के प्रति मेरा मन पता नहीं क्यों ? अभी-भी प्रेम में पगा हुआ है ॥ २४ ॥

महाराज ! आप महाबुद्धिमान् । मुससे स्नेह न करने वाले भी अपने स्त्री-पुत्रों के प्रति मेरा मन स्नेह से भरा है, यह तो मैं जानता हूँ, किन्तु यह नहीं जानता कि ऐसा क्यों है ? ॥ २५ ॥

अपने उन्हीं स्त्री-पुत्रों के प्रति मेरा मन शोकाकुल हो रहा है और मेरा हृदय बड़ा दुःखी हो रहा है। मुझ से प्रेम न रखने वाले उन स्वजनों के प्रति मेरे मन में निष्ठुरता क्यों नहीं घर करती ? मुझे समझ में नहीं आता कि करूँ तो क्या करूँ ॥२६॥

महामुनि मार्कण्डेय बोले—

प्रियशिष्य क्रौष्टुकि ! इस प्रकार परस्पर वार्तालाप करते हुए महाराज सुरथ और वैश्यवर समाधि दोनों साथ-साथ सुमेधा मुनि के पास पहुँचे ॥ २७ ॥

वे दोनों यथाविधि और यथोचितरूप से मुनि सुमेधा के साथ संभाषणादि के सदाचार का पालन करके उनकी अनुमति से उनके सम्मुख बैठ गए और आपस में कुछ बातचीत करने लगे ॥ २८ ॥

महाराज सुरथ ने कहा—

भगवन् मुनिराज ! मैं आपसे अपने विषय में एक रहस्य की बात पूछ रहा हूँ, वह यह है कि जिस कारण से मेरा मन मेरे वश में नहीं हो पाता और मुझे बड़ा दुःखित होना पड़ता है, वह क्या रहस्य है ? ॥ २९ ॥

ममत्वं गतराज्यस्य राज्याङ्गेष्वखिलेष्वपि ।
जानतोऽपि यथाऽज्ञस्य किमेतन्मुनिसत्तम ॥३०॥
अयं च निकृतः पुत्रैर्दारैर्भृत्यैस्तथोज्झितः ।
स्वजनेन च सन्त्यक्तस्तेषु हार्दी तथाप्यति ॥३१॥
एवमेष तथाहं च द्वावप्यत्यन्तदुःखितौ ।
दृष्टदोषेऽपि विषये ममत्वाकृष्टमानसौ ॥३२॥
तत्किमेतन्महाभाग यन्मोहो ज्ञानिनोरपि ।
ममास्य च भवत्येषा विवेकान्धस्य मूढता ॥३३॥

ऋषिरुवाच—

ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषयगोचरे ।
विषयश्च महाभाग याति चैवं पृथक् पृथक् ॥३४॥
दिवान्धाः प्राणिनः केचिद्रात्रावन्धास्तथापरे ।
केचिद् दिवा तथा रात्रौ प्राणिनस्तुल्यदृष्टयः ॥३५॥

मुनिवर ! यह जानते हुए भी कि मेरा राज्य मेरे हाथ से निकल गया है, मैं अनजान सा बना, अपने उसी राज्य के अपने स्वामित्व, अपने अमात्यगण, अपने मित्र, अपने राज-कोष, अपने दुर्ग, अपने राष्ट्र और अपने सैन्यबल के प्रति मोह-ममता से भरा हुआ हूँ और यह समझ नहीं पाता कि ऐसा क्यों हो रहा है ? ॥ ३० ॥

इसी प्रकार यह नगरसेठ, अपने पुत्रों से निरादृत, अपनी पत्नियों और अपने भृत्यगण से परित्यक्त और अपने बन्धु-बान्धवों से बहिष्कृत होने पर भी उन्हीं के प्रति स्नेहासक्ति में डूबा हुआ है ॥ ३१ ॥

इस प्रकार, यह और मैं—दोनों बहुत दुःखी हैं और यह जानते हुए भी कि सांसारिक विषय-भोग क्षणिक होते हैं, हम दोनों के मन उन्हीं सांसारिक भोग-विलास के प्रति खिंचे-से जा रहे हैं ॥ ३२ ॥

हे ज्ञानैश्वर्य सम्पन्न मुनिवर सुमेधा ! यह सब क्या है कि हम दोनों, ज्ञानवान् होने पर भी, मोह में पड़े हैं और विवेक-शून्य बने मूढ़ता से घिरे हैं ॥ ३३ ॥

सुमेधा ऋषि बोले—

महाभाग्यशाली महाराज ! संसार के जितने जन्तु हैं, उन सब में इन्द्रियगोचर विषयों का ज्ञान तो रहता है; किन्तु वे यह नहीं जानते कि इन्द्रियगोचर विषयों में प्राणियों की प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं ॥ ३४ ॥

कुछ प्राणी (जैसे कि उल्लूक आदि) दिन में अन्धे होते हैं, कुछ प्राणी (जैसे कि कौए आदि) रात में अन्धे होते हैं और कुछ प्राणी दिन और रात-दोनों में एक समान दृष्टिशक्ति रखते हैं ॥ ३५ ॥

ज्ञानिनो मनुजाः सत्यं किन्तु ते न हि केवलम् ।
यतो हि ज्ञानिनः सर्व्वे पशु-पक्षि-मृगादयः ॥३६॥

ज्ञानं च तन्मनुष्याणां यत्तेषां मृग-पक्षिणाम् ।
मनुष्याणां च यत्तेषां तुल्यमन्यत्तथोभयोः ॥३७॥

ज्ञानेऽपि सति पश्यैतान् पतङ्गाञ्छावचञ्चुषु ।
कणमोक्षादृतान् मोहात्पीडयमानानपि क्षुधा ॥३८॥

मानुषा मनुजव्याघ्र साभिलाषाः सुतान् प्रति ।
लोभात्प्रत्युपकाराय नन्वेतान् किं न पश्यसि ॥३९॥

तथापि ममतावर्त्ते मोहगर्त्ते निपातिताः ।
महामायाप्रभावेण संसारस्थितिकारिणा ॥४०॥

तन्नात्र विस्मयः कार्य्यो योगनिद्रा जगत्पतेः ।
महामाया हरेश्चैतत्तथा संमोह्यते जगत् ॥४१॥

यह ठीक है कि मनुष्य ज्ञानवान् होते हैं; किन्तु यह ठीक नहीं कि वे ही केवल ज्ञानवान् होते हों, क्योंकि संसार के जितने भी पशु-पक्षी हैं, वे सभी ज्ञानवाले हैं ॥३६॥

किन्तु पशु-पक्षियों का जो स्वाभाविक ज्ञान है, वही मनुष्यों का ज्ञान नहीं है, क्योंकि मनुष्यों में शास्त्र-जन्य और योग-जन्य भी ज्ञान होता है, जो पशु-पक्षियों में नहीं होता। किन्तु पशु-पक्षी हों या मनुष्य हों—दोनों में इन्द्रियगोचर ज्ञान समान-सा ही होता है ॥ ३७ ॥

महाराज ! पक्षियों को देखिए -- ज्ञान होने पर भी ये पक्षी, स्वयं भूख से व्याकुल होते हुए भी, मोह-ममता के कारण, अपने खाने के लिए चुगे दानों को, अपने बच्चों की चोंच में डाला करते हैं ॥ ३८ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! मनुष्यों को देखिए—मनुष्य पशु-पक्षियों की अपेक्षा अधिक ज्ञान रखते हैं, किन्तु अपने पुत्रों के प्रति, उनसे सुखप्राप्ति के लोभवश, वे कितना ममत्व और कितना वात्सल्यभाव रखा करते हैं ? ॥ ३९ ॥

इस प्रकार ज्ञानवान् होने पर भी, मनुष्य संसार की स्थिति अथवा प्रवाहनित्यता के एकमात्र निदान, महामाया के प्रभाव से ममता के आवर्त (भंवर) वाले मोहसागर के गर्त में गिराए जाते रहते हैं ॥ ४० ॥

इसलिए इसमें आश्चर्यचकित होने की कोई बात नहीं कि संसार के सभी प्राणी अपने पुत्र-कलत्र के प्रति ममता से भरे रहते हैं, क्योंकि यह महामाया, जो जगत्पति भगवान् विष्णु की योगनिद्रा है, समस्त संसार को मोहपरायण बनाए रहती है ॥ ४१ ॥

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ।।४२।
तया विसृज्यते विश्वं जगदेतच्चराचरम् ।
सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये ।।४३।
सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी ।
संसारबन्धहेतुश्च सैव सर्व्वेश्वरेश्वरी ।।४४।

राजोवाच—

भगवन्! का हि सा देवी महामायेति यां भवान् ।
ब्रवीति कथमुत्पन्ना सा कर्म्मास्याश्च किं द्विज ।।४५।

यह वैष्णवी माया परमैश्वर्यशालिनी है। यह वह देवी है, जो ब्रह्मज्ञानियों के भी चित्त बलपूर्वक अपनी ओर खींच लेती है और उन्हें मोह-ममता के वश में कर देती है ॥ ४२ ॥

इसी देवी के द्वारा यह समस्त चराचर जगत् रचा जाता है और यही देवी जब प्रसन्न होती हैं, तब मनुष्य को अभ्युदय और निःश्रेयस का वर देती हैं ॥ ४३ ॥

(अविद्या-पक्ष में अर्थ) यही महामाया अविद्या हैं और यही विद्या भी हैं। यह अविद्या इसलिए हैं, क्योंकि यह अज्ञानियों के समीप रहा करती हैं। इसका स्वरूप विद्या से सर्वथा विपरीत होता है, क्योंकि यह मोहलक्ष्मी हैं और विद्या मोक्षलक्ष्मी। इसी के द्वारा, धर्म, अर्थ और कामरूप त्रिवर्ग का चक्र चलाया जाया करता है, इसकी किसी से उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु विद्या के द्वारा इसका अन्त अवश्य होता है। यही ब्राह्मी, वैष्णवी और माहेश्वरी रूपों में ब्रह्मा, विष्णु और महेश को अपने वश में किए रहती है और इस प्रकार यही संसाररूपी बंधन का एकमात्र कारण है।

(विद्या-पक्ष में अर्थ) इसे विद्या इसलिए कहते हैं, क्योंकि यह प्रपञ्चातीत ब्रह्म से संभिन्न है, इसका विषय आत्मतत्त्व है, यही मोक्षरूपा है, इसकी सत्ता इसके ब्रह्म-स्वरूप होने के कारण शाश्वत है, यह सम्पूर्ण विश्व इसी का स्वरूप है, यही ईश्वर की भी ईश्वरी है। क्योंकि ईश्वर भी अपने स्वरूप-दर्शन के लिए इसी का आश्रय लेता है और इस प्रकार यही संसाररूपी स्रोतःप्रवाह के निरोध अथवा रोक का परम कारण भी है ॥ ४४ ॥

राजा सुरथ ने कहा—

भगवन् सुमेधा मुनि! आपने जिसे 'महामाया' कहा है, वह देवी कौन है? वह क्यों आविर्भूत हुई है? उसके पराक्रम के कौन-कौन कर्म हैं? ॥ ४५ ॥

यत्स्वभावा च सा देवी यत्स्वरूपा यदुद्भवा ।
तत् सर्व्वं श्रोतुमिच्छामि त्वत्तो ब्रह्मविदां वर ।।४६।

ऋषिरुवाच—

नित्यैव सा जगन्मूर्त्तिस्तया सर्व्वमिदं ततम् ।
तथापि तत्समुत्पत्तिर्बहुधा श्रूयतां मम ।।४७।
देवानां कार्य्यसिद्ध्यर्थमाविर्भवति सा यदा ।
उत्पन्नेति तदा लोके सा नित्याप्यभिधीयते ।।४८।
योगनिद्रां यदा विष्णुर्जगत्येकार्णवीकृते ।
आस्तीर्य्य शेषमभजत् कल्पान्ते भगवान् प्रभुः ।।४९।
तदा द्वावसुरौ घोरौ विख्यातौ मधुकैटभौ ।
विष्णुकर्णमलोद्भूतौ हन्तुं ब्रह्माणमुद्यतौ ।।५०।
स नाभिकमले विष्णोः स्थितो ब्रह्मा प्रजापतिः ।
दृष्ट्वा तावसुरौ चोग्रौ प्रसुप्तं च जनार्दनम् ।।५१।

ऋषिवर ! आप ब्रह्मज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। मैं इसीलिए आपके श्रीमुख से यह सुनना चाहता हूँ कि उस देवी का सामर्थ्य क्या है ? उसका स्वरूप क्या है ? और उसका आविर्भाव कैसे हुआ है ? ।। ४६ ।।

ऋषि सुमेधा बोले—

महाराज ! जगन्मूर्ति वह देवी नित्य है। यह समस्त जगत् उसी की सृष्टि है। अब आप मुझ से विशद रूप से सुनिए कि लोककल्याण के लिए वह देवी कैसे आविर्भूत होती हैं ।। ४७ ।।

देवगण की कार्यसिद्धि के लिए वह आविर्भूत होती हैं, किन्तु नित्य होने पर भी जब वह आविर्भूत होती हैं, तो सर्वसाधारण उसे उत्पन्न हुआ कहते हैं ।। ४८ ।।

इस महामाया का आविर्भाव तब हुआ, जब कल्पान्त में महाप्रलय के समय यह समस्त जगत् एक महासमुद्र के रूप में जलमय हो गया और उसमें भगवान् विष्णु शेष-नाग के पर्यङ्क पर योगनिद्रा में निद्रित हो गए ।। ४९ ।।

भगवान् विष्णु के योगनिद्रा में निमग्न हो जाने पर, दो भयानक विश्वविख्यात असुर, जिन्हें मधु और कैटभ कहते हैं और जो भगवान् विष्णु के ही कर्णमल अथवा कानों के खोंट से उत्पन्न माने जाते हैं, श्रीविष्णु के ही नाभिकमल पर आसीन प्रजा-पति ब्रह्मा का वध करने पर उतारू हो गए ।। ५० ।।

भगवान् विष्णु के नाभिकमल पर आसीन प्रजापति ब्रह्मा ने उन दोनों असुरों को उग्ररूप धारण किए देखा और जनार्दन श्रीविष्णु को योगनिद्रामग्न देखा ।। ५१ ।।

तुष्टाव योगनिद्रां तामेकाग्रहृदयस्थितः ।
विबोधनार्थाय हरेर्हरिनेत्रकृतालयाम् ॥५२।

ब्रह्मोवाच—

विश्वेश्वरीं जगद्धात्रीं स्थिति-संहारकारिणीम् ।
निद्रां भगवतीं विष्णोरतुलां तेजसः प्रभुः ॥५३।
त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वं हि वषट्कारः स्वरात्मिका ।
सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधा मात्रात्मिका स्थिता ॥५४।
अर्द्धमात्रा स्थिता नित्या याऽनुच्चार्या विशेषतः ।
त्वमेव सन्ध्या सावित्री त्वं देवि जननी परा ॥५५।
त्वयैव धार्य्यते सर्व्वं त्वयैतत्सृज्यते जगत् ।
त्वयैतत्पाल्यते देवि त्वमत्स्यन्ते च सर्व्वदा ॥५६।

ऐसा देखते हुए एकाग्रचित्त होकर ब्रह्मा ने, श्रीविष्णु भगवान् के नेत्रों में निवास करनेवाली महामाया योगनिद्रा की स्तुति प्रारम्भ की, जिससे भगवान् की निद्रा टूटे और वे दोनों दैत्यों का वध कर सकें ॥ ५२ ॥

ब्रह्मा ने कहा—

अतुलतेजोमय भगवान् विष्णु की उस सर्वैश्वर्यमयी योगनिद्रा की मैं स्तुति करता हूँ, जो कि समस्त विश्व की जननी हैं, समस्त विश्व का पालन-पोषण करनेवाली हैं और समस्त विश्व की स्थिति और संहार का कारण हैं ॥ ५३ ॥

हे देवि ! आप विश्वात्मिका हैं, आपकी सत्ता शाश्वत सत्ता है, आप ब्राह्मी हैं, आप वैष्णवी हैं, आप इन्द्राणी हैं, आप स्वर्गलक्ष्मी हैं, आप सुधारूपिणी हैं, आप सूर्य-चन्द्र-अग्निरूप तेजस्त्रयी हैं और आप ही वस्तुतः ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रस्वरूपा हैं ॥ ५४ ॥

हे देवि ! आप ही मातृकारूपिणी (स्वर-व्यञ्जनवर्णात्मिका) हैं, आप ही मोक्ष-स्वरूपा हैं, आप ही परब्रह्मस्वरूपा हैं, आप ही पितृगण की माता हैं, आप ही वेद-जननी गायत्री हैं। एक शब्द में आप ही परात्पर हैं ॥ ५५ ॥

हे देवि ! आप ही ब्राह्मीशक्ति के रूप में इस विश्व की सृष्टि करती हैं, आप ही वैष्णवीशक्ति के रूप में इस विश्व का पालन करती हैं और आप ही रौद्रीशक्ति के रूप में इस विश्व का संहार करती हैं। इस प्रकार यह समस्त विश्व आपके ही स्वरूप में सर्वदा अन्तर्विलीन है ॥ ५६ ॥

विसृष्टौ सृष्टिरूपा त्वं स्थितिरूपा च पालने ।
तथा संहृतिरूपान्ते जगतोऽस्य जगन्मये ॥५७॥
महाविद्या महामाया महामेधा महास्मृतिः ।
महामोहा च भवती महादेवी महेश्वरी ॥५८॥
प्रकृतिस्त्वञ्च सर्व्वस्य गुणत्रयविभाविनी ।
कालरात्रिर्महारात्रिर्मोहरात्रिश्च दारुणा ॥५९॥
त्वं श्रीस्त्वमीश्वरी त्वं ह्रीस्त्वं बुद्धिर्बोधलक्षणा ।
लज्जा पुष्टिस्तथा तुष्टिस्त्वं शान्तिः क्षान्तिरेव च ॥६०॥
खड्गिनी शूलिनी घोरा गदिनी चक्रिणी तथा ।
शंखिनी चापिनी बाण-भुशुण्डी परिघायुधा ॥६१॥

हे देवि ! आप जगन्मयी हैं—इस जगत् की उत्पत्ति में सृष्टिस्वरूपा, इस जगत् के पालन में स्थितिस्वरूपा और इस जगत् के संहार में संहृतिस्वरूपा आप ही हैं ॥ ५७ ॥

हे देवि ! आप महामाया हैं, क्योंकि आप ही 'महाविद्या' अथवा प्रज्ञानघनब्रह्म स्वरूपा हैं, आप ही 'महाऽविद्या' अथवा अनिर्वचनीय अविद्या-स्वरूपा हैं, आप ही 'महाबुद्धि' हैं और आप ही 'महाऽबुद्धि' हैं, आप ही 'महास्मृति' हैं आप ही 'महाऽ-स्मृति' हैं, आप ही 'महामोहा' अथवा विश्वाहंकृतिस्वरूपा हैं और आप ही 'महामोहा' परममोक्षलक्ष्मीस्वरूपा हैं—इस प्रकार आप सर्वैश्वर्यशालिनी हैं, आप परमतेजोमयी हैं आप 'महेश्वरी' अथवा सर्वव्यापिका हैं ॥ ५८ ॥

हे देवि ! आप समस्त जगत् के लिए 'प्रकृति' अथवा सत्त्व, रजस् और तमोगुण की साम्यावस्था हैं, आप समस्त जगत् के लिए सत्त्व-रजस्-तमस् के गुणत्रय का विभाजन करनेवाली 'विकृति' हैं, आप समस्त जगत् का संहार करनेवाली कालरात्रि हैं, आप प्रजापति ब्रह्मा के लिए महारात्रि हैं और आप ही दारुण मोहरात्रि हैं, जिसमें समस्त जीवमात्र अहंता-ममता की निद्रा में निमग्न रहता है ॥ ५९ ॥

हे देवि ! आप ही 'श्री' हैं, क्योंकि समस्त विश्व और ब्रह्मा-विष्णु-महेशरूप विश्वाधिपति आपके ही आश्रित हैं। आप 'ईश्वरी' हैं, क्योंकि आप समस्त विश्वव्यापिनी हैं, आप ही 'ह्री' हैं; क्योंकि चराचर जगत् की आप ही प्राणरूपा हैं, आप 'बुद्धि' हैं; क्योंकि आप ही चिन्मयब्रह्मस्वरूपिणी हैं, आप ही 'बोध' रूपा हैं, क्योंकि समस्त वेदागम आपके ही रूप हैं और आप लज्जा हैं, तुष्टि हैं, पुष्टि हैं, शान्ति हैं और आप ही क्षान्ति भी हैं ॥ ६० ॥

हे देवि ! दैत्यदलन के लिए खड्ग, शूल, गदा, चक्र, शंख, चाप, बाण और परिघरूपी आठ अस्त्रों को आठ भुजाओं में धारण करनेवाली आप ही भयंकर अष्टभुजी भुशुण्डी चण्डिका हैं ॥ ६१ ॥

सौम्या सौम्यतराशेष-सौम्येभ्यस्त्वतिसुन्दरी ।
परापराणां परमा त्वमेव परमेश्वरी ॥६२।

यच्च किञ्चित् क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके ।
तस्य सर्व्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा ॥६३।

यया त्वया जगत्स्रष्टा जगत्पात्यत्ति यो जगत् ।
सोऽपि निद्रावशं नीतः कस्त्वां स्तोतुमिहेश्वरः ॥६४।

विष्णुः शरीरग्रहणमहमीशान एव च ।
कारितास्ते यतोऽतस्त्वां कः स्तोतुं शक्तिमान् भवेत् ॥६५।

सा त्वमित्थं प्रभावैः स्वैरुदारैर्देवि संस्तुता ।
मोहयैतौ दुराधर्षावसुरौ मधुकैटभौ ॥६६।

प्रबोधश्च जगत्स्वामी नीयतामच्युतो लघु ।
बोधश्च क्रियतामस्य हन्तुमेतौ महासुरौ ॥६७।

हे देवि ! इस जगत् में आप परमशान्तस्वभाव की हैं और समस्त सुन्दर से सुन्दर पदार्थों में आप ही परम सुन्दर हैं, आप ही समस्त तत्त्वों में परम अथवा अनुत्तर तत्त्वरूपिणी हैं और आप ही परमेश्वरी दुर्गा हैं ॥ ६२ ॥

हे देवि ! आप ही समस्त विश्वमयी हैं और इस जगत् के सदात्मक और असदात्मक पदार्थों की जो शक्ति है, वह आप ही हैं। आप की स्तुति भला मुझसे कैसे की जाय; क्योंकि आपके अतिरिक्त और किसका अस्तित्व है ॥ ६३ ॥

हे देवि ! आपकी स्तुति का सामर्थ्य किसी में नहीं है, क्योंकि महामायारूपा आपके द्वारा ही जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार के परमकारण भगवान् विष्णु भी योगनिंद्रा में वशीभूत बना दिये जाते हैं ॥ ६४ ॥

हे देवि ! आपके ही द्वारा प्रजापति ब्रह्मा, भगवान् विष्णु और भगवान् शङ्कर इन तीनों को शरीर धारण करना पड़ता है। ऐसी दशा में कौन ऐसा है, जो आपकी स्तुति का सामर्थ्य रखता हो ॥ ६५ ॥

हे देवि ! आपके जिस लोकोत्तर प्रभाव और सामर्थ्य के वर्णनों से मैंने आप का स्तवन किया, उसी प्रभाव और सामर्थ्य से इन दुराधर्ष मधु और कैटभ नाम के दानवों को आप मोहमाया के वशीभूत कर दें ॥ ६६ ॥

हे देवि ! आप जगत् के स्वामी भगवान् विष्णु की योगनिद्रा भग्न कर दें और इन दोनों असुरों का वध करने के लिए उत्साहित करनेवाली उनकी बुद्धि को जागृत कर दें ॥ ६७ ॥

ऋषिरुवाच—

एवं स्तुता तदा देवी तामसी तत्र वेधसा ।
विष्णोः प्रबोधनार्थाय निहन्तुं मधुकैटभौ ।।६८।
नेत्रास्यनासिका-बाहु-हृदयेभ्यस्तथोरसः ।
निर्गम्य दर्शने तस्थौ ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः ।।६९।
उत्तस्थौ च जगन्नाथस्तया मुक्तो जनार्दनः ।
एकार्णवेऽहिशयनात्ततः स ददृशे च तौ ।।७०।
मधुकैटभौ दुरात्मानावतिवीर्य्यपराक्रमौ ।
क्रोधरक्तेक्षणावत्तुं ब्रह्माणं जनितोद्यमौ ।।७१।
समुत्थाय ततस्ताभ्यां युयुधे भगवान् हरिः ।
पञ्चवर्षसहस्राणि बाहुप्रहरणो विभुः ।।७२।
तावप्यतिबलोन्मत्तौ महामायाविमोहितौ ।
उक्तवन्तौ वरोऽस्मत्तो व्रियतामिति केशवम् ।।७३।

ऋषि सुमेधा ने कहा—

महाराज ! इस प्रकार महाप्रलय के समय भगवान् विष्णु के नाभिकमल पर आसीन प्रजापति ब्रह्मा द्वारा जिस देवी की स्तुति की गयी, वह तामसी महामाया देवी, मधु और कैटभ का वध करने के लिए, भगवान् विष्णु को योगनिद्रा से जगाने के कार्य में उद्यत हो गयी ।। ६८ ।।

तत्काल वह योगनिद्रा भगवान् विष्णु के नेत्र, मुख, नासिका, भुजा, हृदय और वक्षःस्थल से बाहर निकल पड़ी और अव्यक्तजन्मा प्रजापति ब्रह्मा के समक्ष उपस्थित हो गयी ।। ६९ ।।

जैसे ही योगनिद्रा के वश से जनार्दन भगवान् विष्णु मुक्त हुए, वैसे ही वे कल्पान्तकालीन महासमुद्र में अपनी शय्या से उठ खड़े हुए और उन्होंने उन दोनों असुरों को देखा तथा उन दोनों असुरों ने भी उन्हें देखा ।। ७० ।।

वे दोनों महादुष्ट, महावीर और महापराक्रमी मधु और कैटभ दानव क्रोध से लाल-लाल आँखें दिखाते हुए ऐसे लगे, जैसे ब्रह्मा को खा जाने को उद्यत हों ।। ७१ ।।

तब अपने शेष-पर्यङ्क से उठकर भगवान् विष्णु ने उन दोनों दानवों के साथ बाहुयुद्ध किया, जो पाँच सहस्र वर्ष तक चलता रहा ।। ७२ ।।

अपने महाबल के मद में चूर वे दोनों दानव, अन्ततः महामाया के द्वारा मूढ़-बुद्धि बना दिए गए, जिसके कारण उन्होंने भगवान् विष्णु से कहा—'जो वर माँगना चाहो, हमसे माँग लो ।। ७३ ।।

भगवानुवाच—

भवेतामद्य मे तुष्टौ मम वध्यावुभावपि ।
किमन्येन वरेणात्र एतावद्धि वृतं मम ।।७४।

ऋषिरुवाच—

वञ्चिताभ्यामिति तदा सर्व्वमापोमयं जगत् ।
विलोक्य ताभ्यां गदितो भगवान् कमलेक्षणः ।।७५।
आवां जहि न यत्रोर्वी सलिलेन परिप्लुता ।
प्रीतौ स्वस्तव युद्धेन श्लाघ्यस्त्वं मृत्युरावयोः ।।७६।

ऋषिरुवाच—

तथेत्युक्त्वा भगवता शङ्ख-चक्र-गदाभृता ।
कृत्वा चक्रेण वै छिन्ने जघने शिरसी तयोः ।।७७।
एवमेषा समुत्पन्ना ब्रह्मणा संस्तुता स्वयम् ।
प्रभावमस्या देव्यास्तु भूयः शृणु वदामि ते ।।७८।

।। इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे सावर्णिके मन्वन्तरे देवीमाहात्म्ये मधुकैटभवधो नाम एकाशीतितमोऽध्यायः ।।

भगवान् विष्णु ने उन असुरों से कहा—

आज यदि तुम दोनों मुझ पर प्रसन्न हो तो, मुझे यही वर दो कि 'तुम दोनों मेरे द्वारा मारे जाओ ।' मुझे और किसी वर से क्या लेना-देना ! मुझे केवल यही वर माँगना है कि 'मैं तुम दोनों को मार डालूँ' ।। ७४ ।।

ऋषि सुमेधा महाराज सुरथ से कहने लगे—

इस प्रकार महामाया द्वारा ठगे गए उन दोनों दानवों ने जब समस्त जगत् को जलमग्न देखा, तब भगवान् विष्णु से यह कहा कि हमें आप मार डालें, किन्तु वहाँ मारें जहाँ जलाप्लाव न हो ।। ७५ ।।

भगवन् ! हम दोनों आपके युद्ध-कौशल से प्रसन्न हैं । आपके हाथों हमारा वध हो, यह तो हमारे लिए बड़ा श्लाघनीय है ।। ७६ ।।

ऋषि सुमेधा ने महाराज सुरथ से कहा—

महाराज ! शङ्ख-चक्र-गदाधारी भगवान् विष्णु ने 'तथास्तु' कह दिया और अपनी जाँघ पर उन दोनों दानवों के सिर रखकर, अपने चक्र की चोट से उन्हें काट डाला है ।। ७७ ।।

इस प्रकार देवी महामाया, देवताओं की कार्यसिद्धि के लिए प्रजापति ब्रह्मा की स्तुति से प्रसन्न होकर आविर्भूत हुईं । अब, हे महाराज ! इस महामाया के प्रादुर्भाव और पराक्रम के विषय में आपसे जो कह रहा हूँ, वह सब सुनें ।। ७८ ।।

पर्यालोचन

(क) इस अध्याय का आरम्भ स्वारोचिष-मन्वन्तर में विराजमान चैत्रवंश के प्रतापी राजा सुरथ के आख्यान से होता है। महाराज सुरथ महामाया महाशक्ति देवी की शरणागति की महिमा से सावर्णि मनु के रूप में पुनर्जन्म ग्रहण करके सावर्णि मन्वन्तर के प्रवर्तक के रूप में प्रख्यात हुए थे। महाराज सुरथ पर उनके शत्रुओं ने आक्रमण किया और उनका राजपाट छीन लिया। विरक्त होकर सुरथ वन में चले गए जहाँ समाधि नाम के एक धनकुबेर वैश्य से उनकी भेंट हुई। समाधि की धन-सम्पत्ति पर उसके पुत्र-पौत्रादि ने अधिकार जमा लिया, जिसके कारण उन्हें भी वैराग्य हो गया और मन की शान्ति के लिए वे भी वन में विचरने लगे। जिस वन में दोनों की भेंट हुई, उसमें सुमेधस् नाम के परमदेवीभक्त ब्रह्मज्ञानी ऋषि का आश्रम था। दोनों ऋषि सुमेधस् के पास पहुँचे और दोनों ने उनसे अपने-अपने मन की व्यथा का निवेदन किया ऋषि सुमेधस् ने उन्हें महामाया का ज्ञानोपदेश दिया और दर्शन कराया। दोनों महामाया के शरणागत हुए और दोनों का उद्विग्न हृदय आश्वस्त हुआ। राजा सुरथ अपने राज्य के एकच्छत्र अधिपति हुए और समाधि का अहंता-ममता का भाव ज्ञानाग्नि में भस्मीभूत हो गया।

देवीभागवत के १०म स्कन्ध के १०म अध्याय में भी महाराज सुरथ का आख्यान वर्णित है, किन्तु मार्कण्डेयमहापुराण के इस अध्याय में वर्णित आख्यान से कुछ भिन्न है। सम्भवतः देवीभागवत के रचयिता ने सुरथ का आख्यान ही मार्कण्डेयपुराण से ग्रहण किया है और समाधि का आख्यान छोड़ दिया है, जैसा कि निम्नलिखित श्लोक-सन्दर्भ (१०.१०.३-२५) से स्पष्ट है—

'अष्टमो मनुराख्यातः सावर्णिः प्रथितः क्षितौ।
स जन्मान्तर आराध्य देवीं तद्वरलाभतः॥

जातो मन्वन्तरपतिः सर्वराजन्यपूजितः।
महापराक्रमी धीरो देवीभक्तिपरायणः॥
....

चैत्रवंशसमुद्भूतो राजा स्वारोचिषेऽन्तरे।
सुरथो नाम विख्यातो महाबलपराक्रमः॥

गुणग्राही धनुर्धारी मान्यः श्रेष्ठः कविः कृती।
धनसङ्ग्रहकर्त्ता च दाता याचकमण्डले॥

अरीणां मर्दनो मानी सर्वास्त्रकुशलो बली।
तस्यैकदा बभूवुस्ते कोलाविध्वंसिनो नृपाः॥

शत्रवः सैन्यसहिताः परिवार्यैनमूर्जिताः।
रुरुधुर्नगरीं तस्य राज्ञो मानधनस्य हि॥

तदा स सुरथो नाम राजा सैन्यसमावृतः ।
निर्ययौ नगरात् स्वीयात् सर्वशत्रुनिबर्हणः ॥

तदा स समरे राजा सुरथः शत्रुभिर्जितः ।
अमात्यैर्मन्त्रिभिश्चैव तस्य कोशगतं धनम् ॥

हृतं सर्वमशेषेण तदाऽतप्यत भूमिपः ।
निष्कासितश्च नगरात् स राजा वरमद्युतिः ॥

जगामाश्वमथारुह्य मृगयामिषतो वनम् ।
एकाकी विजनेऽरण्ये बभ्रामोद्भ्रान्तमानसः ॥

मुनेः कस्यचिदागत्य स्वाश्रमं शान्तमानसः ।
प्रशान्तजन्तुसंयुक्तं मुनिशिष्यगणैर्युतम् ॥

उवास कञ्चित्कालं स राजा परमशोभने ।
आश्रमे मुनिवर्यस्य दीर्घदृष्टेः सुमेधसः ॥

एकदा स महीपालो मुनिं पूजावसानके ।
काले गत्वा प्रणम्याशु पप्रच्छ विनयान्वितः ॥

मुने मम मनो दुःखं बाधते चाऽधिसंभवम् ।
ज्ञाततत्त्वस्य भूदेव निष्प्रज्ञस्य च संततम् ॥

शत्रुभिर्निर्जितस्यापि हृतराज्यस्य सर्वशः ।
तथापि तेषु मनसि ममत्वं जायते स्फुटम् ॥

किं करोमि क्व गच्छामि कथं शर्म लभे मुने ।
त्वदनुग्रहमाशासे वद वेदविदां वर ॥

आकर्णय महीपाल ! महाश्चर्यकरं परम् ।
देवीमाहात्म्यमतुलं सर्वकामप्रदं परम् ॥

जगन्मयी महामाया विष्णुब्रह्महरोद्भवा ।
सा बलादपहृत्यैव जन्तूनां मानसानि हि ॥

मोहाय प्रतिसंयच्छेदिति जानीहि भूमिप ।
सा सृजत्यखिलं विश्वं सा पालयति सर्वदा ॥

संहारे हररूपेण संहरत्येव भूमिप ।
कामदात्री महामाया कालरात्रिर्दुरत्यया ॥

विश्वसंहारिणी काली कमला कमलालया ।
तस्यां सर्वं जगज्जातं तस्यां विश्वं प्रतिष्ठितम् ॥

लयमेष्यति तस्यां च तस्मात् सैव परात्परा।
तस्या देव्याः प्रसादश्च यस्योपरि भवेन्नृप ॥
स एव मोहमत्येति नान्यथा धरणीपते।'

देवीभागवत के उपर्युक्त श्लोकसन्दर्भ से यह निःसंदिग्ध रूप से प्रतीत होता है कि देवीभागवत का सुरथ-आख्यान मार्कण्डेयमहापुराण का ही रूपान्तर है। कहीं-कहीं वे ही पद प्रयुक्त हैं, जो मार्कण्डेयमहापुराण में हैं। मार्कण्डेयमहापुराण में सुरथ को देवी के अनुग्रह से निष्कण्टक राज्य की प्राप्ति तथा भावी जन्म में सावर्णि मनु के रूप में उनके जन्म का वर्णन है और वैश्यवर समाधि को अहंता-ममता के अज्ञानान्धकार से दूर हटाकर आत्मज्ञान के प्रकाश में प्रतिष्ठापित करने का प्रतिपादन है। सम्भवतः वैश्यवर समाधि का आख्यान बौद्धधर्म के प्रभाव की ओर संकेत करता है। देवीभागवत में दोनों अर्थात् निष्कण्टक राज्यलाभ और आत्मज्ञान के वरदान के भागी महाराज सुरथ ही बताए गए हैं, क्योंकि इन्हें ही सावर्णि मनु के रूप में भावी जन्म लेना है। समाधि का सावर्णि मनु से सम्बन्ध-वर्णन देवीभागवत के रचयिता ने जानबूझकर छोड़ दिया है, क्योंकि उसकी दृष्टि के सावर्णि मनु के माहात्म्य के निरूपण-प्रसङ्ग में, किसी धनकुबेर वैश्य के आत्मज्ञान का निरूपण असङ्गत है। आत्मज्ञान के अधिकारी सावर्णि मन्वन्तर में ब्राह्मण और क्षत्रिय ही हो सकते थे। वैश्य को इसका अधिकार नहीं था। वैश्य को अहंता-ममता से छुटकारा या तो बौद्धधर्म ने दिलवाया या जैनधर्म ने। जो भी हो, यह विषय एक स्वतन्त्र विचार-विमर्श का विषय है।

(ख) इस अध्याय में महाशक्ति विष्णुमाया को महाकालिका रूप में मधुकैटभ-मर्दिनी कहा गया है। मधु और कैटभ दो असुर थे जो सहोदर थे। देवीभागवत के दशम स्कन्ध (११वां अध्याय) में मधु-कैटभ का निम्नोद्धृत आख्यान वर्णित है—

'यदा नारायणो देवो विश्वं संहृत्य योगराट्।
आस्तीर्य शेषं भगवान् समुद्रे निद्रितोऽभवत् ॥
तदा प्रस्वापवशगो देवदेवो जनार्दनः।
तत्कर्णमलसञ्जातौ दानवौ मधुकैटभौ ॥
ब्रह्माणं हन्तुमुद्युक्तौ दानवौ घोररूपिणौ।
तदा कमलजो देवो दृष्ट्वा तौ मधुकैटभौ ॥
निद्रितं देवदेवेशं चिन्तामाप दुरत्ययाम्।
निद्रितो भगवानीशो दानवौ च दुरासदौ ॥
किं करोमि क्व गच्छामि कथं शर्म लभे ह्यहम्।
एवं चिन्तयतस्तस्य पद्मयोनेर्महात्मनः ॥
बुद्धिः प्रादुरभूत् तात तदा कार्यप्रसाधिनी।
यस्या वशंगतो देवो निद्रितो भगवान् हरिः ॥

तां देवीं शरणं यामि निद्रां सर्वप्रसूतिकाम् ।
देवदेवि जगद्धात्रि भक्ताभीष्टफलप्रदे ॥

जगन्माये महामाये समुद्रशयने शिवे ।
त्वदाज्ञावशगाः सर्वे स्वस्वकार्यविधायिनः ॥

कालरात्रिर्महारात्रिर्मोहरात्रिर्मदोत्कटा ।
व्यापिनी वशगा मान्या महानन्दैकशेवधिः ॥

महनीया महाराध्या माया मधुमती मही ।
परापराणां सर्वेषां परमा त्वं प्रकीर्त्तिता ॥

....

त्वया गृहीतो भगवान् देवदेवो रमापतिः ।
एतौ दुरासदौ दैत्यौ विक्रान्तौ मधुकैटभौ ॥

एतयोश्च वधार्थाय देवेशं प्रतिबोधय ।
एवं स्तुता भगवती तामसी भगवत्प्रिया ॥

देवदेवं तथा त्यक्त्वा मोहयामास दानवौ ।
तदैव भगवान् विष्णुः परमात्मा जगत्पतिः ॥

प्रबोधमाप देवेशो ददृशे दानवोत्तमौ ।
तदा तौ दानवौ घोरौ दृष्ट्वा तं मधुसूदनम् ॥

युद्धाय कृतसङ्कल्पौ जग्मतुः सन्निधिं हरेः ।
युयुधे च ततस्ताभ्यां भगवान् मधुसूदनः ॥

पञ्चवर्षसहस्राणि बाहुप्रहरणो विभुः ।
तौ तदातिबलोन्मत्तौ जगन्मायाविमोहितौ ॥

व्रियतां वर इत्येवमूचतुः परमेश्वरम् ।
एवं तयोर्वचः श्रुत्वा भगवानादिपूरुषः ॥

वव्रे वध्यावुभौ मेऽद्य भवेतामिति निश्चितम् ।
तौ तदाऽतिबलौ देवं पुनरेवोचतुर्हरिम् ॥

आवां जहि न यत्रोर्वी पयसा च परिप्लुता ।
तथेत्युक्त्वा भगवता गदाशङ्खभृता नृप ॥

कृत्वा चक्रेण वै छिन्ने जघने शिरसी तयोः ।
एवं देवी समुत्पन्ना ब्रह्मणा संस्तुता नृप ॥

महाकाली महाराज सर्वयोगेश्वरेश्वरी ।'

उपर्युक्त श्लोकों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मार्कण्डेय महापुराण का यह अध्याय श्रीदेवीभागवत के १०म स्कन्ध में कुछ पद-सन्दर्भ-परिवर्तन के साथ रूपान्तरित हुआ है। 'परापराणां सर्वेषां परमा त्वं प्रकीर्त्तिता'—इस १३वें श्लोकार्द्ध में मार्कण्डेयमहापुराण के इस अध्याय के 'परापराणां परमा त्वमेव परमेश्वरी' इस ६२वें श्लोकार्ध की स्मृति उद्बुद्ध होती सी प्रतीत हो रही है। इस मधुकैटभ-वध नामक अध्याय का जो ध्यान-श्लोक परम्परा से प्रचलित है, वह सम्भवतः श्रीदेवीभागवत की देवी-भावना की देन है।

(ग) महाभारत (शान्तिपर्व अध्याय ३.४८) में मधुकैटभ का आख्यान कुछ परिवर्तन के साथ दिया हुआ है। यहाँ मधुकैटभ का वर्णन महाविष्णु के कर्णमल के रूप में नहीं, अपितु उनके नाभिकमल में, ब्रह्मा की उत्पत्ति के साथ ही साथ कमलपत्र-संलग्न सागर के दो जलबिन्दुओं के रूप में किया गया है। एक जलविन्दु मधु के समान मधुर होने से तमोगुण का प्रतीक 'मधु' और दूसरा रजोगुण का प्रतीक होने से 'कैटभ' कहा गया। महाभारत का यह प्रसङ्ग क्षेपक सा लगता है। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे शेषशायी महाविष्णु के कर्णमल की कल्पना को अनुचित मानकर क्षेपककार ने उसके स्थान पर जलबिन्दु की कल्पना कर ली है।

(ग) श्रीदेवीभागवत के प्रथम स्कन्ध के ७-९ अध्यायों में मधुकैटभ के जन्मादि का विशद वर्णन है। निम्नलिखित दो श्लोक (अध्याय ८.४६, ४७) उद्धृत किए जाते हैं, जिनमें मार्कण्डेयमहापुराण में वर्णित मधुकैटभमर्दिनी महाकालिका की महिमा का दूसरे ही प्रकार से बड़ा सुन्दर वर्णन है—

'कामं कुरुष्व वधमद्य ममैव मात-
र्दुःखं न मे मरणजं जगदम्बिकेऽत्र।
कर्त्ता त्वयैव विहितः प्रथमं स चाऽयं
दैत्याहतोऽथ मृत इत्ययशो गरिष्ठम्॥

उत्तिष्ठ देवि! कुरु रूपमिहाद्भुतं त्वं
मां वा त्विमौ जहि यथेच्छसि बाललीले।
नो चेत्प्रबोधय हरिं निहनेदिमौ य-
स्त्वत्साध्यमेतदखिलं किल कार्यजातम्॥'

श्रीदेवीभागवत (अध्याय ९.८२-८४) में पृथिवी के मेदिनी नाम का रहस्य भगवान् विष्णु द्वारा सुदर्शन-चक्र से मारे गए मधुकैटभ के मेदस् (चर्बी) से प्रलयकाल के अपार-पारावार का व्याप्त होना और मेदस्विनी रूप में पृथिवी का प्रकट होना बताया गया है—

'रथाङ्गेन तथा छिन्ने विष्णुना प्रभविष्णुना।
जघनोपरि वेगेन प्रकृष्टे शिरसी तयोः॥

गतप्राणौ तदा जातौ दानवौ मधुकैटभौ।
सागरः सकलो व्याप्तस्तथा वै मेदसा तयोः॥

मेदिनीति ततो जातं नाम पृथ्व्याः समन्ततः।
अभक्ष्या मृत्तिका तेन कारणेन मुनीश्वराः॥

॥ श्री मार्कण्डेयपुराण के सार्वणिक-मन्वन्तर-वर्णन से सम्बद्ध देवी-माहात्म्य के प्रसंग में मधुकैटभ-वध नामक ८१वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त ॥

द्व्यशीतितमोऽध्यायः

ऋषिरुवाच—

देवासुरमभूद् युद्धं पूर्णमब्दशतं पुरा ।
महिषेऽसुराणामधिपे देवानां च पुरन्दरे ॥१॥

तत्रासुरैर्महावीर्य्यैर्देवसैन्यं पराजितम् ।
जित्वा च सकलान् देवानिन्द्रोऽभून्महिषासुरः ॥२॥

ततः पराजिता देवाः पद्मयोनिं प्रजापतिम् ।
पुरस्कृत्य गतास्तत्र यत्रेश-गरुडध्वजौ ॥३॥

यथावृत्तं तयोस्तद्वन्महिषासुरचेष्टितम् ।
त्रिदशाः कथयामासुर्देवाभिभवविस्तरम् ॥४॥

सूर्य्येन्द्राग्न्यनिलेन्दूनां यमस्य वरुणस्य च ।
अन्येषां चाधिकारान् स स्वयमेवाधितिष्ठति ॥५॥

ऋषि सुमेधा ने आगे कहा—

महाराज ! पुराकल्प में, असुराधिप महिषासुर और देवाधिप इन्द्र के नेतृत्व में पूरे एक सौ वर्ष तक देवासुर-संग्राम हुआ ॥ १ ॥

इस संग्राम में महावीर्यशाली असुरों के द्वारा देवताओं की सेनाएँ परास्त हो गयीं और समस्त देववृन्द को पराजित कर महिषासुर इन्द्र बन बैठा ॥ २ ॥

उसके बाद पराजित देवगण ने पद्मयोनि प्रजापति ब्रह्मा को अपना अग्रणी बनाया और वे सब वहाँ जा पहुँचे, जहाँ भगवान् शङ्कर और भगवान् विष्णु विराज-मान थे ॥ ३ ॥

देवताओं ने भगवान् शङ्कर और भगवान् विष्णु के आगे महिषासुर के उद्धत व्यवहार और देवसेना के पराभव के वृत्तान्त का विस्तार से वर्णन किया ॥ ४ ॥

उन्होंने यह कहा कि अब महिषासुर ने सूर्य, इन्द्र, अग्नि, वायु, चन्द्र, यम, वरुण तथा अन्य समस्त देवों के अधिकार अपने हाथ में कर लिए हैं ॥ ५ ॥

स्वर्गान्निराकृताः सर्व्वे तेन देवगणा भुवि ।
विचरन्ति यथा मर्त्त्या महिषेण दुरात्मना ॥६॥
एतद्वः कथितं सर्व्वममरारिविचेष्टितम् ।
शरणं वः प्रपन्नाः स्मो वधस्तस्य विचिन्त्यताम् ॥७॥

ऋषिरुवाच—

इत्थं निशम्य देवानां वचांसि मधुसूदनः ।
चकार कोपं शम्भुश्च भ्रुकुटीकुटिलाननौ ॥८॥
ततोऽतिकोपपूर्णस्य चक्रिणो वदनात्ततः ।
निश्चक्राम महत्तेजो ब्रह्मणः शङ्करस्य च ॥९॥
अन्येषाञ्चैव देवानां शक्रादीनां शरीरतः ।
निर्गतं सुमहत्तेजस्तच्चैक्यं समगच्छत ॥१०॥
अतीव तेजसः कूटं ज्वलन्तमिव पर्व्वतम् ।
ददृशुस्ते सुरास्तत्र ज्वालाव्याप्तदिगन्तरम् ॥११॥

दुरात्मा महिषासुर के द्वारा सभी देवगण स्वर्गलोक से निष्कासित कर दिए गए हैं और वे अब मरणधर्मा मनुष्यों की भाँति भूलोक में मारे-मारे फिर रहे हैं ॥ ६ ॥

आप त्रिदेवों से, हमने, देव-शत्रु महिषासुर की दुश्चेष्टाओं का वृत्तान्त बता दिया है। हम सब आपकी शरण में आए हैं। आप अब महिषासुर के वध के सम्बन्ध में कोई उपाय सोचें ॥ ७ ॥

ऋषि सुमेधा कहते गए—

देवताओं की इस प्रकार की बातें सुनकर मधुसूदन भगवान् विष्णु और मृत्युञ्जय भगवान् शङ्कर और प्रजापति ब्रह्मा क्रोधाविष्ट हो गए और उनके मुखमण्डल भ्रुकुटि-भङ्ग के कारण विकृत बन गए ॥ ८ ॥

इसके बाद अत्यधिक क्रुद्ध भगवान् विष्णु, ब्रह्मा और शङ्कर के मुखमण्डल से अत्यधिक दीप्त तेजःपुञ्ज निकल पड़ा ॥ ९ ॥

इसके अतिरिक्त अन्य इन्द्र प्रभृति देववृन्द के शरीरों से तेजोराशि निकल पड़ी और यह समस्त तेजःसमूह एक महातेज के रूप में परिणत हो गया ॥ १० ॥

इस प्रकार देववृन्द के तेजःपुञ्ज के देदीप्यमान होने पर सभी देवों ने तेज की ज्वाला से चारों दिशाओं को व्याप्त देखा और प्रज्वलित पर्वत की भाँति तेजःपुञ्ज का दर्शन किया ॥ ११ ॥

अतुलं तत्र तत्तेजः सर्व्वदेवशरीरजम् ।
एकस्थं तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रयं त्विषा ॥१२॥

यदभूच्छाम्भवं तेजस्तेनाजायत तन्मुखम् ।
याम्येन चाभवन् केशा बाहवो विष्णुतेजसा ॥१३॥

सौम्येन स्तनयोर्युग्मं मध्यं चैन्द्रेण चाभवत् ।
वारुणेन च जङ्घोरू नितम्बस्तेजसा भुवः ॥१४॥

ब्रह्मणस्तेजसा पादौ तदङ्गुल्योऽर्कतेजसा ।
वसूनाञ्च कराङ्गुल्यः कौबेरेण च नासिका ॥१५॥

तस्यास्तु दन्ताः सम्भूताः प्राजापत्येन तेजसा ।
नयनत्रितयं जज्ञे तथा पावकतेजसा ॥१६॥

भ्रुवौ च सन्ध्ययोस्तेजः श्रवणावनिलस्य च ।
अन्येषां चैव देवानां सम्भवस्तेजसां शिवा ॥१७॥

देवसभा में ब्रह्मा-विष्णु-महेश के मुखमण्डल के तेज और इन्द्रादि देवगण के शरीर से समुद्भूत तेज परस्पर मिलकर तीनों लोकों में व्याप्त एक अनुपम महातेज के रूप में परिवर्तित हुए और उनसे एक नारीरूप का आविर्भाव हुआ ॥ १२ ॥

भगवान् शङ्कर का जो तेज था, उससे उस नारी का मुखमण्डल बना, यमराज का जो तेज था, वह उस नारी का केशकलाप बना और भगवान् विष्णु का जो तेज था, उससे उस नारी की भुजाएँ बन गयीं ॥ १३ ॥

सोमदेव के तेज से उस नारी के स्तनयुगल निकले, देवराज इन्द्र के तेज से उस नारी का कटिदेश बना, वरुणदेव के तेज से उस नारी के जङ्घाद्वय और ऊरुद्वय रचे गए और भूदेवी के तेज से उस नारी के नितम्ब की सृष्टि हुई ॥ १४ ॥

ब्रह्मा प्रजापति से निकले तेज ने उस नारी के चरणों को बनाया, सूर्य से निकले तेज ने उस नारी के चरणों की अंगुलियाँ बनाईं, आठ वसुओं के तेज ने उस नारी के हाथों की अंगुलियों की रचना की और कुबेर के तेज से उस नारी की नासिका बनी ॥ १५ ॥

प्रजापति का तेज उस नारी की दन्तपङ्क्ति का और अग्नि का तेज उस नारी के नयनत्रय का उत्पादक हुआ ॥ १६ ॥

उस नारी की भौंहें सान्ध्य तेज के रूप में और कर्णयुगल वायु के तेज के रूप में उद्भूत हुए और इस प्रकार अन्य समस्त देवों के तेजःसमूह से समुद्भूत वह सर्वमङ्गला देवी प्रकट हुई ॥ १७ ॥

ततः समस्तदेवानां तेजोराशिसमुद्भवाम् ।
तां विलोक्य मुदं प्रापुरमरा महिषार्दिताः ॥१८॥
ततो देवा ददुस्तस्यै स्वानि स्वान्यायुधानि च ।
ऊचुर्जयजयेत्युच्चैर्जयन्तीं ते जयैषिणः ॥१९॥
शूलं शूलाद्विनिष्कृष्य ददौ तस्यै पिनाकधृक् ।
चक्रं च दत्तवान् कृष्णः समुत्पाद्य स्वचक्रतः ॥२०॥
शङ्खञ्च वरुणः शक्तिं ददौ तस्यै हुताशनः ।
मारुतो दत्तवांश्चापं बाणपूर्णे तथेषुधी ॥२१॥
वज्रमिन्द्रः समुत्पाद्य कुलिशादमराधिपः ।
ददौ तस्यै सहस्राक्षो घण्टामैरावताद् गजात् ॥२२॥
कालदण्डाद्यमो दण्डं पाशं चाम्बुपतिर्ददौ ।
प्रजापतिश्चाक्षमालां ददौ ब्रह्मा कमण्डलुम् ॥२३॥
समस्तरोमकूपेषु निजरश्मीन् दिवाकरः ।
कालश्च दत्तवान् खड्गं तस्याश्चर्म्म च निर्म्मलम् ॥२४॥

महिषासुर के द्वारा पीड़ित सभी देवगण समस्त देवों की तेजोराशि से आविर्भूत उस सर्वमङ्गला देवी को देखकर बड़े प्रसन्न हुए ॥ १८ ॥

देवी के दर्शन से प्रसन्न होने के बाद सभी देवों ने अपने-अपने आयुध उस देवी को समर्पित किए और असुर-विजय की अभिलाषा से उस जयन्ती सर्वमङ्गला का जयजयकार किया ॥ १९ ॥

उस देवी को पिनाकी शिव ने अपने त्रिशूल से त्रिशूल निकाल कर दिया और चक्रधर कृष्ण ने अपने सुदर्शनचक्र से सुदर्शनचक्र निकाल कर अर्पित किया ॥ २० ॥

वरुण ने उस देवी को शङ्ख दिया, अग्नि ने उस देवी को शक्ति नामक आयुध दिया और वायु ने उस देवी को चाप और बाणों से परिपूर्ण तूणीर दिए ॥ २१ ॥

देवाधिराज सहस्राक्ष इन्द्र ने उस देवी को अपने वज्र से वज्र खींच कर दिया और अपने गजराज ऐरावत के विशाल घण्टे से घण्टा निकालकर दिया ॥ २२ ॥

यमराज ने, उस देवी को, अपने कालदण्ड से निकाला गया कालदण्ड दिया, वरुण देव ने उस देवी को अपने पाश से पाश निकाल कर दिया और प्रजापति ब्रह्मा ने उस देवी को अपनी अक्षमाला से निकाली गयी अक्षमाला दी और कमण्डलु से निकाला गया कमण्डलु दिया ॥ २३ ॥

सूर्य ने उस देवी के शरीर के रोमकूपों में अपनी रश्मिमालाएँ भर दीं और यम ने उस देवी को निर्मल खड्ग तथा ढाल का समर्पण किया ॥ २४ ॥

क्षीरोदश्चामलं हारमजरे च तथाम्बरे ।
चूडामणिं तथा दिव्यं कुण्डले कटकानि च ॥२५।
अर्द्धचन्द्रं तथा शुभ्रं केयूरान् सर्व्वबाहुषु ।
नूपुरौ विमलौ तद्वद् ग्रैवेयकमनुत्तमम् ।
अङ्गुलीयकरत्नानि समस्तास्वङ्गुलीषु च ॥२६।
विश्वकर्म्मा ददौ तस्यै परशुञ्चातिनिर्म्मलम् ।
अस्त्राण्यनेकरूपाणि तथाभेद्यं च दंशनम् ॥२७।
अम्लानपङ्कजां मालां शिरस्युरसि चापराम् ।
अददज्जलधिस्तस्यै पङ्कजं चातिशोभनम् ॥२८।
हिमवान् वाहनं सिंहं रत्नानि विविधानि च ।
ददावशून्यं सुरया पानपात्रं धनाधिपः ॥२९।
शेषश्च सर्व्वनागेशो महामणिविभूषितम् ।
नागहारं ददौ तस्यै धत्ते यः पृथिवीमिमाम् ॥३०।
अन्यैरपि सुरैर्देवी भूषणैरायुधैस्तथा ।
सम्मानिता ननादोच्चैः साट्टहासं मुहुर्मुहुः ॥३१।

क्षीरसागर ने उस देवी को निर्मल मौक्तिकहार तथा दिव्य नवीन वस्त्र-युगल समर्पित किया। विश्वकर्मा ने दिव्य चूड़ामणि, कर्ण-कुण्डल, वलय, शुभ्र अर्द्धचन्द्र, आठों भुजाओं के लिए बाजूबन्द, पैरों के लिए सुन्दर नूपुर, अत्युत्तम कण्ठाभरण, सभी अंगुलियों के लिए बहुमूल्य अंगुलीयक, अत्यन्त विमल परशु, नाना प्रकार के अस्त्र और अभेद्य कवच—ये सभी वस्तुएँ उस देवी को अर्पित कीं ॥ २५-२७ ॥

समुद्र ने उस देवी का शिरोभूषणरूप अम्लान कमलों का शिरोमाल्य और कण्ठालङ्काररूप अम्लान कमलों का प्रालम्ब प्रदान किया और साथ ही साथ एक अतिसुन्दर कमल भी दिया ॥ २८ ॥

हिमालय ने उस देवी को वाहन के रूप में सिंह दिया और साथ ही साथ नाना प्रकार के रत्न भी दिए। इसी प्रकार कुबेर ने उस देवी को सुरा से सदापूर्ण पानपात्र दिया ॥ २९ ॥

समस्त नागों के अधीश्वर और पृथिवी को अपने फणामण्डल पर धारण करने वाले शेषनाग ने उस देवी को महामणिजटित नागहार दिया ॥ ३० ॥

इनके अतिरिक्त अन्यान्य देवों ने आभूषणों और आयुधों के समर्पण से उस देवी का सम्मान किया और तब वह देवी उच्च स्वर में अट्टहास करती हुई रह-रहकर सिंहनाद करने लगी ॥ ३१ ॥

तस्या नादेन घोरेण कृत्स्नमापूरितं नभः ।
अमायतातिमहता प्रतिशब्दो महानभूत् ॥३२।
चुक्षुभुः सकला लोकाः समुद्राश्च चकम्पिरे ।
चचाल वसुधा चेलुः सकलाश्च महीधराः ॥३३।
जयेति देवाश्च मुदा तामूचुः सिंहवाहिनीम् ।
तुष्टुवुर्मुनयश्चैनां भक्तिनम्रात्ममूर्त्तयः ॥३४।
दृष्ट्वा समस्तं संक्षुब्धं त्रैलोक्यममरारयः ।
सन्नद्धाखिलसैन्यास्ते समुत्तस्थुरुदायुधाः ॥३५।
आः किमेतदिति क्रोधादाभाष्य महिषासुरः ।
अभ्यधावत तं शब्दमशेषैरसुरैर्वृतः ॥३६।
स ददर्श ततो देवीं व्याप्तलोकत्रयां त्विषा ।
पादाक्रान्त्या नतभुवं किरीटोल्लिखिताम्बराम् ॥३७।
क्षोभिताशेषपातालां धनुर्ज्यानिःस्वनेन ताम् ।
दिशो भुजसहस्रेण समन्ताद् व्याप्य संस्थिताम् ॥३८।

उस देवी के भयङ्कर सिंहनाद से समस्त व्योममण्डल ऐसा व्याप्त हो गया, मानों वह सिमट कर उस निनाद के भीतर समा गया हो और तब उस महानिनाद की प्रतिध्वनि सर्वत्र गूँजने लगी ॥ ३२ ॥

उस प्रतिध्वनि से समस्त लोक व्याकुल हो उठे, सभी समुद्र कम्पित हो गए, पृथिवी भूकम्प से डगमगाने लगी और सभी पर्वत हिलने लगे ॥ ३३ ॥

ऐसा होते ही देववृन्द आनन्द-मग्न होकर सिंहवाहिनी उस देवी का जय-जयकार करने लगे और भक्तिभाव से नतमस्तक मुनिजन उसका स्तवन करने लगे ॥ ३४ ॥

इस प्रकार समस्त त्रैलोक्य को संक्षुब्ध देखकर देवों के शत्रु दानव अपने समस्त सैन्यबल से सन्नद्ध अपने हाथों में पकड़े आयुध ऊपर उठाये उठ खड़े हुए ॥ ३५ ॥

'अरे यह सब क्या है ?' ऐसा क्रोध में चिल्लाता हुआ महिषासुर अपने समस्त असुरसैन्य के साथ उस ओर दौड़ पड़ा, जिधर से सिंहनाद की ध्वनि आ रही थी ॥ ३६ ॥

तब इस महिषासुर ने उस देवी को देखा, जिसके तेज की दीप्ति समस्तलोक में व्याप्त हो रही थी, जिसके चरण-संचरण से पृथिवी पाताल में धँस रही थी, जिसके किरीट के अग्रभाग से व्योममण्डल में खरोंच पड़ रही थी, जिसके धनुष की प्रत्यञ्चा की टङ्कार से समस्त पाताल में खलबली मच रही थी और जो अपनी सहस्रों भुजाओं को सर्वत्र दिग्-दिगन्त में फैलाए, पैर जमाये खड़ी थी ॥ ३७-३८ ॥

ततः प्रववृते युद्धं तया देव्या सुरद्विषाम् ।
शस्त्रास्त्रैर्बहुधा मुक्तैरादीपितदिगन्तरम् ।।३९।

महिषासुरसेनानीश्चिक्षुराख्यो महासुरः ।
युयुधे चामरश्चान्यैश्चतुरङ्गबलान्वितः ।।४०।

रथानामयुतैः षड्भिरुदग्राख्यो महासुरः ।
अयुध्यतायुतानाञ्च सहस्रेण महाहनुः ।।४१।

पञ्चाशद्भिश्च नियुतैरसिलोमा महासुरः ।
अयुतानां शतैः षड्भिर्वाष्कलो युयुधे रणे ।।४२।

गजवाजिसहस्रौघैरनेकैरुग्रदर्शनः ।
वृतो रथानां कोटया च युद्धे तस्मिन्नयुध्यत ।।४३।

बिडालाक्षोऽयुतानाञ्च पञ्चाशद्भिरथायुतैः ।
युयुधे संयुगे तत्र रथानां परिवारितः ।।४४।

तत्काल देवशत्रु दानवों का उस देवी के साथ युद्ध छिड़ गया, जिसमें चलाए गये शस्त्रों और अस्त्रों से चारों दिशाएँ प्रज्वलित-सी हो गयीं ।। ३९ ।।

महिषासुर के सेनापति चिक्षुर नामक महादानव और चतुरङ्गिणी सेना के साथ एक दूसरे सेनानायक चामर ने युद्ध प्रारम्भ कर दिया ।। ४० ।।

उदग्र नाम का महादानव साठ हजार रथों के साथ और महाहनु नामक असुर एक करोड़ रथारोहियों के साथ देवी से युद्ध करने लगे ।। ४१ ।।

असिलोमा नामक महासुर पाँच करोड़ रथारोही असुरों के साथ और वाष्कल नामक महासुर साठ लाख असुर सैनिकों के साथ देवी से संग्राम में भिड़ गये ।। ४२ ।।

उग्रदर्शन नाम के महासुर ने कई हजार गजसेना और अश्वसेना तथा करोड़ों रथारोही सैनिकों के साथ रणभूमि में देवी से लड़ाई प्रारम्भ कर दी ।। ४३ ।।

बिडाल नामक महादैत्य ने युद्धभूमि में पांच लाख रथों को लेकर देवी पर चढ़ाई कर दी ।। ४४ ।।

वृतः कालो रथानाञ्च रणे पञ्चाशतायुतैः ।
युयुधे संयुगे तत्र तावद्‌भिः परिवारितः ॥४५॥

अन्ये च तत्रायुतशो रथनागहयैर्वृताः ।
युयुधुः संयुगे देव्या सह तत्र महासुराः ॥४६॥

कोटिकोटिसहस्रैस्तु रथानां दन्तिनां तथा ।
हयानाञ्च वृतो युद्धे तत्राभून्महिषासुरः ॥४७॥

तोमरैर्भिन्दिपालैश्च शक्तिभिर्मुसलैस्तथा ।
युयुधुः संयुगे देव्या खड्‌गैः परशुपट्टिशैः ॥४८॥

केचिच्च चिक्षिपुः शक्तीः केचित् पाशांस्तथापरे ।
देवीं खड्‌गप्रहारैस्तु ते तां हन्तुं प्रचक्रमुः ॥४९॥

सापि देवी ततस्तानि शस्त्राण्यस्त्राणि चण्डिका ।
लीलयैव प्रचिच्छेद निजशस्त्रास्त्रवर्षिणी ॥५०॥

काल नाम के महादैत्य ने पांच लाख रथारूढ़ दैत्य सैनिकों और उतने ही गजारोही और अश्वारोही दैत्यों के साथ देवी से लोहा लिया ॥ ४५ ॥

इन चिक्षुर प्रभृति असुरों के अतिरिक्त अनेक अन्य बड़े-बड़े असुर असंख्य रथारोही, गजारोही और अश्वारोही सैनिकों के साथ देवी से लड़ने लगे ॥ ४६ ॥

उस समय युद्धक्षेत्र में महिषासुर असुर सेना के कोटिकोटिसहस्र (असंख्य) रथों, हाथियों, घोड़ों और पैदल सैनिकों से घिरा सर्वतः सुरक्षित होकर लड़ने लगा ॥ ४७ ॥

युद्धक्षेत्र में सभी महासुर तोमर, भिन्दिपाल, शक्ति, मुसल, खड्‌ग, परशु और पट्टिश प्रभृति अस्त्र-शस्त्रों के साथ देवी से युद्ध करने में लग गये ॥ ४८ ॥

उनमें कुछ महासुर देवी को मारने के लिए 'शक्ति' अस्त्र चला रहे थे, कुछ 'पाश' अस्त्र का प्रक्षेप कर रहे थे और कुछ खड्‌ग से प्रहार कर रहे थे ॥ ४९ ॥

वह देवी चण्डिका भी उन महासुरों द्वारा प्रक्षिप्त शस्त्रों को, अपने शस्त्रों और अस्त्रों की वर्षा से, विना किसी आयास-प्रयास के, छिन्न-भिन्न कर रही थी ॥ ५० ॥

अनायस्ताननना देवी स्तूयमाना सुरर्षिभिः ।
मुमोचासुरदेहेषु शस्त्राण्यस्त्राणि चेश्वरी ॥५१॥

सोऽपि क्रुद्धो धुतसटो देव्या वाहनकेशरी ।
चचारासुरसैन्येषु वनेष्विव हुताशनः ॥५२॥

निश्वासान्मुमुचे यांश्च युध्यमाना रणेऽम्बिका ।
त एव सद्यः सम्भूता गणाः शतसहस्रशः ॥५३॥

युयुधुस्ते परशुभिर्भिन्दिपालासिपट्टिशैः ।
नाशयन्तोऽसुरगणान् देवीशक्त्युपबृंहिताः ॥५४॥

अवादयन्त पटहान् गणाः शङ्खांस्तथापरे ।
मृदङ्गांश्च तथैवान्ये तस्मिन् युद्धमहोत्सवे ॥५५॥

ततो देवी त्रिशूलेन गदया शक्तिवृष्टिभिः ।
खड्गादिभिश्च शतशो निजघान महासुरान् ॥५६॥

महैश्वर्यमयी और इसीलिए अम्लानमुखी वह देवी, जिसके विजय से देववृन्द और ऋषिगण उनकी स्तुति कर रहे थे, असुरों के शरीरों पर अपने शस्त्रों की वर्षा कर रही थी ॥ ५१ ॥

देवी का वह वाहन सिंह भी अपने केशकलाप हिला-हिलाकर असुर-सैन्य में इस प्रकार स्वच्छन्द विचरण करते हुए असुर-संहार कर रहा था, जिस प्रकार जङ्गल में आग बिना किसी रोक-टोक के, धधकती हुई जङ्गल में सब ओर छा रही हो ॥ ५२ ॥

संग्राम-भूमि में युद्ध में लगी देवी के मुख से जो निःश्वास निकल रहे थे, वे हजारों-हजार चण्डी-गण के रूप में परिणत होकर युद्ध कर रहे थे ॥ ५३ ॥

देवी के निःश्वास से समुद्भूत वे योद्धागण देवी के द्वारा उत्साहित किए जा रहे थे और परशु, भिन्दिपाल, खड्ग और पट्टिश प्रभृति अस्त्र-शस्त्रों से असुरों का संहार करते हुए युद्ध में लगे थे ॥ ५४ ॥

देवी के उस युद्धरूपी महोत्सव में, देवी के गणों में कुछ तो ढोल पीट रहे थे, कुछ शंख फूंक रहे थे और कुछ मृदङ्ग पर जोर-जोर से थाप दे रहे थे ॥ ५५ ॥

इसके बाद देवी ने त्रिशूल, गदा, बाणवर्षा तथा खड्गादि के निरन्तर प्रहार से सैकड़ों महादानवों को मौन के घाट उतार दिया ॥ ५६ ॥

पातयामास चैवान्यान् घण्टास्वनविमोहितान् ।
असुरान् भुवि पाशेन बद्ध्वा चान्यानकर्षयत् ॥५७॥

केचिद् द्विधा कृतास्तीक्ष्णैः खड्गपातैस्तथापरे ।
विपोथिता निपातेन गदया भुवि शेरते ॥५८॥

वेमुश्च केचिद्रुधिरं मुसलेन भृशं हताः ।
केचिन्निपातिता भूमौ भिन्नाः शूलेन वक्षसि ॥५९॥

निरन्तराः शरौघेण कृताः केचिद्रणाजिरे ।
शैलानुकारिणः प्राणान् मुमुचुस्त्रिदशार्दनाः ॥६०॥

केषाञ्चिद्बाहवश्छिन्नाश्छिन्नग्रीवास्तथापरे ।
शिरांसि पेतुरन्येषामन्ये मध्ये विदारिताः ॥६१॥

विच्छिन्नजङ्घास्त्वपरे पेतुरुर्व्यां महासुराः ।
एकबाह्वक्षिचरणाः केचिद्देव्या द्विधा कृताः ॥६२॥

अनेकानेक असुरों को, जो घण्टानिर्घोष से मूर्छित हो रहे थे, देवी ने अपने पाश में बाँधकर भूतल पर पटक दिया और बहुत से अन्य असुरों को उसी से बाँधकर घसीटने लगी ॥ ५७ ॥

कुछ असुरगण तेज तलवार की मार से दो टुकड़े कर दिए गए और कुछ गदा के आघात पर आघात से मारे जाकर भूतल पर मरकर सो गए ॥ ५८ ॥

कुछ मुसल की मार खाकर मुँह से खून उगलने लगे और कुछ, जिनके वक्षः-स्थल त्रिशूल के प्रहार से छलनी हो गये थे, नीचे जमीन पर गिर पड़े ॥ ५९ ॥

पर्वत के समान विशालकाय कुछ देवशत्रु दानवों के प्राणपखेरू, रणाङ्गण में ही, देवी की अनवरत बाणवर्षा से उड़ गए ॥ ६० ॥

देवी के द्वारा काटे गए अनेक असुरों के हाथ जमीन पर गिर पड़े, अनेक की काटी गयी गर्दनें नीचे लुढक गयीं, अनेक के काटे गये सिर नीचे लोटने लगे और अनेक के दो टुकड़ों में कटे शरीर भूशायी हो गये ॥ ६१ ॥

दूसरे महासुर, जिनकी जांघें देवी ने काट दी थीं, पृथिवी पर लोट-पोट करने लगे और कई महासुर, जिनकीं एक आँख फोड़ दी गयी थी, एक बाँह कटी पड़ी थी और एक पैर नहीं बचा था, देवी के द्वारा दो टुकड़े कर दिए गए ॥ ६२ ॥

छिन्नेऽपि चान्ये शिरसि पतिताः पुनरुत्थिताः ।
कबन्धा युयुधुर्देव्या गृहीतपरमायुधाः ॥६३।

ननृतुश्चापरे तत्र युद्धे तूर्य्यलयाश्रिताः ।
कबन्धाश्छिन्नशिरसः खड्ग-शक्त्यृष्टिपाणयः ॥६४।

तिष्ठ तिष्ठेति भाषन्तो देवीमन्ये महासुराः ।
रुधिरौघविलुप्ताङ्गाः संग्रामे लोमहर्षणे ॥६५।

पातितै रथनागाश्वैरसुरैश्च वसुन्धरा ।
अगम्या साऽभवत् तत्र यत्राभूत् स महारणः ॥६६।

शोणितौघा महानद्यः सद्यस्तत्र विसुस्रुवुः ।
मध्ये चासुरसैन्यस्य वारणासुरवाजिनाम् ॥६७।

क्षणेन तन्महासैन्यमसुराणां तथाम्बिका ।
निन्ये क्षयं यथा वह्निस्तृणदारुमहाचयम् ॥६८।

कई एक दानव, जो सिरकटे नीचे पड़े थे, फिर उठ खड़े हुए और उनके धड़ भयङ्कर आयुधों के साथ देवी से लड़ने लगे ॥ ६३ ॥

कई सिर कटे दैत्यों के धड़, मानों वीररसाविष्ट होकर, संग्राम-भूमि में ही चतुर्विध वांद्यों के लय-तालपर खड्ग, शक्ति और दुधारी तलवार हाथों में लिए नृत्य करने लगे ॥ ६४ ॥

रोंगटे खड़ा कराने वाले उस भीषण युद्ध में, अनेक महादानव, जिनके शरीर खून से लथपथ हो रहे थे, देवी को 'ठहर जा, ठहर जा' कहकर मानों ललकारने लगे ॥ ६५ ॥

वह समस्त पृथिवी, जहाँ संग्राम छिड़ा था, नीचे मारे-गिराये रथों और हाथियों और घोड़ों के कारण ऐसी हो गयी, जिस पर चलना असम्भव था ॥ ६६ ॥

उस महासमर में असुरसैन्य के बीच, हाथियों, असुरसैनिकों और घोड़ों के खून की महानदियाँ बहने लगीं ॥ ६७ ॥

क्षणभर में ही, देवी अम्बिका ने, दानवों की विशाल सेना को ऐसे नष्ट कर दिया, जैसे आग घास-फूस और लकड़ी के ढेर को नष्ट कर दे ॥ ६८ ॥

स च सिंहो महानादमुत्सृजन् धुतकेसरः ।
शरीरेभ्योऽमरारीणामसूनिव विचिन्वति ॥६९॥

देव्या गणैश्च तैस्तत्र कृतं युद्धं तथाऽसुरैः ।
यथैषां तुतुषुर्देवाः पुष्पवृष्टिमुचो दिवि ॥७०॥

॥ इति श्रीमार्कण्डेयमहापुराणे सावर्णिके मन्वन्तरे देवीमाहात्म्ये
महिषासुरसैन्यवधो नाम द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥

देवी का वाहन वह सिंह अपने केसरकलाप हिला-हिलाकर भयङ्कर गर्जन-तर्जन करता हुआ देवशत्रु दानवों के प्राण मानों उनके शरीरों से चुन-चुन कर बाहर निकालने लगा ॥ ६९ ॥

देवी के उच्छ्वास से उत्पन्न देवो के गण युद्धभूमि में महादानवों से लड़ने लगे, जिन्हें देख-देखकर देवगण प्रसन्न होने लगे और आकाश से उन पर पुष्पवृष्टि करने लगे ॥ ७० ॥

✲

पर्यालोचन

(क) मार्कण्डेय महापुराण के ८१वें अध्याय में मधुकैटभ-वध में सर्ग-क्रम के आरम्भ का रहस्य प्रतिपादित है। सर्ग-चक्र के चल जाने पर देव और असुर सृष्टि होती है और देवी तथा आसुरी शक्तिओं का भयङ्कर संग्राम छिड़ जाता है। आसुरी शक्ति का प्रतिनिधि महिषासुर है और दैवी-शक्ति का प्रतिनिधित्व महालक्ष्मी रूप में साक्षात् विष्णुमाया करती है, जो कि देवी का 'महिषासुर-मर्दिनी' रूप है। महाकाली रूप में मधुकैटभ-वध और महालक्ष्मी रूप में महिषासुर-वध—ये दोनों आख्यान केवल आख्यान नहीं, अपितु आध्यात्मिक रहस्य हैं, जिनमें देवी की जगत्-सृष्टि और जगद्रक्षा का निगूढ़ अभिप्राय अभिव्यक्त होता है।

(ख) श्रीदेवीभागवत के १०म स्कन्ध के १२वें अध्याय में देवी के महालक्ष्मी रूप में महिषासुर-मर्दन का जो आख्यान वर्णित है, वह मार्कण्डेय महापुराण के इस अध्याय में वर्णित महिषासुर-वध से सम्बद्ध आख्यान पर ही आधृत है। देखिए श्रीदेवी-भागवत के १०म स्कन्ध में महिषासुर के बलपराक्रम तथा महिषमर्दिनी के आविर्भाव का वर्णन, जो कि ११वें अध्याय के श्लोकार्ध ३४ की निम्नलिखित भूमिका से आरम्भ होता है—

'महालक्ष्म्यास्तथोत्पत्तिं निशामय जगत्पते।'

और १२वें अध्याय (श्लोक १—१५) में समाप्त होता है—

'महिषीगर्भसंभूतो महाबलपराक्रमः।
देवान् सर्वान् पराजित्य महिषोऽभूज्जगत्प्रभुः॥

सर्वेषां लोकपालानामधिकारान् महासुरः।
बलान्निर्जित्य बुभुजे त्रैलोक्यैश्वर्यमद्भुतम्॥

त : पराजिताः सर्वे देवाः स्वर्गपरिच्युताः।
ब्रह्माणं च पुरस्कृत्य ते जग्मुर्लोकमुत्तमम्॥

यत्रोत्तमौ देवदेवौ संस्थितौ शङ्कराच्युतौ।
वृत्तान्तं कथयामासुर्महिषस्य दुरात्मनः॥

देवानां चैव सर्वेषां स्थानानि तरसाऽसुरः।
विनिर्जित्य स्वयं भुङ्क्ते बलवीर्यमदोद्धतः॥

महिषासुरनामाऽसौ दुष्टदैत्योऽमरेश्वरौ।
वधोपायश्च तस्याशु चिन्त्यतामसुरार्दनौ॥

एवं श्रुत्वा स भगवान् देवानामार्तियुग्वचः।
चकार कोपं सुबहुं तथा शङ्करपद्मजौ॥

एवं कोपयुतस्यास्य हरेरास्यान्महीपते ।
तेजः प्रादुरभूद् दिव्यं सहस्रार्कसमद्युतिः ॥

अथानुक्रमतस्तेजः सर्वेषां त्रिदिवौकसाम् ।
शरीरादुद्भवं प्राप हर्षयद् विबुधाधिपान् ॥

यदभूच्छाम्भवं तेजो मुखमस्योदपद्यत ।
केशा बभूवुर्याम्येन वैष्णवेन च बाहवः ॥

सौम्येन च स्तनौ जातौ माहेन्द्रेण च मध्यमः ।
वारुणेन ततो भूप जङ्घोरू संबभूवतुः ॥

नितम्बो तेजसा भूमेः पादौ ब्राह्मेण तेजसा ।
पादङ्गुल्यो भानवेन वासवेन कराङ्गुलीः ॥

कौबेरेण तथा नासा दन्ताः सञ्जज्ञिरे तदा ।
प्राजापत्येनोत्तमेन तेजसा वसुधाधिप ॥

पावकेन च सञ्जातं लोचनत्रितयं शुभम् ।
सान्ध्येन तेजसा जाते भ्रुकुट्यौ तेजसां निधी ॥

कर्णौ वायव्यतो जातौ तेजसो मनुजाधिप ।
सर्वेषां तेजसा देवी जाता महिषमर्दिनी ॥'

श्रीदेवीभागवत के उपर्युक्त महिषासुर तथा महिषमर्दिनो महालक्ष्मी के वर्णनों की अपेक्षा मार्कण्डेयपुराण के वर्णन में एक सुन्दर काव्य-धारा का प्रवाह है। श्रीदेवी-भागवत के 'महिषोऽभूज्जगत्प्रभुः' (१०-१२-१) में कोई काव्यात्मक-सौन्दर्य नहीं। किन्तु मार्कण्डेयपुराण के 'इन्द्रोऽभून्महिषासुरः' (८२।२) में एक काव्यात्मक वैचित्र्य है, जो कि अनेक भावों को अनुध्वनित करता है। वक्रोक्तिजीवितकार आचार्य कुन्तक के द्वारा वर्णित 'उपचारवक्रता' यहाँ स्पष्ट झलकती है। श्रीदेवीभागवत में मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय के निम्नलिखित श्लोक (सं० १२) की कहीं भी छाया नहीं छिटकती, जिसके कारण महिषमर्दिनी का वर्णन फीका-सा लगता है—

'अतुलं तत्र तत्तेजः सर्वदेवशरीरजम् ।
एकस्थं तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रयं त्विषा ॥'

(ग) सर्वदेवशरीरज तेज के एकस्थ होने पर उसके 'नारी' के रूप में आवि-र्भाव के वर्णन के बाद मार्कण्डेयपुराग में समस्त देवों द्वारा अपने-अपने शक्तिशाली अस्त्र-शस्त्रों तथा रत्नाभरणों का उस नारी के लिए समर्पग का जो वर्णन है, वह जितना प्रभावशाली और प्रवाहमय है, उतना श्रीदेवीभागवत में किया इसी वर्ण्य-विषय का वर्णन नहीं दिखायी देता। देखिए श्रीदेवीभागवत का इस विषय का वर्णन (१०-१२, १६-२२)—

'शूलं ददौ शिवो विष्णुश्चक्रं शङ्खं च पाशभृत् ।
हुताशनो ददौ शक्तिं मारुतश्चापसायकौ ॥

वज्रं महेन्द्रः प्रददौ घण्टां चैरावताद् गजात् ।
कालदण्डं यमो ब्रह्मा चाक्षमालाकमण्डलू ॥

दिवाकरो रश्मिमालां रोमकूपेषु संददौ ।
कालः खड्गं तथा चर्म निर्मलं वसुधाधिप ॥

समुद्रो निर्मलं हारमजरे चाम्बरे नृप ।
चूडामणि कुण्डले च कटकानि तथाङ्गदे ॥

अर्धचन्द्रं निर्मलं च नूपुराणि तथा ददौ ।
ग्रैवेयकं भूषणं च तस्यै देव्यै मुदान्वितः ॥

विश्वकर्मा चोर्मिकाश्च ददौ तस्यै धरापते ।
हिमवान् वाहनं सिंहं रत्नानि विविधानि च ॥

पानपात्रं सुरापूर्णं ददौ तस्यै धनाधिपः ।
शेषश्च भगवान् देवो नागहारं ददौ विभुः ॥'

श्रीदेवीभागवत का उपर्युक्त वर्णन काव्यमीमांसाकार राजशेखर की दृष्टि में मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय के श्लोकों में प्रयुक्त शब्दों का ऐसा उपनिबन्ध है, जिसे 'परित्याज्य शब्दहरण' कहना पड़ता है, क्योंकि मार्कण्डेयपुराण के ही पद, पाद, प्रकरण आदि का यहाँ एक प्रकार का अनौचित्यपूर्ण हरण अथवा अपहरण प्रतीत होता है।

(घ) देवीभागवत के पञ्चम स्कन्ध के द्वितीय अध्याय (श्लोक १८-५०) में महिषासुर के अद्भुत जन्म का वृत्त वर्णित है। यहाँ रंभ नामक दानव का एक सुन्दर महिषी (भैंस) से प्रेम और सम्भोग, महिषासुर का महिषी के गर्भ में जन्मधारण, रंभ की एक बलिष्ठ महिष (भैंसे) से मृत्यु, रंभ की प्रेयसी महिषी (भैंस) द्वारा प्रियवियोग में मृत रंभ के साथ आत्मदाह के लिए चिता में प्रवेश, चिता की अग्नि से रंभ का शरीरान्तर धारण कर निर्गमन, रंभ को मारने वाले महिष (भैंसे) का भी रक्तबीज के रूप में पुर्नजन्म—इत्यादि अनेक आख्यान ऐसे हैं, जिनका मार्कण्डेयपुराण में कहीं कोई उल्लेख नहीं है और न 'देवी-माहात्म्य' नामक प्रकरण से उसका कोई सम्बन्ध ही है। देवीभागवत में तो देवी की भागवती कथा है, जिसमें ये सब आख्यान समन्वित हो सकते हैं और देवीभागवत के रचयिता ने इसीलिए इन आख्यानों को समन्वित किया है।

(ङ) इस अध्याय के ४०वें श्लोक में महिषासुर की दानवी सेनाओं के सेनानी (महासेनापति) के रूप में 'चिक्षुर' नामक एक महासुर का उल्लेख है। यही 'चिक्षुर' देवीभागवत (स्कन्ध ५. ३. ३) में महिषासुर का महावीर्यशाली तथा मदोत्कट सेनानी कहा गया है—

'सेनानीश्चिक्षुरस्तस्य महावीर्यो मदोत्कटः।'

मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय में परिगणित 'चामर', 'उदग्र', 'महाहनु', 'असिलोमा', 'वाष्कल' तथा विडाल प्रभृति महिषासुर के अन्य सेनापतियों का भी देवी-

भागवत में नाम-निर्देश है। इस अध्याय में महिषासुर के इन सेनापतियों का देवी से जो युद्ध वर्णित है, उस पर महाभारत के द्रोण-कर्ण-शल्य प्रभृति पर्वों के युद्ध-वर्णनों का प्रभाव पड़ा दिखायी देता है। किन्तु देवीभागवत में इस प्रभाव का सर्वथा अभाव है, जिसके कारण यहाँ जो युद्ध-वर्णन है, वह युद्ध-वर्णन सा नहीं लगता।

।। श्रीमार्कण्डेयपुराण के सावर्णिक-मन्वन्तर-वर्णन से सम्बद्ध 'देवीमाहात्म्य' के प्रसंग में महिषासुर-सैन्यवध नामक ८२वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त ॥

*

त्र्यशीतितमोऽध्यायः

ऋषिरुवाच—

निहन्यमानं तत्सैन्यमवलोक्य महासुरः ।
सेनानीश्चिक्षुरः कोपाद्ययौ योद्धुमथाम्बिकाम् ॥१॥

स देवीं शरवर्षेण ववर्ष समरेऽसुरः ।
यथा मेरुगिरेः शृङ्गं तोयवर्षेण तोयदः ॥२॥

तस्य च्छित्त्वा ततो देवी लीलयैव शरोत्करान् ।
जघान तुरगान् बाणैर्यन्तारं चैव वाजिनाम् ॥३॥

चिच्छेद च धनुः सद्यो ध्वजं चातिसमुच्छ्रितम् ।
विव्याध चैव गात्रेषु च्छिन्नधन्वानमाशुगैः ॥४॥

स च्छिन्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः ।
अभ्यधावत तां देवीं खड्ग-चर्म्मधरोऽसुरः ॥५॥

ऋषि सुमेधा ने आगे की कथा सुनायी—

महिषासुर के सेनानायक महादानव चिक्षुर ने जब देवी के द्वारा दानवी सेनाओं का संहार होते देखा, तब क्रोध से तमतमाये हुए वह देवी अम्बिका से युद्ध करने के लिए चल पड़ा ॥ १ ॥

वह महासुर देवी पर बाणों की ऐसी वर्षा करने लगा, जैसी सुमेरुपर्वत के शिखर पर मेघ जल की वर्षा करते हों ॥ २ ॥

देवी भी उस महासुर के बाणों को अपने बाणों से, बिना किसी आयास-प्रयास के, छिन्न-भिन्न करने लगीं और उन्होंने उसके रथ के घोड़ों और सारथी को मार डाला ॥ ३ ॥

साथ ही साथ देवी ने उस महादानव के धनुष और रथ पर लगे ऊँचे ध्वज को काट दिया और जब उसका धनुष टूट गया, तब उसके अंग-प्रत्यङ्ग को अपने बाणों से बींध दिया ॥ ४ ॥

वह असुर सेनापति चिक्षुर भी, जिसका धनुष टूट गया था, जिसका रथ नष्ट हो गया था, जिसके घोड़े मर गए थे और जिसका सारथी मर चुका था, ढाल और तलवार लेकर देवी पर आक्रमण करने के लिए दौड़ पड़ा ॥ ५ ॥

सिंहमाहत्य खड्गेन तीक्ष्णधारेण मूर्द्धनि ।
आजघान भुजे सव्ये देवीमप्यतिवेगवान् ॥६॥

तस्याः खड्गो भुजं प्राप्य पफाल नृपनन्दन ।
ततो जग्राह शूलं स कोपादरुणलोचनः ॥७॥

चिक्षेप च ततस्तत्तु भद्रकाल्यां महासुरः ।
जाज्वल्यमानं तेजोभी रविबिम्बमिवाम्बरात् ॥८॥

दृष्ट्वा तदापतच्छूलं देवी शूलममुञ्चत ।
तच्छूलं शतधा तेन नीतं स च महासुरः ॥९॥

हते तस्मिन् महावीर्ये महिषस्य चमूपतौ ।
आजगाम गजारूढश्चामरस्त्रिदशार्द्दनः ॥१०॥

सोऽपि शक्तिं मुमोचाथ देव्यास्तामम्बिका द्रुतम् ।
हुंकाराभिहतां भूमौ पातयामास निष्प्रभाम् ॥११॥

भग्नां शक्तिं निपतितां दृष्ट्वा क्रोधसमन्वितः ।
चिक्षेप चामरः शूलं बाणैस्तदपि साच्छिनत् ॥१२॥

उसने तेज धारवाली तलवार से देवी-वाहन सिंह पर प्रहार किया और बड़ी फुर्ती के साथ देवी की बांयीं भुजा पर चोट पहुँचायी ॥ ६ ॥

महाराज ! उसकी तलवार देवी की बांह पर पड़ते ही टुकड़े-टुकड़े हो गयी और तब उस असुर ने क्रोध से आँखें लाल किए अपने हाथ में शूल पकड़ा ॥ ७ ॥

उस महादानव ने उस त्रिशूल को, जो व्योममण्डल को देदीप्यमान करनेवाले सूर्यमण्डल की भाँति तेज ज्वाला से प्रज्वलित था, देवी पर फेंका ॥ ८ ॥

उस त्रिशूल को अपनी ओर आते देखकर देवी ने अपना त्रिशूल चलाया, जिससे उस महासुर और उसके त्रिशूल—दोनों के सैकड़ों टुकड़े हो गए ॥ ९ ॥

जब महिषासुर का वह महावीर सेनापति मर गया, तब देवों का उत्पीडक दूसरा चामर नाम का सेनापति हाथी पर सवार होकर वहाँ आ पहुँचा ॥ १० ॥

उसने देवी पर शक्ति अस्त्र चलाया, किन्तु देवी ने तत्काल अपने हुँकार से ही उसे बेकार बना कर नीचे गिरा दिया ॥ ११ ॥

अपने शक्ति अस्त्र को नष्ट होते देख कर चामर क्रोधाकुल हो उठा और उसने त्रिशूल का प्रहार किया, जिसे देवी ने अपने बाणों से टुकड़े-टुकड़े काट दिया ॥ १२ ॥

ततः सिंहः समुत्पत्य गजकुम्भान्तरे स्थितः ।
बाहुयुद्धेन युयुधे तेनोच्चैस्त्रिदशारिणा ॥१३॥
युध्यमानौ ततस्तौ तु तस्मान्नागान्महीं गतौ ।
युयुधातेऽतिसंरब्धौ प्रहारैरतिदारुणैः ॥१४॥
ततो वेगात्खमुत्पत्य निपत्य च मृगारिणा ।
करप्रहारेण शिरश्चामरस्य पृथक्कृतम् ॥१५॥
उदग्रश्च रणे देव्या शिलावृक्षादिभिर्हतः ।
दन्तमुष्टितलैश्चैव करालश्च निपातितः ॥१६॥
देवी क्रुद्धा गदापातैश्चूर्णयामास चोद्धतम् ।
वाष्कलं भिन्दिपालेन बाणैस्ताम्रं तथान्धकम् ॥१७॥
उग्रास्यमुग्रवीर्य्यञ्च तथैव च महाहनुम् ।
त्रिनेत्रा च त्रिशूलेन जघान परमेश्वरी ॥१८॥

उसके बाद देवी का वाहन सिंह उछल कर उसके हाथी के मस्तक पर चढ़ बैठा और उसने अपने हाथों से देवशत्रु दानव के साथ बड़े जोर से लड़ाई शुरू कर दी ॥ १३ ॥

वह दानव और वह देवीवाहन सिंह—दोनों लड़ते-भिड़ते हाथी के मस्तक से नीचे आ गिरे; किन्तु तब-तक अत्यधिक क्रोध में तमतमाये वे दोनों एक दूसरे पर अत्यन्त भयङ्कर प्रहार करने लगे ॥ १४ ॥

उसके बाद देवीवाहन सिंह बड़े वेग से ऊपर उछला और बड़े वेग से नीचे कूद कर उसने अपने पंजों से चामर का सिर धड़ से अलग कर दिया ॥ १५ ॥

इसी बीच, रणभूमि में खड़े उदग्र नामक असुर को देवी ने पत्थर, पेड़ और बाण आदि अस्त्रों से मार डाला और कराल नामक असुर को हाथी-दाँत की मूँठवाली कटार के प्रहारों से मार गिराया ॥ १६ ॥

देवी ऐसी क्रुद्ध हुई कि उसने गदा के आघात से उद्धत नामक असुर का चूर्ण कर दिया और भिन्दिपाल अर्थात् लोहे से मढ़ी लाठी फेंककर वाष्कल नामक असुर के और बाणों की बौछार से ताम्र और अंधक नामक असुरों के प्राणपखेरू उड़ा दिये ॥ १७ ॥

त्रिनयना परमेश्वरी देवी ने उग्रास्य, उग्रवीर्य और महाहनु नाम के तीन असुर-नायकों को त्रिशूल से मार डाला ॥ १८ ॥

बिडालस्यासिना कायात् पातयामास वै शिरः ।
दुर्द्धरं दुर्म्मुखं चोभौ शरैर्निन्ये यमक्षयम् ।
कालं च कालदण्डेन कालरात्रिरपातयत् ।।१९।

उग्रदर्शनमत्युग्रैः खड्गपातैरताडयत् ।
असिनैवासिलोमानमच्छिदत् सा रणोत्सवे ।
गणैः सिंहेन देव्या च जयक्ष्वेडाकृतोत्सवैः ।।२०।

एवं संक्षीयमाणे तु स्वसैन्ये महिषासुरः ।
माहिषेण स्वरूपेण त्रासयामास तान् गणान् ।।२१।

कांश्चित्तुण्डप्रहारेण खुरक्षेपैस्तथापरान् ।
लाङ्गूलताडितांश्चान्यान् शृङ्गाभ्याञ्च विदारितान् ।।२२।

वेगेन कांश्चिदपरान् नादेन भ्रमणेन च ।
निश्वासपवनेनान्यान् पातयामास भूतले ।।२३।

साथ ही साथ उस देवी ने बिडाल नाम के असुर की देह तलवार से काटकर नीचे गिरा दी। बाणों के प्रहार से दुर्धर और दुर्मुख नाम के दानवों को यमलोक में भेज दिया और काल नाम के महासुर को उस कालरात्रि देवी ने अपने कालदण्ड से सर्वनाश में मिला दिया ॥ १९ ॥

रणोत्सव में आनन्दमग्न उस देवी ने उग्रदर्शन नाम के असुर पर अत्यन्त प्रचण्ड खड्गाघात किया। तलवार के प्रहार से असिलोमा नामक असुर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये और रणोत्सव मनानेवाले अपने गणों और अपने वाहन सिंह के साथ वह अपनी विजय का सिंहनाद करने लगी ॥ २० ॥

जब महिषासुर ने अपनी सेनाओं को इस प्रकार नाश में मिलते देखा, तब उसने अपने महिष-स्वरूप को धारण कर लिया और देवी के गणों को डराना-धमकाना प्रारम्भ कर दिया ॥ २१ ॥

उसने देवी के गणों में से कुछ को अपने मुँह के प्रहार से, कुछ को अपने खुरों की चोट से, कुछ को अपनी पूँछ की फटकार से, कुछ को अपनी सींगों के आघात से, कुछ को अपने प्रबल गतिवेग से, कुछ को अपने हुंकार से, कुछ को अपने चतुर्दिक् भ्रमण की भयङ्करता से और कुछ को अपनी फुफुकार से भूतल पर पटक दिया ॥ २२-२३ ॥

निपात्य प्रमथानीकमभ्यधावत सोऽसुरः ।
सिंहं हन्तुं महादेव्याः कोपं चक्रे ततोऽम्बिका ॥२४।
सोऽपि कोपान्महावीर्य्यः खुरक्षुण्णमहीतलः ।
शृङ्गाभ्यां पर्व्वतानुच्चैश्चिक्षेप च ननाद च ॥२५।
वेगभ्रमणविक्षुण्णा मही तस्य व्यशीर्य्यत ।
लाङ्गूलेनाहतश्चाब्धिः प्लावयामास सर्व्वतः ॥२६।
धुतशृङ्गविभिन्नाश्च खण्डं खण्डं ययुर्घनाः ।
श्वासानिलास्ताः शतशो निपेतुर्नभसोऽचलाः ॥२७।
इति क्रोधसमाध्मातमापतन्तं महासुरम् ।
दृष्ट्वा सा चण्डिका कोपं तद्वधाय तदाकरोत् ॥२८।
सा क्षिप्त्वा तस्य वै पाशं तं बबन्ध महासुरम् ।
तत्याज माहिषं रूपं सोऽपि बद्धो महामृधे ॥२९।
ततः सिंहोऽभवत् सद्यो यावत्तस्याम्बिका शिरः ।
छिनत्ति तावत्पुरुषः खड्गपाणिरदृश्यत ॥३०।

उसके बाद वह महासुर देवी के गणों को पटक-पटक कर उस देवी के वाहन सिंह को मार डालने के लिए दौड़ पड़ा और यह सब देखकर देवी अम्बिका क्रोधावेश में आ गयीं ॥ २४ ॥

महिषासुर भी महावीर था और क्रोध में आकर उसने अपने खुरों से धरती रौंद डाली, अपनी सींगों से पर्वत शिखरों को तोड़-फोड़कर ऊपर फेंक दिया और तब वह भीषण गलगर्जन करने लगा ॥ २५ ॥

महिषासुर के महावेग से दौड़ने से रौंदी जाकर पृथिवी की धज्जियाँ उड़ गयीं और उसकी पूँछ की फटकार की मार खाकर समुद्र के प्रशान्त जल में चारों ओर उथल-पुथल मच गयी ॥ २६ ॥

उसकी सींगों की झटकार से मेघमण्डल टुकड़े-टुकड़े में बिखर गया और उसकी श्वासवायु के वेग से दूर फेंके गए सैकड़ों पर्वत-शिखर नीचे गिरकर चकनाचूर हो गए ॥ २७ ॥

जब देवी चण्डिका ने क्रोध की आग में जलते महादानव महिषासुर को अपनी ओर दौड़ते देखा, तब वह उसका वध करने के लिए क्रुद्ध हो उठी ॥ २८ ॥

उन्होंने तत्काल वरुण से मिले पाश को उस पर फेंका और उससे उस महासुर को जकड़ दिया। उस महासमर में देवी के पाशास्त्र में बँधे उस महिषासुर ने भी महिषरूप छोड़ दिया। एक क्षण में उसने अपने को सिंहरूप में बदल लिया और जैसे ही अम्बिका देवी उसका सिर काटने को उद्यत हुईं, वैसे ही वह हाथ में

तत एवाशु पुरुषं देवी चिच्छेद सायकैः ।
तं खड्गचर्म्मणा सार्द्धं ततः सोऽभून्महागजः ।।३१।
करेण च महासिंहं तं चकर्ष जगर्ज च ।
कर्षतस्तु करं देवी खड्गेन निरकृन्तत ।।३२।
ततो महासुरो भूयो माहिषं वपुरास्थितः ।
तथैव क्षोभयामास त्रैलोक्यं सचराचरम् ।।३३।
ततः क्रुद्धा जगन्माता चण्डिका पानमुत्तमम् ।
पपौ पुनः पुनश्चैव जहासारुणलोचना ।।३४।
ननर्द चासुरः सोऽपि बलवीर्य्यमदोद्धतः ।
विषाणाभ्याञ्च चिक्षेप चण्डिकां प्रति भूधरान् ।।३५।
सा च तान् प्रहितांस्तेन चूर्णयन्ती शरोत्करैः ।
उवाच तं मदोद्धूतमुखरागाकुलाक्षरम् ।।३६।

खड्ग धारण किए मनुष्य के रूप में दिखायी देने लगा। तभी बड़ी शीघ्रता के साथ, देवी ने ढाल-तलवार लिये उस मानुषरूपी महिषासुर को बाणों से विक्षत कर डाला। किन्तु एक क्षण में उसने एक विशालकाय गजराज का रूप धारण कर लिया। अपनी सूँड़ से देवीवाहन महासिंह को पकड़ कर अपनी ओर खींचने लगा और घोर गर्जन करने लगा। किन्तु जैसे ही उसने सिंह को सूँड़ से पकड़ कर खींचना प्रारम्भ किया, वैसे ही देवी ने अपनी तलवार से उसकी सूँड़ काट दी। उस महासुर ने फिर अपना रूप बदलकर महिष शरीर धारण कर लिया और समस्त चराचर जगत् में खलबली मचा दी ॥ २९-३३ ॥

त्रैलोक्य को व्याकुल देखते ही जगन्माता चण्डिका क्रुद्ध हो गयीं और उन्होंने कई बार सुरापान (वीरपान) किया, उससे उनकी आँखें लाल हो गयीं और वे अट्टहास करने लगीं ॥ ३४ ॥

अपने बल और अपनी वीरता के गर्व से उद्धत वह महासुर महिषासुर भी गरजने लगा और अपनी सींगों से पहाड़ों की चट्टानें उठा-उठाकर चण्डिका पर फेंकने लगा ॥ ३५ ॥

देवी चण्डिका ने उसके द्वारा फेंकी गयी चट्टानों को अपने बाणों की बौछार से चूर-चूर कर दिया और सुरापान करने के कारण लाल मुँख लिये अस्पष्ट स्वर में, उससे कहा ॥ ३६ ॥

देव्युवाच—

गर्ज्ज गर्ज्ज क्षणं मूढ मधु यावत्पिबाम्यहम् ।
मया त्वयि हतेऽत्रैव गर्ज्जिष्यन्त्याशु देवताः ।।३७।

ऋषिरुवाच—

एवमुक्त्वा समुत्पत्य सारूढा तं महासुरम् ।
पादेनाक्रम्य कण्ठे च शूलेनैनमताडयत् ।।३८।
ततः सोऽपि पदाक्रान्तस्तया निजमुखात्ततः ।
अर्द्धनिष्क्रान्त एवासीद् देव्या वीर्य्येण संवृतः ।।३९।
अर्द्धनिष्क्रान्त एवासौ युध्यमानो महासुरः ।
तया महासिना देव्या शिरश्छित्त्वा निपातितः ।।४०।
एवं स महिषो नाम ससैन्यः ससुहृद्गणः ।
त्रैलोक्यं मोहयित्वा तु तया देव्या विनाशितः ।।४१।
त्रैलोक्यस्थैस्तदा भूतैर्महिषे विनिपातिते ।
जयेत्युक्तं ततः सर्वैः सदेवासुरमानवैः ।।४२।

देवी ने कहा—

'अरे मूर्ख ! गरज ले, जितना गरजना हो, मुझे तब तक मधुपान कर लेने दे। उसके बाद जब तुझे क्षणभर में यहाँ मार डालूँगी, तब यहीं देवगण आनन्द के उत्सव की गर्जना करने लगेंगे ।। ३७ ।।

ऋषि सुमेधा बोले—

ऐसा कहते ही देवी उछल पड़ीं और उस महासुर महिषासुर पर चढ़ बैठीं और उसके गले पर एक पैर जमा कर त्रिशूल की चोट की ।। ३८ ।।

देवी के पैर से आक्रान्त महिषासुर अपने मुख के साथ अपने शरीर के अर्द्धभाग को निकाल सका; किन्तु देवी के पराक्रम से स्तम्भित होने के कारण जैसा का तैसा पड़ा रहा ।। ३९ ।।

शरीर से अर्द्धनिष्क्रान्त होने पर भी वह महासुर देवी से युद्ध करने लगा; किन्तु देवी ने अपने विशाल खड्ग से उसका सिर काट दिया और उसे जमीन पर गिरा दिया ।। ४० ।।

इस प्रकार जो महिषासुर, अपनी विशाल सेनाओं और अपने इष्टमित्रों के साथ तीनों लोकों को पीड़ित कर रहा था, वह उस देवी के हाथों सर्वनाश में मिला दिया गया ।। ४१ ।।

देवी के द्वारा महिषासुर के मार दिये जाने पर, तीनों लोक के प्राणी, जिनमें देवगण, दानवगण और मानवगण सभी थे, देवी की जय-जयकार करने लगे ।। ४२ ।।

ततो हाहाकृतं सर्व्वं दैत्यसैन्यं ननाश तत् ।
प्रहर्षञ्च परं जग्मुः सकला देवतागणाः ॥४३॥
तुष्टुवुस्तां सुरा देवीं सह दिव्यैर्महर्षिभिः ।
जगुर्गन्धर्व्वपतयो ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥४४॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे सार्वाणके मन्वन्तरे देवीमाहात्म्ये महिषासुरवधो नाम त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥

इस प्रकार महिषासुर-मर्दन के बाद, जो भी दानवी सेना बच रही थी, उसमें हाहाकार मच गया और वह नष्ट हो गयी। उसके बाद समस्त देववृन्द प्रसन्नता से भर उठा ॥ ४३ ॥

साथ ही साथ देवों ने दिव्यलोकवासी महर्षियों के साथ देवी का स्तवन किया। इसके अतिरिक्त गन्धर्वगण ने देवी की अलौकिक वीरता की गाथाएँ गायीं और देवाङ्गनाओं ने देवी के सम्मान में नृत्य के आयोजन किए ॥ ४४ ॥

पर्यालोचन

(क) इस अध्याय में महालक्ष्मी द्वारा महिषासुर का वध वर्णित है। महिषासुर की सेनाओं के कई सेनानी ८२वें अध्याय में देवी के साथ युद्ध करते वर्णित किए जा चुके हैं, जिनमें वाष्कल, उदग्र, असिलोमा, विडाल तथा काल अथवा कालवन्धन प्रमुख हैं। श्रीदेवीभागवत के पञ्चम स्कन्ध में वाष्कल-प्रभृति असुरों को असुरराज महिषासुर के मन्त्रिमण्डल के प्रमुख सदस्यों के रूप में प्रदर्शित किया गया है और इन असुरों के साथ देवी के युद्ध का पृथक्-पृथक् सविस्तर वर्णन भी दिया गया है। मार्कण्डेय महापुराण में यह सब विषय बड़े संक्षेप में, किन्तु बड़े प्रभावशाली ढङ्ग से प्रतिपादित है।

कविराज राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में कवि-वर्णित 'अन्ययोनि' अर्थ के 'प्रतिबिम्बकल्प' नामक प्रभेद के जो आठ भेद बताए हैं, उनमें एक भेद का पारिभाषिक नाम 'तैलविन्दु' है। मार्कण्डेयमहापुराण में संक्षेप में वर्णित इन उपर्युक्त विषयों का श्रीदेवीभागवत में विस्तार के साथ जो वर्णन है, वह इसका एक सटीक उदाहरण है। राजशेखर ने 'तैलबिन्दु' संज्ञक प्रतिविम्बकल्प 'अन्ययोनि' अर्थ की निम्नलिखित (काव्यमीमांसा १२ अध्याय) परिभाषा की है—

'संक्षिप्तार्थविस्तरेण तैलविन्दुः'।

अर्थात् जैसे तेल की एक छोटी बूंद किसी पात्र में रखे जल में गिरने या गिराने से पूरे जल में फैली नयी वस्तु सी दिखायी देती है, वैसे ही एक कवि दूसरे कवि के द्वारा संक्षेप में वर्णित विषय को बहुत विस्तार से वर्णित कर अपनी नयी कृति के रूप में प्रदर्शित करता है। काव्यमीमांसाकार ने इसका निम्नलिखित सुन्दर उदाहरण दिया है—

किसी पूर्ववर्त्ती कवि की श्लोक रचना यह रही—

'यस्य तन्त्रभराक्रान्त्या पातालतलगामिनी।
महावराहदंष्ट्रायाः भूयः सस्मार मेदिनी॥'

पश्चाद्वर्त्ती कवि ने इसी का आधार लेकर निम्नलिखित श्लोक-रचना कर दी—

'यत्तन्त्राक्रान्तिमज्जत्पृथुलमणिशिलाशल्यवेल्लत्फणान्ते
क्लान्ते पत्यावहीनां चलदचलमहास्तम्भसम्भारसीमा ।
सस्मार स्फारचन्द्रद्युति पुनरवनिस्तद्हिरण्याक्षवक्षः-
स्थूलास्थिश्रेणिशाणानिकषणसितमप्याशु दंष्ट्राग्रमुग्रम् ॥'

उपर्युक्त दृष्टि से श्रीमार्कण्डेय महापुराण और श्रीदेवीभागवत में जो सादृश्य है, वह प्रतिबिम्बकल्प सादृश्य है और वह भी 'तैलबिन्दु' संज्ञक सादृश्य है। इसीलिए जिसने मार्कण्डेयमहापुराण के 'देवी-माहात्म्य' को पढ़कर हृदयङ्गम कर लिया है, उसे देवीभागवत का पञ्चमस्कन्ध 'देवीमाहात्म्य' का प्रतिबिम्ब सा दिखायी देगा। जीवन-सत्ता का स्फुरण बिम्ब में रहता है, प्रतिबिम्ब में नहीं। इसीलिए मार्कण्डेयपुराण का 'देवीमाहात्म्य' प्रकरण जितना हृदयस्पर्शी और प्रभावशाली लगता है, उतना श्रीदेवी-भागवत का नहीं।

(ख) इस अध्याय में महिषासुर के देवी से युद्ध करने के पहले महिषासुर का प्रधान सेनापति 'चिक्षुर' देवी से युद्ध करना और देवी द्वारा मारा जाता वर्णित किया गया है, जिसके पश्चात् चामर, उदग्र तथा वाष्कल प्रभृति सेनानायकों के देवी से युद्ध और देवी द्वारा वध वर्णित हैं। देवी द्वारा इन असुरसेनानायकों के वध से क्रुद्ध मायावी महिषासुर का देवी के साथ संग्राम और संग्राम में उसके वध के वर्णन का प्रसङ्ग अध्यायान्त में आता है। देखिए मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय में देवी से चिक्षुर का युद्ध-वर्णन—

'स देवीं शरवर्षेण ववर्ष समरेऽसुरः।
यथा मेरुगिरेः शृङ्गं तोयवर्षेण तोयदः ॥'

और इसे देवीभागवत के पञ्चक स्कन्ध (१५.३१) के निम्नलिखित श्लोक में दिए चिक्षुर और देवी के युद्ध-वर्णन से मिलाइये—

'तच्छ्रुत्वा वचनं तस्या दानवो बलदर्पितः।
मुमोच बाणवृष्टिं तां घनवृष्टिमिवाऽपराम् ॥'

दोनों वचनों पर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मार्कण्डेयपुराण के वर्णन में जो प्रवाह है, वह देवीभागवत के वर्णन में नहीं दिखायी देता।

(ग) मार्कण्डेयपुराण के इसी अध्याय का निम्नोद्धृत श्लोक देखिए—

'गर्ज गर्ज क्षणं मूढ मधु यावत् पिबाम्यहम् ।
मया त्वयि हतेऽत्रैव गर्जिष्यन्त्याशु देवताः ॥'

और साथ ही साथ इसी श्लोक के शब्द तथा अर्थ के हरण अथवा अपहरण से बनाए गए देवीभागवत के नीचे लिखे दो श्लोक देखिए—

'इत्युक्त्वा चषकं चैव गृहीत्वा सुरया युतम् ।
पपौ पुनः पुनः क्रोधाद्धन्तुकामा महासुरम् ॥

पीत्वा द्राक्षासवं मिष्टं शूलमादाय सत्वरा ।
दुद्राव दानवं देवी हर्षयन् देवतागणान् ॥'

वस्तुतः इस अध्याय के उपर्युद्धृत श्लोक का काव्यात्मक-सौन्दर्य देवीभागवत के दोनों श्लोकों में नहीं दिखायी देता ।

(घ) मार्कण्डेयपुराणकारने महिषासुर को प्रबल तमोगुणमय मानव-मन के प्रतीक रूप से प्रस्तुत किया है, किन्तु देवीभागवतकार ने इस प्रतीक-कल्पना को ध्यान में नहीं रखकर महिषासुर को देवी के प्रेम में पागल एक कामातुर पुरुष के रूप में निरूपित किया है। देखिए देवीपुराण के पञ्चमस्कन्ध के ९म अध्याय के नीचे लिखे श्लोक, जिनमें महिषासुर और देवी के प्रति प्रेषित उसके दूत का वार्त्तालाप वर्णित है—

'सामादिभिरुपायैस्त्वं समानय शुभाननाम् ।
नायाति यदि सा नारी त्रिभिः सामादिभिस्त्विह ॥

अहत्वा तां वरारोहां त्वमानय ममान्तिकम् ।
करोमि पट्टमहिषीं तां मरालभ्रुवं मुदा ॥

प्रीतियुक्ता समायाति यदा सा मृगलोचना ।
रसभङ्गो यथा न स्यात्तथा कुरु ममेप्सितम् ॥

श्रवणान्मोहितोऽस्म्यद्य तस्या रूपस्य सम्पदा ।'

यह सब देवीमाहात्म्य के वर्णन में एक बहुत बड़ा 'रसभङ्ग' है, जिस पर देवीभागवतकार ने सम्भवतः पर्याप्त मनन-चिन्तन नहीं किया है। शुम्भ के देवी के प्रति प्रेम-निवेदन में तो औचित्य है, जिसे यथाप्रसङ्ग प्रकाश में लाया जायेगा। किन्तु महिषासुर के विषय में यह सब वर्णन निरर्थक तथा अनौचित्यपूर्ण है।

॥ श्रीमार्कण्डेयपुराण के सावर्णिक-मन्वन्तर-वर्णन से सम्बद्ध 'देवीमाहात्म्य' संकीर्त्तन के प्रसङ्ग में महिषासुर-वध नामक ८३वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त ॥

चतुरशीतितमोऽध्यायः

ऋषिरुवाच—

ततः सुरगणाः सर्वे देव्या इन्द्रपुरोगमाः ।
स्तुतिमारेभिरे कर्त्तुं निहते महिषासुरे ॥१॥

शक्रादयः सुरगणा निहतेऽतिवीर्ये
तस्मिन् दुरात्मनि सुरारिबले च देव्या ।
तां तुष्टुवुः प्रणतिनम्रशिरोधरांसा
वाग्भिः प्रहर्षपुलकोद्गमचारुदेहाः ॥२॥

देवा ऊचुः—

देव्या यया ततमिदं जगदात्मशक्त्या
निःशेषदेवगणशक्तिसमूहमूर्त्या ।
तामम्बिकामखिलदेवमहर्षिपूज्यां
भक्त्या नताः स्म विदधातु शुभानि सा नः ॥३॥

ऋषि सुमेधा ने आगे कहा—

अन्ततः महिषासुर-वध के बाद, देवराज इन्द्र के नेतृत्व में, समस्त देवगण देवी चण्डिका का स्तवन करने में लग गये ॥ १ ॥

जब देवी ने अतिबलशाली महादुष्ट महिषासुर और उसके अतिबलशाली असुर-सैन्य का सर्वनाश कर दिया, तब इन्द्र प्रभृति देवगण ने, जो देवी के प्रति भक्तिभाव से अपनी गर्दन और अपने कन्धे झुकाए खड़े थे और जिनके शरीर आनन्द के रोमाञ्च से अत्यन्त रमणीय दिखायी दे रहे थे, चतुर्विध वाणी में देवी की स्तुति प्रारम्भ कर दी ॥ २ ॥

देवगण की उक्ति—

वह देवी हम सब के लिए कल्याणकारिणी हो, जो अपनी शक्ति से समस्त विश्व को आभासित करती है, जिसका रूप समस्त देववृन्द के सम्मिलित शक्तिपुञ्ज द्वारा रचित है और समस्त देवों और समस्त महर्षियों के द्वारा पूज्य हैं। वह देवी अम्बिका है और हम सब उसी का शरण-वरण करते हैं ॥ ३ ॥

यस्याः प्रभावमतुलं भगवाननन्तो
ब्रह्मा हरश्च नहि वक्तुमलं बलं च ।
सा चण्डिकाऽखिलजगत्परिपालनाय
नाशाय चाशुभभयस्य मतिं करोतु ।।४।

या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेष्वलक्ष्मीः
पापात्मनां कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः ।
श्रद्धां सतां कुलजनप्रभवस्य लज्जा
तां त्वां नताः स्म परिपालय देवि विश्वम् ।।५।

किं वर्णयाम तव रूपमचिन्त्यमेतत्
किं चातिवीर्यमसुरक्षयकारि भूरि ।
किं चाहवेषु चरितानि तवाद्भुतानि
सर्वेषु देव्यसुरदेवगणादिकेषु ।।६।

हेतुः समस्तजगतां त्रिगुणापि दोषै-
र्न ज्ञायसे हरिहरादिभिरप्यपारा ।

जिस चण्डिका के अतुल बल और वीर्य का वर्णन ब्रह्मा, भगवान् विष्णु और शंकर भी नहीं कर सकते, वह देवी समस्त जगत् के परिपालन और अमङ्गल के भय के विनिवारण के लिए अपने मन को पक्का कर ले ।। ४ ।।

हे देवि ! पुण्यात्मा लोगों के भवन की जो श्री-सम्पत्ति है, पापात्मा लोगों के भवन में जो अलक्ष्मी अथवा विपन्नता है, ज्ञानी लोगों के हृदय में जो बुद्धि है, सज्जन लोगों के हृदय में जो सत्कर्मपरायणता है, सत्कुलोत्पन्न नर-नारियों के मन में जो लज्जा है—वह सब आपका ही रूप है। ऐसे वैश्वरूप्यवाली आपके आगे हम सब नत-मस्तक हैं और प्रार्थना करते हैं कि आप अपने सभी रूपों में जगत् की रक्षा करें ।। ५ ।।

हे देवि ! हम अपने मन से भी अचिन्तनीय आपके इस वैश्वरूप्य का क्या वर्णन करें, आपके चिन्तातीत असुर-विनाशक अलौकिक बहुविध बल-वीर्य के वर्णन में हम असमर्थ हैं और अनेक देवासुरगणों के संग्राम में आपके अचिन्त्य आश्चर्यजनक पराक्रम का वर्णन तो हमारी वर्णनशक्ति से परे है ।। ६ ।।

हे देवि ! आप सत्त्वगुणमयी वैष्णवीशक्ति, रजोगुणमयी ब्राह्मीशक्ति और तमोगुणमयी रौद्रीशक्ति के रूप में समस्त त्रैलोक्य की सृष्टि-स्थिति-संहृति की कारण शक्ति हैं। आपका अनन्तरूप ब्रह्मा; विष्णु और शिव प्रभृति देवों के द्वारा भी अगम्य है, क्योंकि आप महामाया हैं। सभी आपके आश्रित हैं। यह समस्त जगत् मायामय होने

सर्वाश्रयाऽखिलमिदं जगदंशभूत-
मव्याकृता हि परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या ।।७।
यस्याः समस्तसुरता समुदीरणेन
तृप्तिं प्रयाति सकलेषु मखेषु देवि ।
स्वाहासि वै पितृगणस्य च तृप्तिहेतु-
रुच्चार्यसे त्वमत एव जनैः स्वधा च ।।८।
या मुक्तिहेतुरविचिन्त्यमहाव्रता त्व-
मभ्यस्यसे सुनियतेन्द्रियतत्त्वसारैः ।
मोक्षार्थिभिर्मुनिभिरस्तसमस्तदोषै-
र्विद्यासि सा भगवती परमा हि देवि ।।९।
शब्दात्मिका सुविमलर्ग्यजुषां निधान-
मुद्गीथरम्यपदपाठवतां च साम्नाम् ।
देवी त्रयी भगवती भवभावनाय
वार्त्ता च सर्वजगतां परमार्तिहन्त्री ।।१०।

के कारण आपका ही एक अंश है। आपका स्वरूप-निरूपण किसी के द्वारा किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं; क्योंकि सांख्यदर्शन-सम्मत प्रकृति, वेदान्तदर्शन सम्मत अविद्या, शैवदर्शन-सम्मत शैवी-शक्ति, वैष्णवदर्शन-सम्मत विष्णुमाया, शाक्तदर्शन-सम्मत महामाया और पुराणों की देवी—यह सब आप ही हैं ॥ ७ ॥

हे देवि ! आप ही वह 'स्वाहा' हैं, जिसके समुच्चारण से यज्ञ-यागों में समस्त देववृन्द संतृप्त होते हैं और आपको विद्वज्जन 'स्वधा' भी कहते हैं; क्योंकि पितृगण की संतृप्ति भी आपके द्वारा ही होती है ॥ ८ ॥

हे देवि ! समस्त सांसारिक विषयों से विरक्त, तत्त्वज्ञानी तथा समस्त कामादि-कलुष से निर्मुक्त मुमुक्षु मुनिजन आपको ही मुक्ति-दायिनी तथा अवाङ्मनसगोचर ब्रह्म के साक्षात्कार की परमविद्या के रूप में मानते हैं और आपकी ही प्राप्ति के निमित्त नाना भाँति के अचिन्त्य व्रतोपवासादि तपश्चरण में तत्पर होते हैं। वस्तुतः आप ही परमैश्वर्यमयी चित्स्वरूपा महासत्ता हैं ॥ ९ ॥

हे देवि ! आप ही महेश्वरी हैं, आप हीं वर्ण-पद-वाक्य-रूपात्मिका वाणी हैं, आप में ही नित्य निर्दोष पद-पाठ युक्त ऋक् और यजुष् तथा उद्गीथ से मनोहर साम तीनों निहित हैं, आप ही त्रयी हैं, आप ही समस्त जगत् की वार्ता अथवा कृषि-वाणिज्यादि-रूप जीविका हैं और आप ही सबकी सर्वविध पीड़ा की निवृत्ति हैं ॥ १० ॥

मेधासि देवि विदिताखिलशास्त्रसारा
दुर्गासि दुर्गभवसागरनौरसङ्गा ।
श्रीः कैटभारिहृदयैककृताधिवासा
गौरी त्वमेव शशिमौलिकृतप्रतिष्ठा ॥११॥

ईषत्सहासममलं परिपूर्णचन्द्र-
बिम्बानुकारि कनकोत्तमकान्तिकान्तम् ।
अत्यद्भुतं प्रहृतमात्तरुषा तथापि
वक्त्रं विलोक्य सहसा महिषासुरेण ॥१२॥

दृष्ट्वा तु देवि कुपितं भ्रुकुटीकराल-
मुद्यच्छशाङ्कसदृशच्छवि यन्न सद्यः ।
प्राणान्मुमोच महिषस्तदतीव चित्रं
कैर्जीव्यते हि कुपितान्तकदर्शनेन ॥१३॥

देवि प्रसीद परमा भवती भवाय
सद्यो विनाशयसि कोपवती कुलानि ।

हे देवि ! आप ही समस्त चतुर्वर्गनिरूपक शास्त्रों के सारार्थ के ज्ञान से परिपूर्ण मेधा अथवा दिव्य प्रज्ञा हैं, आप ही समस्त बन्धहेतुओं से मुक्त किंवा दुष्प्राप्य हैं, आप ही दुस्तर भवसागर की सन्तरण (नाव) हैं, आप ही भगवान् विष्णु के वक्षःस्थल पर निवास करने वाली लक्ष्मी हैं और आप ही चन्द्रशेखर भगवान् शंकर की अर्धाङ्गिनी के रूप में प्रतिष्ठित हैं ॥ ११ ॥

आपके मन्दस्मित से मनोहर, निर्मल पूर्णिमा के चन्द्रबिम्ब सदृश और सुन्दर और अत्युत्तम स्वर्ग की कान्ति की भाँति कमनीय मुखकमल से बढ़कर इस जगत् में कोई पदार्थ नहीं । किन्तु, तब भी आश्चर्य की बात है कि आपके मुखकमल का दर्शन करके भी, क्रोधाविष्ट महिषासुर आप पर प्रहार कर बैठा ॥ १२ ॥

हे देवि ! महिषासुर की दुष्टता से कोपाकुल, चढ़ी भौंहोंवाले और इसीलिए उदित होते चन्द्रमा की आभा की भाँति आरक्त आपके मुखमण्डल को देखकर भी महिषासुर के प्राण-पखेरू जो नहीं उड़ गए, वह एक आश्चर्य है; क्योंकि कृतान्त को क्रोधाविष्ट देखकर भला कौन है जो जीवित रह सके ? ॥ १३ ॥

हे देवि ! हम सब पर आप कृपा करें। आप ही परमेश्वरी लक्ष्मी हैं, आप ही प्रसन्न होने पर जगत् के समुद्भव किंवा अभ्युदय की कारण हैं और अप्रसन्न होने पर

विज्ञातमेतदधुनैव यदस्तमेत-
न्नीतं बलं सुविपुलं महिषासुरस्य ॥१४॥
ते सम्मता जनपदेषु धनानि तेषां
तेषां यशांसि न च सीदति धर्मवर्गः ।
धन्यास्त एव निभृतात्मजभृत्यदारा
येषां सदाभ्युदयदा भवती प्रसन्ना ॥१५॥
धर्म्याणि देवि सकलानि सदैव कर्मा-
ण्यत्यादृतः प्रतिदिनं सुकृती करोति ।
स्वर्गं प्रयाति च ततो भवतीप्रसादा-
ल्लोकत्रयेऽपि फलदा ननु देवि तेन ॥१६॥
दुर्गे स्मृता हरसि भीतिमशेषजन्तोः
स्वस्थैः स्मृता मतिमतीव शुभां ददासि ।
दारिद्र्यदुःखभयहारिणि का त्वदन्या
सर्वोपकारकरणाय सदाऽऽर्द्रचित्ता ॥१७॥

आप ही जगद्रूपी कुल का संहार भी करनेवाली हैं—यह बात हम सवको अभी विदित हुई जब कि महिषासुर का बलिष्ठ और विपुल कुल आपके द्वारा विनाश में मिला दिया गया ॥ १४ ॥

हे देवि ! आप जिन पर प्रसन्न होती हैं, वे ही इस जगत् के समस्त जनपदों में प्रतिष्ठित माने जाते हैं, वे ही धन-सम्पत्ति के स्वामी होते हैं, वे ही यशस्वी होते हैं और उन्हीं के बन्धु-बान्धव सुखी रहते हैं । वस्तुतः आपके कृपापात्र ही पुण्यात्मा होते हैं और ऐसे ही लोगों के पुत्र-कलत्र किंवा भृत्यवर्ग शीलसम्पन्न तथा विनीत होते हैं; क्योंकि आप ही अपने कृपापात्रों के लिए समस्त अभ्युदय उपलब्ध करानेवाली हैं ॥ १५ ॥

हे देवि ! आपकी कृपा से सर्वत्र समादृत पुण्यात्मा मनुष्य ही सदा समस्त ज्योतिष्टोमादि धर्म-कर्म में प्रतिदिन लगा रहता है और आपकी ही कृपा से वह स्वर्ग-सुख का भागी होता है । इससे यह सिद्ध है कि आप ही इहलोक और परलोक के धर्म-कर्म के फलों को प्रदान करनेवाली हैं ॥ १६ ॥

हे देवि दुर्गे ! अपने हृदय में आपका ध्यान करने से ही समस्त भयभीत प्राणी निर्भय हो जाते हैं और जो निर्भय हैं, उन्हें आपका स्मरण ही धर्मार्थकाममोक्षरूप चतुर्वर्ग के फल की सिद्धि करनेवाली आपकी भक्ति की शुभ बुद्धि प्रदान करता है । आप के अतिरिक्त और कोई देवी-देवता नहीं, जो दरिद्रता के दुःख-भय को दूर कर सके और सदा सबका सर्वविध कल्याण करने के लिए दयार्द्रहृदय रहा करे ॥ १७ ॥

एभिर्हतैर्जगदुपैति सुखं तथैते
कुर्वन्तु नाम नरकाय चिराय पापम् ।
संग्राममृत्युमधिगम्य दिवं प्रयान्तु
मत्वेति नूनमहितान् विनिहंसि देवि ।।१८।

दृष्ट्वैव किं न भवती प्रकरोति भस्म
सर्वासुरानरिषु यत्प्रहिणोषि शस्त्रम् ।
लोकान् प्रयान्तु रिपवोऽपि हि शस्त्रपूता
इत्थं मतिर्भवति तेष्वपि तेऽतिसाध्वी ।।१९।

खड्गप्रभानिकरविस्फुरणैस्तथोग्रैः
शूलाग्रकान्तिनिवहेन दृशोऽसुराणाम् ।
यन्नागता विलयमंशुमदिन्दुखण्ड-
योग्याननं तव विलोकयतां तदेतत् ।।२०।

दुर्वृत्तवृत्तशमनं तव देवि शीलं
रूपं तथैतदविचिन्त्यमतुल्यमन्यैः ।

हे देवि ! आपने लोक के कण्टक महिषासुर प्रभृति दैत्यों का जो वध किया, वह भी आपके सर्वमङ्गला-स्वरूप के ही अनुरूप है, क्योंकि इनके मारे जाने से एक ओर जगत् को सुख मिला और दूसरी ओर ये भी महिषासुरादि दैत्य, जिन्होंने नरक भोग के लिए पाप किए, आपके द्वारा संग्राम में मृत्यु पाने के कारण स्वर्गलोक में ही चले गये ।। १८ ।।

हे देवि ! आप तो अपनी क्रूरदृष्टि से ही समस्त असुरों का संहार करने में समर्थ हैं; किन्तु तब भी आपने उनका वध करने के लिए जो शस्त्र-प्रहार किया, वह इसी दृष्टि से किया, जिसमें आपके शस्त्र द्वारा मारे जाने पर, आपके शत्रु भी संग्राम-मृत्यु के पुण्य के भागी होकर स्वर्गादि लोकों को प्राप्त कर सकें। यह सब वस्तुतः उनके प्रति आपका अनुग्रह ही है ।। १९ ।।

हे देवि ! आपके भयंकर खड्ग के प्रभापुञ्ज तथा आपके त्रिशूल के प्रदीप्त तेजःपुञ्जस्फुरण से ही महिषासुर प्रभृति असुरों की आँखें नष्ट हो जानी चाहिए थीं; किन्तु वे इसीलिए नष्ट नहीं हुईं, क्योंकि आपके अर्द्धचन्द्रबिम्ब से विभूषित मुखमण्डल की ओर वे एकटक से देख रही होंगी ।। २० ।।

हे देवि ! दुष्टों के दुष्टाचार का विनाशक आपका स्वभाव तथा अन्य समस्त सौन्दर्य-सम्पन्न पदार्थों में अनुपम सुन्दर आपका स्वरूप—दोनों वस्तुतः अचिन्तनीय हैं।

वीर्यं च हन्तृ हृतदेवपराक्रमाणां
वैरिष्वपि प्रकटितैव दया त्वयेत्थम् ॥२१॥

केनोपमा भवतु तेऽस्य पराक्रमस्य
रूपं च शत्रुभयकार्यतिहारि कुत्र ।
चित्ते कृपा समरनिष्ठुरता च दृष्टा
त्वय्येव देवि वरदे भुवनत्रयेऽपि ॥२२॥

त्रैलोक्यमेतदखिलं रिपुनाशनेन
त्रातं त्वया समरमूर्धनि तेऽपि हत्वा ।
नीता दिवं रिपुगणा भयमप्यपास्त-
मस्माकमुन्मदसुरारिभवं नमस्ते ॥२३॥

शूलेन पाहि नो देवि पाहि खड्गेन चाम्बिके ।
घण्टास्वनेन नः पाहि चापज्यानिःस्वनेन च ॥२४॥

साथ ही साथ देवों के पराक्रम को पराभूत करने वाले दानवों को सर्वनाश में मिलाने वाला आपका बल-वीर्य भी चिन्तातीत है और अतुलनीय है। आपने एक प्रकार से देवशत्रु दानवों पर भी अपनी दया-दृष्टि ही रखी है ॥ २१ ॥

हे देवि ! आपके इस असुर-विनाशक पराक्रम की किसके पराक्रम से तुलना की जाय ! शत्रुगण के लिए अतिभयङ्कर; किन्तु भक्तजन के लिए अतिमनोहर आपके रूप के समान रूप भला अन्यत्र कहाँ होगा ! इस त्रिभुवन में हे वरदायिनि ! हृदय में दया और संग्राम में क्रूरता केवल आपकी ही विभूति है ॥ २२ ॥

हे देवि ! आपने दानव-दमन के द्वारा इस समस्त त्रैलोक्य की रक्षा की है, संग्राम में देवशत्रु दानवों का वध करके आपने ही उन्हें स्वर्गलोक में स्थान दिया है और इस प्रकार आपने ही मदोन्मत्त असुरों के कारण हमारे हृदय में उत्पन्न भय को भगाया है। आप ही एकमात्र हमारी श्रद्धा-भक्ति और स्तुति-वन्दना की अधिकारिणी हैं ॥ २३ ॥

हे देवि ! आप आपने त्रिशूल से हमें हमारे शत्रुओं से बचावें; हे अम्बिके ! हमारे शत्रुओं पर अपने खड्ग-प्रहार से आप हमारी रक्षा करें; आप अपने घण्टा-निर्घोष से, हमारे शत्रु और हमारे पाप-सन्ताप से हमारा संरक्षण करें और अपने धनुष की प्रत्यञ्चा की टंकार से हमारे शत्रुगण तथा हमारे पापपुञ्ज का नाशकर हमें बचावें ॥ २४ ॥

प्राच्यां रक्ष प्रतीच्यां च चण्डिके रक्ष दक्षिणे ।
भ्रामणेनात्मशूलस्य उत्तरस्यां तथेश्वरि ।।२५।
सौम्यानि यानि रूपाणि त्रैलोक्ये विचरन्ति ते ।
यानि चात्यर्थघोराणि तै रक्षास्मांस्तथा भुवम् ।।२६।
खड्गशूलगदादीनि यानि चास्त्राणि तेऽम्बिके ।
करपल्लवसङ्गीनि तैरस्मान् रक्ष सर्वतः ।।२७।

ऋषिरुवाच—

एवं स्तुता सुरैर्दिव्यैः कुसुमैर्नन्दनोद्भवैः ।
अर्चिता जगतां धात्री तथा गन्धानुलेपनैः ।।२८।
भक्त्या समस्तैस्त्रिदशैर्दिव्यैर्धूपैस्तु धूपिता ।
प्राह प्रसादसुमुखी समस्तान् प्रणतान् सुरान् ।।२९।

देव्युवाच—

व्रियतां त्रिदशाः सर्वे यदस्मत्तोऽभिवाञ्छितम् ।
ददास्यहमतिप्रीत्या स्तवैरेभिः सुपूजिता ।।३०।

हे महेश्वरि ! हे चण्डिके ! आप अपने त्रिशूल के चतुर्दिक् प्रक्षेप से, पूर्व दिशा में, पश्चिम दिशा में, उत्तर दिशा में और दक्षिण दिशा में—सर्वत्र हमारे शत्रु और हमारे पाप-सन्ताप से हमारी रक्षा करें ॥ २५ ॥

हे देवि ! इस त्रैलोक्य में आपके जो मनोहर रूप हैं और जो भयङ्कर रूप हैं—उन दोनों से हमारी रक्षा करें और साथ ही साथ उन्हीं द्विविध रूपों से समस्त भूलोक का मंगल करें ॥ २६ ॥

हे अम्बिके ! अपनी अंगुलियों की पकड़ में पड़े अपने खड्ग, अपने त्रिशूल तथा अपने गदा प्रभृति अस्त्रों से आप हमारी सर्वतः रक्षा करें ॥ २७ ॥

ऋषि सुमेधा ने आगे कहा—

इस प्रकार जिस देवी का देववृन्द ने स्तुति-गान किया, जिस देवी का उन्होंने नन्दनवन के दिव्य पुष्पों से पूजन किया, जिस देवी की यक्षकदर्मादि सुगन्धित अनुलेपनों से उन्होंने अर्चा-पूजा की और जिस देवी को भक्ति-भाव से भरे उन्होंने दिव्यधूप समर्पित किया, वह प्रसन्नता से खिले मुखमण्डलवाली देवी अपने शरणागत समस्त देवों से बोली ॥ २८-२९ ॥

देवी की उक्ति—

हे देवगण ! आप लोगों की जो भी अभिलाषाएँ और आकाक्षाएँ हैं, उन्हें हमें बतावें। आपने अपने स्तोत्रों से हमारी जो अर्चा-पूजा की है, उससे हमें बड़ी प्रसन्नता हुई है। आप जो भी वर मांगना चाहें, मुझसे मांगें। मुझे आपके मनोरथ पूर्ण करने में बड़ी प्रसन्नता होगी ॥ ३० ॥

कर्त्तव्यमपरं यच्च दुष्करं तन्न विद्महे ।
इत्याकर्ण्य वचो देव्याः प्रत्यूचुस्ते दिवौकसः ॥३१।

देवा ऊचुः—

भगवत्या कृतं सर्वं न किञ्चिदवशिष्यते ।
यदयं निहतः शत्रुरस्माकं महिषासुरः ॥३२।
यदि चापि वरो देयस्त्वयास्माकं महेश्वरि ।
संस्मृता संस्मृता त्वं नो हिंसेथाः परमापदः ॥३३।
यश्च मर्त्यः स्तवैरेभिस्त्वां स्तोष्यत्यमलानने ।
तस्य वित्तर्द्धिविभवैर्धनदारादिसम्पदाम् ।
वृद्धयेऽस्मत्प्रसन्ना त्वं भवेथाः सर्वदाम्बिके ॥३४।

ऋषिरुवाच—

इति प्रसादिता देवैर्जगतोऽर्थे तथाऽऽत्मनः ।
तथेत्युक्त्वा भद्रकाली बभूवान्तर्हिता नृप ॥३५।

महिषासुर-वध के अतिरिक्त जो भी आपके कठिन से कठिन कार्य हैं, उनसे भी आप हमें सूचित करें। देवी चण्डिका की ऐसी बात सुनकर सभी देवगण बोल उठे ॥ ३१ ॥

देवों की उक्ति—

हे देवि ! आप सर्वैश्वर्यसम्पन्न हैं, आपने हमारे लिए सब कुछ किया, अब कुछ भी करने को बाकी नहीं है; क्योंकि आपने हमारे सबसे भयङ्कर शत्रु महिषासुर को मार डाला ॥ ३२ ॥

किन्तु हे महेश्वरि ! यदि आप हमें वरदान देना ही चाहती हैं, तो यही वरदान दें कि जब कभी शत्रुओं के संकट में पड़े हम आपकी शरण में आवें, आप हमारे शत्रुओं का नाश करने को कटिबद्ध हो जायें ॥ ३३ ॥

हे निर्मल मुखश्रीविभूषित अम्बिके ! इसके साथ ही हम आप से यह वर भी माँगते हैं कि हमारे द्वारा की गयी आपकी स्तुति से मर्त्यलोक के जो भी मानव आपका स्तवन करें, उनकी धन-समृद्धि और उनके समस्त लौकिक ऐश्वर्य के साथ आप उनके पुत्र-कलत्र एवं अनुचर-परिचर की सुख-समृद्धि की भी वृद्धि करें। हम पर यही आप का सबसे बड़ा कृपा-प्रसाद होगा ॥ ३४ ॥

ऋषि सुमेधा बोले—

महाराज सुरथ ! देवगण के द्वारा देवकार्य-सिद्धि के लिए तथा जगत् के कल्याण के लिए, इस प्रकार श्रद्धाभक्ति से प्रसन्न की गयी वह सर्वमङ्गला देवी 'ऐसा ही होगा' यह वचन देकर अन्तर्हित हो गयी ॥ ३५ ॥

इत्येतत्कथितं भूप सम्भूता सा यथा पुरा।
देवी देवशरीरेभ्यो जगत्त्रयहितैषिणी ॥३६।
पुनश्च गौरीदेहात् सा समुद्भूता यथाभवत्।
वधाय दुष्टदैत्यानां तथा शुम्भनिशुम्भयोः ॥३७।
रक्षणाय च लोकानां देवानामुपकारिणी।
तच्छृणुष्व मयाऽऽख्यातं यथावत्कथयामि ते ॥३८।

इति श्रीमार्कण्डेयमहापुराणे सावर्णिके मन्वन्तरे देवीमाहात्म्ये
चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥

राजन् ! मैंने आपसे यह सब बता दिया कि पुराकल्प में त्रैलोक्य की हितैषिणी देवी का किस प्रकार महिषासुर-मर्दन के लिए, देवों के घनीभूत तेजःपुञ्ज से आविर्भाव हुआ ॥ ३६ ॥

देवों को उपकृत करने वाली वह देवी, धूम्रलोचन प्रभृति दुष्ट दैत्यों तथा दैत्य-राज शुंभ और निशुंभ के वध के लिए एवं त्रैलोक्य की रक्षा के लिए, किस प्रकार गौरी की देह से पुनः प्रादुर्भूत हुई, इसके विषय में अब आपसे कह रहा हूँ। आप ध्यान से मेरे द्वारा वर्णित चरित सुनें ॥ ३७-३८ ॥

पर्यालोचन

(क) श्रीमार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय में तीसरे श्लोक से आरम्भ कर २३वें श्लोक तक, भगवती दुर्गा के विषय में रचित एक सुन्दर और सरस स्तोत्र-काव्य निहित है। महिषासुर के मारे जाने के बाद, आनन्द के उल्लास में निमग्न इन्द्रादि देवगण, महामाया के दुर्गारूप का स्तवन करते निरूपित किये गए हैं। इन्द्रादि देवगण की इस दुर्गा-स्तुति में महामाया के पररूप, विभवरूप, अन्तर्यामिरूप, व्यूहरूप और अर्चारूप—पाँचों रूपों का बड़ा भव्य किंवा भावनाभावित निरूपण है। दुर्गा-स्तोत्र की इस एकविंशतिका में दुर्गा की भक्ति के २१ मन्त्रों का माहात्म्य अन्तर्निहित है।

(ख) श्रीदेवीभागवत के तृतीय स्कन्ध के पञ्चम अध्याय के शिवकृत देवीस्तवन के निम्नलिखित श्लोक-सन्दर्भ (२-३७) पर मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय में रचित देवीविषयक २१ श्लोकों के अभिप्रायों की छाप स्पष्ट पड़ी दिखाई देती है—

'यदि हरिस्तव देवि विभावजः
तदनु पद्मज एव तवोद्भवः।
किमहमत्र तवापि न सद्गुणः
सकललोकविधै चतुरा शिवे॥

त्वमसि भूः सलिलं पवनस्तथा
खमपि वह्निगुणश्च तथा पुनः।
जननि तानि पुनः करणानि च
त्वमसि बुद्धिमनोऽप्यथ हंकृतिः॥

न च विदन्ति वदन्ति च येऽन्यथा
हरिहराजकृतं निखिलं जगत्।
तव कृतास्त्रय एव सदैव ते
विरचयन्ति जगत् सचराचरम्॥

....

भवसि सर्वमिदं सचराचरं
त्वमजविष्णुशिवाकृतिकल्पितम्।
विविधवेषविलासकुतूहलै-
र्विरमसे रमसेऽम्ब यथारुचि॥

....

तव गुणास्त्रय एव सदा क्षमाः
प्रकटनावनसंहरणेषु वै ।
हरिहरद्रुहिणाश्च क्रमात् त्वया
विरचिता जगतां किल कारणम् ॥

....

न ते जन्म कुत्रापि दृष्टं श्रुतं वा
कुतः संभवस्ते न कोऽपीह वेद ।
किलाद्यासि शक्तिस्त्वमेका भवानि
स्वतन्त्रैः समस्तैरतो बोधितासि ॥'

(ग) श्रीदेवीभागवत के पञ्चम स्कन्ध में देवगणकृत देवी-स्तवन तो वस्तुतः इस अध्याय के देवी-स्तोत्र का ही, कतिपय शब्द तथा अर्थ के परिवर्त्तनों के साथ, रूपान्तर प्रतीत होता है। देखिए श्रीदेवीभागवत के देवीस्तवन (५।२-३३) के कतिपय श्लोक—

'ब्रह्मा सृजत्यवति विष्णुरिदं महेशः
शक्त्या तवैव हरते ननु चान्तकाले ।
ईशा न तेऽपि च भवन्ति त्वया विहीना-
स्तस्मात्त्वमेव जगतः स्थितिनाशकर्त्री ॥

कीर्तिर्मतिः स्तुतिगती करुणा दया त्वं
श्रद्धा धृतिश्च वसुधा कमला जया च ।
पुष्टिः कलाऽथ विजया गिरिजा जया त्वं
तुष्टिः प्रमा त्वमसि बुद्धिरुमा रमा च ॥

विद्या क्षमा जगति कान्तिरपीह मेधा
सर्वं त्वमेव विदिता भुवनत्रयेऽस्मिन् ।
आभिर्विना तव तु शक्तिभिराशु कर्तुं
को वा क्षमः सकललोकनिवासभूमे ॥

त्वं धारणा ननु न चेदसि कूर्मनागौ
धर्तुं क्षमौ कथमिलामपि तौ भवेताम् ।
पृथ्वी न चेत्त्वमसि वा गगने कथं स्था-
स्यत्येतदम्ब निखिलं बहुभारयुक्तम् ॥

भोगप्रदासि भवतीह चराचराणां
स्वांशैर्ददासि खलु जीवनमेव नित्यम् ।
स्वीयान् सुरान् जननि पोषयसीह यद्वत्
तद्वत् परानपि च पालयसीति हेतोः ॥

....

यत्त्वं न हंसि रणमूर्ध्नि शरैररातीन्
देवाङ्गनासुरतकेलिमतीन् विदित्वा ।
देहान्तरेऽपि करुणारसमाददाना
दत्ते चरित्रमिदमीप्सितपूरणाय ॥

चित्रं त्वमी यदसुभी रहिता न सन्ति
त्वच्चिन्तितेन दनुजाः प्रथितप्रभावाः ।
येषां कृते जननि देहनिबन्धनं ते
क्रीडारसस्तव न चान्यतरोऽत्र हेतुः ॥

विद्या त्वमेव सुखदाऽसुखदाऽप्यविद्या
मातस्त्वमेव जननार्तिहरा नराणाम् ।
मोक्षार्थिभिस्तु कलिता किल मन्दधीभि-
र्नाराधिता जननि भोगपरैस्तथाऽज्ञैः ॥

चण्डि त्वदङ्घ्रिजलजोत्थरजःप्रसादै-
र्ब्रह्मा करोति सकलं भुवनं भवादौ ।
शौरिश्च पाति खलु संहरते हरस्तु
त्वां सेवते न मनुजस्त्विह दुर्भगोऽसौ ॥

वाग्देवता त्वमसि देवि सुरासुराणां
वक्तुं न तेऽमरवराः प्रभवन्ति शक्ताः ।
त्वं चेन्मुखे वससि नैव यदैव तेषां
यस्माद् भवन्ति मनुजा नहि तद्विहीनाः ॥

....

चित्रं त्वयाऽरिजनताऽपि दयार्द्रभावाद्
हत्वा रणे शितशरैर्गमिता द्युलोकम्।
नो चेत् स्वकर्मनिचिते निरये नितान्तं
दुःखातिदुःखगतिमापदमापतेत् सा ॥

....

ध्यायन्ति मुक्तिफलदां भुवि योगसिद्धां
विद्यां परां च मुनयोऽतिविशुद्धसत्त्वाः।
ते नाप्नुवन्ति जननीजठरे तु दुःखं
धन्यास्त एव मनुजास्त्वयि ये विलीनाः ॥

चिच्छक्तिरस्ति परमात्मनि येन सोऽपि
व्यक्ते जगत्सु विदितो भवकृत्यकर्त्ता।
कोऽन्यस्त्वया विरहितः प्रभवत्यमुष्मिन्
कर्तुं विहर्तुमपि संचलितुं स्वशक्त्या ॥

....

देवा मखेष्वपि हुतं मुनिभिः स्वभागं
गृह्णीयुरम्ब विधिवत् प्रतिपादितं किम्।
स्वाहा न चेत्त्वमसि तत्र निमित्तभूता
तस्मात्त्वमेव ननु पालयसीव विश्वम् ॥

....

हत्वाऽसुरं महिषरूपधरं महोग्रं
मातस्त्वया सुरगणः किल रक्षितोऽयम्।
कां ते स्तुतिं जननि मन्दधियो विदामो
वेदा गतिं तव यथार्थतया न जग्मुः ॥

कार्यं कृतं जगति नो यदसौ दुरात्मा
वैरी हतो भुवनकण्टकदुर्विभाव्यः।
कीर्तिः कृता ननु जगत्सु कृपा विधेया-
प्यस्मांश्च पाहि जननि प्रथितप्रभावे ॥

श्रीमार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय के दुर्गा-स्तवन की दृष्टि से श्रीदेवीभागवत का उपर्युक्त श्लोक-सन्दर्भ एक 'परपुरप्रवेशप्रतिम' अर्थहरण का दृष्टान्त प्रस्तुत करता है। कविराज राजशेखर ने 'परपुरप्रवेशप्रतिम' अर्थहरण की यह परिभाषा की है—

'मूलैक्यं यत्र भवेत् परिकरबन्धस्तु दूरतोऽनेकः।
तत्परपुरप्रवेशप्रतिमं काव्यं सुकविभिर्भाव्यम् ॥'

अर्थात् श्रीदुर्गा की स्तुति की दृष्टि से तो दोनों में एकता है, किन्तु श्रीदेवीभागवत की प्रबन्धरचना पर्याप्त रूप से भिन्न है।

(घ) महालक्ष्मी अथवा श्री को राष्ट्र कहा गया है। सम्भवतः प्राचीन भारत के महान् राजनयमर्मज्ञ आचार्य कौटिल्य चाणक्य ने इसीलिए 'राष्ट्रस्य मूलमर्थः' की धारणा का प्रतिपादन किया था। शतपथब्राह्मण (६. ७. ३. ६) में 'श्रीर्वै राष्ट्रम्' की जो उक्ति है, उसमें श्री अथवा लक्ष्मी और राष्ट्र में ऐक्यभावना का अभिप्राय अन्तर्गर्भित है। श्री को लक्ष्मी कहने का तात्पर्य श्री में समस्त ऐश्वर्यलक्ष्म अथवा ऐश्वर्य-लक्षण का समन्वय है। वस्तुतः श्रीमद्भगवद्गीता की 'विभूति' और ब्राह्मण वाङ्मय का 'लक्ष्म' एक ही अभिप्राय के द्योतक शब्द हैं। देवी और लक्ष्मी में कोई भेद नहीं और न श्री और लक्ष्मी में कोई भेद है। महिषासुरमर्दिनी महालक्ष्मी की भावना में श्री सर्वत्र व्याप्ति और विश्वरूपता की भावना भरी है। सम्भवतः इसीलिए कहा गया है—

'जगदुत्पादिका शक्तिस्तव प्रकृतिरिष्यते।
सैव नामसहस्रैस्तु लक्ष्मीः श्रीरिति कथ्यते ॥'

शक्ति और शक्तिमान् में अद्वयभावना है। इसलिए शक्तिमान् की चिति और क्रियाशक्ति और इन दोनों शक्तियों की रूपान्तरभूत अनन्तशक्तियों का समन्वय सिद्धान्ततः स्वीकार किया गया है। इस प्रसङ्ग में काश्मीरिक महाकवि राजानक रत्नाकर के हरविजय महाकाव्य (४७. १२६) की निम्नलिखित श्लोक-सूक्ति ध्यान देने योग्य है—

'आनन्दरूपममृतं निरुपाख्यमूर्मि-
पङ्कातिगं स्तिमितवारिधिवारिकल्पम्।
यन्नेति नेत्युपनिषत्स्वभिधीयते च
विज्ञप्तिमात्रमनुपाधि निरीहमन्यैः ॥

उपर्युक्त श्लोक-सूक्ति में मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय की देवी-स्तुति की भाँति शक्ति को साक्षात् आनन्दरूप, अमृत तथा निरुपाख्य ब्रह्मतत्त्व से सर्वथा अभिन्न माना गया है। इस प्रकार महालक्ष्मी सच्चिदानन्द ब्रह्मरूप में आराध्य मानी गयी है।

॥ श्रीमार्कण्डेयपुराण के सावर्णिक-मन्वन्तर से सम्बद्ध 'देवी-माहात्म्य'-वर्णन के प्रसंग में देवगणकृत महिषमर्दिनी देवी-स्तुति नामक ८४वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त ॥

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

ऋषिरुवाच—

पुरा शुम्भनिशुम्भाभ्यामसुराभ्यां शचीपतेः ।
त्रैलोक्यं यज्ञभागाश्च हृता मदबलाश्रयात् ॥१॥
तावेव सूर्यतां तद्वदधिकारं तथैन्दवम् ।
कौबेरमथ याम्यं च चक्राते वरुणस्य च ॥२॥
तावेव पवनर्द्धिं च चक्रतुर्वह्निकर्म च ।
अन्येषाञ्चाधिकारान् स स्वयमेवाधितिष्ठति ।
ततो देवा विनिर्धूता भ्रष्टराज्याः पराजिताः ॥३॥
हृताधिकारास्त्रिदशास्ताभ्यां सर्वे निराकृताः ।
महासुराभ्यां तां देवीं संस्मरन्त्यपराजिताम् ॥४॥
तयास्माकं वरो दत्तो यथाऽऽपत्सु स्मृताखिलाः ।
भवतां नाशयिष्यामि तत्क्षणात् परमापदः ॥५॥

ऋषि सुमेधा ने आगे कहा—

राजन् ! पूर्वकल्प की बात है, जब कि अहंकार और बलवीर्य से उन्मत्त शुम्भ और निशुम्भ नाम के दो असुरों ने शचीपति इन्द्र से उनका त्रैलोक्य-राज्य छीन लिया और यज्ञ-याग के विध्वंस के द्वारा समर्पित किया जाने वाला पुरोडाशादि यज्ञांश भी छीन लिया ॥ १ ॥

इन्हीं दोनों शुम्भ और निशुम्भ नामक महासुरों ने भगवान् सूर्य का अधिकार हड़प लिया, चन्द्रमा का आधिपत्य छीन लिया, कुबेर के अधिकार का अपहरण कर लिया और कृतान्त तथा वरुणदेव के अधिकारों पर अपना अधिकार जमा लिया ॥ २॥

ये ही दोनों पवनदेव के अप्रतिहत ऐश्वर्य के स्वामी बन गए, अग्निदेव के समस्त कर्म स्वयं करने लगे और अन्य देवों के अधिकारों पर भी उन्होंने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया । अन्ततः उनके द्वारा पराजित और राज्य से च्युत किए गए देवगण स्वर्गलोक से निकाल दिए गए ॥ ३ ॥

इस प्रकार उन महासुरों के द्वारा अपने-अपने अधिकारों से हटाए गये समस्त देवगण किसी से भी परास्त न की जा सकनेवाली देवी चण्डिका का स्मरण करने लगे ॥ ४ ॥

'देवी ने हमें वर दिया है कि हम पर सङ्कट पड़ने पर जब भी हम उनका स्मरण करेंगे, वे हमारी विकट विपदाओं को तत्काल नष्ट कर देंगी'—इस बात को

इति कृत्वा मतिं देवा हिमवन्तं नगेश्वरम् ।
जग्मुस्तत्र ततो देवीं विष्णुमायां प्रतुष्टुवुः ॥६।

देवा ऊचुः—

नमो देव्यै महादेव्यै शिवायै सततं नमः ।
नमः प्रकृत्यै भद्रायै नियताः प्रणताः स्म ताम् ॥७।

रौद्रायै नमो नित्यायै गौर्यै धात्र्यै नमो नमः ।
नमो जगत्प्रतिष्ठायै देव्यै कृत्यै नमो नमः ॥८।

ज्योत्स्नायै चेन्दुरूपिण्यै सुखायै सततं नमः ।
कल्याण्यै प्रणतां वृद्ध्यै सिद्ध्यै कुर्मो नमो नमः ॥९।

नैर्ऋत्यै भूभृतां लक्ष्म्यै शर्वाण्यै ते नमो नमः ।
दुर्गायै दुर्गपारायै सारायै सर्वकारिण्यै ।
ख्यात्यै तथैव कृष्णायै धूम्रायै सततं नमः ॥१०।

हृदय में रखकर सभी देवगण नगाधिराज हिमालय पर पहुँचे और वहाँ वे देवी विष्णु-माया या महामाया की अत्यन्त श्रद्धाभक्ति से स्तुति करने लगे ॥ ५-६ ॥

देवगण द्वारा की गयी देवी की स्तुति—

शम-दमादि साधन-सम्पत्ति से सम्पन्न हम महादेवी परमेश्वरी महामाया की बार बार वन्दना करते हैं, जो हमारे लिए कल्याणकारिणी हैं, जो प्रकृति अथवा पार्वतीरूप में प्रकट होती हैं और जो वस्तुतः सर्वमङ्गला हैं ॥ ७ ॥

हम उन महामाया की वन्दना करते हैं, जो रुद्रवत् रौद्ररूपिणी हैं; नित्य शाश्वत महासत्ता हैं, गौरीरूपधारिणी हैं और समस्त जगत् की धात्री हैं अथवा धरणी-स्वरूपा हैं ॥ ८ ॥

हम उन महामाया की बार-बार वन्दना करते हैं, जो ज्योतिर्मयी हैं, चन्द्रमा की चन्द्रिका की जननी हैं, साक्षात् सुखस्वरूपा हैं, त्रैलोक्य की कल्याणकारिणी हैं और अपने शरणागतों की ऋद्धि और सिद्धि हैं ॥ ९ ॥

उस महामाया की हम वन्दना करते हैं, जो असन्मार्गगामी लोगों के लिए अलक्ष्मी रूप में आविर्भूत हैं, मनु प्रभृति भूपालों के लिए लक्ष्मीरूप में विराजमान हैं, शर्व अथवा शङ्कर की अर्धाङ्गिनी हैं, कठोर तपश्चर्या के द्वारा प्राप्य होने के कारण दुर्गा हैं, संसार-सागर के पार अवस्थित हैं, विश्वमयी हैं, विश्व के समस्त कार्य-व्यापार की सञ्चालन-शक्ति हैं, साक्षात् सर्वत्र ख्यातिरूपा हैं, कालरात्रि अर्थात् काल के लिए भी काल हैं, किंवा धूम्रवर्ण की कान्तिवाली हैं ॥ १० ॥

अतिसौम्यातिरौद्रायै नतास्तस्यै नमो नमः ।
नमो जगत्प्रतिष्ठायै देव्यै कृत्यै नमो नमः ।।११।
या देवी सर्वभूतेषु विष्णुमायेति शब्दिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ।।१२।
या देवी सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ।।१३।
या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ।।१४।
या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ।।१५।
या देवी सर्वभूतेषु क्षुधारूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ।।१६।
या देवी सर्वभूतेषु च्छायारूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ।।१७।

उस महामाया की हम वन्दना करते हैं, जो भक्तों के लिए अतिसौम्य और भक्तिहीनों के लिए अतिरौद्र हैं, समस्त जगत् की आधारशक्ति हैं, लीलामयी हैं तथा जगत् की सृष्टि-स्थिति-संहृति के क्रियाकलाप की शक्ति से समृद्ध हैं ॥ ११ ॥

हम उस देवी की बार-बार वन्दना करते हैं, जो समस्त भूतजाल में व्याप्त जगज्जननी विष्णुमाया के नाम से स्पष्ट प्रतिपादित की गयी हैं ॥ १२ ॥

हम उस देवी की बार-बार वन्दना करते हैं, जो समस्त प्राणियों में चेतना के रूप में व्याप्त कही जाती हैं ॥ १३ ॥

हम उस देवी के लिए कोटिशः अपने नमस्कार अर्पित करते हैं, जो समस्त चेतनात्मक जगत् में बुद्धिरूप से व्याप्त हैं ॥ १४ ॥

उस देवी को हमारे कोटिशः नमस्कार समर्पित हैं, जो समस्त जीव-जन्तुओं में विषयाभिमुख इन्द्रियों के व्यापार के विराम से शान्तिदायिनी निद्रारूप में निवास करती हैं ॥ १५ ॥

हम उस देवी को सदा नमस्कार करते हैं, जो प्राणिमात्र में स्वास्थ्य-सुखदायिनी क्षुधा के रूप में अवस्थित हैं ॥ १६ ॥

हम उस देवी को नित्य नमस्कार करते हैं, जो समस्त चेतनाचेतनात्मक जगत् में सन्तापनिवारिणी छाया के रूप में विराजमान हैं ॥ १७ ॥

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥१८।
या देवी सर्वभूतेषु तृष्णारूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥१९।
या देवी सर्वभूतेषु क्षान्तिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥२०।
या देवी सर्वभूतेषु जातिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥२१।
या देवी सर्वभूतेषु लज्जारूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥२२।
या देवी सर्वभूतेषु शान्तिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥२३।
या देवी सर्वभूतेषु श्रद्धारूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥२४।
या देवी सर्वभूतेषु कान्तिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥२५।

हम उस देवी को सर्वदा नमस्कार करते हैं, जो समस्त वस्तुओं में शक्ति अथवा उनके स्वाभाविक धर्म के रूप में व्याप्त हैं ॥ १८ ॥

उस देवी के लिए हमारा नमस्कार है, जो समस्त सांसारिक जीवों में विषयभोग की स्पृहा के रूप में निवास करती हैं ॥ १९ ॥

उस देवी को हम नमस्कार करते हैं, जो क्षान्ति अथवा परकृत अपकार एवं प्रतिकूल संवेदन के प्रति उपेक्षा के रूप में अवभासित होती हैं ॥ २० ॥

उस देवी को हमारा बार बार नमस्कार है, जो समस्त भूत-भौतिक पदार्थों में जातिरूप से समवायिनी हैं ॥ २१ ॥

हम उस देवी को निरन्तर नमस्कार करते हैं, जो समस्त चेतन जीवों में कर्तव्यानुष्ठान में शैथिल्य अथवा स्वतःसंभूत लज्जा के रूप में अवस्थित हैं ॥ २२ ॥

हम उस देवी की बार-बार वन्दना करते हैं, जो रागद्वेषादिरहित समस्त चेतन जगत् में शान्तिरूप से अन्तर्व्याप्त हैं ॥ २३ ॥

उस देवी को हमारा निरन्तर नमस्कार है, जो समस्त जीवों के हृदय में श्रद्धा अथवा भक्तिनिष्ठा के रूप में अवस्थित हैं ॥ २४ ॥

उस देवी को हम सदा नमस्कार करते हैं, जो समस्त भूत-भौतिक पदार्थों में कान्ति के रूप में अन्तर्भूत हैं ॥ २५ ॥

या देवी सर्वभूतेषु लक्ष्मीरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः। २६।
या देवी सर्वभूतेषु धृतिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ।।२७।
या देवी सर्वभूतेषु वृत्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ।।२८।
या देवी सर्वभूतेषु स्मृतिरूपेण संस्थिताः।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ।।२९।
या देवी सर्वभूतेषु दयारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ।।३०।
या देवी सर्वभूतेषु नीतिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ।।३१।
या देवी सर्वभूतेषु तुष्टिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ।।३२।

उस देवी की हम सर्वविध वन्दना करते हैं, जो समस्त चेतनाचेतनात्मक जगत् में लक्ष्मी अथवा सौन्दर्यश्री एवं विभूति के रूप में विराजमान हैं ॥ २६ ॥

उस देवी को हम नमस्कार करते हैं, जो जीवमात्र में धृति अथवा सुखसन्तुष्टि एवं धीरता का रूप धारण कर निवास करती हैं ॥ २७ ॥

उस देवी को हमारा नमस्कार है, जो भूतजाल में वृत्ति अथवा जीविका-शक्ति के रूप में रहा करती हैं ॥ २८ ॥

उस देवी की हम वन्दना करते हैं, जो समस्त जीवों में स्मृति अथवा अनुभूत पदार्थ की भावना द्वारा सम्भूत ज्ञान का स्वरूप धारण कर विराजमान हैं ॥ २९ ॥

उस देवी की हम वन्दना करते हैं, जो समस्त जीवों में दया अथवा परदुःखदर्शन से हृदय की आर्द्रता एवं परदुःखनिवारण की महेच्छा के रूप में विराजमान हैं ॥ ३० ॥

उस देवी को हम नमस्कार करते हैं, जो समस्त चेतन प्राणियों में नीति अथवा सुचारुरूप से जीवन संचालन की विधा का रूप धारण कर प्रकाशमान हैं ॥ ३१ ॥

उस देवी को हमारा नमस्कार है, जो समस्त जीव-जन्तुओं में तुष्टि अथवा विषयास्वादजनित सुखानुभूति एवं विषयास्वादसुख की पूर्णानुभूति के अनन्तर उत्पन्न विरक्ति के रूप में व्याप्त हैं ॥ ३२ ॥

या देवी सर्वभूतेषु पुष्टिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥३३।
या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥३४।
या देवी सर्वभूतेषु भ्रान्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥३५।
इन्द्रियाणामधिष्ठात्री भूतानां चाखिलेषु या।
भूतेषु सततं तस्यै व्याप्तिदेव्यै नमो नमः ॥३६।
चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत्।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥३७।
स्तुता सुरैः पूर्वमभीष्टसंश्रया-
त्तथासुरेन्द्रेण दिनेषु सेविता।
करोतु सा नः शुभहेतुरीश्वरी
शुभानि भद्राण्यभिहन्तु चापदः ॥३८।

उस देवी को हमारा नमस्कार है, जो समस्त जगत् के पदार्थों में पुष्टि अथवा देहसमृद्धि का रूप धारण कर विराजमान हैं ॥ ३३ ॥

उस देवी की हम वन्दना करते हैं, जो समस्त भूतों की जननी के रूप में अथवा सृष्टिकारिणी अष्टविध आद्याशक्ति के रूप में आविर्भूत हैं ॥ ३४ ॥

हम उस देवी को नमस्कार करते हैं, जो समस्त जीव-जन्तुओं में भ्रान्ति अथवा मिथ्याबुद्धि के रूप में अवस्थित हैं ॥ ३५ ॥

उस देवी की हम वन्दना करते हैं, जो पृथिव्यादि पाँच भूतों की आधारशक्ति हैं, समस्त भूतों में अपने ऐश्वर्य से व्याप्त हैं और समस्त चेतन प्राणियों के इन्द्रियसंबन्धी व्यापार की अधिष्ठात्री और सञ्चालिका हैं ॥ ३६ ॥

उस देवी की हम वन्दना करते हैं, जो अपनी कूटस्थ निर्विकारता किंवा संवित्ति के रूप में सर्वत्र व्याप्त हैं ॥ ३७ ॥

पूर्वकल्प में देववृन्द के द्वारा वन्दित तथा मनोरथपूर्ति के निमित्त इन्द्र, अग्नि तथा वरुण प्रभृति देवाधिराजों के द्वारा अहर्निश सेवित, समस्त विश्व के लिए कल्याणकारिणी वह सर्वेश्वरी देवी हमारे जगन्मङ्गलकारी समस्त कार्यों की निर्विघ्न समाप्ति का कारण बनें तथा हमारे सर्वविध सङ्कटों का सर्वनाश करें ॥ ३८ ॥

या साम्प्रतं चोद्धतदैत्यतापितै-
रस्माभिरीशा च सुरैर्नमस्यते ।
या च स्मृता तत्क्षणमेव हन्ति नः
सर्वापदो भक्तिविनम्रमूर्तिभिः ।।३९।

ऋषिरुवाच—

एवं स्तवादियुक्तानां देवानां तत्र पार्वती ।
स्नातुमभ्याययौ तोये जाह्नव्या नृपनन्दन ।।४०।
साऽब्रवीत्तान् सुरान् सुभ्रूर्भवद्भिः स्तूयतेऽत्र का ।
शरीरकोशतश्चास्याः समुद्भूताऽब्रवीच्छिवा ।।४१।
स्तोत्रं ममैतत् क्रियते शुम्भदैत्यनिराकृतैः ।
देवैः समेतैः समरे निशुम्भेन पराजितैः ।।४२।
शरीरकोशाद्यत्तस्याः पार्वत्या निःसृताम्बिका ।
कौशिकीति समस्तेषु ततो लोकेषु गीयते ।।४३।
तस्यां विनिर्गतायां तु कृष्णाभूत् सापि पार्वती ।
कालिकेति समाख्याता हिमाचलकृताश्रया ।।४४।

हम उस देवी की वन्दना करते हैं, जो सम्प्रति अत्यन्त उद्धत तथा बल-वीर्य के मद में चूर शुम्भादि दैत्यों के द्वारा पीड़ित, हमारी सर्वेश्वरी होने के कारण, हमारी श्रद्धा-भक्ति की लक्ष्य हैं और जो स्मरणमात्र से विनयावनत अपने शरणागतों की समस्त विपत्तियों का नाश करती हैं ।। ३९ ।।

ऋषि सुमेधा कहने लगे—

हे महाराज ! इस प्रकार जब देवगण महामाया की स्तुति करने लगे, तब देवी पार्वती जाह्नवी में जलक्रीडा करने आयीं ।। ४० ।।

देवी पार्वती उन देवों से बोलीं कि आप सब किसकी स्तुति कर रहे हैं ? तभी पार्वती के शरीरकोश से आविर्भूत सर्वदेवमयी आद्याशक्ति शिवा ने पार्वती से कहा कि दैत्यराज शुम्भ से प्रताडित एवं संग्राम में महासुर निशुम्भ द्वारा पराजित ये देवगण मेरा ही स्तुति-गान कर रहे हैं ।। ४१-४२ ।।

आद्याशक्ति शिवा का आविर्भाव पार्वती देवी के शरीरकोश से हुआ था, इसीलिए समस्त लोक में वह 'कौशिकी' के रूप में मानी जाने लगीं ।। ४३ ।।

जब पार्वती के शरीरकोश से सर्वतेजोमयी कौशिकी प्रादुर्भूत हो गयीं, तब पार्वती का रंग कृष्णवर्ण का हो गया और वह कालिका अथवा काली कही जाने लगीं और हिमालय पर निवास करने चली गयीं ।। ४४ ।।

ततोऽम्बिकां परं रूपं बिभ्राणां सुमनोहरम् ।
ददर्श चण्डो मुण्डश्च भृत्यौ शुम्भनिशुम्भयोः ॥४५॥

ताभ्यां शुम्भाय चाख्याता अतीव सुमनोहरा ।
काप्यास्ते स्त्री महाराज भासयन्ती हिमाचलम् ॥४६॥

नैव तादृक् क्वचिद्रूपं दृष्टं केनचिदुत्तमम् ।
ज्ञायतां काप्यसौ देवी गृह्यतां चासुरेश्वर ॥४७॥

स्त्रीरत्नमतिचार्वङ्गी द्योतयन्ती दिशस्त्विषा ।
सा तु तिष्ठति दैत्येन्द्र तां भवान् द्रष्टुमर्हति ॥४८॥

यानि रत्नानि मणयो गजाश्वादीनि वै प्रभो ।
त्रैलोक्ये तु समस्तानि साम्प्रतं भान्ति ते गृहे ॥४९॥

ऐरावतः समानीतो गजरत्नं पुरन्दरात् ।
पारिजाततरुश्चायं तथैवोच्चैःश्रवा हयः ॥५०॥

उसके बाद वही हैमवती देवी पार्वती अतिमनोहर अलोकरमणीय रूपवाली अम्बिका हो गयीं और उनके इस रूप पर शुम्भ और निशुम्भ के चण्ड और मुण्ड नाम के सैनिक-सेवकों की दृष्टि पड़ी ॥ ४५ ॥

वे दोनों शुम्भ के पास पहुँचे और उन्होंने उससे यह कहा कि महाराज ! हिमालय को भी अपनी आभा से आभासमान करनेवाली सुरम्य रूपवती एक नारी है, जिसे हम देखकर आ रहे हैं ॥ ४६ ॥

दैत्यसम्राट् ! जैसा रमणीय नारीरूप हम दोनों देखकर आ रहे हैं, वैसा इस त्रिभुवन में किसी ने कहीं नहीं देखा होगा। आप यह समझ लें कि वह कोई देवी है और हम चाहते हैं कि आप उसे अपनी बना लें ॥ ४७ ॥

महाराज ! आप दैत्येन्द्र हैं और वह नारी रमणीरत्न है, अत्यन्त रमणीय अङ्ग प्रत्यङ्गवाली है और उसकी कान्ति की छटा चतुर्दिक् छिटक रही है। उसे आप कृपया एक बार देख तो लें ॥ ४८ ॥

महाराज ! आप हमारे स्वामी हैं। आपके राजप्रासाद में सम्प्रति त्रैलोक्य में प्रसिद्ध जो भी गजरत्न, अश्वरत्न तथा पद्मरागादि मणिप्रभृति रत्न हैं, वे सब भरे पड़े हैं ॥ ४९ ॥

आपके सेवक हम लोगों ने देवराज इन्द्र को पराजित कर ऐरावत नामक उनका गजरत्न, पारिजात नामक नन्दनवन का अलौकिक वृक्ष-रतन तथा उच्चैःश्रवा नामक उनका अश्वरत्न सब कुछ आपको अर्पित कर दिया है ॥ ५० ॥

विमानं हंससंयुक्तमेतत्तिष्ठति तेऽङ्गणे।
रत्नभूतमिहानीतं यदासीद्वेधसोऽद्भुतम् ॥५१॥
निधिरेष महापद्मः समानीतो धनेश्वरात्।
किञ्जल्किनीं ददौ चाब्धिर्मालामम्लानपङ्कजाम् ॥५२॥
छत्रं ते वारुणं गेहे काञ्चनस्रावि तिष्ठति।
तथायं स्यन्दनवरो यः पुरासीत् प्रजापतेः ॥५३॥
मृत्योरुत्क्रान्तिदा नाम शक्तिरीश त्वया हृता।
पाशः सलिलराजस्य भ्रातुस्तव परिग्रहे ॥५४॥
निशुम्भस्याब्धिजाताश्च समस्ता रत्नजातयः।
वह्निरपि ददौ तुभ्यमग्निशौचे च वाससी ॥५५॥
एवं दैत्येन्द्र रत्नानि समस्तान्याहृतानि ते।
स्त्रीरत्नमेषा कल्याणी त्वया कस्मान्न गृह्यते ॥५६॥

महाराज! ब्रह्मा का जो हंसों द्वारा संचालित आश्चर्यजनक विमान-रत्न है, उसे भी हम लोगों ने आपके राजमन्दिर के प्राङ्गण में पहुँचा दिया है ॥ ५१ ॥

हमारे स्वामी! धनाधिप कुबेर का जो महापद्म नामक निधि-रत्न है, उसे हम आपके लिए उनसे छीन लाए हैं। साथ ही साथ, आपके भय से, समुद्र ने भी आपको केसरों से कमनीय ऐसी कमलमाला भेंट की है, जिसके कमल कभी भी मुरझाते नहीं ॥ ५२ ॥

महाराज! वरुण का जो स्वर्ण की वर्षा करनेवाला छत्र-रत्न है, वह आपके राजमन्दिर में आ चुका है और यह रथ-रत्न, जो पहले प्रजापति का था, वह भी अब आपके राजसदन की शोभा बढ़ा रहा है ॥ ५३ ॥

महाराज! कृतान्त की जो प्राणाकर्षिणी शक्ति है, उसे भी आपने अपने हस्तगत कर लिया है और सलिलराज वरुण का जो पाश नामक अस्त्र-रत्न है, वह अब आपके अनुज के अधिकार में आ चुका है ॥ ५४ ॥

समुद्र से उत्पन्न मौक्तिक-विद्रुम-पद्मराग प्रभृति बहुमूल्य रत्नराशि निशुम्भ की सम्पत्ति हो गयी है और वह्निदेव ने अग्निपरीक्षा में पवित्र वस्त्रयुगल का उपहार आप को पहुँचा ही दिया है ॥ ५५ ॥

इस प्रकार हे दैत्यराज! जितने भी त्रैलोक्य के रत्न हो सकते हैं, वे सब आपकी सेवा में समर्पित किए जा चुके हैं। अब आप उस नारी-रत्न अम्बिका को क्यों कर अपने वश में नहीं कर लेते? ॥ ५६ ॥

ऋषिरुवाच—

निशम्येति वचः शुम्भः स तदा चण्डमुण्डयोः ।
प्रेषयामास सुग्रीवं दूतं देव्या महासुरः ॥५७॥

शुम्भ उवाच—

इति चेति च वक्तव्या सा गत्वा वचनान्मम ।
यथा चाभ्येति संप्रीत्या तथा कार्यं त्वया लघु ॥५८॥
स तत्र गत्वा यत्रास्ते शैलोद्देशेऽतिशोभने ।
तां च देवीं ततः प्राह श्लक्ष्णं मधुरया गिरा ॥५९॥

दूत उवाच—

देवि दैत्येश्वरः शुम्भस्त्रैलोक्ये परमेश्वरः ।
दूतोऽहं प्रेषितस्तेन त्वत्सकाशमिहागतः ॥६०॥
अव्याहताज्ञः सर्वासु यः सदा देवयोनिषु ।
निर्जिताखिलदैत्यारिः स यदाह श्रृणुष्व तत् ॥६१॥
मम त्रैलोक्यमखिलं मम देवा वशानुगाः ।
यज्ञभागानहं सर्वानुपाश्नामि पृथक् पृथक् ॥६२॥

ऋषि सुमेधा ने आगे की कथा कहो—

चण्ड और मुण्ड की ऐसो बात सुनकर दानवराज शुम्भ ने सुग्रीव नामक अपने दूत को देवी के पास भेजा ॥ ५७ ॥

शुम्भ ने दूत से कहा—

देवी के पास जाओ और बड़ी बुद्धिमानी से मेरी बात उससे कहो और प्रसन्नतापूर्वक जिस उपाय से वह मेरे पास आ सके, वैसा शीघ्रातिशीघ्र करो ॥ ५८ ॥

वह दूत वहाँ गया, जहाँ अतिरमणीय पर्वतप्रदेश में वह देवी विराजमान थी और उसने बड़ी मधुरवाणी में देवी से कहा ॥ ५९ ॥

दूत ने यह कहा—

हे देवि ! इस त्रैलोक्य का परमेश्वर दानवराज शुम्भ है, जिसने आपके पास मुझे दूतरूप में भेजा है और इसी कारण मैं आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ ॥ ६० ॥

उस दानवराज शुम्भ ने, जिसकी आज्ञा का उल्लंघन देवयोनि में जन्मे किसी के द्वारा सम्भव नहीं है और जिसने समस्त देवों को पराजित कर रखा है, आपसे कुछ निवेदन करने के लिये मुझे भेजा है । आप कृपया वह निवेदन सुनें ॥ ६१ ॥

दानवराज शुम्भ ने कहा है कि समस्त त्रैलोक्य पर मेरा अधिकार हो चुका है, समस्त देवगण मेरे वशवर्ती बन चुके हैं और भिन्न-भिन्न देवों के निमित्त विहित जो भी हव्यादि यज्ञीय द्रव्य हैं, उन सबका भोग मुझे ही मिल रहा है ॥ ६२ ॥

त्रैलोक्ये वररत्नानि मम वश्यान्यशेषतः ।
तथैव गजरत्नं च हृत्वा देवेन्द्रवाहनम् ॥६३।
क्षीरोदमथनोद्भूतमश्वरत्नं ममामरैः ।
उच्चैःश्रवससंज्ञं तत्प्रणिपत्य समर्पितम् ॥६४।
यानि चान्यानि देवेषु गन्धर्वेषूरगेषु च ।
रत्नभूतानि भूतानि तानि मय्येव शोभने ॥६५।
स्त्रीरत्नभूतां त्वां देवि लोके मन्यामहे वयम् ।
सा त्वमस्मानुपागच्छ यतो रत्नभुजो वयम् ॥६६।
मां वा ममानुजं वापि निशुम्भमुरुविक्रमम् ।
भज त्वं चञ्चलापाङ्गि रत्नभूतासि वै यतः ॥६७।
परमैश्वर्यमतुलं प्राप्स्यसे मत्परिग्रहात् ।
एतद् बुद्ध्या समालोच्य मत्परिग्रहतां व्रज ॥६८।

इस त्रैलौक्य में जो भी श्रेष्ठातिश्रेष्ठ रत्न जातियाँ हैं, उन सब पर मेरा ही स्वामित्व स्थापित है, जैसे कि देवराज इन्द्र का वाहन गजरत्न ऐरावत अब मेरा वाहन हो चुका है ॥ ६३ ॥

क्षीरसागर के मन्थन से समुद्भूत उच्चैःश्रवा नाम के अश्वरत्न को स्वयं देवताओं ने मेरे सम्मुख नतमस्तक होकर मुझे समर्पित कर दिया है ॥ ६४ ॥

हे देवि ! आप परम सुन्दरी हैं। आप यह जान लें कि देवों, गन्धर्वों और नागों के पास जो भी रत्नभूत पदार्थ हो सकते हैं, वे सब अब मेरी सम्पत्ति हो चुके हैं ॥ ६५ ॥

हे देवि ! हम आपको त्रैलोक्य की रमणीरत्न के रूप में मानते हैं और हम रत्न-भोग के एकमात्र अधिकारी हैं। इसलिए आप भी हमारी हो जाँय ॥ ६६ ॥

हे देवि ! आपके चञ्चल नयन बड़े मनोहर हैं, क्योंकि आप नारी-रत्न हैं। इसलिए आप या तो मेरी अर्द्धाङ्गिनी बन जाँय या मेरे अनुज की अर्द्धाङ्गिनी बन जाँय ॥ ६७ ॥

यदि आप हमारी अर्द्धाङ्गिनी बन जाँय तो आप अतुल ऐश्वर्य की स्वामिनी बन जायेंगी। अच्छी तरह सोच लीजिए और मेरी अर्द्धाङ्गिनी बनना स्वीकार कर लीजिए ॥ ६८ ॥

ऋषिरुवाच—

इत्युक्ता सा तदा देवी गम्भीरान्तःस्मिता जगौ ।
दुर्गा भगवती भद्रा ययेदं धार्यते जगत् ।।६९।

देव्युवाच—

सत्यमुक्तं त्वया नात्र मिथ्या किञ्चित्त्वयोदितम् ।
त्रैलोक्याधिपतिः शुम्भो निशुम्भश्चापि तादृशः ।।७०।
किं त्वत्र यत्प्रतिज्ञातं मिथ्या तत्क्रियते कथम् ।
श्रूयतामल्पबुद्धित्वात् प्रतिज्ञा या कृता पुरा ।।७१।
यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति ।
यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्ता भविष्यति ।।७२।
तदागच्छतु शुम्भोऽत्र निशुम्भो वा महासुरः ।
मां जित्वा किं चिरेणात्र पाणिं गृह्णातु मे लघु ।।७३।

ऋषि सुमेधा कहने लगे—

जब दूत ने शुम्भ की ये बातें परमैश्वर्यमयी, सर्वमङ्गला देवी से, जो इस जगत् की एकमात्र आधार हैं, कहीं तो वे गम्भीर हो गयीं और मन में शुम्भ की दुष्टता पर उसे दण्ड देने का निश्चय कर मुसकुरा उठीं ॥ ६९ ॥

देवी ने कहा—

उन्होंने दूत से यह कहा कि तुमने जो कुछ भी कहा है, सच कहा है। तुम्हारी कोई भी बात झूठी नहीं, क्योंकि शुम्भ तो त्रैलोक्य का अधिपति है ही और निशुम्भ भी उसी की भाँति त्रैलोक्याधिपति है ॥ ७० ॥

किन्तु मैंने किसी की अर्द्धाङ्गिनी बनने के विषय में एक प्रतिज्ञा कर रखी है, जिसे मैं झूठी नहीं करना चाहती। अल्पबुद्धि होने के कारण बिना सोचे-समझे मैंने पहले जो प्रतिज्ञा कर रखी है, उसे सुन लो ॥ ७१ ॥

जो भी मुझे संग्राम में पराजित कर देगा और मेरा अहंकार चूर कर देगा, उसे ही मैं पति के रूप में वरण करूँगी, क्योंकि उसे ही मैं अपने से अधिक बलवीर्यशाली मान सकती हूँ ॥ ७२ ॥

इसलिए चाहे महासुर शुम्भ हो या निशुम्भ हो, जाकर कहो कि मेरे पास आवे और मुझे परास्त करके तत्काल मेरा पाणिग्रहण कर ले ॥ ७३ ॥

दूत उवाच—

अवलिप्तासि मैवं त्वं देवि ब्रूहि ममाग्रतः ।
त्रैलोक्ये कः पुमांस्तिष्ठेदग्रे शुम्भनिशुम्भयोः ।।७४।
अन्येषामपि दैत्यानां सर्वे देवा न वै युधि ।
तिष्ठन्ति सम्मुखे देवि किं पुनः स्त्री त्वमेकिका ।।७५।
इन्द्राद्याः सकला देवास्तस्थुर्येषां न संयुगे ।
शुम्भादीनां कथं तेषां स्त्री प्रयास्यसि सम्मुखम् ।।७६।
सा त्वं गच्छ मयैवोक्ता पार्श्वं शुम्भनिशुम्भयोः ।
केशाकर्षणनिर्धूतगौरवा मा गमिष्यसि ।।७७।

देव्युवाच—

एवमेतद् बली शुम्भो निशुम्भश्चातिवीर्यवान् ।
किं करोमि प्रतिज्ञा मे यदनालोचिता पुरा ।।७८।

दूत की उक्ति—

देवि ! तुम अपनी शक्ति के मद में उन्मत्त हो रही हो। मेरे आगे ऐसी बात न कहो। महादानव शुम्भ और निशुम्भ के सामने कोई भी ऐसा पुरुष नहीं, जो खड़ा होने का साहस कर सके ॥ ७४ ॥

शुम्भ और निशुम्भ की बात तो दूर रहे, और भी ऐसे असुर हैं, जिनके सामने संग्राम में देवगणों में से कोई भी खड़ा नहीं हो सकता। तुम्हारी क्या हस्ती है, तुम तो अकेली अबला हो ॥ ७५ ॥

जब देवराज इन्द्र के नेतृत्व में समस्त देवगण शुम्भादि दैत्यराजों के सामने संग्राम में न टिक सके, तो स्त्री होकर तुम भला उनका क्या सामना करोगी ? ॥ ७६ ॥

इसलिए अच्छा यही होगा कि मेरे कहने से तुम शुम्भ और निशुम्भ के पास चली जाओ, अन्यथा मैं तुम्हारे केशपाश पकड़ कर तुम्हें बलपूर्वक उनके पास खींचते हुए ले जाऊँगा और तब तुम्हारी रही-सही मान-मर्यादा धूल में मिल जायेगी ॥ ७७ ॥

देवी की उक्ति—

यह ठीक है कि शुम्भ महाबली है और निशुम्भ भी बड़ा बल-वीर्यशाली है; किन्तु मैं करूँ तो क्या करूँ। मेरी प्रतिज्ञा मेरे आगे खड़ी है, जिसे बिना सोचे-विचारे मैं पहले कह चुकी हूँ ॥ ७८ ॥

स त्वं गच्छ मयोक्तं ते यदेतत्सर्वमादृतः ।
तदाचक्ष्वासुरेन्द्राय स च युक्तं करोतु तत् ।।७९।

।। इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे 'सावर्णिके मन्वन्तरे' देवीमाहात्म्ये पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ।।

इसलिए तुम लौट जाओ। तुम दूत हो। मैंने तुमसे जो कुछ कह दिया, उसे तुमने ध्यान से सुन लिया है। अब, तुम यहाँ से जाओ और अपने असुरराज से मेरी बात बता दो। उसे जैसा उचित लगे वैसा करे ।। ७९ ।।

*

पर्यालोचन

(क) मार्कण्डेयपुराण का यह अध्याय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अध्याय है, क्योंकि इसमें मनसा-वचसा-कर्मणा देवी की शरणागति की भावना और साधना की अभिव्यञ्जना की गई है। 'नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः' के अनेकानेक आवर्त्तन का यही रहस्य है। 'या देवी सर्वभूतेषु विष्णुमायेति शब्दिता' आदि १२वें श्लोक से प्रारम्भ कर 'चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद्व्याप्य स्थिता जगत्' आदि ३७वें श्लोक पर्यन्त 'नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः' की ध्वनि-माधुरी में देवी की शरणव्रज्या की सङ्गीत-माधुरी देवी के उपासकों के कर्णकुहरों में प्रविष्ट होकर उनके हृदयों में एक अद्भुत दिव्य आनन्द उत्पन्न कर देती है। यह विषय लेखन का विषय नहीं, आन्तरिक अनुभव का विषय है। इस पर जो कुछ भी लिखा जाय थोड़ा है।

(ख) श्रीदेवीभागवत के दशमस्कन्ध के १३वें अध्याय के निम्नलिखित श्लोकों (८७-१००) में मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय में अभिव्यक्त देवी-प्रपत्ति ही भिन्न पद-योजना द्वारा प्रकाशित की गयी है—

"नमो देवि महाविद्ये सृष्टिस्थित्यन्तकारिणी।
नमः कमलपत्राक्षि सर्वाधारे नमोऽस्तु ते॥

सविश्वतैजसप्राज्ञविराट्सूत्रात्मिके नमः।
नमो व्याकृतरूपायै कूटस्थायै नमो नमः॥

दुर्गे सर्गादिरहिते दुष्टसंरोधनार्गले।
निरर्गलप्रेमगम्ये भर्गे देवि नमोऽस्तु ते॥

नमः श्रीकालिके मातर्नमो नीलसरस्वति।
उग्रतारे महोग्रे ते नित्यमेव नमो नमः॥

नमः पीताम्बरे देवि नमस्त्रिपुरसुन्दरि।
नमो भैरवि मातङ्गि धूमावति नमो नमः॥

छिन्नमस्ते नमस्तेऽस्तु क्षीरसागरकन्यके।
नमः शाकम्भरि शिवे नमस्ते रक्तदन्तिके॥

निशुम्भशुम्भदलनि रक्तबीजविनाशिनि।
धूम्रलोचननिर्णाशे वृत्रासुरनिबर्हिणि॥

चण्डमुण्डप्रमथिनि दानवान्तकरे शिवे।
नमस्ते विजये गङ्गे शारदे विकचानने॥

पृथ्वीरूपे दयारूपे तेजोरूपे नमो नमः।
प्राणरूपे महारूपे भूतरूपे नमोऽस्तु ते॥

विश्वमूर्त्ते दयामूर्त्ते धर्ममूर्त्ते नमो नमः।
देवमूर्त्ते ज्योतिमूर्त्ते ज्ञानमूर्त्ते नमोऽस्तु ते॥

गायत्रि वरदे देवि सावित्रि च सरस्वति ।
नमः स्वाहे स्वधे मातर्दक्षिणे ते नमो नमः ॥
नेति नेतीति वाक्यैर्या बोध्यते सकलागमैः ।
सर्वे प्रत्यक्स्वरूपां तां भजामः परदेवताम् ॥
भ्रमरैर्वेष्टिता यस्माद् भ्रामरी या ततः स्मृता ।
तस्यै देव्यै नमो नित्यं नित्यमेव नमो नमः ॥
नमस्ते पार्श्वयोः पृष्ठे नमस्ते पुरतोऽम्बिके ।
नमः ऊर्ध्वं नमश्चाधः सर्वत्रैव नमो नमः ॥"

श्रीदेवीभागवत का उपर्युक्त देवी-स्तवन मार्कण्डेय-पुराण के इस अध्याय के देवी-स्तवन से न तो दार्शनिक-दृष्टि से स्पर्धा करने में समर्थ प्रतीत होता है और न साहित्यिक दृष्टि से। श्रीदेवीभागवत का उपर्युद्धृत देवी-स्तोत्र देवी के पीताम्बरा, शाकम्भरी तथा भ्रामरी नामक अर्चामूर्त्तियों का जो उल्लेख करता है, वह मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय के देवी-स्तोत्र में नहीं है क्योंकि मार्कण्डेयपुराणकार की दृष्टि में देवकृत देवी-स्तवन में देवी के इन अर्चारूपों का नामोल्लेख अनावश्यक है।

(ग) मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय की देवी-प्रपत्ति का रस-निष्कर्ष केवल भगवत्पाद श्री शङ्कराचार्य की रचना के रूप में प्रसिद्ध 'सौन्दर्यलहरी' के ही कतिपय श्लोकों में मिल सकता है। देखिए 'सौन्दर्यलहरी' के निम्नलिखित श्लोक (३५ तथा १००)—

'मनस्त्वं व्योमस्त्वं मरुदसि मरुत्सारथिरसि
त्वमापस्त्वं भूमिस्त्वयि परिणताया नहि परम् ।
त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा
चिदानन्दाकारं शिवयुवति भावेन विभृषे ॥'

'प्रदीपज्वालाभिर्दिवसकरनीराजनविधिः
सुधासूतेश्चन्द्रोपलजललवैरर्घ्यघटना ।
स्वकीयैरम्भोभिः सलिलनिधिसौहित्यकरणं
त्वदीयाभिर्वाग्भिस्तव जननि वाचां स्तुतिरियम् ॥'

(घ) इस अध्याय में पार्वती के कौशिकी, कालिका और परमसुन्दरी अम्बिका—इन तीन रूपों और उनसे सम्बद्ध आख्यानों का जो संक्षिप्त वर्णन है, उसे श्रीदेवीभागवतकार ने विस्तृत वर्णन के रूप में परिवर्त्तित किया है। देखिए श्रीदेवीभागवत के पञ्चम स्कन्ध के २३वें अध्याय के नीचे लिखे श्लोक (१-६६)—

'एवं स्तुता तदा देवी दैवतैः शत्रुतापितैः ।
स्वशरीरात् परं रूपं प्रादुर्भूतं चकार ह ॥
पार्वत्यास्तु शरीराद्वै निःसृता चाम्बिका यदा ।
कौशिकी तु समस्तेषु ततो लोकेषु पठ्यते ॥

निःसृतायां तु तस्यां सा पार्वती तनुव्यत्ययात् ।
कृष्णरूपाऽथ सञ्जाता कालिका सा प्रकीर्त्तिता ॥
मषीवर्णा महाघोरा दैत्यानां भयवर्धिनी ।
कालरात्रीति सा प्रोक्ता सर्वकामफलप्रदा ॥
अम्बिकायाः परं रूपं विरराज मनोहरम् ।
सर्वभूषणसंयुक्तं लावण्यगुणसंयुतम् ॥
ततोऽम्बिका तदा देवानित्युवाच ह सस्मिता ।
तिष्ठन्तु निर्भया यूयं हरिष्यामि रिपूनिह ॥
कार्यं वः सर्वथा कार्यं विहरिष्याम्यहं रणे ।
निशुम्भादीन् वधिष्यामि युष्माकं सुखहेतवे ॥
इत्युक्त्वा सा तदा देवी सिंहारूढा महोत्कटा ।
कालिकां पार्श्वतः कृत्वा जगाम नगरे रिपोः ॥
स गत्वोपवने तस्थावम्बिका कालिकान्विता ।
जगावथ कलं तत्र जगन्मोहनमोहनम् ॥
श्रुत्वा तन्मधुरं गानं मोहमीयुः खगा मृगाः ।
मुदञ्च परमां प्रापुरमरा गगने स्थिताः ॥
तस्मिन्नवसरे तत्र दानवौ शुम्भसेवकौ ।
चण्डमुण्डाभिधौ घोरौ रममाणौ यदृच्छया ॥
आगतौ ददृशाते तु तां तदा दिव्यरूपिणीम् ।
अम्बिकां गानसंयुक्तां कालिकां पुरतः स्थिताम् ॥
दृष्ट्वा तां दिव्यरूपां च दानवौ विस्मयान्वितौ ।
जग्मतुस्तरसा पार्श्वं शुम्भस्य नृपसत्तम ॥
तौ गत्वा तं समासीनं दैत्यानामधिपं गृहे ।
ऊचतुर्मधुरां वाणीं प्रणम्य शिरसा नृपम् ॥
राजन् ! हिमालयात् कामं कामिनी काममोहिनी ।
सम्प्राप्ता सिंहमारूढा सर्वलक्षणसंयुता ॥
नेदृशी देवलोकेऽस्ति न गन्धर्वपुरे तथा ।
न दृष्टा न श्रुता क्वास्ति पृथिव्यां प्रमदोत्तमा ॥
गानं च तादृशं राजन् करोति नररञ्जनम् ।
मृगास्तिष्ठन्ति तत्पार्श्वे मधुरस्वरमोहिताः ॥
ज्ञायतां कस्य पुत्रीयं किमर्थमिह चागता ।
गृह्यतां राजशार्दूल तव योग्याऽस्ति कामिनी ॥
ज्ञात्वाऽनय गृहे भार्यां कुरु कल्याणलोचनाम् ।
निश्चितं नास्ति संसारे नारी त्वेवंविधा किल ॥
देवानां सर्वरत्नानि गृहीतानि त्वया नृप ।
कस्मान्नेमां वरारोहां प्रगृह्णासि नृपोत्तम ॥

इन्द्रस्यैरावतः श्रीमान् पारिजाततरुस्तथा ।
गृहीतोऽश्वः सप्तमुखस्त्वया नृप बलात् किल ॥
विमानं वैधसं दिव्यं मरालध्वजसंयुतम् ।
त्वयाऽऽत्तं रत्नभूतं तद् बलेन नृप चाद्भुतम् ॥
कुबेरस्य निधिः पद्मस्त्वया राजन् समाहृतः ।
छत्रं जलपतेः शुभ्रं गृहीतं तत्त्वया बलात् ॥
पाशश्चापि निशुम्भेन भ्रात्रा तव नृपोत्तम ।
गृहीतोऽस्ति हठात् कामं वरुणस्य जितस्य च ॥
अम्लानपङ्कजां तुभ्यं मालां जलनिधिर्ददौ ।
भयात्तव महाराज रत्नानि विविधानि च ॥

मृत्योः शक्तिर्यमस्यापि दण्डः परमदारुणः ।
त्वया जित्वा हृतः कामं किमन्यद् वर्ण्यते नृप ॥
कामधेनुर्गृहीताऽद्य वर्तते सागरोद्भवा ।
मेनकाद्या वशे राजन् तव तिष्ठन्ति चाप्सराः ॥
एवं सर्वाणि रत्नानि त्वयात्तानि बलादपि ।
कस्मान्न गृह्यते कान्ता रत्नमेषा वराङ्गना ॥

सर्वाणि ते गृहस्थानि रत्नानि विशदान्यथ ।
अनया संभविष्यन्ति रत्नभूतानि भूपते ॥
त्रिषु लोकेषु दैत्येन्द्र नेदृशी वर्तते प्रिया ।
तस्मात्तामानयाशु त्वं कुरु भार्यां मनोहरम् ॥
इति श्रुत्वा तयोर्वाक्यं मधुरं मधुराक्षरम् ।
प्रसन्नवदनः प्राह सुग्रीवं सन्निधौ स्थितम् ॥
गच्छ सुग्रीव दूतत्वं कुरु कार्यं विचक्षण ।
वक्तव्यं च तथा तत्र यथाऽभ्येति कृशोदरी ॥

....

सुग्रीवस्तु वचः श्रुत्वा शुम्भोक्तं सुप्रियं पटु ।
जगाम तरसा तत्र यत्रास्ते जगदम्बिका ॥
सोऽपश्यत् सुमुखीं कान्तां सिंहस्योपरिसंस्थिताम् ।
प्रणम्य मधुरं वाक्यमुवाच जगदम्बिकाम् ॥
वरोरु ! त्रिदशारातिः शुम्भः सर्वाङ्गसुन्दरः ।
त्रैलोक्याधिपतिः शूरः सर्वजिद्राजते नृपः ॥
तेनाऽहं प्रेषितः कामं त्वत्सकाशं महात्मना ।
त्वद्रूपश्रवणासक्तचित्तेनातिविदूयता ॥
वचनं तस्य तन्वङ्गि शृणु प्रेमपुरःसरम् ।
प्रणिपत्य तथा प्राह दैत्यानामधिपस्त्वयि ॥

देवा मया जिताः सर्वे त्रैलोक्याधिपतिस्त्वहम् ।
यज्ञभागानहं कान्ते गृह्णामीह स्थितः सदा ॥
हृतसारा कृता नूनं द्यौर्मया रत्नवर्जिता ।
यानि रत्नानि देवानां तानि चाहृतवानहम् ॥
भोक्ताहं सर्वरत्नानां त्रिषु लोकेषु भामिनि ।
वशानुगाः सुराः सर्वे मम दैत्याश्च मानवाः ॥
त्वद्गुणैः कर्णमागत्य प्रविश्य हृदयान्तरम् ।
त्वदधीनः कृतः कामं किङ्करोऽस्मि करोमि किम् ॥
त्वमाज्ञापय रम्भोरु तत्करोमि वशानुगः ।
दासोऽहं तव चार्वङ्गि रक्ष मां कामबाणतः ॥
भज मां त्वं मरालाक्षि तवाधीनं स्मराकुलम् ।
त्रैलोक्यस्वामिनी भूत्वा भुङ्क्ष्व भोगाननुत्तमान् ॥
तव चाज्ञाकरः कान्ते भवामि मरणावधि ।
अवध्योऽस्मि वरारोहे सदेवासुरमानुषैः ॥
सदा सौभाग्यसंयुक्ता भविष्यसि वरानने ।
यत्र ते रमते चित्तं तत्र क्रीडस्व सुन्दरि ॥
इति तस्य वचश्चित्ते विमृश्य मदमन्थरे ।
वक्तव्यं यद्भवेत् प्रेम्णा तद् ब्रूहि मधुरं वचः ॥

....

जानाम्यहं निशुम्भं च शुम्भं चातिबलं नृपम् ।
जेतारं सर्वदेवानां हन्तारं चैव विद्विषाम् ।
राशिं सर्वगुणानां च भोक्तारं सर्वसम्पदाम् ॥
दातारं चाऽतिशूरं च सुन्दरं मन्मथाकृतिम् ।
द्वात्रिंशल्लक्षणैर्युक्तमवध्यं सुरमानुषैः ॥
ज्ञात्वा समागताऽस्म्यत्र द्रष्टुकामा महासुरम् ।
रत्नं कनकमायाति स्वशोभाधिकवृद्धये ॥

....

श्रुत्वा शुम्भगुणानत्र प्राप्ताऽस्म्यद्य दिदृक्षया ।
गच्छ दूत महाभाग ब्रूहि शुम्भं महाबलम् ॥

....

स्वेच्छया नगरे तेऽत्र समायाता महामते ।
ममास्ति कारणं किञ्चिद् विवाहे राक्षसोत्तम ॥
बालभावाद् व्रतं किञ्चित् कृतं राजन् मया पुरा ।
क्रीडन्त्या च वयस्याभिः सहैकान्ते यदृच्छया ॥
स्वदेहबलदर्पेण सखीनां पुरतो रहः ।
मत्समानबलः शूरो रणे मां जेष्यति स्फुटम् ॥

तं वरिष्याम्यहं कामं ज्ञात्वा तस्य बलाऽबलम् ।
जहसुर्वचनं श्रुत्वा सख्यो विस्मितमानसाः ॥
किमेतया कृतं क्रूरं व्रतमद्भुतमाशु वै ।
तस्मात् त्वमपि राजेन्द्र ज्ञात्वा मे हीदृशं बलम् ॥
जित्वा मां स्वबलेनाऽत्र वाञ्छितं कुरु चात्मनः ।
त्वं वा तवानुजो भ्राता समेत्य समराङ्गणे ॥
जित्वा मां समरेणाऽत्र विवाहं कुरु सुन्दर ।"

उपर्युक्त श्लोकों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्रीदेवीभागवतकार ने किसी नवीन अर्थ की अवधारणा अथवा अवतारणा नहीं की है। जो भी उपर्युक्त श्लोकों का अभिप्राय है, वह मार्कण्डेयपुराण के इस प्रसङ्ग के श्लोकों का अभिप्राय है। भेद केवल वाक्यान्तरविरचना मात्र है। पूर्ववर्णित अर्थ का वाक्यान्तरविरचना द्वारा प्रतिपादन 'अन्यच्छायायोनि' अर्थ का निरूपण कहा गया है, जिसमें कोई मौलिकता अथवा नवीनता नहीं रहा करती।

(ङ) इस अध्याय की देवी-स्तुति में सर्वप्रथम 'विष्णुमाया' के रूप में देवी का ध्यान है। विष्णु तो साक्षात् प्रकाशस्वरूप परब्रह्म हैं और उनकी माया, जिसे ध्यान में सर्वत्र व्यापक 'चिति' (श्लोक ३७) कहा गया है, उनकी शक्ति है, जिसे काश्मीर के त्रिकदर्शन की परिभाषा में विमर्श कहा जाता है। प्रकाश-विमर्शात्मक तत्त्व ही 'विष्णु-माया' तत्त्व है। यही शक्ति और लक्ष्मी रूप में समस्त भूतवर्ग की सृष्टि और स्थिति की लीला में लीन रहा करता है। यही पराप्रकृति है, यही महामाया है और इसी का विवर्त चेतना है, जिसके वैश्वरूप्य में बुद्धि, श्रद्धा, स्मृति, नीति तथा दया प्रभृति अन्तर्भूत हैं।

(च) मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय में देववृन्द-कृत जो देवी-स्तवन है, उसे श्रीदेवीभागवत में प्रसङ्गान्तर में बड़ी विचित्रता के साथ निरूपित किया गया है। देखिए श्रीदेवीभागवत के नवमस्कन्ध के प्रथम अध्याय के कतिपय श्लोक (९७-१४५)—

'स्वाहा देवी वह्निपत्नी प्रतिविश्वेषु पूजिता ॥
यया विना हविर्दानं न गृहीतं सुरा क्षमाः ।
दक्षिणा यज्ञपत्नी च दीक्षा सर्वत्र पूजिता ॥
यया विना हि विश्वेषु सर्वं कर्म हि निष्फलम् ।
स्वधा पितृणां पत्नी च मुनिभिर्मनुभिर्नरैः ॥
पूजिता पितृदानं हि निष्फलं च यया विना ।
स्वस्तिदेवी वायुपत्नी प्रतिविश्वेषु पूजिता ॥
आदानं च प्रदानं च निष्फलं च यया विना ।
पुष्टिर्गणपतेः पत्नी पूजिता जगतीतले ॥
यया विना परिक्षीणाः पुमांसो योषितोऽपि च ।
अनन्तपत्नी तुष्टिश्च पूजिता वन्दिता भवेत् ॥

यया विना न सन्तुष्टाः सर्वे लोकाश्च सर्वतः ।
ईशानपत्नी सम्पत्तिः पूजिता च सुरैर्नरैः ॥
सर्वे लोका दरिद्राश्च विश्वेषु च यया विना ।
धृतिः कपिलपत्नी च सर्वैः सर्वत्र पूजिता ॥
सर्वे लोका अधैर्याश्च जगत्सु च यया विना ।
सत्यपत्नी सती मुक्तैः पूजिता जगतीप्रिया ॥
यया विना भवेल्लोको बन्धुतारहितः सदा ।
मोहपत्नी दया साध्वी पूजिता च जगत्प्रिया ॥
सर्वे लोकाश्च सर्वत्र निष्फलाश्च यया विना ।
पुण्यपत्नी प्रतिष्ठा सा पूजिता पुण्यदा सदा ॥
यया विना जगत्सर्वं जीवन्मृतसमं मुने ।
सुकर्मपत्नी संसिद्धा कीर्त्तिर्धन्यैश्च पूजिता ॥
यया विना जगत्सर्वं यशोहीनं मृतं यथा ।
क्रिया तद्योगपत्नी च पूजिता सर्वसम्मता ॥
यया विना जगत्सर्वं विधिहीनं च नारद ।
अधर्मपत्नी मिथ्या सा सर्वधूर्तैश्च पूजिता ॥
....

सत्ये अदर्शना या च त्रेतायां सूक्ष्मरूपिणी ॥
अर्धावयवरूपा च द्वापरे चैव संवृता ।
कलौ महाप्रगल्भा च सर्वत्र व्यापिका बलात् ॥
कपटेन समं भ्रात्रा भ्रमते च गृहे गृहे ।
शान्तिर्लज्जा च भार्ये द्वे सुशीलस्य च पूजिते ॥
याभ्यां विना जगत्सर्वमुन्मत्तमिव नारद ।
ज्ञानस्य तिस्रो भार्याश्च बुद्धिर्मेधा स्मृतिस्तथा ॥
याभिर्विना जगत्सर्वं मूढं मत्तसमं सदा ।
मूर्तिश्च धर्मपत्नी सा कान्तिरूपा मनोहरा ॥
परमात्मा च विश्वौघो निराधारो यया विना ।
सर्वत्र शोभारूपा च लक्ष्मीर्मूर्तिमती सती ॥
श्रीरूपा मूर्तिरूपा च मान्या धन्याऽतिपूजिता ।
कालाग्नी रुद्रपत्नी च निद्रा सा सिद्धयोगिनी ॥
सर्वे लोकाः समाच्छन्ना यया योगेन रात्रिषु ।
कालस्य तिस्रो भार्याश्च सन्ध्या रात्रिर्दिनानि च ॥
याभिर्विना विधात्रा च सङ्ख्यां कर्त्तुं न शक्यते ।
क्षुत्पिपासे लोभभार्ये धन्ये मान्ये च पूजिते ॥
याभ्यां व्याप्तं जगत्सर्वं नित्यं चिन्तातुरं भवेत् ।
प्रभा च दाहिका चैव द्वे भार्ये तेजसस्तथा ॥

याभ्यां विना जगत्स्रष्टा विधातुं च नहीश्वरः।
कालकन्ये मृत्युज्वरे प्रज्वारस्य प्रियाप्रिये ॥

याभ्यां जगत् समुच्छिन्नं विधात्रा निर्मितं विधौ।
निद्रा कन्या च तन्द्रा सा प्रीतिरन्या सुखप्रिये ॥

याभ्यां व्याप्तं जगत्सर्वं विधिपुत्र विधेर्विधौ।
वैराग्यस्य च द्वे भार्ये श्रद्धा भक्तिश्च पूजिते ॥

याभ्यां शश्वज्जगत्सर्वं यज्जीवन्मुक्तिमन्मुने।
....

पूजिता सुरथेनादौ दुर्गा दुर्गार्तिनाशिनी ॥'

उपर्युक्त श्लोकों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्रीदेवीभागवत-कार मार्कण्डेयपुराण के 'देवीमाहात्म्य' के इस अध्याय का पुराणशैली में सुन्दर उपबृंहण कर रहा है।

श्रीमार्कण्डेयपुराण के सावर्णिक मन्वन्तर से सम्बद्ध 'देवी-माहात्म्य' वर्णन के प्रसंग में शुम्भादि द्वारा हृताधिकार-देवगण-कृत देवी-स्तुति नामक ८५वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त।

✲

षडशीतितमोऽध्याय:

ऋषिरुवाच—

इत्याकर्ण्य वचो देव्याः स दूतोऽमर्षपूरितः ।
समाचष्ट समागम्य दैत्यराजाय विस्तरात् ॥१॥
तस्य दूतस्य तद्वाक्यमाकर्ण्यासुरराट् ततः ।
सक्रोधः प्राह दैत्यानामधिपं धूम्रलोचनम् ॥२॥
हे धूम्रलोचनाशु त्वं स्वसैन्यपरिवारितः ।
तामानय बलाद् दुष्टां केशाकर्षणविह्वलाम् ॥३॥
तत्परित्राणदः कश्चिद्यदि वोत्तिष्ठतेऽपरः ।
स हन्तव्योऽमरो वापि यक्षो गन्धर्व एव वा ॥४॥

ऋषिरुवाच—

तेनाज्ञप्तस्ततः शीघ्रं स दैत्यो धूम्रलोचनः ।
वृतः षष्टया सहस्राणामसुराणां द्रुतं ययौ ॥५॥
स दृष्ट्वा तां ततो देवीं तुहिनाचलसंस्थिताम् ।
जगादोच्चैः प्रयाहीति मूलं शुम्भनिशुम्भयोः ॥६॥

ऋषि सुमेधा ने कथा आगे बढ़ाई—

भगवती अम्बिका की ऐसी बात सुनते ही शुम्भ का वह दूत बड़ा क्रुद्ध हो गया और दैत्यराज शुम्भ के पास लौट कर उसने बड़े विस्तार से, देवी ने जो कुछ कहा था, वह कह सुनाया ॥ १ ॥

असुरराज शुम्भ उस दूत के मुँह से देवी की वह सब बात सुनकर क्रोधाकुल हो उठा और दैत्यों के अधिराज ध्रूमलोचन को उसने आदेश दिया ॥ २ ॥

धूम्रलोचन ! अपनी समस्त सेनाओं को लेकर शीघ्रातिशीघ्र जाओ और उस दुष्ट औरत को, झोंटे पकड़े, विवश बना कर खींचते हुए मेरे सामने पकड़ लाओ ॥ ३ ॥

यदि उसे बचाने के लिए कोई भी खड़ा हो जाय, तो चाहे वह देव हो या यक्ष हो या गन्धर्व हो, उसे मार डालो ॥ ४ ॥

ऋषि सुमेधा ने कहा—

दैत्यराज शुम्भ की आज्ञा पाकर वह दैत्य धूम्रलोचन साठ हजार असुर-सैनिकों को साथ लेकर तत्काल देवी को पकड़ने चल पड़ा ॥ ५ ॥

उसने देवी को हिमालय के शिखर पर खड़ी देखा और चिल्ला कर उनसे कहा कि शुम्भ-निशुम्भ के पास चलने को तैयार हो जा ॥ ६ ॥

न चेत्प्रीत्याद्य भवती मद्भर्तारमुपैष्यति ।
ततो बलान्नयाम्येष केशाकर्षणविह्वलाम् ॥७॥

श्रीदेव्युवाच—

दैत्येश्वरेण प्रहितो बलवान् बलसंवृतः ।
बलान्नयसि मामेवं ततः किं ते करोम्यहम् ॥८॥

ऋषिरुवाच—

इत्युक्तः सोऽभ्यधावत्तामसुरो धूम्रलोचनः ।
हुङ्कारेणैव तं भस्म सा चकाराम्बिका ततः ॥९॥
अथ क्रुद्धं महासैन्यमसुराणां तथाम्बिका ।
ववर्ष सायकैस्तीक्ष्णैस्तथा शक्तिपरश्वधैः ॥१०॥
ततो धुतसटः कोपात् कृत्वा नादं सुभैरवम् ।
पपातासुरसेनायां सिंहो देव्याः स्ववाहनः ॥११॥
कांश्चित् करप्रहारेण दैत्यानास्येन चापरान् ।
आक्रम्य चाधरेणान्यान् स जघान महासुरान् ॥१२॥

यदि आज अपने मन से तू मेरे स्वामी के पास नहीं चलती, तो बलपूर्वक, झोंटे पकड़ कर तुझे खींचते हुए मैं वहाँ ले जाऊँगा ॥ ७ ॥

देवी की उक्ति—

मैं क्या कर सकती हूँ। तू बलवान् है, बड़ी भारी सेना साथ लाया है, दैत्यराज शुम्भ के आदेश से आया है और बलपूर्वक मेरे केश पकड़ कर मुझे खींचते हुए उसके पास ले जाना चाहता है ॥ ८ ॥

ऋषि सुमेधा ने आगे कहा—

देवी ने धूम्रलोचन से ऐसा कहा तो वह महासुर देवी को पकड़ने दौड़ा, किन्तु देवी अम्बिका ने, हुंकार मात्र से ही उसे जलाकर राख बना दिया ॥ ९ ॥

उसके बाद अम्बिका देवी असुरों की विशालवाहिनी पर अपने तीक्ष्ण बाणों की वर्षा करने लगीं और अपने शक्ति-अस्त्र और अपने फरसे से उसे मार-काट कर गिराने लगी ॥ १० ॥

साथ ही साथ देवी-वाहन सिंह ने भी अपने अयाल झटकारे और क्रोध में आ कर भयङ्कर गर्जना करते हुए तत्काल असुर-सेना पर टूट पड़ा ॥ ११ ॥

उस रणभूमि में उसने किन्हीं दैत्यों को अपनी हथेली की चोट से और किन्हीं को अपने फाड़े हुए मुंह की दाढ़ों से मार डाला और किन्हीं महासुरों पर आक्रमण कर उनसे लड़ते-भिड़ते उन्हें मौत की घाट उतारने लगा ॥ १२ ॥

केषाञ्चित् पाटयामास नखैः कोष्ठानि केसरी ।
तथा तलप्रहारेण शिरांसि कृतवान् पृथक् ॥१३।
विच्छिन्नबाहुशिरसः कृतास्तेन तथापरे ।
पपौ च रुधिरं कोष्ठादन्येषां धुतकेसरः ॥१४।
क्षणेन तद्बलं सर्वं क्षयं नीतं महात्मना ।
तेन केसरिणा देव्या वाहनेनातिकोपिना ॥१५।
श्रुत्वा तमसुरं देव्या निहतं धूम्रलोचनम् ।
बलं च क्षयितं कृत्स्नं देवीकेसरिणा ततः ॥१६।
चुकोप दैत्याधिपतिः शुम्भः प्रस्फुरिताधरः ।
आज्ञापयामास च तौ चण्डमुण्डौ महासुरौ ॥१७।
हे चण्ड हे मुण्ड बलैर्बहुभिः परिवारितौ ।
तत्र गच्छत गत्वा च सा समानीयतां लघु ॥१८।
केशेष्वाकृष्य बद्ध्वा वा यदि वः संशयो युधि ।
तदाशेषायुधैः सर्वैरसुरैर्विनिहन्यताम् ॥१९।

उस महा सिंह ने अपने नखों से किन्हीं दैत्यों के पेट फाड़कर उनकी अंतड़ियाँ बाहर निकाल दीं और किन्हीं के सिर अपनी हथेली की मार से धड़ से अलग कर दिए ॥ १३ ॥

उसने अपने अयाल झाड़कर कई दानवों को ऐसा कर दिया कि न तो उनके हाथ बचे और न सिर बच पाए । इतना ही नहीं, कई दानवों के पेट फाड़कर उसने उनका खून पी लिया ॥ १४ ॥

इस प्रकार अत्यन्त क्रोध में आए महाबली देवी-वाहन उस सिंह ने क्षण भर में समस्त असुर-सेना का संहार कर दिया ॥ १५ ॥

उस दैत्यराज शुम्भ ने यह सुना कि देवी ने धूम्रलोचन जैसे महासुर को मार डाला है और उस देवी के वाहन सिंह ने समस्त असुर-सेना का संहार कर दिया है, तब वह क्रोध से आगबबूला हो गया और फड़कते ओठों से उसने चण्ड और मुण्ड नामक महाबली महासुरों को आदेश दिया कि बहुत बड़ी सेना के साथ अभी-अभी वहाँ जाओ और जितनी जल्दी हो सके उस देवी को यहाँ पकड़ लाओ । उसे, झोंटे पकड़-कर खींचते लाओ या हाथ-पैर बाँधकर घसीटते लाओ और यदि तुम्हें यह सन्देह हो

तस्यां हतायां दुष्टायां सिंहे च विनिपातिते ।
शीघ्रमागम्यतां बद्ध्वा गृहीत्वा तामथाम्बिकाम् ॥२०॥

॥ इति श्रीमार्कण्डेयमहापुराणे सावर्णिके मन्वन्तरे देवीमाहात्म्ये
धूम्रलोचनवधो नाम षडशीतितमोऽध्यायः ॥

कि वह लड़ाई करने पर उतारू हो जायेगी, तो अपने सैनिकों के साथ उस पर टूट पड़ो और उसे मार गिराओ। जब वह दुष्ट अम्बिका मार दी जाय और उसका वाहन सिंह भी मौत की घाट उतार दिया जाय, तब जितनी जल्दी हो सके, उसे पकड़कर या बाँधकर यहाँ घसीट लाओ ॥ १६-२० ॥

*

पर्यालोचन

(क) मार्कण्डेयपुराण का यह अध्याय, जो कि श्रीदुर्गासप्तशती का छठाँ अध्याय है, शुम्भासुर के सेनानायक धूम्रलोचन के वध के वर्णन का अध्याय है। शुम्भासुर तो तामस अहङ्कार का प्रतीक है और उसका सेनानायक धूम्रलोचन घोर अविवेक का प्रतीक है। अहङ्कार से आविष्ट व्यक्ति की विवेक-शक्ति नष्ट हो जाती है। पुराणकार ने बहुत सोचकर शुम्भ के सेनानायक का 'धूम्रलोचन' नाम रखा है। संसार में लिप्त सभी मनुष्य धूम्रलोचन हैं। सच्चिदानन्दस्वरूपा देवी के अनुग्रह से ही हमारे नेत्रों पर पड़ा अज्ञान का पर्दा हट सकता है और हमारे हृदय में विवेक की दीपशिखा प्रज्वलित हो सकती है। धूम्रलोचन का वध अविवेक का वध है।

(ख) श्रीदेवीभागवत में देवी और धूम्रलोचन के युद्ध तथा देवी द्वारा धूम्रलोचन के वध के वर्णन में कुछ विचित्रता लाने का प्रयास किया गया है, जैसा कि श्रीदेवीभागवत के पञ्चम स्कन्ध के २५वें तथा २६वें अध्याय के निम्नोद्धृत श्लोकों (३५-४९, १-२४) से स्पष्ट प्रतीत होता है—

'तन्निशम्य वचस्तस्य शुम्भो भ्रातुः कनीयसः ॥
कोपात् संप्रेषयामास पार्श्वस्थं धूम्रलोचनम् ।
धूम्रलोचन गच्छाशु सैन्येन महतावृतः ॥
गृहीत्वाऽनय तां मुग्धां स्ववीर्यमदमोहिताम् ।
देवो वा दानवो वाऽपि मनुष्यो वा महाबलः ॥
तत्पार्ष्णिग्राहतां प्राप्तो हन्तव्यस्तरसा त्वया ।
तत्पार्श्ववर्त्तिनीं कालीं हत्वा संगृह्यतां पुनः ॥
शीघ्रमत्र समागच्छ कृत्वा कार्यमनुत्तमम् ।
रक्षणीया त्वया साध्वी मुञ्चन्ती मृदुमार्गणान् ॥
यत्नेन महता वीर मृदुदेहा कृशोदरी ।
तत्सहायाश्च हन्तव्या ये रणे शस्त्रपाणयः ॥
सर्वथा सा न हन्तव्या रक्षणीया प्रयत्नतः ।
इत्यादिष्टस्तदा राज्ञा तरसा धूम्रलोचनः ॥
प्रणम्य शुम्भं सैन्येन वृतः शीघ्रं ययौ रणे ।
असाधूनां सहस्राणां षष्ट्या तेषां वृतस्तथा ॥
स ददर्श ततो देवीं रम्योपवनसंस्थिताम् ।
दृष्ट्वा तां मृगशावाक्षीं विनयेन समन्वितः ॥
उवाच वचनं श्लक्ष्णं हेतुमद्रसभूषितम् ।
शृणु देवि महाभागे ! शुम्भस्त्वद्विरहातुरः ॥

दूतं प्रेषितवान् पार्श्वे तव नीतिविशारदः।
रसभङ्गभयोद्विग्नः सामपूर्वं त्वयि स्वयम्॥

तेनाऽगत्वा वचः प्रोक्तं विपरीतं वरानने।
वचसा तेन मे भर्त्ता चिन्ताविष्टमना नृपः॥

बभूव रसमार्गज्ञे! शुम्भः कामविमोहितः।
दूतेन तेन न ज्ञातं हेतुगर्भं वचस्तव॥

यो मां जयति सङ्ग्रामे यदुक्तं कठिनं वचः।
न ज्ञातस्तेन संग्रामो द्विविधः खलु मानिनि॥

रतिजोऽथोत्साहजश्च पात्रभेदे विवक्षितः।
रतिजस्त्वयि वामोरु! शत्रोरुत्साहजः स्मृतः॥'

....

'इत्युक्त्वा विररामाऽसौ वचनं धूम्रलोचनः।
प्रत्युवाच तदा काली प्रहस्य ललितं वचः॥

विदूषकोऽसि जाल्म! त्वं शैलूष इव भाषसे।
वृथा मनोरथांश्चित्ते करोषि मधुरं वदन्॥

बलवान् बलसंयुक्तः प्रेषितोऽसि दुरात्मना।
कुरु युद्धं वृथा वादं मुञ्च मूढमतेऽधुना॥

हत्वा शुम्भं निशुम्भं च त्वदन्यान् वा बलाधिकान्।
देवी क्रुद्धा शराघातैर्व्रजिष्यति निजालयम्॥

....

तच्छ्रुत्वा वचनं दैत्यः संगृह्य कार्मुकं दृढम्।
कालिकां तां शरासारैर्ववर्षातिशिलाशितैः॥

देवास्तु प्रेक्षकास्तत्र विमानवरसंस्थिताः।
तां स्तुवन्तो जयेत्यूचुर्देवीं शक्रपुरोगमाः॥

तयोः परस्परं युद्धं प्रवृत्तं चातिदारुणम्।
बाण-खड्ग-गदा-शक्ति-मुसलादिभिरुत्कटम्॥

कालिका बाणपातैस्तु हत्वा पूर्वं खरानथ।
बभञ्ज तद्रथं व्यूढं जहास च मुहुर्मुहुः॥

स चाऽन्यं रथमारूढः कोपेन प्रज्वलन्निव।
बाणवृष्टिं चकारोग्रां कालिकोऽपरि भारत!॥

साऽपि चिच्छेद तरसा तस्य बाणानसङ्गतान्।
मुमोचान्यानुग्रवेगान् दानवोपरि कालिका॥

तैर्बाणैर्निहतास्तस्य पार्ष्णिग्राहाः सहस्रशः ।
बभञ्ज च रथं वेगात् सुतं हत्वा खरानपि ।।

चिच्छेद तद्धनुः सद्यो बाणैरुरगसन्निभैः ।
मुदं चक्रे सुराणां सा शङ्खनादं तथाऽकरोत् ।।

विरथः परिघं गृह्य सर्वलोहमयं दृढम् ।
आजगाम रथोपस्थं कुपितो धूम्रलोचनः ।।

वाचा निर्भर्त्सयन् कालीं करालः कालसन्निभः ।
अद्यैव त्वां हनिष्यामि कुरूपे ! पिङ्गलोचने ! ।।

इत्युक्त्वा सहसाऽऽगत्य परिघं क्षिपते यदा ।
हुंकारेणैव तं भस्म चकार तरसाऽम्बिका ।।

दृष्ट्वा भस्मीकृतं दैत्यं सैनिका भयविह्वलाः ।
चक्रुः पलायनं सद्यो हा ! तातेत्यब्रुवन् पथि ।।

देवास्तं निहतं दृष्ट्वा दानवं धूम्रलोचनम् ।
मुमुचुः पुष्पवृष्टिं ते मुदिता गगने स्थिताः ।।'

श्रीदेवीभागवत के उपर्युक्त धूम्रलोचन-वध से सम्बद्ध सन्दर्भ और मार्कण्डेय पुराण के इस अध्याय के धूम्रलोचन-वध—सन्दर्भ में कुछ भेद है । मार्कण्डेयपुराण का धूम्रलोचन-वध वर्णन संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित है, जब कि श्रीदेवीभागवत में वर्ण्य-विस्तार की दृष्टि से विविध विषयों की अवतारणा की गयी है । इस अध्याय के 'तामानय बलाद् दुष्टां केशाकर्षणविह्वलाम्' (श्लोक ३) में घटना-चक्र की जो गतिशीलता दिखायी देती है, वह 'गृहीत्वाऽनय तां मुग्धां स्ववीर्यमदमोहिताम् (श्रीदेवीभागवत ५.२५ ३७) आदि परस्पर संबद्धार्थक श्लोक-सन्दर्भ में नहीं दिखायी देती । इस अध्याय के ६ठे श्लोक में देवी 'तुहिनाचलसंस्थिता' बतायी गयी है; किन्तु श्रीदेवीभागवत में 'रम्योपवनसंस्थिता' कही गयी है । इसका एकमात्र कारण यही हो सकता है कि श्रीदेवीभागवतकार देवी को 'मृगशावाक्षी', 'रसभूषिता' आदि शृङ्गारिक विशेषणों से विशिष्ट वर्णित करने में उत्सुक है ।

(ग) इस अध्याय के ९वें श्लोक की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए—

'इत्युक्तः सोऽभ्यधावत्तामसुरो धूम्रलोचनः ।
हुङ्कारेणैव तं भस्म सा चकाराम्बिका ततः ।।

और श्रीदेवीभागवत का ऊपर उद्धृत नीचे लिखा श्लोक देखिए—

'इत्युक्त्वा सहसाऽगत्य परिघं क्षिपते यदा ।
हुङ्कारेणैव तं भस्म चकार तरसाऽम्बिका ।।

यहाँ यह स्पष्ट है कि श्रीदेवीभागवतकार मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय में के ही शब्दों और अर्थों को लेकर (!) कहने का इच्छुक है, किन्तु इसमें कोई नवीनता नहीं है। इस प्रकार की शब्दार्थ-योजना करने वाला कविराज राजशेखर की दृष्टि में 'द्रावक कवि' कहा जाता है—

'अप्रत्यभिज्ञेयतया स्ववाक्ये नवतां नयेत्।
यो द्रावयित्वा मूलार्थं द्रावकः स भवेत् कविः॥'

अर्थात् प्राचीन शब्दार्थ-योजना को अपनी शैली की भट्टी में डालकर नयी शब्दार्थ-योजना का प्रयास करने वाला कवि यह सोच सकता है कि उसकी कुशलता कोई पहचान नहीं पायेगा, किन्तु काव्यमर्मज्ञ उसकी चतुरता को अच्छी तरह पहचान लेते हैं और ऐसे रचनाकार को 'द्रावक' (पुराने आभूषण से पिघलाकर उसी प्रकार का नया आभूषण बनाने वाला स्वर्णकार) मानते हैं। ऐसी कृति में नवीनता नहीं, अपितु एक प्रकार का अपहरण है।

॥ श्रीमार्कण्डेयपुराण के 'सावर्णिक मन्वन्तर' से सम्बद्ध देवीमाहात्म्य— वर्णन के प्रसंग में धूम्रलोचन-वध नामक ८६वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त॥

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

ऋषिरुवाच—

आज्ञप्तास्ते ततो दैत्याश्चण्डमुण्डपुरोगमाः ।
चतुरङ्गबलोपेता ययुरभ्युद्यतायुधाः ॥१॥
ददृशुस्ते ततो देवीमीषद्धासां व्यवस्थिताम् ।
सिंहस्योपरि शैलेन्द्रश्रृङ्गे महति काञ्चने ॥२॥
ते दृष्ट्वा तां समादातुमुद्यमं चक्रुरुद्यताः ।
आकृष्टचापासिधरास्तथान्ये तत्समीपगाः ॥३॥
ततः कोपं चकारोच्चैरम्बिका तानरीन् प्रति ।
कोपेन चास्या वदनं मषीवर्णमभूत्तदा ॥४॥
भ्रुकुटीकुटिलात्तस्या ललाटफलकाद् द्रुतम् ।
काली करालवदना विनिष्क्रान्तासिपाशिनी ॥५॥

ऋषि सुमेधा ने आगे की कथा कही—

धूम्रलोचन के वध के बाद दैत्यराज शुम्भ की आज्ञा पाकर चण्ड और मुण्ड के सेनापतित्व में दैत्यगण चतुरङ्गिणी सेना सजाए, अपने-अपने आयुध हाथों में उठाए देवी को पकड़ने चल पड़े ॥ १ ॥

चण्ड-मुण्ड आदि दैत्यों ने, हिमालय के विशाल किंवा सूर्यकिरणों से अनुरंजित होने के कारण, स्वर्ण की सी आभा बिखेरते शिखर पर, सिंह पर आसीन तथा (दुष्ट दैत्यों की धृष्टता पर) मुस्कुराती अम्बिका देवी को देखा ॥ २ ॥

देवी को देखते ही, दैत्यगण, जिनमें कई धनुष पर बाण चढ़ाये हुए थे और कई हाथों में तलवार उठाये थे, उन्हें पकड़ने को उद्यत हो उठे और प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करने लगे। यहाँ तक कि उनके पास तक पहुँच गये ॥ ३ ॥

दैत्यों की यह हलचल देखते ही देवी के क्रोध का पारा चढ़ गया और उनका दिव्य-भव्य मुखमण्डल क्रोध से स्याही-सा काला बन गया ॥ ४ ॥

तत्क्षण उनके उन्नत ललाट से क्रोधावेश में चढ़ी भौहों के कारण भयङ्कर एक देवी प्रकट हुई, जो 'काली' थी—बड़े विकराल दांतों वाले मुखमण्डल के कारण भयंकर और हाथों में खड्ग तथा पाश धारण करने के कारण दानव-विनाश के लिए सन्नद्ध थी ॥ ५ ॥

विचित्रखट्वाङ्गधरा नरमालाविभूषणा ।
द्वीपिचर्मपरीधाना शुष्कमांसातिभैरवा ।।६।
अतिविस्तारवदना जिह्वाललनभीषणा ।
निमग्नारक्तनयना नादापूरितदिङ्मुखा ।।७।
सा वेगेनाभिपतिता घातयन्ती महासुरान् ।
सैन्ये तत्र सुरारीणामभक्षयत तद्बलम् ।।८।
पार्ष्णिग्राहाङ्कुशग्राहियोधघण्टासमन्वितान् ।
समादायैकहस्तेन मुखे चिक्षेप वारणान् ।।९।
तथैव योधं तुरगै रथं सारथिना सह ।
निक्षिप्य वक्त्रे दशनैश्चर्वयन्त्यतिभैरवम् ।।१०।
एकं जग्राह केशेषु ग्रीवायामथ चापरम् ।
पादेनाक्रम्य चैवान्यमुरसान्यमपोथयत् ।।११।

काली का रूप देखने ही योग्य था—हाथ में एक विचित्र अस्थि-पञ्जर धरे, गले में नरमुण्डों की माला लटकाये, देह में बाघम्बर लपेटे, केवल हड्डी और चमड़े की देह दिखाये और भैरव को भयभीत करने में समर्थ ।। ६ ।।

उस काली का मुखमण्डल बड़ा विस्तारवाला था, उसकी जीभ बार-बार होठ चाटते रहने के कारण, बड़ी भीषण दीख रही थी, उसकी आँखें बहुत धंसी हुई बड़ी लाल-लाल थीं और उसकी गम्भीर गर्जना दिङ्मण्डल में सर्वत्र व्याप्त सुन पड़ रही थी ।। ७ ।।

वह बड़े वेग से दौड़ी और बड़े-बड़े असुरों को मौत के घाट उतारने लगी और उस राक्षसी सेना के बीच राक्षसों को चबा-चबाकर खाने लगी ।। ८ ।।

वह काली, राक्षसी गजसेना के महागजों, उनके पीछे चलने वाले रक्षक सैनिकों, उन पर बैठे महावतों और योद्धाओं और उनके दोनों ओर लटकनेवाले घण्टों—सबको अपने एक हाथ से पकड़कर अपने मुँह में डालकर चबाने लगी ।। ९ ।।

इसी प्रकार उस देवी ने घोड़ों के साथ घुड़सवार सैनिकों और सारथियों के साथ रथों को अपने मुँह में डाल-डालकर दाँतों से काटा और उन्हें खाने के लिए मौत को उकसाने लगी ।। १० ।।

उस देवी ने किसी पैदल राक्षस सैनिक के बाल पकड़े, किसी की गर्दन पकड़ी, किसी को पैरों तले रौंदा और किसी को अपनी छाती से दबाकर मार डाला ।। ११ ।।

तैर्मुक्तानि च शस्त्राणि महास्त्राणि तथासुरैः ।
मुखेन जग्राह रुषा दशनैर्मथितान्यपि ॥१२॥

बलिनां तद्बलं सर्वमसुराणां दुरात्मनाम् ।
ममर्दाभक्षयच्चान्यानन्यांश्चाताडयत्तथा ॥१३॥

असिना निहताः केचित्केचित्खट्वाङ्गताडिताः ।
जग्मुर्विनाशमसुरा दन्ताग्राभिहता रणे ॥१४॥

क्षणेन तन्महासैन्यमसुराणां निपातितम् ।
दृष्ट्वा चण्डोऽभिदुद्राव तां कालीमतिभीषणाम् ॥१५॥

शरवर्षैर्महाभीमैर्भीमाक्षीं तां महासुरः ।
छादयामास चक्रैश्च मुण्डः क्षिप्तैः सहस्रशः ॥१६॥

तानि चक्राण्यनेकानि विशमानानि तन्मुखम् ।
बभुर्यथार्कबिम्बानि सुबहूनि घनोदरम् ॥१७॥

देवी को मारने के लिए चण्ड और मुण्ड आदि असुरों ने जो-जो शस्त्र और महास्त्र छोड़े, उन्हें उसने क्रोध के आवेग में मुह से पकड़ा और दाँतों से काट-काट कर टुकड़े-टुकड़े कर दिए ॥ १२ ॥

उस देवी ने इस प्रकार उन महादुष्ट, महापराक्रमी चण्ड-मुण्डादि असुरों की समस्त सेना का मर्दन कर दिया और उनके अनेक सैनिकों को खा डाला । बहुतेरे दैत्य-योद्धा उस देवी के थप्पड़ों अथवा लात-घूँसों से मारे गये ॥ १३ ॥

कुछ दानवों के उस देवी ने रणभूमि में अपनी तलवार से टुकड़े-टुकड़े कर दिए, कुछ को अपने हाथ में पकड़, नरकङ्काल की मार से मार डाला और कुछ उसके पैने दाँतों से आहत होकर मारे गये ॥ १४ ॥

दानव सेनापति चण्ड ने जब यह देखा कि क्षणमात्र में देवी ने दानवसेना का संहार कर डाला, तब वह उस अतिभयावह देवी काली की ओर दौड़ा ॥ १५ ॥

उस महासुर चण्ड ने महाभयङ्कर बाणवर्षण से और उनके सहयोगी दैत्यसेना-पति मुण्ड ने सहस्रों चक्रायुधों से भयङ्कर नेत्रोंवाली काली को ढक-सा दिया ॥ १६ ॥

मुण्ड के द्वारा चलाये गये सहस्रों चक्रायुध देवी के विकराल मुख में घुस गये और ऐसे प्रतीत होने लगे मानो मेघमण्डल में सहस्रों सूर्यमण्डल घुस गये हों ॥ १७ ॥

ततो जहासातिरुषा भीमं भैरवनादिनी ।
काली करालवक्त्रान्तर्दुर्दर्शदशनोज्ज्वला ।।१८।
उत्थाय च महासिंहं देवी चण्डमधावत ।
गृहीत्वा चास्य केशेषु शिरस्तेनासिनाच्छिनत् ।।१९।
छिन्ने शिरसि दैत्येन्द्रश्चक्रे नादं सुभैरवम् ।
तेन नादेन महता त्रासितं भुवनत्रयम् ।।२०।
अथ मुण्डोऽभ्यधावत्तां दृष्ट्वा चण्डं निपातितम् ।
तमप्यपातयद् भूमौ सा खड्गाभिहतं रुषा ।।२१।
हतशेषं ततः सैन्यं दृष्ट्वा चण्डं निपातितम् ।
मुण्डं च सुमहावीर्यं दिशो भेजे भयातुरम् ।।२२।
शिरश्चण्डस्य काली च गृहीत्वा मुण्डमेव च ।
प्राह प्रचण्डाट्टहासमिश्रमभ्येत्य चण्डिकाम् ।।२३।
मया तवात्रोपहृतौ चण्डमुण्डौ महापशू ।
युद्धयज्ञे स्वयं शुम्भं निशुम्भं च हनिष्यसि ।।२४।

उसके बाद देवी काली रणोत्सव के उल्लास में अत्यन्त क्रुद्ध हो उठी और कालाग्निरुद्र की भाँति निनाद करती हुई भयङ्कर अट्टहास करने लगी, जिसमें उसके विकराल मुख से भयंकर दाँत दिखाई देने लगे, जिससे कालेवर्ण की होने पर भी उसका वर्ण तेजःपुञ्जमय होकर चमकने लगा ॥ १८ ॥

देवी ने अपने वाहन महासिंह को उठाया और उस पर बैठ कर वह चण्ड की ओर दौड़ी और उसके बाल पकड़ कर अपने खड्ग से उसका सिर धड़ से अलग कर दिया ॥ १९ ॥

जब दैत्यराज चण्ड का सिर कट कर गिरा, तब उसने बड़े जोर से भयंकर गर्जना की, जिससे त्रिभुवन में भय व्याप्त हो गया ॥ २० ॥

चण्ड को मारा गया देखते ही मुण्ड काली की ओर लपका; किन्तु क्रोध में भरी हुई देवी ने अपने नरकंकालरूप अस्त्र से उसे भी मार कर नीचे गिरा दिया ॥ २१ ॥

उसके बाद महावीर्यशाली चण्ड और मुण्ड को मरा-गिरा देखकर, जो भी दानवी सेना बची थी, वह भी भयभीत होकर चारों दिशाओं में भाग गयी ॥ २२ ॥

काली देवी चण्ड और मुण्ड का सिर अपने हाथ में पकड़कर चण्डिका के पास पहुँची और वड़े जोर से अट्टहास करती, चण्डिका से बोली ॥ २३ ॥

देवि ! चण्डिके ! मैं आपको चण्ड और मुण्ड नामक दो महापशु भेंट चढ़ा रही हूँ, अब युद्धयज्ञ में आप शुम्भ और निशुम्भ को मारें और देववृन्द की सन्तुष्टि करें ॥ २४ ॥

ऋषिरुवाच—

तावानीतौ ततो दृष्ट्वा चण्डमुण्डौ महासुरौ ।
उवाच कालीं कल्याणी ललितं चण्डिका वचः ॥२५।

श्रीदेव्युवाच—

यस्माच्चण्डं च मुण्डं च गृहीत्वा त्वमुपागता ।
चामुण्डेति ततो लोके ख्याता देवि भविष्यसि ॥२६।

॥ इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे सार्वणिके मन्वन्तरे देवीमाहात्म्ये
चण्डमुण्डवधोनाम सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥

ऋषि सुमेधा बोले—

लोक-मङ्गलकारिणी चण्डिका देवी ने महादानव चण्ड और मुण्ड के कटे सिरों को देखा और काली से बड़ी मधुरवाणी में कहा ॥ २५ ॥

देवी की उक्ति—

तुम चण्ड और मुण्ड के सिर काट कर यहाँ लायी हो, इसलिए अब से त्रैलोक्य में तुम चामुण्डा के नाम से विख्यात हो जाओगी ॥ २६ ॥

पर्यालोचन

(क) यह अध्याय 'चण्डमुण्ड-वध' नामक अध्याय है। इस अध्याय से सम्बद्ध जो देवीविषयक 'ध्यायेयं····' आदि श्रीदुर्गासप्तशती के ७वें अध्याय का ध्यानश्लोक है, उसमें श्रीदेवीभागवत में वर्णित देवी के स्वरूप की छाप स्पष्ट है। देखिए श्रीदेवीभागवत के पञ्चम स्कन्ध के २३वें अध्याय के निम्नोद्धृत श्लोक (८-१०)—

'इत्युक्त्वा सा तदा देवी सिंहारूढा मदोत्कटा।
कालिकां पार्श्वतः कृत्वा जगाम नगरे रिपोः ॥

सा गत्वोपवने तस्थावम्बिका कालिकान्विता।
जगावथ कलं तत्र जगन्मोहनमोहनम् ॥

श्रुत्वा तन्मधुरं गानं मोहमीयुः खगा मृगाः।
मुदं च परमां प्रापुरमरा गगने स्थिताः ॥'

किन्तु यह ध्यान-श्लोक जिस किसी भी भगवती के भक्त कवि की रचना हो, बड़ा सुन्दर और सरस है।

(ख) चण्ड और मुण्ड सहोदर भाई थे। चण्ड बड़ा था और मुण्ड छोटा। चण्ड और मुण्ड स्वयं बड़े प्रतापी असुर थे, किन्तु शुम्भ और निशुम्भ के बढ़ते प्रताप को देख कर दोनों उनके परममित्र हो गये थे और अपने सैन्यबल के साथ उनकी सेवा में लग गये थे। इस अध्याय में चण्ड और मुण्ड का देवी के साथ जो युद्ध वर्णित है, वह संक्षिप्त होने पर भी सारगर्भित है। श्रीदेवीभागवत में मार्कण्डेयपुराण के इसी अध्याय के आधार पर देवी के साथ चण्ड-मुण्ड के युद्ध का विशद वर्णन किया गया है। देखिए श्रीदेवीभागवत के पञ्चम स्कन्ध के २६वें अध्याय का निम्नलिखित श्लोक-सन्दर्भ (३५-५१)—

'चण्डमुक्तान् शरान् देवी चिच्छेद निशितैः शरैः।
मुमोच पुनरुग्रा सा चण्डिका पन्नगानिव ॥

गगनं छादितं तत्र संग्रामे विशिखैस्तदा।
शलभैरिव मेघान्ते कर्षकाणां भयप्रदैः ॥

मुण्डोऽपि सैनिकैः सार्धं पपात तरसा रणे।
मुमोच बाणवृष्टिं वै क्रुद्धः परमदारुणः ॥

बाणजालं महद् दृष्ट्वा क्रुद्धा तत्राम्बिका भृशम्।
कोपेन वदनं तस्या बभूव घनसन्निभम् ॥

कदलीपुष्पनेत्रं च भ्रकुटीकुटिलं तदा।
निष्क्रान्ता च तदा काली ललाटफलकाद् द्रुतम्॥

व्याघ्रचर्माम्बरधरा गजचर्मोत्तरीयका।
मुण्डमालाधरा घोरा शुष्कवापीसमोदरा॥

खड्गपाशधराऽतीव भीषणा भयदायिनी।
खट्वाङ्गधारिणी रौद्रा कालरात्रिरिवापरा॥

विस्तीर्णवदना जिह्वां चालयन्ती मुहुर्मुहुः।
विस्तारजघना वेगाज्जघानाऽसुरसैनिकान्॥

करे कृत्वा महावीरांस्तरसा सा रुषान्विता।
मुखे चिक्षेप दैतेयान् पिपेश दशनैः शनैः॥

गजान् घण्टान्वितान् हस्ते गृहीत्वा निदधौ मुखे।
साऽऽरोहान् भक्षयित्वाऽजौ साट्टहासं चकार ह॥

तथैव तुरगानुष्ट्रांस्तथा सारथिभिः सह।
निक्षिप्य वक्त्रे दशनैश्चर्वयन्त्यतिभैरवम्॥

हन्यमानं बलं प्रेक्ष्य चण्डमुण्डौ महासुरौ।
छादयामासतुर्देवीं बाणासारैरनन्तरैः॥

चण्डश्चण्डकरच्छायं चक्रं चक्रधरायुधम्।
चिक्षेप तरसा देवीं ननाद च मुहुर्मुहुः॥

नदन्तं वीक्ष्य तं काली रथाङ्गं च रविप्रभम्।
बाणेनैकेन चिच्छेद सुप्रभं तत्सुदर्शनम्॥

तं जघान शरैस्तीक्ष्णैश्चण्डं चण्डी शिलोशितैः।
मूर्च्छितोऽसौ पपातोर्व्यां देवीबाणार्दितो भृशम्॥

पतितं भ्रातरं वीक्ष्य मुण्डो दुःखार्पितस्तदा।
चकार शरवृष्टिं च कालिकोपरि कोपितः॥

चण्डिका मुण्डनिर्मुक्तां शरवृष्टिं सुदारुणाम्।
ईषिकास्त्रैर्बलान्मुक्तैश्चकार तिलशः क्षणात्॥' इत्यादि।

उपर्युद्धृत श्लोक-सन्दर्भ में 'कोपेन वदनं तस्याः.........मुहुर्मुहुः (३८-३९) आदि श्लोकों के पहले इस अध्याय के निम्नलिखित श्लोकों (५-८) पर दृष्टिपात कीजिए—

'ततः कोपं चकारोच्चैरम्बिका तानरीन् प्रति ।
कोपेन चास्या वदनं मषीवर्णमभूत्तदा ।।

भ्रकुटीकुटिलात्तस्या ललाटफलकाद् द्रुतम् ।
काली करालवदना विनिष्क्रान्ताऽसिपाशिनी ।।

विचित्रखट्वाङ्गधरा नरमालाविभूषणा ।
द्वीपिचर्मपरीधाना शुष्कमांसातिभैरवा ।।

अतिविस्तारवदना जिह्वाललनभीषणा !
निमग्नारक्तनयना नादापूरितदिङ्मुखा ।।'

यहाँ यह निःसंदिग्ध रूप से स्पष्ट है कि श्रीदेवीभागवत के श्लोक श्रीमार्कण्डेय-पुराण के उपर्युक्त श्लोकों के ही धूमिल प्रतिबिम्ब हैं। बिम्ब का सौन्दर्य प्रतिबिम्ब में नहीं झलक सकता। इसीलिये 'अतिविस्तारवदना जिह्वाललनभीषणा' की ओजोमयी काव्यच्छटा के सामने 'विस्तीर्णवदना जिह्वां चालयन्ती मुहुर्मुहुः' की उक्ति में कोई ओज-स्विता नहीं प्रतीत होती।

(ग) इस अध्याय के निम्नलिखित श्लोकों (२३-२७) पर ध्यान दीजिए—

शिरश्चण्डस्य काली च गृहीत्वा मुण्डमेव च ।
प्राह प्रचण्डाट्टहासमिश्रमभ्येत्य चण्डिकाम् ।।

मया तवात्रोपहृतौ चण्डमुण्डौ महापशू ।
युद्धयज्ञे स्वयं शुम्भं निशुम्भं च हनिष्यसि ।।

तावानीतौ ततो दृष्ट्वा चण्डमुण्डौ महासुरौ ।
उवाच कालीं कल्याणी ललितं चण्डिका वचः ।।

यस्माच्चण्डं च मुण्डं च गृहीत्वा त्वमुपागता ।
चामुण्डेति ततो लोके ख्याता देवि भविष्यति ।।'

इन्हीं श्लोकों के शब्दों और अर्थों को लेकर श्रीदेवीभागवतकार ने नीचे लिखे श्लोक (५ २६ ६०-६५) रचे हैं—

'तावानीतौ तदा वीक्ष्य चण्डिका तौ वृकाविव ।
अम्बिका कालिकां प्राह माधुरीसंयुतं वचः ॥
वधं मा कुरु मा मुञ्च चतुरासि रणप्रिये ।
देवानां कार्यसंसिद्धिः कर्तव्या तरसा त्वया ॥
इति तस्या वचः श्रुत्वा कालिका प्राह तां पुनः ।
युद्धयज्ञेऽतिविख्याते खड्गयूपे प्रतिष्ठिते ॥
आलम्भं च करिष्यामि यथा हिंसा न जायते ।
इत्युक्त्वा सा तदा देवी खड्गेन शिरसी तयोः ॥
चकर्त तरसा काली पपौ च रुधिरं मुदा ।
एवं दैत्यौ हतौ दृष्ट्वा मुदितोवाच चाम्बिका ॥
कृतं कार्यं सुराणां ते ददाम्यद्य वरं शुभम् ।
चण्डमुण्डौ हतौ यस्मात् तस्मात् ते नाम कालिके ।
चामुण्डेति सुविख्यातं भविष्यति धरातले ॥'

किन्तु श्रीदेवीभागवत के 'माधुरीसंयुतं वचः' में वह माधुर्य नहीं जो मार्कण्डेय-पुराण के इस अध्याय के 'उवाच कालीं कल्याणी ललितं चण्डिका वचः' (श्लोक २६) में सहृदयों का ध्यान आकृष्ट करता है। इसी प्रकार 'युद्धयज्ञे स्वयं शुम्भं निशुम्भं च हनिष्यसि' (श्लोक २४) में युद्ध के यज्ञरूप में रूपण में जो काव्यात्मक सौन्दर्य है, वह श्रीदेवीभागवत के 'युद्धयज्ञे''''खड्गयूपे' के साङ्गरूपक की रचना के आयास-प्रयास में छूमन्तर हो जाता है। वस्तुतः ये सब ऐसी बाते हैं, जिनके कारण श्रीमार्कण्डेयपुराण के 'देवी-माहात्म्य' (श्रीदुर्गासप्तशती) का जैसा व्यापक प्रचार और प्रभाव है, वैसा श्रीदेवी-भागवत का नहीं। मार्कण्डेयपुराण के देवीमाहात्म्य के तेरह अध्यायों (श्रीदुर्गासप्तशती) को यदि देवी पर विरचित 'खण्डकाव्य' मानें, जिसकी अपेक्षा श्रीदेवीभागवत 'महाकाव्य' कहा जायेगा तो यह निश्चित है कि देवीमाहात्म्य रूप खण्डकाव्य श्रीदेवीभागवतरूप महाकाव्य की अपेक्षा अत्यधिक काव्यात्मक सौन्दर्य और वैचित्र्य से सुशोभित प्रतीत होगा।

(घ) इस अध्याय में चण्ड और मुण्ड शुम्भ और निशुम्भ के मित्र एवं सेवकरूप में चित्रित हैं। मानव मन भी अहन्ता के वशवर्ती होने पर शुंभ और निशुंभ का प्रतीक अथवा प्रतिनिधि बन जाता है। मन की ऐसी स्थिति में शरीर के हस्तपादादि

अङ्गों के कार्य निर्मर्यादित अथवा चण्ड होंगे, क्योंकि तब मानव बुद्धिहीन होने के नाते गले के ऊपर मुण्डमाल धारण करने वाला होगा। देवी की शरणागति से ही देवी का भक्त देवीरूप मानव चण्ड-मुण्ड पर विजय पा सकेगा और अन्त में शुम्भ-निशुम्भ रूपी महाहंकार का सर्वनाश कर सकेगा। इस विषय पर जितना अधिक विचार किया जायेगा, उतना ही देवी का साक्षात्कार सशक्त होगा और निःश्रेयस स्वयं सामने उपस्थित हो जायेगा।

श्री मार्कण्डेयपुराण के सावर्णिक-मन्वन्तर से सम्बद्ध देवी-माहात्म्य-वर्णन के प्रसंग में 'चण्डमुण्ड-वध' नामक ८७वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी अनुवाद समाप्त।

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

ऋषिरुवाच—

चण्डे च निहते दैत्ये मुण्डे च विनिपातिते ।
बहुलेषु च सैन्येषु क्षयितेष्वसुरेश्वरः ॥१॥
ततः कोपपराधीनचेताः शुम्भः प्रतापवान् ।
उद्योगं सर्वसैन्यानां दैत्यानामादिदेश ह ॥२॥
अद्य सर्वबलैर्दैत्याः षडशीतिरुदायुधाः ।
कम्बूनां चतुरशीतिर्निर्यान्तु स्वबलैर्वृताः ॥३॥
कोटिवीर्याणि पञ्चाशदसुराणां कुलानि वै ।
शतं कुलानि धौम्राणां निर्गच्छन्तु ममाज्ञया ॥४॥
कालका दौर्हृदा मौर्याः कालकेयास्तथासुराः ।
युद्धाय सज्जा निर्यान्तु आज्ञया त्वरिता मम ॥५॥
इत्याज्ञाप्यासुरपतिः शुम्भो भैरवशासनः ।
निर्जगाम महासैन्यसहस्रैर्बहुभिर्वृतः ॥६॥

ऋषि सुमेधा ने महाराज सुरथ को आगे का वृत्तान्त सुनाया—

इस प्रकार जब चण्ड और मुण्ड मारे गये और बड़ी संख्या में दानवी सेना का संहार हो गया, तब क्रोधावेश में आये महाप्रतापी दानवराज शुम्भ ने दैत्यों की जितनी भी चतुरङ्गिणी सेना बची थी, उसे संग्राम के लिए सन्नद्ध होने का आदेश दिया ॥ १-२ ॥

आज, अभी ८६ महादैत्य अपने-अपने अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित हो चतुरङ्गिणी सेना के साथ देवी के वध के लिए प्रयाग करें और ८४ कम्बुनामक दैत्यों के गण अपनी-अपनी सेनाएँ सजाकर संग्राम के लिए प्रस्थान कर दें ॥ ३ ॥

कोटिवीर्य नामक असुरों के ५० कुलों के सैनिकगण और धूम्रनामक दानवों के १०० कुलों के समस्त योद्धा, मेरे आदेश से, रणक्षेत्र में पहुँच जाँय ॥ ४ ॥

साथ ही साथ, कालक नाम के असुरगण, दौर्हृद नामक के दानवगण, मौर्य नामक दैत्यवृन्द और कालकेय नाम के असुरसंघ शीघ्रातिशीघ्र मेरी आज्ञा से युद्ध के लिए सन्नद्ध होकर रणभूमि में पहुँच जाँय ॥ ५ ॥

इस प्रकार भैरवशासन दानवराज शुम्भ अपने समस्त सैन्यबल को ऐसा आदेश देकर अगणित दल-बल के साथ रणक्षेत्र के लिए निकल पड़ा ॥ ६ ॥

आयान्तं चण्डिका दृष्ट्वा तत्सैन्यमतिभीषणम् ।
ज्यास्वनैः पूरयामास धरणीगगनान्तरम् ॥७॥
स च सिंहो महानादमतीव कृतवान् नृप ।
घण्टास्वनेन तन्नादमम्बिका चाप्यबृंहयत् ॥८॥
धनुर्ज्यासिंहघण्टानां नादापूरितदिङ्मुखा ।
निनादैर्भीषणैः काली जिग्ये विस्तारितानना ॥९॥
तं निनादमुपश्रुत्य दैत्यसैन्यैश्चतुर्दिशम् ।
देवी सिंहस्तथा काली सरोषैः परिवारिताः ॥१०॥
एतस्मिन्नन्तरे भूप विनाशाय सुरद्विषाम् ।
भवायामरसिंहानामतिवीर्यबलान्विताः ॥११॥
ब्रह्मेशगुहविष्णूनां तथेन्द्रस्य च शक्तयः ।
शरीरेभ्यो विनिष्क्रम्य तद्रूपैश्चण्डिकां ययुः ॥१२॥
यस्य देवस्य यद्रूपं यथाभूषणवाहनम् ।
तद्वदेव हि तच्छक्तिरसुरान् योद्धुमाययौ ॥१३॥

देवी चण्डिका ने शुम्भ की अत्यन्त भीषण सेनाओं को आते देखा और अपने धनुष की प्रत्यञ्चा की टङ्कार से भूमण्डल और व्योममण्डल को प्रतिध्वनित कर दिया ॥ ७ ॥

महाराज ! तत्काल देवी-वाहन सिंह ने भयङ्कर गर्जना की और चण्डिका देवी ने अपने घण्टे की घनघनाहट से अपने सिंह की गर्जना-ध्वनि को और भी बढ़ा दिया ॥ ८ ॥

तब धनुष की प्रत्यञ्चा की टङ्कार, सिंह की गर्जना और घण्टे की घनघनाहट की भयङ्कर ध्वनि से चारों दिशाओं को प्रतिध्वनित करती और अपना मुँह फाड़कर भीषण निनाद करती चण्डिका देवी ने समस्त दानव-दल को परास्त कर दिया ॥ ९ ॥

चतुर्दिग्व्याप्त उस निनाद को सुनते ही दैत्यसेनाओं ने देवी-वाहन सिंह और देवी चण्डिका—दोनों को चारों ओर से बाणविद्ध करना प्रारम्भ कर दिया ॥ १० ॥

राजन् ! इसी बीच देवशत्रु दानवों के क्षय और देवगग के अभ्युदय के लिए अत्यन्त बलवीर्यवाली, ब्रह्मा, शङ्कर, कार्तिकेय, विष्णु तथा इन्द्र की शक्तियां उन देवों के शरीर से बाहर निकल आयीं और अपने-अपने शक्तिरूपों में चण्डिका देवी की देह में प्रविष्ट हो गयी ॥ ११-१२ ॥

जिन देवों के जो रूप थे और जो वाहन थे, उन्हीं रूपों में और उन्हीं वाहनों पर आरूढ क्रमशः ब्रह्माणी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी और इन्द्राणी—ये पाँचों शक्ति-देवियाँ असुरों से युद्ध करने रणस्थल में आ पहुँचीं ॥ १३ ॥

हंसयुक्तविमानाग्रे साक्षसूत्रकमण्डलुः ।
आयाता ब्रह्मणः शक्तिर्ब्रह्माणी साभिधीयते ॥१४॥

माहेश्वरी वृषारूढा त्रिशूलवरधारिणी ।
महाहिवलया प्राप्ता चन्द्रलेखाविभूषणा ॥१५॥

कौमारी शक्तिहस्ता च मयूरवरवाहना ।
योद्धुमभ्याययौ दैत्यानम्बिका गुहरूपिणी ॥१६॥

तथैव वैष्णवी शक्तिर्गरुडोपरि संस्थिता ।
शङ्खचक्रगदाशार्ङ्गखड्गहस्ताभ्युपाययौ ॥१७॥

जज्ञे वाराहमतुलं रूपं या बिभ्रती हरेः ।
शक्तिः साप्याययौ तत्र वाराहीं बिभ्रती तनुम् ॥१८॥

नारसिंही नृसिंहस्य बिभ्रती सदृशं वपुः ।
प्राप्ता तत्र सटाक्षेपक्षिप्तनक्षत्रसंहतिः ॥१९॥

वज्रहस्ता तथैवैन्द्री गजराजोपरि स्थिता ।
प्राप्ता सहस्रनयना यथा शक्रस्तथैव सा ॥२०॥

हंस युक्त विमान पर बैठी, अक्षमाला और कमण्डलु लिए ब्रह्मा की ब्रह्माणी नाम की शक्ति वहाँ पहुँच गयीं ॥ १४ ॥

महावृषभ पर आरूढ, हाथ में भयङ्कर त्रिशूल लिए, कलाइयों में महानागों के कङ्कण पहने तथा मस्तक पर अर्द्धचन्द्र की कला धारण किये शङ्कर की शक्ति माहेश्वरी भी वहाँ आ गयीं ॥ १५ ॥

हाथ में शक्ति-अस्त्र धारण किये, मयूर पर आरूढ़, कार्तिकेयरूपधारिणी, कुमार कार्तिकेय की शक्ति देवी अम्बिका भी दैत्यों से युद्ध करने वहाँ जा पहुँची ॥ १६ ॥

इसी प्रकार गरुड़ पर आसीन भगवान् विष्णु की वैष्णवी शक्ति हाथों में शङ्ख, चक्र, गदा, धनुष और खड्ग लिए रणभूमि में उपस्थित हो गयी ॥ १७ ॥

जो शक्ति मह काय वाराहरूपधारी भगवान् विष्णु की शक्ति के रूप में आविर्भूत हुई थी, वह वाराहीरूप में युद्धस्थल में उपस्थित हो गयी ॥ १८ ॥

नृसिंह भगवान् के समान शरीरवाली नारसिंही शक्ति, जिसके केसर-कलाप की झटकार से नक्षत्रमण्डल अस्त-व्यस्त हो गये थे, वहीं युद्ध क्षेत्र में आ गयी ॥ १९ ॥

इसी प्रकार गजराज ऐरावत पर आरूढ़, हाथ में वज्र लिए, नेत्र-सहस्र सुशोभित और देवराज इन्द्र-सी दिखाई देती इन्द्राणी शक्ति भी वहाँ पहुँच गयी ॥ २० ॥

ततः परिवृतस्ताभिरीशानो देवशक्तिभिः ।
हन्यन्तामसुराः शीघ्रं मम प्रीत्याऽऽह चण्डिकाम् ।।२१।
ततो देवीशरीरात्तु विनिष्क्रान्तातिभीषणा ।
चण्डिकाशक्तिरत्युग्रा शिवाशतनिनादिनी ।।२२।
सा चाह धूम्रजटिलमीशानमपराजिता ।
दूत त्वं गच्छ भगवन् पार्श्वं शुम्भनिशुम्भयोः ।।२३।
ब्रूहि शुम्भं निशुम्भं च दानवावतिगर्वितौ ।
ये चान्ये दानवास्तत्र युद्धाय समुपस्थिताः ।।२४।
त्रैलोक्यमिन्द्रो लभतां देवाः सन्तु हविर्भुजः ।
यूयं प्रयात पातालं यदि जीवितुमिच्छथ ।।२५।
बलावलेपादथ चेद्भवन्तो युद्धकाङ्क्षिणः ।
तदागच्छत तृप्यन्तु मच्छिवाः पिशितेन वः ।।२६।
यतो नियुक्तो दौत्येन तया देव्या शिवः स्वयम् ।
शिवदूतीति लोकेऽस्मिंस्ततः सा ख्यातिमागता ।।२७।

इसके बाद इन समस्त देवशक्तियों से घिरे भगवान् शङ्कर ने चण्डिका देवी से कहा कि मेरा मन रखने के लिए यथाशीघ्र असुरों का संहार आरम्भ कर दो ।। २१ ।।

तत्काल चण्डिका देवी की देह से अतिभयङ्कर एवं अत्यन्त रौद्ररूपवाली देवी चण्डिकाशक्ति आविर्भूत हुई, जो सैकड़ों शृगालों की भीषण ध्वनि-सी ध्वनि करने लगी ।। २२ ।।

किसी के द्वारा भी पराजित न की जा सकनेवाली वह शक्ति जटाजूटधारी रुद्र से बोली कि आप दूत बनकर शुम्भ और निशुम्भ के पास जाँय ।। २३ ।।

शुम्भ और निशुम्भ के पास जाकर इन महाभिमानी दानवों से और अन्य जो भी युद्ध के लिए सन्नद्ध दानवगण हों, उन सबसे यह कहिए कि वे इन्द्र को त्रैलोक्य का राज्य लौटा दें, अन्य समस्त देवगण को अपने-अपने यज्ञांश का उपभोग करने दें और यदि जीने की इच्छा हो तो दानवदल के साथ पाताल लोक के लिए प्रस्थान कर दें ।। २४-२५ ।।

और यदि बलवीर्य के गर्व के कारण वे युद्ध करने की इच्छा रखते हों, तो उनसे कहिए कि मेरे सामने आ जाँय, जिससे मेरी शृगाल-सेना उनके रक्त-मांस का पान-भोजन कर संतृप्त हो जाय ।। २६ ।।

उस शक्ति अथवा चण्डिका देवी ने साक्षात् भगवान् शिव को दानवराज के पास दूतकर्म के लिए भेजा था, इसलिये चण्डिका देवी की वह शक्ति मर्त्यलोक में 'शिवदूती' के नाम से प्रसिद्ध हुई ।। २७ ।।

तेऽपि श्रुत्वा वचो देव्याः शर्वाख्यातं महासुराः ।
अमर्षापूरिता जग्मुर्यत्र कात्यायनी स्थिता ॥२८॥
ततः प्रथममेवाग्रे शरशक्त्यृष्टिवृष्टिभिः ।
ववर्षुरुद्धतामर्षास्तां देवीममरारयः ॥२९॥
सा च तान् प्रहितान् बाणाञ्छूलशक्तिपरश्वधान् ।
चिच्छेद लीलयाऽऽध्मातधनुर्मुक्तैर्महेषुभिः ॥३०॥
तस्याग्रतस्तथा काली शूलपातविदारितान् ।
खट्वाङ्गपोथितांश्चारीन् कुर्वंती व्यचरत्तदा ॥३१॥
कमण्डलुजलाक्षेपहतवीर्यान् हतौजसः ।
ब्रह्माणी चाकरोच्छत्रून् येन येन स्म धावति ॥३२॥
माहेश्वरी त्रिशूलेन तथा चक्रेण वैष्णवी ।
दैत्याञ्जघानं कौमारी तथा शक्त्यातिकोपना ॥३३॥

दूत के रूप में भेजे गये प्रलयङ्कर भगवान् शिव से देवी का सन्देश सुनते ही वे दुष्ट महासुर क्रोध से आगबबूला हो गये और वहाँ पहुँच गये, जहाँ देवी कात्यायनी (उमा अथवा गौरी) विराजमान थीं ॥ २८ ॥

देवी के समीप पहुँचते ही उन भयङ्कर क्रोधाविष्ट देवशत्रु दानवों ने सर्वप्रथम देवी पर बाण-शक्ति तथा खड्ग प्रभृति शस्त्रों की वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ २९ ॥

देवी ने उन दानवों के द्वारा चलाये गये बाणों, शूलों, शक्तियों और परशुओं को अनायास अपने धनुष की प्रत्यञ्चा के टङ्कारों के साथ छोड़े गये विकट बाणों से टुकड़े-टुकड़े कर दिया ॥ ३० ॥

संग्राम के आरम्भ होते ही, भगवान् शिव के समक्ष, जो शिवदूती बने खड़े थे, चण्डमुण्डमर्दिनी काली, चण्डिका की भाँति, युद्धकर्म में लग गयी और देवशत्रुओं को अपने त्रिशूल के प्रहार से चीर-फाड़ करती तथा अपने हाथ के नरकङ्कालरूपी अस्त्रों से उनके अस्थि-पञ्जर चूर-चूर करती हुई युद्धभूमि में विचरण करने लगी ॥ ३१ ॥

काली के साथ ही ब्राह्मी शक्ति भी रणभूमि में जिधर निकली, उधर ही देव-शत्रुओं को अपने कमण्डलु के जल के प्रक्षेप से निर्वीर्य और निस्तेज बनाने लगी ॥ ३२ ॥

साथ ही साथ माहेश्वरी शक्ति अपने त्रिशूल से, वैष्णवी शक्ति अपने चक्र से तथा अतिक्रुद्ध कौमारी शक्ति अपने शक्ति नामक शस्त्र से दैत्यों का वध करने में जुट गयीं ॥ ३३ ॥

ऐन्द्रीकुलिशपातेन शतशो दैत्यदानवाः ।
पेतुर्विदारिताः पृथ्व्यां रुधिरौघप्रवर्षिणः ॥३४।
तुण्डप्रहारविध्वस्ता दंष्ट्राग्रक्षतवक्षसः ।
वाराहमूर्त्या न्यपतंश्चक्रेण च विदारिताः ॥३५।
नखैर्विदारितांश्चान्यान् भक्षयन्ती महासुरान् ।
नारसिंही चचाराजौ नादापूर्णदिगन्तरा ॥३६।
चण्डाट्टहासैरसुराः शिवदूत्यभिदूषिताः ।
पेतुः पृथिव्यां पतितांस्तांश्चखादाथ सा तदा ॥३७।
इति मातृगणं क्रुद्धं मर्दयन्तं महासुरान् ।
दृष्ट्वाभ्युपायैर्विविधैर्नेशुर्देवारिसैनिकाः ॥३८।
पलायनपरान् दृष्ट्वा दैत्यान् मातृगणार्दितान् ।
योद्धुमभ्याययौ क्रुद्धो रक्तबीजो महासुरः ॥३९।

ऐन्द्री शक्ति के वज्रप्रहार से सैकड़ों दैत्य-दानव, जिनके शरीर चिथड़े-चिथड़े हो रहे थे, जिनसे रक्त की धारा इधर-उधर बहने लगी थी, रणभूमि में मर-कटकर गिरने लगे ॥ ३४ ॥

वाराही शक्ति के द्वारा तुण्डाघात (थूथुन की मार) से विध्वस्त दंष्ट्राग्र (नुकीली दाढ़ों) से वक्षःस्थल में चक्र-प्रहार से पीड़ित दैत्यगण युद्धभूमि में कटे-पिटे गिरने लगे ॥ ३५ ॥

नारसिंही शक्ति अन्य अनेक बड़े बली असुरों को अपने नखों के प्रहार से चीर-फाड़ कर खाने लगी तथा रणस्थल में विचरती अपनी गम्भीर गर्जना से चारों दिगन्तों को निनादित करने लगी ॥ ३६ ॥

अनेक असुर चण्डिका से प्रादुर्भूत शिवदूतों के प्रचण्ड अट्टहास से मूर्च्छित हो-हो कर गिरने लगे और उन्हें वह काट-काट कर खाने लगीं ॥ ३७ ॥

इस प्रकार क्रोधावेश में आकर नानाविध अस्त्र-शस्त्रों से महासुरों का मर्दन करनेवाले मातृगण (ब्राह्मी-वैष्णवी-कौमारी प्रभृति शक्ति-संघ) को देखकर देवशत्रु दानव सर्वनाश में मिल गये ॥ ३८ ॥

इसी बीच रक्तबीज नामक महासुर मातृगण के द्वारा परिपीड़ित और पीठ दिखाकर रणभूमि से भागते दैत्य-सैनिकों को देखकर बड़ा क्रुद्ध हो उठा और चण्डिका शक्ति से युद्ध करने आ पहुँचा ॥ ३९ ॥

रक्तबिन्दुर्यदा भूमौ पतत्यस्य शरीरतः ।
समुत्पतति मेदिन्यां तत्प्रमाणो महासुरः ॥४०॥
युयुधे स गदापाणिरिन्द्रशक्त्या महासुरः ।
ततश्चैन्द्री स्ववज्रेण रक्तबीजमताडयत् ॥४१॥
कुलिशेनाहतस्याशु बहु सुस्राव शोणितम् ।
समुत्तस्थुस्ततो योधास्तद्रूपास्तत्पराक्रमाः ॥४२॥
यावन्तः पतितास्तस्य शरीराद्रक्तबिन्दवः ।
तावन्तः पुरुषा जातास्तद्वीर्यबलविक्रमाः ॥४३॥
ते चापि युयुधुस्तत्र पुरुषा रक्तसम्भवाः ।
समं मातृभिरत्युग्रशस्त्रपातातिभीषणम् ॥४४॥
पुनश्च वज्रपातेन क्षतमस्य शिरो यदा ।
ववाह रक्तं पुरुषास्ततो जाताः सहस्रशः ॥४५॥
वैष्णवी समरे चैनं चक्रेणाभिजघान ह ।
गदया ताडयामास ऐन्द्री तमसुरेश्वरम् ॥४६॥

इस महासुर की बहुत बड़ी विशेषता यह थी कि जब शस्त्र द्वारा इसके शरीर से रक्त की एक बूँद भूमि पर गिरती थी, तब इसी के शरीर के परिमाणवाला महाप्राण दूसरा महासुर उसी भूमि पर गिरे रक्त बिन्दु से उत्पत्न हो जाया करता था ॥ ४० ॥

यह रक्त-बीज नामक महासुर हाथ में गदा धारण किये हुए, ऐन्द्री शक्ति से लड़ने लगा; किन्तु ऐन्द्री शक्ति ने अपने वज्र से उस पर प्रहार कर दिया ॥ ४१ ॥

ऐन्द्री शक्ति के वज्रप्रहार से आहत उस महासुर की देह से रक्तधारा फूट निकली, जिससे उसी के समान रूप-रंग के और उसी की भाँति पराक्रमी सहस्रों दैत्य योद्धा उत्पन्न हो गये ॥ ४२ ॥

वस्तुतः उसके शरीर से जितने रक्तकण नीचे गिरे, उतने ही उसी के समान बल-वीर्य और पराक्रमवाले दैत्य उत्पन्न हो गये ॥ ४३ ॥

रक्तबीज के रक्त से जन्मे जितने दैत्य थे, वे सबके सब मातृगण के साथ ऐसा युद्ध करने लगे थे, जिससे अत्यन्त दारुण शस्त्रों के प्रक्षेप-प्रहार से बड़ी भयङ्करता आ गयी थी ॥ ४४ ॥

जब इन्द्रशक्ति ने उसके सिर पर दूसरी बार वज्र मारा, तब दूसरी बार भी रक्त प्रवाहित होने लगा, जिससे हजारों-हजार दैत्य-दानव उत्पन्न होने लगे ॥ ४५ ॥

रणभूमि में विचरती वैष्णवी शक्ति ने उस असुरराज रक्तबीज को अपना सुदर्शन चक्र चलाकर मारा और इन्द्र शक्ति ने उस पर गदा से चोट की ॥ ४६ ॥

वैष्णवीचक्रभिन्नस्य रुधिरस्रावसम्भवैः ।
सहस्रशो जगद्व्याप्तं तत्प्रमाणैर्महासुरैः ॥४७॥
शक्त्या जघान कौमारी वाराही च तथासिना ।
माहेश्वरी त्रिशूलेन रक्तबीजं महासुरम् ॥४८॥
स चापि गदया दैत्यः सर्वा एवाहनत् पृथक् ।
मातॄः कोपसमाविष्टो रक्तबीजो महासुरः ॥४९॥
तस्याहतस्य बहुधा शक्तिशूलादिभिर्भुवि ।
पपात यो वै रक्तौघस्तेनासञ्छतशोऽसुराः ॥५०॥
तैश्चासुरासृक्सम्भूतैरसुरैः सकलं जगत् ।
व्याप्तमासीत्ततो देवा भयमाजग्मुरुत्तमम् ॥५१॥
तान् विषण्णान् सुरान् दृष्ट्वा चण्डिका प्राह सत्वरा ।
उवाच कालीं चामुण्डे विस्तीर्णं वदनं कुरु ॥५२॥
मच्छस्त्रपातसम्भूतान् रक्तबिन्दून् महासुरान् ।
रक्तबिन्दोः प्रतीच्छ त्वं वक्त्रेणानेन वेगिना ॥५३॥

वैष्णवी शक्ति के चक्र से छिन्न-भिन्न उस रक्तबीज के रक्तस्राव से उसी के समान जो असंख्य असुर उत्पन्न हुए, उनसे समस्त त्रैलोक्य भर गया ॥ ४७ ॥

उस महासुर रक्तबीज पर कौमारी शक्ति ने अपना शक्ति अस्त्र चलाया, वाराही शक्ति ने अपने खड्ग का प्रहार किया और माहेश्वरी शक्ति ने अपना त्रिशूल फेंका ॥ ४८ ॥

क्रोधाविष्ट वह दैत्यराज रक्तबीज भी गदा से ब्राह्मी-वैष्णवी-प्रभृति सभी मातृगण को एक-एक करके मारने लगा ॥ ४९ ॥

मातृगण के शक्ति, शूल प्रभृति आयुधों से आहत उसके शरीर से जो भी रक्त-प्रवाह हुआ, उससे अगणित असुर उत्पन्न हो गये ॥ ५० ॥

रक्तबीज के रक्त से उत्पन्न उन असंख्य असुरों से समस्त जगत् व्याप्त हो गया और यह सब देखकर देवगण के हृदय में अत्यधिक भय भर गया ॥ ५१ ॥

देवी चण्डिका ने जब देवगण को दुःख-विह्वल देखा, तब अविलम्ब उनसे निर्भय रहने को कहा और काली से कहा कि अरी चामुण्डे ! अपना मुँह जहाँ तक फाड़ सको फाड़कर फैला दो ॥ ५२ ॥

और अपने चौड़े फैले मुँह से रक्तबीज पर मेरे प्रहार से उत्पन्न रक्तबिन्दुओं को, जो असंख्य महादानव हैं, रक्तबीज के शरीर से नीचे गिरने के पहले ही दौड़कर अपने मुँह में भर लो ॥ ५३ ॥

भक्षयन्ती चर रणे तदुत्पन्नान् महासुरान् ।
एवमेष क्षयं दैत्यः क्षीणरक्तो गमिष्यति ।
भक्ष्यमाणास्त्वया चोग्रा न चोत्पत्स्यन्ति चापरे ॥५४।

ऋषिरुवाच—

इत्युक्त्वा तां ततो देवी शूलेनाभिजघान तम् ।
मुखेन काली जगृहे रक्तबीजस्य शोणितम् ॥५५।

ततोऽसावाजघानाथ गदया तत्र चण्डिकाम् ।
न चास्या वेदनां चक्रे गदापातोऽल्पिकामपि ॥५६।

तस्याहतस्य देहात्तु बहु सुस्राव शोणितम् ।
यतस्ततः स्ववक्त्रेण चामुण्डा सम्प्रतीच्छति ॥५७।

मुखे समुद्गता येऽस्या रक्तपातान्महासुराः ।
तांश्चखादाथ चामुण्डा पपौ तस्य च शोणितम् ॥५८।

देवी शूलेन चक्रेण बाणैरसिभिर्ऋष्टिभिः ।
जघान रक्तबीजं तं चामुण्डापीतशोणितम् ॥५९।

तुम्हारे मुँह में उन रक्तबिन्दुओं से जो महादानव उत्पन्न होने लगे, उन्हें चबाकर खाती हुई रणभूमि में विहार करो। तभी यह महादैत्य रक्तवीज, जब इसके शरीर में एक भी रक्त की बूँद नहीं बचेगी, नाश में मिल सकेगा। तुम जब इन रक्तवीजों को खाती जाओगी, तो दूसरे महादानव उत्पन्न नहीं हो सकेंगे ॥ ५४ ॥

ऋषि सुमेधा कहते चले—

काली को यह कह कर, चण्डिका देवी ने रक्तवीज को त्रिशूल से छेदा और उसकी देह से जो रक्त निकला, उसे काली ने अपने मुँह में भर लिया ॥ ५५ ॥

जब रणभूमि में देवी चण्डिका ने रक्तबीज को त्रिशूल चलाकर मारा, तब उसने भी चण्डिका पर गदा का प्रहार किया; किन्तु रक्तबीज के गदापात से देवी को कुछ भी कष्ट नहीं हुआ ॥ ५६ ॥

किन्तु काली के त्रिशूल से विद्ध रक्तबीज के शरीर से बहुत रक्तस्राव हुआ, जिसे चारों ओर दौड़-दौड़कर चामुण्डा अपने मुँह में भरने लगी ॥ ५७ ॥

काली के मुँह में पड़े रक्त से महासुर उत्पन्न हुए, उन्हें चामुण्डा ने खा लिया और उनके रक्त का भी छककर पान कर लिया ॥ ५८ ॥

देवी काली ने अन्त में अपने शूल-चक्र-बाण-खड्ग प्रभृति अस्त्रों से उस रक्तबीज को मार डाला, जिसका रक्त चामुण्डा ने पहले ही पी लिया था ॥ ५९ ॥

स पपात महीपृष्ठे शस्त्रसंहतितो हतः।
नीरक्तश्च महीपाल रक्तबीजो महासुरः ॥६०॥
ततस्ते हर्षमतुलमवापुस्त्रिदशा नृप।
तेषां मातृगणो जातो ननर्तासृङ्मदोद्धतः ॥६१॥

॥ इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे सावर्णिके मन्वन्तरे देवीमाहात्म्ये रक्तबीजवधोनामाष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥

महाराज ! वह महादानव रक्तबीज, रणभूमि में ही काली के शस्त्रों के प्रहारों से आहत और चामुण्डा के द्वारा रक्त का पान कर लिये जाने से सर्वथा रक्तहीन नीचे गिर पड़ा और मर गया ॥ ६० ॥

राजन् ! उसके बाद देववृन्द के अतुलनीय आनन्द का क्या कहना ! और ब्राह्मी-वैष्णवी प्रभृति मातृगण का भी क्या कहना ! जो कि रक्तपान से मदोन्मत्त होकर रणभूमि में ही नृत्यलीला करने लगीं ! ॥ ६१ ॥

पर्यालोचन

(क) यह 'रक्तबीज-वध' का अध्याय है। रक्तबीज महिषासुर के पिता रम्भ नामक असुरराज का अवतार कहा गया है। रक्तबीज परम शिवभक्त था और शिव के वरदान के कारण देवों और दैत्यों के द्वारा अवध्य हो गया था। वामनपुराण (अध्याय १७) में रक्तबीज का विस्तृत आख्यान मिलता है। श्रीदेवीभागवत के पञ्चम स्कन्ध में भी रक्तबीज और देवी के युद्ध का विशद वर्णन किया हुआ है। श्रीदेवीभागवत के पञ्चम-स्कन्ध के २७वें अध्याय में रक्तबीज का देवी चामुण्डा के साथ विचित्र वार्त्तालाप वर्णित है, जो कि श्रीमार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय में नहीं है, क्योंकि यहाँ इसकी सम्भवतः कोई आवश्यकता नहीं थी। देखिए श्रीदेवीभागवत के २७वें अध्याय के कतिपय श्लोक (५१-६३)—

'रक्तबीज उवाच—

बाले किं मां भीषयसि मत्वा त्वं कातरं किल।
शङ्खनादेन तन्वङ्गि वेत्सि किं धूम्रलोचनम्॥
रक्तबीजोऽस्मि नाम्नाऽहं त्वत्सकाशमिहागतः।
युद्धेच्छा चेत् पिकालापे सज्जा भव भयं न मे॥
पश्याद्य मे बलं कान्ते दृष्टा ये कातरास्त्वया।
नाहं पङ्क्तिगतस्तेषां कुरु युद्धं यथेच्छसि॥
वृद्धाश्च सेविताः पूर्वं नीतिशास्त्रं श्रुतं त्वया।
पठितं चार्थविज्ञान विद्वद्गोष्ठी कृताऽथवा॥
साहित्यतन्त्रविज्ञानं चेदस्ति तव सुन्दरि।
शृणु मे वचनं पथ्यं तथ्यं प्रमितिबृंहितम्॥
रसानां च नवानां वै द्वावेव मुख्यतां गतौ।
शृङ्गारकः शान्तिरसो विद्वज्जनसभासु च॥
तयोः शृङ्गार एवादौ नृपभावे प्रतिष्ठितः।
विष्णुर्लक्ष्म्या सहास्ते वै सावित्र्या चतुराननः॥
शच्येन्द्रः शैलसुतया शङ्करः सह शेरते।
वल्ल्या वृक्षो मृगो मृग्या कपोत्या च कपोतकः॥
एवं सर्वे प्राणभृतः संयोगरसिका भृशम्।
अप्राप्तभोगविभवा ये चाऽन्ये कातरा नराः॥
भवन्ति यतयस्ते वै मूढा दैवेन वञ्चिताः।
असंसाररसज्ञास्ते वञ्चिता वञ्चनापरैः॥
मधुरालापनिपुणै रता शान्तिरसे हि ते।
क्व ज्ञानं क्व च वैराग्यं वर्तमाने मनोभवे॥
लोभे क्रोधे च दुर्धर्षे मोहे मतिविनाशके।
तस्मात्त्वमपि कल्याणि कुरु कान्तं मनोहरम्॥

शुम्भं सुराणां जेतारं निशुम्भं वा महाबलम्।
इत्युक्त्वा रक्तबीजोऽसौ विरराम पुरः स्थितः॥
श्रुत्वा जहास चामुण्डा कालिका चाम्बिका तथा।'

उपर्युद्धृत श्रीदेवीभागवत के श्लोकों का कोई भी अभिप्राय मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय में दिखायी नहीं देता। इस अध्याय में तो निम्नलिखित श्लोक (३९-४०) से ही रक्तबीज के सीधे युद्धभूमि में उतरने की कहानी प्रारम्भ हो गयी है—

'पलायनपरान् दृष्ट्वा दैत्यान् मातृगणार्दितान्।
योद्धुमभ्याययौ क्रुद्धो रक्तबीजो महासुरः॥
रक्तबिन्दुर्यदा भूमौ पतत्यस्य शरीरतः।
समुत्पतति मेदिन्यां तत्प्रमाणो महासुरः॥'

श्रीमार्कण्डेयपुराण के इस प्रसङ्ग के स्थान पर श्रीदेवीभागवत में शिव के वरदान स्वरूप 'रक्तबीज' के रक्त से रक्तबीजसदृश महासुरों की उत्पत्ति का वर्णन है। देखिये श्रीदेवीभागवत के पञ्चम स्कन्ध के २९वें अध्याय के दो-तीन श्लोक (१-४)—

'वरदानमिदं तस्य दानवस्य शिवार्पितम्।
अत्यद्भुतकरं राजन्! शृणु तत्प्रब्रवीम्यहम्॥
तस्य देहाद्रक्तबिन्दुर्यदा पतति भूतले।
समुत्पतन्ति दैतेयास्तद्रूपास्तत्पराक्रमाः॥
असंख्याता महावीर्या दानवा रक्तसम्भवाः।
प्रभवन्त्विति रुद्रेण दत्तोऽस्त्यत्यद्भुतो वरः॥
स तेन वरदानेन दर्पितः क्रोधसंयुतः।
अभ्यागात् तरसा संख्ये हन्तुं देवीं स कालिकाम्॥'

किन्तु श्रीमार्कण्डेयपुराण के निम्नलिखित श्लोक (४३) की ओजस्विता के सामने श्रीदेवीभागवत के उपर्युक्त श्लोक चतुष्टय निस्तेज लगते हैं—

'यावन्तः पतितास्तस्य शरीराद्रक्तबिन्दवः।
तावन्तः पुरुषा जातास्तद्वीर्यबलविक्रमाः॥'

(ख) इस अध्याय के ३९वें श्लोक में जो 'मातृगण' (मातृगणार्दितान्) पद प्रयुक्त हुआ है, उसका तात्पर्य निम्नलिखित मातृ-गणाष्टक है, जिसका उल्लेख श्रीदुर्गा-सप्तशती के टीकाकार नागोजीभट्ट ने डामरतन्त्र के प्रमाण पर किया है—

'ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा।
वाराही नारसिंह्यैन्द्री चामुण्डा मातरः स्मृताः॥'

(ग) इस अध्याय के 'शङ्खचक्रगदाशार्ङ्गखड्गहस्ता' (श्लोक १७) में देवी के 'षड्भुजा' रूप का निरूपण है, क्योंकि 'शार्ङ्ग' अथवा धनुष से बाण भी उपलक्षित माना जाता है। इसीलिए श्री वामनपुराण का यह उल्लेख है—

'बाहुभिर्गरुडारूढा शङ्खचक्रगदासिनी।
शार्ङ्गबाणधरा जाता वैष्णवी रूपशालिनी॥'

(घ) इस अध्याय के ५९ श्लोक में 'ऋष्टि' (बाणैरसिभिर्ऋष्टिभिः) शब्द प्रयुक्त है। 'असि' तलवार की तो एक धार होती है, किन्तु ऋष्टि वह तलवार कही जाती है, जो दुधारी (दो धार वाली) होती है—एकधारोऽसिः, उभयतोधारोऽसिः ऋष्टिः।

(ङ) रक्तबीज के साथ मातृगण के युद्ध का श्रीदेवीभागवत में जो वर्णन है, वह श्रीमार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय के वर्णन का अनुहरण है। देखिये श्रीदेवीभागवत के पञ्चम-स्कन्ध के २८वें अध्याय के कतिपय श्लोक (४७-५६)—

'तेऽपि श्रुत्वा वचो देव्याः शङ्करोक्तं तु दुष्करम्।
युद्धाय निर्ययुः शीघ्रं दंशिताः शस्त्रपाणयः॥
तरसा रणमागत्य चण्डिकां प्रति दानवाः।
निर्जघ्नुश्च शरैस्तीक्ष्णैः कर्णाकृष्टैः शिलाशितैः॥
कालिका शूलपातैस्तान् गदाशक्तिविदारितान्।
कुर्वन्ती व्यचरत्तत्र भक्षयन्ती च दानवान्॥
कमण्डलुजलाक्षेपगतप्राणान् महाबलान्।
ब्रह्माणी चाकरोत्तत्र दानवान् समराङ्गणे॥
माहेश्वरी वृषारूढा त्रिशूलेनातिरंहसा।
जघान दानवान् सङ्ख्ये पातयामास भूतले॥
वैष्णवी चक्रपातेन गदापातेन दानवान्।
गतप्राणांश्चकाराशु चोत्तमाङ्गविवर्जितान्॥
ऐन्द्री वज्रप्रहारेण पातयामास भूतले।
ऐरावतकराघातपीडितान् दैत्यपुङ्गवान्॥
वाराही तुण्डघातेन दंष्ट्राग्रपातनेन च।
जघान क्रोधसंयुक्ता शतशो दैत्यदानवान्॥
नारसिंही नखैस्तीव्रैर्दारितान् दैत्यपुङ्गवान्।
भक्षयन्ती चचाराजौ ननाद च मुहुर्मुहुः॥
शिवदूती साट्टहासैः पातयामास भूतले।
तांश्चखादाथ चामुण्डा कालिका च त्वरान्विता॥' इत्यादि।

ब्रह्माणी प्रभृति देवियां वस्तुतः भगवती दुर्गा की विविध नाम, रूप और कर्म वाली शक्तियां हैं, जिन्हें श्रीमार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय में तथा श्रीदेवीभागवत के पञ्चम स्कन्ध में पृथक्-पृथक् विशिष्ट व्यक्तित्वों से विभूपित निरूपित किया गया है। यह प्रक्रिया भी 'एकोऽहं बहु स्याम्' की प्रक्रिया है।

(च) जैसे शिव होकर शिव की पूजा की जाती है, जो कि आत्मोपासना है, वैसे ही देवी होकर देवी की आराधना की जाती है, जो वस्तुतः आत्माराधना है। देवी के साथ रक्तबीज का विचित्र युद्ध सच्चित्स्वरूप आत्मा का असंख्य अशुभ संकल्पों को जन्म लेने वाले 'मन' के साथ संग्राम है, जिसमें अन्ततः आत्मतत्त्व की विजय होती है और मन के अशुभ संकल्प ऐसे नष्ट हो जाते हैं, जिसमें वे पुनर्जन्म न ले सकें। वैदिक युग की निष्ठा और श्रद्धा के साथ यज्ञयाग के अनुष्ठान से सम्बद्ध "तन्मे मनः शिवसंकल्प-

मस्तु" की भावना पौराणिक युग में देवी के द्वारा रक्तबीज के वध के आख्यान की एक विचारणीय उपक्रमणिका है। योग की समस्त प्रक्रियायें और समस्त विधियां मन को ही वश में करने की प्रक्रियायें और विधियां हैं। रक्तबीज पर जब तक विजय नहीं होती, तब तक अहंकार-ममकार के महाप्रतीक शुम्भ और निशुम्भ का भी वध नहीं हो सकेगा।

(छ) भगवती की ऐकान्तिक भक्ति ही भगवतीरूपता में परिणत हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में कोई भूत-भौतिक अथवा चित्त-चैतसिक विघ्नबाधायें आग में रुई की भाँति जलकर राख हो जाती हैं। देवी की यह भक्ति श्रीदेवीभागवत के सप्तम-स्कन्ध के ३७वें अध्याय के निम्नलिखित श्लोक-सन्दर्भ (१५-४५) में बड़े भावावेशपूर्वक प्रतिपादित दिखायी देती है—

'परानुरक्त्या मामेव चिन्तयेद्यो ह्यतन्द्रितः।
स्वाभेदेनैव मां नित्यं जानाति न विभेदतः॥
मद्रूपत्वेन जीवानां चिन्तनं कुरुते तु यः।
यथा स्वस्यात्मनि प्रीतिस्तथैव च परात्मनि॥
चैतन्यस्य समानत्वान्न भेदं कुरुते तु यः।
सर्वत्र वर्तमानानां सर्वरूपां च सर्वदा॥
नमते यजते चैवाऽप्याचाण्डालान्तमीश्वर।
न कुत्रापि द्रोहबुद्धिं कुरुते भेदवर्जनात्॥
मत्स्थानदर्शने श्रद्धा मद्भक्तदर्शने तथा।
मच्छास्त्रश्रवणे श्रद्धा मन्त्रतन्त्रादिषु प्रभो॥
मयि प्रेमाकुलमती रोमाञ्चिततनुः सदा।
प्रेमाश्रुजलपूर्णाक्षः कण्ठगद्गदनिस्वनः॥
अनन्येनैव भावेन पूजयेद्यो नगाधिप।
मामीश्वरीं जगद्योनिं सर्वकारणकारणम्॥
....
भक्तेस्तु या पराकाष्ठा सैव ज्ञानं प्रकीर्तितम्।
वैराग्यस्य च सीमा सा ज्ञाने तदुभयं यतः॥
....
घृतमिव पयसि निगूढं भूते भूते च वसति विज्ञानम्।
सततं मन्थयितव्यं मनसा मन्थानभूतेन॥"

श्रीदेवीभागवत के उपर्युद्धृत श्लोक-सन्दर्भ में भक्ति का यह उद्रेक श्रीमार्कण्डेय-पुराण के 'देवी-माहात्म्य' प्रकरण में देवी-भक्ति की भावना का ही विशद उपबृंहण है।

श्री मार्कण्डेयपुराण के सावर्णिक-मन्वन्तर से सम्बद्ध 'देवी-माहात्म्य' के प्रसंग में रक्तबीज-वध नामक ८८वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त॥

❋

एकोननवतितमोऽध्यायः

राजोवाच—

विचित्रमिदमाख्यातं भगवन् भवता मम।
देव्याश्चरितमाहात्म्यं रक्तबीजवधाश्रितम् ॥१॥
भूयश्चेच्छाम्यहं श्रोतुं रक्तबीजे निपातिते।
चकार शुम्भो यत्कर्म निशुम्भश्चातिकोपनः ॥२॥

ऋषिरुवाच—

चकार कोपमतुलं रक्तबीजे निपातिते।
शुम्भासुरो निशुम्भश्च हतेष्वन्येषु चाहवे ॥३॥
हन्यमानं महासैन्यं विलोक्यामर्षमुद्वहन्।
अभ्यधावन्निशुम्भोऽथ मुख्ययासुरसेनया ॥४॥
तस्याग्रतस्तथा पृष्ठे पार्श्वयोश्च महासुराः।
संदष्टौष्ठपुटाः क्रुद्धा हन्तुं देवीमुपाययुः ॥५॥
आजगाम महावीर्यः शुम्भोऽपि स्वबलैर्वृतः।
निहन्तुं चण्डिकां कोपात्कृत्वा युद्धं तु मातृभिः ॥६॥

राजा सुरथ ने कहा—

हे सुमेधा महर्षि ! आपने रक्तबीजवध से सम्बद्ध देवी के महनीय चरित का जो वर्णन किया है, वह वस्तुतः बड़ा विचित्र है ॥ १ ॥

अब, रक्तबीज के मारे जाने पर, अत्यन्त कोपाकुल दानवराज शुम्भ और उसके अनुज निशुम्भ ने जो कुछ किया, उसके विषय में सुनने की मेरी इच्छा है, (कृपया इस वृत्तान्त को भी सुनाइये) ॥ २ ॥

महर्षि सुमेधा बोले—

संग्राम में रक्तबीज तथा अन्य अनेकों महासुरों के मारे जानेपर असुरराज शुम्भ और निशुम्भ—दोनों बहुत क्रुद्ध हो उठे ॥ ३ ॥

असुरों की विशाल वाहिनी को मौत के घाट उतारने का दृश्य देखकर अत्यधिक क्रुद्ध निशुम्भ अपनी चुनी हुई असुरसेनाओं के साथ देवी की ओर दौड़ पड़ा ॥ ४ ॥

निशुम्भ के आगे, पीछे और बायीं तथा दाहिनी ओर एकत्र महादानव क्रोध में तमतमाये, दाँतों से ओठ चबाते, देवी को मारने के लिए, उनके पास पहुँच गये ॥ ५ ॥

महाबलवीर्यशाली शुम्भ भी, अपने सैन्यबल के साथ, मातृगण से युद्ध करके, क्रोधाविष्ट हो चण्डिका को मारने आ पहुँचा ॥ ६ ॥

ततो युद्धमतीवासीद्देव्या शुम्भनिशुम्भयोः ।
शरवर्षमतीवोग्रं मेघयोरिव वर्षतोः ॥७॥
चिच्छेदास्ताञ्छरांस्ताभ्यां चण्डिका स्वशरोत्करैः ।
ताडयामास चाङ्गेषु शस्त्रौघैरसुरेश्वरौ ॥८॥
निशुम्भो निशितं खड्गं चर्म चादाय सुप्रभम् ।
अताडयन्मूर्ध्नि सिंहं देव्या वाहनमुत्तमम् ॥९॥
ताडिते वाहने देवी क्षुरप्रेणासिमुत्तमम् ।
निशुम्भस्याशु चिच्छेद चर्म चाप्यष्टचन्द्रकम् ॥१०॥
छिन्ने चर्मणि खड्गे च शक्तिं चिक्षेप सोऽसुरः ।
तामप्यस्य द्विधा चक्रे चक्रेणाभिमुखागताम् ॥११॥
कोपाध्मातो निशुम्भोऽथ शूलं जग्राह दानवः ।
आयातं मुष्टिपातेन देवी तच्चाप्यचूर्णयत् ॥१२॥

फिर क्या था ! एक ओर चण्डिका और दूसरी ओर से शुम्भ तथा निशुम्भ में भयङ्कर युद्ध छिड़ गया और दोनों ओर से एक-दूसरे पर ऐसी बाणवर्षा होने लगी, जैसे दो दिशाओं से उमड़ते-घुमड़ते मेघखण्ड मानों एक दूसरे पर जल वर्षा कर रहे हों ॥ ७ ॥

चण्डिका देवी उन महासुरों के द्वारा चलाये गये बाणों को अपने बाणवर्षण से काटने लगीं और अपने अन्य शूल-शक्ति प्रभृति आयुधों से उन असुरराजों के अङ्ग-प्रत्यङ्ग पर चोट पहुँचाने लगीं ॥ ८ ॥

इसी बीच निशुम्भ ने अपनी चमचमाती तेजधारवाली तलवार और चमकती ढाल से देवीवाहन महासिंह के मस्तक पर आघात किया ॥ ९ ॥

जब देवीवाहन सिंह के मस्तक पर चोट लगी, तब देवी चण्डिका ने अपने बाण-विशेष से; निशुम्भ के महाखड्ग और आठ चन्द्रमा के चिह्नों से चिह्नित सुन्दर ढाल को क्षणभर में टुकड़े-टुकड़े कर दिया ॥ १० ॥

जब ढाल के दो टुकड़े हो गये और तलवार भी कट गयी, तब असुरराज निशुम्भ ने देवी पर शक्ति-अस्त्र से प्रहार किया, जिसे अपने सामने आते देखते ही देवी ने अपने चक्र से दो टुकड़ों में काट दिया ॥ ११ ॥

उसके बाद अत्यधिक क्रोधाविष्ट महादानव निशुम्भ ने देवी पर चलाने के लिए अपना त्रिशूल उठाया; किन्तु जैसे ही उसने वह त्रिशूल देवी की ओर फेंका, वैसे ही देवी ने उसे अपनी मुष्टि के आघात से चूर-चूर कर दिया ॥ १२ ॥

अथादाय गदां सोऽपि चिक्षेप चण्डिकां प्रति ।
सापि देव्या त्रिशूलेन भिन्ना भस्मत्वमागता ॥१३॥
ततः परशुहस्तं तमायान्तं दैत्यपुङ्गवम् ।
आहत्य देवी बाणौघैरपातयत भूतले ॥१४॥
तस्मिन्निपतिते भूमौ निशुम्भे भीमविक्रमे ।
भ्रातर्यतीव संक्रुद्धः प्रययौ हन्तुमम्बिकाम् ॥१५॥
स रथस्थस्तथात्युच्चैर्गृहीतपरमायुधैः ।
भुजैरष्टाभिरतुलैर्व्याप्याशेषं बभौ नभः ॥१६॥
तमायान्तं समालोक्य देवी शङ्खमवादयत् ।
ज्याशब्दं चापि धनुषश्चकारातीव दुःसहम् ॥१७॥
पूरयामास ककुभो निजघण्टास्वनेन च ।
समस्तदैत्यसैन्यानां तेजोवधविधायिना ॥१८॥
ततः सिंहो महानादैस्त्याजितेभमहामदैः ।
पूरयामास गगनं गां तथैव दिशो दश ॥१९॥

तब उसने अपनी गदा ली और घुमा कर चण्डिका पर चलायी; किन्तु वह गदा भी देवी के त्रिशूल से टूटकर, जलकर उसकी ज्वाला में राख हो गयी ॥ १३ ॥

वह दैत्यराज हाथ में फरसा लिए देवी की ओर लपका ही था कि देवी ने अपने बाणों से उसे मार-मार कर जमीन पर गिरा दिया ॥ १४ ॥

भयङ्कर पराक्रमवाले अपने अनुज निशुम्भ के भूमिपर गिरते ही, अत्यन्त क्रोध से भरा शुम्भ अम्बिका देवी को मारने के लिए आ पहुँचा ॥ १५ ॥

उस समय शुम्भ का रूप देखने योग्य था। वह बहुत ऊँचे रथ पर आसीन भयङ्कर आयुधों के साथ युद्ध के लिए सन्नद्ध तथा अपनी अलौकिक आठ भुजाओं से समस्त व्योममण्डल को मानों मुट्ठी में पकड़े हुए था ॥ १६ ॥

अम्बिका देवी ने जब उसे अपनी ओर बढ़ते देखा, तब उन्होंने अपना शङ्ख फूंका और अपनी धनुष की प्रत्यञ्चा से ऐसी टङ्कार निकाली, जो प्राणिमात्र के लिए असह्य थी ॥ १७ ॥

साथ ही साथ उन्होंने अपने घण्टे की घनघनाहट से दिग्-दिगन्त को प्रतिध्वनित कर दिया, जिससे समस्त दैत्यसैन्य का तेज नाश में मिल गया ॥ १८ ॥

उसके बाद देवीवाहन सिंह ने गजराजों के महामद को नष्ट करनेवाली अपनी भीषण गर्जनाओं से क्या गगनमण्डल, क्या भूमण्डल और क्या दिङ्मण्डल—सब को भर दिया ॥ १९ ॥

ततः काली समुत्पत्य गगनं क्ष्मामताडयत् ।
कराभ्यां तन्निनादेन प्राक्स्वनास्ते तिरोहिताः ॥२०।
अट्टाट्टहासमशिवं शिवदूती चकार ह ।
तैः शब्दैरसुरास्त्रेसुः शुम्भः कोपं परं ययौ ॥२१।
दुरात्मंस्तिष्ठ तिष्ठेति व्याजहाराम्बिका यदा ।
तदा जयेत्यभिहितं देवैराकाशसंस्थितैः ॥२२।
शुम्भेनागत्य या शक्तिर्मुक्ता ज्वालातिभीषणा ।
आयान्ती वह्निकूटाभा सा निरस्ता महोल्कया ॥२३।
सिंहनादेन शुम्भस्य व्याप्तं लोकत्रयान्तरम् ।
निर्घातनिःस्वनो घोरो जितवानवनीपते ॥२४।
शुम्भमुक्ताञ्छरान्देवी शुम्भस्तत्प्रहिताञ्छरान् ।
चिच्छेद स्वशरैरुग्रैः शतशोऽथ सहस्रशः ॥२५।

तब काली चामुण्डा आकाश में उछल पड़ी और अपनी दोनों हथेलियों से उसने पृथिवी पर ऐसी चोट की कि उसकी भीषण ध्वनि में शङ्खनाद, धनुषटङ्कार और सिंह-गर्जना की पहली ध्वनियां छिप गयीं ॥ २० ॥

यह सब देखकर चण्डिका को देह से आविर्भूत शिवदूती ने ऐसा लोकदारुण अट्टहास किया कि उसकी ध्वनियों से असुरदल व्याकुल हो उठा और शुम्भ अत्यधिक क्रोध के आवेश में आ गया ॥ २१ ॥

शुम्भ को क्रुद्ध देखकर जैसे ही अम्बिका देवी ने उससे कहा—'अरे दुष्ट ! ठहर जा, जहाँ है, वहीं ठहर जा', वैसे ही आकाश में विराजमान देवगण बोल पड़े 'जय जगदम्बे ! नाश कर दो असुरों का' ॥ २२ ॥

शुम्भ ने देवी के सामने आते ही, अग्नि की लपटें उगलती जो भीषण शक्ति उन-पर चला कर फेंकी, उस आग की ढेर-सी ज्वालावाली शक्ति को देवी ने एक जलती लकड़ी से इधर-उधर हटा दी ॥ २३ ॥

महाराज ! तब शुम्भ ने ऐसा कण्ठ-गर्जन किया, जो तीनों लोकों में व्याप्त हो गया; किन्तु अकस्मात् मेघरहित आकाश से विद्युज्ज्वाला के साथ जो भयङ्कर गड़गड़ाहट हुई, जिसने देवशत्रुओं पर विपत्ति के उत्पात की सूचना दी, उसने शुम्भ के सिंहनाद को दबा दिया ॥ २४ ॥

शुम्भ ने सैकड़ों नहीं सहस्रों बाण चलाये; किन्तु देवी ने भी अपने सैकड़ों क्यों, सहस्रों बाणों से शुम्भ के बाणों के टुकड़े-टुकड़े कर दिए ॥ २५ ॥

ततः सा चण्डिका क्रुद्धा शूलेनाभिजघान तम् ।
स तदाभिहतो भूमौ मूर्च्छितो निपपात ह ।।२६।
ततो निशुम्भः सम्प्राप्य चेतनामात्तकार्मुकः ।
आजघान शरैर्देवीं कालीं केसरिणं तथा ।।२७।
पुनश्च कृत्वा बाहूनामयुतं दनुजेश्वरः ।
चक्रायुधेन दितिजश्छादयामास चण्डिकाम् ।।२८।
ततो भगवती क्रुद्धा दुर्गा दुर्गार्तिनाशिनी ।
चिच्छेद तानि चक्राणि स्वशरैः सायकांश्च तान् ।।२९।
ततो निशुम्भो वेगेन गदामादाय चण्डिकाम् ।
अभ्यधावत वै हन्तुं दैत्यसेनासमावृतः ।।३०।
तस्यापतत एवाशु गदां चिच्छेद चण्डिका ।
खड्गेन शितधारेण स च शूलं समाददे ।।३१।
शूलहस्तं समायान्तं निशुम्भममरार्दनम् ।
हृदि विव्याध शूलेन वेगाविद्धेन चण्डिका ।।३२।

उसके बाद चण्डिका पर क्रोध चढ़ गया और उस देवी ने अपने त्रिशूल से शुम्भ पर आघात किया। त्रिशूल से आहत होकर शुम्भ मूर्छित हो गया और नीचे गिर पड़ा ।। २६ ।।

शुम्भ के मूर्च्छित हो जाने पर, निशुम्भ, जो पहले अचेत पड़ा था, सचेत हो उठा और उसने अपने धनुष से बाण चला-चला कर देवी चण्डिका, देवी चामुण्डा और सिंह तीनों को आहत कर दिया ।। २७ ।।

साथ ही साथ, दानवेश्वर महादैत्य निशुम्भ ने, मायावी होने के कारण, अपनी दस हजार भुजाओं से दस हजार चक्रास्त्र चलाए और देवी चण्डिका पर चारों ओर से चोट पहुँचायी ।। २८ ।।

निशुम्भ की नीचता से क्रुद्ध, जगत् के विकट सङ्कटों को काटनेवाली दुर्गा देवी ने अपने बाणों से निशुम्भ के चक्रों को छिन्न-भिन्न कर दिया और उसके बाणों के भी टुकड़े-टुकड़े उड़ा दिए ।। २९ ।।

उसके बाद निशुम्भ अपनी समस्त दानवी सेनाओं के साथ, गदा घुमाते हुए, देवी चण्डिका को मारने के लिए दौड़ पड़ा ।। ३० ।।

जैसे ही वह दौड़ा. वैसे ही चण्डिका देवी ने अपनी दुधारी तलवार से उसकी गदा काट दी; किन्तु गदा कट जाने पर उसने त्रिशूल उठा लिया ।। ३१ ।।

हाथ में त्रिशूल लिए देवशत्रु निशुम्भ को अपनी ओर आते देखते ही चण्डिका देवी ने वेग से चलाए अपने त्रिशूल से उसका वक्षःस्थल छेद दिया ।। ३२ ।।

भिन्नस्य तस्य शूलेन हृदयान्निःसृतोऽपरः ।
महाबलो महावीर्यस्तिष्ठेति पुरुषो वदन् ॥३३॥
तस्य निष्क्रामतो देवी प्रहस्य स्वनवत्ततः ।
शिरश्चिच्छेद खड्गेन ततोऽसावपतद् भुवि ॥३४॥
ततः सिंहश्चखादोग्रं दंष्ट्राक्षुण्णशिरोधरान् ।
असुरांस्तांस्तथा काली शिवदूती तथापरान् ॥३५॥
कौमारीशक्तिनिर्भिन्नाः केचिन्नेशुर्महासुराः ।
ब्रह्माणीमन्त्रपूतेन तोयेनान्ये निराकृताः ॥३६॥
माहेश्वरीत्रिशूलेन भिन्नाः पेतुस्तथापरे ।
वाराहीतुण्डघातेन केचिच्चूर्णीकृता भुवि ॥३७॥
खण्डं खण्डं च चक्रेण वैष्णव्या दानवाः कृताः ।
वज्रेण चैन्द्रीहस्ताग्रविमुक्तेन तथापरे ॥३८॥

देवी के त्रिशूल से जब उसका वक्षःस्थल फट गया, तब उसी फटे वक्षःस्थल से एक दूसरे महाबली और महावीर्यशाली निशुम्भ का आविर्भाव हो गया, जो कि देवी को 'ठहर जा, ठहर जा' कहते ललकारने लगा ॥ ३३ ॥

किन्तु जैसे ही उस निशुम्भावतार ने देवी को ललकारा, वैसे ही देवी ठठाकर हँसने लगीं और उन्होंने अपनी तलवार से उसका सिर काट डाला, जिसके बाद वह मरकर नीचे गिर पड़ा ॥ ३४ ॥

निशुम्भ के मारे जाने के बाद, देवीवाहन सिंह अपनी भयङ्कर दाढ़ों से असुर-सैनिकों की गर्दनें तोड़-तोड़ कर खाने लगा और जो असुरसैनिक बचे थे, वे चामुण्डा के आहार बन गए तथा उनके बाद भी जो जीवित रहे, उन्हें शिवदूती ने चबा लिया ॥ ३५ ॥

कुछ महासुर तो कौमारी शक्ति की मार से मारे गये और कुछ को ब्राह्मी शक्ति ने अपने मन्त्रपूत कमण्डलु-जल के छिड़काव से नष्ट कर दिया ॥ ३६ ॥

इसी प्रकार कुछ और महादानव माहेश्वरी शक्ति के द्वारा चलाए गये त्रिशूल से विद्ध होकर गिर गये और कुछ को वाराही शक्ति ने अपने प्रचण्ड तुण्ड के प्रहार से चूर-चूर कर नीचे गिरा दिया ॥ ३७ ॥

वैष्णवी शक्ति ने भी अपने चक्रायुध से कुछ दानवों के टुकड़े-टुकड़े कर दिए और कुछ को ऐन्द्री शक्ति ने अपने हाथ से वज्र चला-चला कर काट-पीट दिया ॥ ३८ ॥

केचिद्विनेशुरसुराः केचिन्नष्टा महाहवात् ।
भक्षिताश्चापरे कालीशिवदूतीमृगाधिपैः ॥३९॥

॥ इति श्रीमार्कण्डेयमहापुराणे सावर्णिके मन्वन्तरे देवीमाहात्म्ये
निशुम्भवधोनाम एकोननवतितमोऽध्यायः ॥

कुछ असुर उस महासंग्राम में मारे गये और कुछ भयभीत होकर भाग गये। जो बचे-खुचे रह गये, उन्हें चामुण्डा ने, चामुण्डा से आविर्भूत शिवदूती ने और देवी वाहन महासिंह ने खाकर समाप्त कर दिया ॥ ३९ ॥

※

पर्यालोचन

(क) इस अध्याय में अहंकार के विकार मन के असंख्य अशुभ संकल्पों के प्रतीक रक्तबीज के विनाश से क्रुद्ध राजस् अहंकार के महाप्रतीक निशुंभ के साथ सच्चिद्‌घ-नानन्द स्वात्मस्वरूपा देवी दुर्गा के युद्ध और निशुंभ के वध का वर्णन है। शुंभ तामस अहंकार का प्रतीक है और निशुंभ राजस अहंकार का। इन दोनों अहंकारों पर विजय प्राप्त कर लेने पर सात्त्विक अहंकार के 'मैं' के नाश में विशेष विलम्ब नहीं होता। इसीलिये राजस अहंकार के प्रतीक निशुंभ के वध के इस अध्याय की अपेक्षा तामस अहंकार के प्रतीक शुंभ के वध का अगला अध्याय कुछ छोटा है।

निशुंभ के वध में, देवी की ही विविध शक्तियाँ, जिन्हें अष्टमातृकायें कहते हैं, देवी की सहायक होकर युद्ध-भूमि में उतरती हैं। देवी स्वयं भी निशुंभ के संहार में समर्थ हैं, किन्तु अपने शक्तिवैभव के सत्यापन के लिए, एक के बाद एक, अपनी शक्तियों को निशुंभ से युद्ध करने के लिये प्रेरित और प्रोत्साहित करती है।

(ख) श्रीदेवीभागवत के पञ्चम स्कन्ध के २१ वें अध्याय के नीचे उद्धृत श्लोकों (९-५२) में शुंभ-निशुंभ का विस्तृत आख्यान आता है—

'शृणु राजन् कथां दिव्यां सर्वपापप्रणाशिनीम्।
देव्याश्चरितसंयुक्तां सर्वार्थफलदां शुभाम्॥
पुरा शुंभनिशुंभौ द्वावसुरौ भूमिमण्डले।
पातालतश्च संप्राप्तौ भ्रातरौ शुभदर्शनौ॥
तौ प्राप्तयौवनौ चैव चेरतुस्तप उत्तमम्।
अन्नोदकं परित्यज्य पुष्करे लोकपावने॥
वर्षाणामयुतं यावद् योगविद्यापरायणौ।
एकत्रैवासनं कृत्वा तेपाते परमं तपः॥
तयोस्तुष्टोऽभवद् ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः।
तत्रागतश्च भगवानारुह्य वरटापतिम्॥
तावुभौ च जगत्स्रष्टा दृष्ट्वा ध्यानपरौ स्थितौ।
उत्तिष्ठतं महाभागौ तुष्टोऽहं तपसा किल॥
वाञ्छितं वां वरं कामं ददामि ब्रुवतामिह।
कामदोऽहं समायातो दृष्ट्वा वां तपसो बलम्॥
इति श्रुत्वा वचस्तस्य प्रबुद्धौ तौ समाहितौ।
प्रदक्षिणक्रियां कृत्वा प्रणामं चक्रतुस्तदा॥
दण्डवत्प्रणिपातं च कृत्वा तौ दुर्बलाकृती।
ऊचतुर्मधुरां वाचं दीनौ गद्‌गदया गिरा॥
देवदेव दयासिंधो भक्तानामभयप्रद।
अमरत्वं च नौ ब्रह्मन् देहि तुष्टोऽसि चेद् विभो॥
मरणादपरं किञ्चिद् भयं नास्ति धरातले।
तस्माद् भयाच्च संत्रस्तौ युष्माकं शरणं गतौ॥

त्राहि त्वं देवदेवेश जगत्कर्तः क्षमानिधे।
परिस्फोटय विश्वात्मन् सद्यो मरणजं भयम्॥
किमिदं प्रार्थनीयं वो विपरीतं तु सर्वथा।
अदेयं सर्वथा सर्वैः सर्वेभ्यो भुवनत्रये॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
मर्यादा विहिता लोके पूर्वं विश्वकृता किल॥
मर्तव्यं सर्वथा सर्वैः प्राणिभिर्नात्र संशयः।
अन्यं प्रार्थयतं कामं ददामि यच्च वाञ्छितम्॥
तदाकर्ण्य वचस्तस्य सुविमृश्य च दानवौ।
ऊचतुः प्रणिपत्याथ ब्रह्माणं पुरतः स्थितम्॥
पुरुषैरमराद्यैश्च मानवैर्मृगपक्षिभिः।
अवध्यत्वं कृपासिन्धो देहि नौ वाञ्छितं वरम्॥
नारी बलवती कास्ति या नौ नाशं करिष्यति।
न बिभीवः स्त्रियः कामं त्रैलोक्ये सचराचरे॥
अवध्यौ भ्रातरौ स्यातां नरेभ्यः पङ्कजोद्भव।
भयं न स्त्रीजनेभ्यश्च स्वभावादबला हि सा॥
इति श्रुत्वा तयोर्वाक्यं प्रददौ वाञ्छितं वरम्।
ब्रह्मा प्रसन्नमनसा जगामाऽथ स्वमालयम्॥
गतेऽथ भवने तस्मिन् दानवौ स्वगृहं गतौ।
भृगुं पुरोहितं कृत्वा चक्रतुः पूजनं तदा॥
शुभे दिने सुनक्षत्रे जातरूपमयं शुभम्।
कृत्वा सिंहासनं दिव्यं राज्यार्थं प्रददौ मुनिः॥
शुम्भाय ज्येष्ठभूताय ददौ राज्यासनं शुभम्।
सेवनार्थं तदैवाशु संप्राप्ता दानवोत्तमाः॥
चण्डमुण्डौ महावीरौ भ्रातरौ बलदर्पितौ।
संप्राप्तौ सैन्यसंयुक्तौ रथ-वाजि-गजान्वितौ॥
धूम्रलोचननामा च तद्रूपश्चण्डविक्रमः।
शुम्भं च भूपतिं श्रुत्वा तदाऽगाद् बलसंयुतः॥
रक्तबीजस्तथा शूले वरदानबलाधिकः।
अक्षौहिणीभ्यां संयुक्तस्तत्रैवाऽगत्य सङ्गतः॥

....

कृतं युद्धं महत्तेन शुम्भेनाक्लिष्टकर्मणा।
निर्जितास्तु सुराः सर्वे सेन्द्राः पालाश्च सर्वशः॥

....

हृताधिकारास्ते सर्वे बभ्रमुर्विजने वने।
निरालम्बा निराधारा निस्तेजस्का निरायुधाः॥'

संक्षेप में इसका अभिप्राय यह है—शुंभ और निशुंभ नामक दो महाबली असुर थे। उन्होंने मृत्यु पर विजय पाने के लिये पुष्कर-क्षेत्र में घोर तपस्या की। उनकी तपस्या की शक्ति से प्रसन्न होकर ब्रह्मा उनके समक्ष प्रकट हुये और उन्हें अभीष्ट वर मांगने को कहा। दोनों ने ब्रह्मा से अमरत्व का वर मांगा। ब्रह्मा असमंजस में पड़ गये। उन्होंने उन दोनों से कहा कि जो जन्म लेता है, उसकी मृत्यु भी अवश्यंभाविनी है। इसलिये कोई दूसरा वर मांगो तो अवश्य दूँगा। दोनों ने तब मनुष्य-देव-पशु-पक्षी प्रभृति समस्त जीववर्ग से अवध्यता का वर मांगा। किसी नारी से उन्हें अपने वध की चिन्ता नहीं थी, क्योंकि नारी तो स्वभावतः अबला होती है। ब्रह्मा ने उन्हें वर दे दिया और ब्रह्मलोक में चले गये। शुम्भ-निशुम्भ पाताललोक में पहुँचे और महर्षि भृगु को पुरोहित के रूप में वरण कर यजन-पूजन के अनुष्ठान में लग गये। महर्षि भृगु ने स्वर्ण-सिंहासन बनवाया और शुंभ को, जो निशुभ का बड़ा भाई था, दैत्यलोक के साम्राज्य पर अभिषिक्त कर दिया। शुंभ के दैत्यराज के रूप में पाताललोक में घोषित होते ही चण्ड-मुण्ड, धूम्रलोचन तथा रक्तबीज प्रभृति महाबलशाली राक्षस अपने-अपने समस्त सैन्यबल के साथ शुंभ की सेवा में स्वयं नियुक्त हो गये। शुंभ ने अपने को अपराजेय मानकर देवलोक पर आक्रमण किया और देवेन्द्र, दिक्पाल प्रभृति समस्त देवगण पराजित होकर निस्तेज और निराश्रय हो गये।

(ग) देवों ने देवगुरु बृहस्पति से, दानवों के विनाश के लिये, कोई आभिचारिक कर्म करने का निवेदन किया। बृहस्पति ने देवों को हिमालय पर जाकर देवी की आराधना करने का आदेश दिया। बृहस्पति के आदेशानुसार देवगण हिमालय पर गये और एकाग्रहृदय होकर देवी की उपासना में लग गये। देवगण की आराधना से देवी प्रसन्न हुईं और उन्होंने उन्हें शुम्भ-निशुम्भ के वध का आश्वासन दिया। शुम्भ-निशुम्भ तो नारी को अबला मान चुके थे। उन्हें क्या पता था कि प्रबल पराक्रमी मानवों और देवों से अपराजेय वे नारी के द्वारा पराजित होंगे और मारे जायेंगे। आख्यान के वर्णन के बाद, श्रीदेवीभागवत के २२ वें अध्याय के निम्नाङ्कित श्लोकों (५१-५५) तथा २३ वें अध्याय के निम्नलिखित श्लोकों (१-४) में देवगण की आराधना और उससे प्रसन्न एवं संतुष्ट देवी के प्राकट्य का सुन्दर वर्णन आता है—

'देवि स्तुमस्त्वां विश्वेशि प्रणताः स्मः कृपार्णवे।
पाहि नः सर्वदुःखेभ्यः संविग्नान् दैत्यतापितान्॥
पुरा त्वया महादेवि निहत्यासुरकण्टकम्।
महिषं नो वरो दत्तः स्मर्तव्याऽहं सदाऽऽपदि॥
स्मरणाद् दैत्यजां पीडां नाशयिष्याम्यसंशयम्।
तेन त्वं संस्मृता देवि नूनमस्माभिरित्यपि॥
अद्य शुम्भनिशुम्भौ द्वावसुरौ घोरदर्शनौ।
उत्पन्नौ विघ्नकर्तारावहन्यौ पुरुषैः किल॥
रक्तबीजश्च बलवान् चण्डमुण्डौ तथाऽसुरौ।
एतैरन्यैश्च देवानां हृतं राज्यं महाबलैः॥

गतिरन्या न चास्माकं त्वमेवाऽसि महाबले।
कुरु कार्यं सुराणां वै दुःखितानां सुमध्यमे ॥'
'एवं स्तुता तदा देवी दैवतैः शत्रुतापितैः।
स्वशरीरात् परं रूपं प्रादुर्भूतं चकार ह॥
पार्वत्यास्तु शरीराद्वै निःसृता चण्डिका यदा।
कौशिकीति समस्तेषु ततो लोकेषु पठ्यते॥
निःसृतायां तु तस्यां सा पार्वती तनुव्यत्ययात्।
कृष्णरूपाऽथ संजाता कालिका सा प्रकीर्तिता॥
मषीवर्णा महाघोरा दैत्यायां भयवर्धिनी।
कालरात्रीति सा प्रोक्ता सर्वकामफलप्रदा॥'

अर्थात् हे देवि ! जैसे पहले आपने हम देवों के भयङ्कर शत्रु महिषासुर का वध किया, वैसे ही अब शुम्भ और निशुम्भ का भी वध करने की कृपा करें, क्योंकि ये दोनों दानव देवकार्य में विघ्नबाधा डालने वाले हैं और इतने पराक्रमी हैं कि उन्हें पराजित करना हमारे लिये नितान्त असम्भव है। देवों की दीनता से द्रवितहृदय देवी ने अपने शरीर से चण्डिका शक्ति को प्रकट किया। यह चण्डिका दैत्यगण की कालरात्रि सी अवतरित हुई और उसने दैत्य-विनाश का दुष्कर कार्य सम्पन्न कर दिखाया।

(घ) मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय के 'निशुम्भो निशितं खड्गं चर्म चादाय सुप्रभम्' इत्यादि ९ वें श्लोक से 'केचिद् विनेशुरसुराः केचिन्नष्टा महाहवात्' इत्यादि अन्तिम ३९ वें श्लोक तक निशुम्भ और देवी के युद्ध का जो संक्षिप्त वर्णन है, वह श्री देवीभागवत में बढ़ा-चढ़ा कर वर्णित हुआ है। देखिये श्री देवीभागवत के पञ्चम स्कन्ध के ३० वें अध्याय के कतिपय श्लोक (११-४०)—

'इत्युक्त्वा कालिकां चण्डो कर्णाकृष्टशरोत्करैः।
छादयामास तरसा निशुंभं पुरतः स्थितम्॥
दानवोऽपि शरांस्तस्याश्चिच्छेद निशितैः शरैः।
तयोः परस्परं युद्धं बभूवातिभयानकम्॥
केशरी केशजालानि धुन्वानः सैन्यसागरम्।
गाहयामास बलवान् सरसीं वारणो यथा॥
नखैर्दन्तप्रहारैस्तु दानवान् पुरतः स्थितान्।
चखाद च विशोणाङ्गान् गजानिव मदोत्कटान्॥
एवं विमथ्यमाने तु सैन्ये केसरिणा तदा।
अभ्यधावन्निशुम्भोऽथ विकृष्टवरकार्मुकः॥
अन्येऽपि क्रुद्धा दैत्येन्द्रा देवीं हन्तुमुपाययुः।
सन्दष्टदन्तरमना रक्तनेत्रा ह्यनेकशः॥
....

तं तथा दानवं देवी स्मितपूर्वमिदं वचः ।
बभाषे शृण्वतां तेषां दैत्यानां रणमस्तके ॥
गच्छध्वं पामरा यूयं पातालं वा जलार्णवम् ।
जीविताशां स्थिरां कृत्वा त्यक्त्वाऽत्रैवायुधानि च ॥

....

इत्याकर्ण्य वचस्तस्या निशुम्भो मदगर्वितः ।
निशितं खड्गमादाय चर्म चैवाष्टचन्द्रकम् ॥
धावमानस्तु तरसाऽसिना सिंहं मदोत्कटम् ।
जघानाऽतिबलान्मूर्ध्नि भ्रामयन् जगदम्बिकाम् ॥

....

साऽपि तं कुपिताऽतीव निशुम्भं पुरतः स्थितम् ।
प्रहरन्तं समीक्ष्याथ देवी वचनमब्रवीत् ॥
तिष्ठ मन्दमते तावद् यावद् खड्गमिदं तत्र ।
ग्रीवायां प्रेरयाम्यस्माद् गन्तासि यमसादनम् ॥
इत्युक्त्वा तरसा देवी कृपाणेन समाहिता ।
चिच्छेद मस्तकं तस्य निशुम्भस्याथ चण्डिका ॥
स च्छिन्नमस्तको देव्या कबन्धोऽतीव दारुणः ।
बभ्राम च गदापाणिस्त्रासयन् देवतागणान् ॥
देवी तस्य शितैर्बाणैश्चिच्छेद चरणौ करौ ।
पपातोर्व्यां ततः पापी गतासुः पर्वतोपमः ॥
तस्मिन्निपतिते दैत्ये निशुम्भे भीमविक्रमे ।
हाहाकारो महानासीत् तत्सैन्ये भयकम्पिते ॥'

श्री देवीभागवत के ऊपर उद्धृत श्लोकों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्री देवीभागवत के रचयिता ने मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय के शब्दों और अर्थों को आत्मसात् कर लिया है। जहाँ-तहाँ मार्कण्डेयपुराण के ही पद कुछ भेद के साथ प्रयुक्त हुए हैं। जैसे कि 'संदष्टौष्ठपुटाः क्रुद्धा हन्तुं देवीमुपाययुः' (श्लोक ५) में 'संदष्टौष्ठपुटाः' पद में जो गाढ़बन्धता अथवा ओज है, वह श्री देवीभागवत के 'संदष्टदन्तरसनाः' आदि (श्लोक १६) में प्रयुक्त पद में नहीं है। इसी प्रकार पदों के आरोह और अवरोह के क्रम का जैसा सौन्दर्य, जिसे काव्याचार्य वामन ने 'समाधि' गुण की संज्ञा दी है, मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय के ३९ श्लोकों में दिखायी देता है, वैसा श्री देवीभागवत के शताधिक श्लोकों में कहाँ ?

॥ श्री मार्कण्डेयपुराण के सावर्णिक-मन्वन्तर-वर्णन से सम्बद्ध देवी-माहात्म्य निरूपण के प्रसंग में 'निशुम्भ-वध' नामक ८९वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त ॥

*

नवतितमोऽध्यायः

ऋषिरुवाच—

निशुम्भं निहतं दृष्ट्वा भ्रातरं प्राणसम्मितम् ।
हन्यमानं बलं चैव शुम्भः क्रुद्धोऽब्रवीद्वचः ।।१।
बलावलेपाद् दुष्टे त्वं मा दुर्गे गर्वमावह ।
अन्यासां बलमाश्रित्य युध्यसे यातिमानिनी ।।२।

श्रीदेव्युवाच—

एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा ।
पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः ।।३।

ऋषिरुवाच—

ततः समस्तास्ता देव्यो ब्रह्माणीप्रमुखा लयम् ।
तस्या देव्यास्तनौ जग्मुरेकैवासीत्तदाम्बिका ।।४।

ऋषि सुमेधा ने कहा—

अपने प्राणप्रिय अनुज निशुम्भ को चण्डिका द्वारा मारा गया देखकर और आसुरी सेना को मार खाते जानकर दानवराज शुम्भ क्रोध में आ गया और देवी से बोल पड़ा ॥ १ ॥

अरी दुष्ट दुर्गे ! अपने बलवीर्य के कारण इतना अहङ्कार मत कर। तुम तो दूसरों के बल का सहारा लेकर लड़ रही हो और अपने बलपर अभिमान कर रही हो ॥ २ ॥

देवी की उक्ति—

अरे नीच ! इस त्रैलोक्य में एकमात्र मैं ही हूँ, मुझसे अतिरिक्त और कोई नहीं। देख ले, मेरी सारी विभूतियाँ मुझमें अन्तर्निविष्ट हो गयीं हैं ॥ ३ ॥

ऋषि सुमेधा आगे बोले—

देवी के ऐसा कहते ही ब्राह्मी प्रभृति आठों शक्तियाँ देवी के शरीर में प्रविष्ट हो गयीं और देवी अम्बिका एकाकी रह गयीं ॥ ४ ॥

श्रीदेव्युवाच—

अहं विभूत्या बहुभिरिह रूपैर्यदास्थिता ।
तत्संहृतं मयैकैव तिष्ठाम्याजौ स्थिरो भव ॥५।

ऋषिरुवाच—

ततः प्रववृते युद्धं देव्याः शुम्भस्य चोभयोः ।
पश्यतां सर्वदेवानामसुराणां च दारुणम् ॥६।
शरवर्षैः शितैः शस्त्रैस्तथा चास्त्रैः सुदारुणैः ।
तयोर्युद्धमभूद् भूयः सर्वलोकभयङ्करम् ॥७।
दिव्यान्यस्त्राणि शतशो मुमुचे यान्यथाम्बिका ।
बभञ्ज तानि दैत्येन्द्रस्तत्प्रतीघातकर्तृभिः ॥८।
मुक्तानि तेन चास्त्राणि दिव्यानि परमेश्वरी ।
बभञ्ज लीलयैवोग्रहुङ्कारोच्चारणादिभिः ॥९।
ततः शरशतैर्देवीमाच्छादयत सोऽसुरः ।
सा च तत्कुपिता देवी धनुश्चिच्छेद चेषुभिः ॥१०।

देवी की उक्ति—

दानवराज ! अब तक मैं रणस्थल में अपनी विभूति से आविर्भूत अनेक रूपों में तुम्हारे समक्ष उपस्थित रही। मैंने अब अपनी शक्तियाँ अपने में समेट ली हैं और मैं अकेली खड़ी हूँ। अब क्यों घबड़ाते हो ? ॥ ५ ॥

ऋषि सुधेधा बोले—

उसके बाद, समस्त देवगण और दानववृन्द के समक्ष देवी और शुम्भ—दोनों में परस्पर दारुण युद्ध प्रारम्भ हो गया ॥ ६ ॥

इन दोनों का युद्ध, जिसमें तीक्ष्ण बाणों की वर्षा की जा रही थी और अत्यन्त दारुण अस्त्र और शस्त्र चलाए जा रहे थे, ऐसा था, जिससे तीनों लोकों में भय व्याप्त हो गया ॥ ७ ॥

अम्बिका देवी ने शुम्भ पर जो सैकड़ों दिव्यास्त्र चलाए, उन्हें दैत्यराज शुम्भ उनके प्रतिरोधक अस्त्रों से नष्ट करने लगा ॥ ८ ॥

इसी प्रकार शुम्भ ने अम्बिका देवी पर जिन दिव्यास्त्रों से प्रहार प्रारम्भ किया, उन्हें देवी ने अनायास अपने भयङ्कर हुंकार मात्र से नष्ट कर दिया ॥ ९ ॥

इसके बाद असुरराज शुम्भ ने देवी पर सैकड़ों बाण चलाए; किन्तु क्रोध में आयी देवी ने अपने बाणों से उसका धनुष तोड़ दिया ॥ १० ॥

छिन्ने धनुषि दैत्येन्द्रस्तथा शक्तिमथाददे ।
चिच्छेद देवी चक्रेण तामप्यस्य करे स्थिताम् ॥११।

ततः खड्गमुपादाय शतचन्द्रं च भानुमत् ।
अभ्यधावत्तदा देवीं दैत्यानामधिपेश्वरः ॥१२।

तस्यापतत एवाशु खड्गं चिच्छेद चण्डिका ।
धनुर्मुक्तैः शितैर्बाणैश्चर्म चार्ककरामलम् ॥१३।

अश्वांश्च पातयामास रथं सारथिना सह ।
हताश्वः स तदा दैत्यश्छिन्नधन्वा विसारथिः ।
जग्राह मुद्गरं घोरमम्बिकानिधनोद्यतः ॥१४।

चिच्छेदापततस्तस्य मुद्गरं निशितैः शरैः ।
तथापि सोऽभ्यधावत्तां मुष्टिमुद्यम्य वेगवान् ॥१५।

स मुष्टिं पातयामास हृदये दैत्यपुङ्गवः ।
देव्यास्तं चापि सा देवी तलेनोरस्यताडयत् ॥१६।

जब शुम्भ का धनुष टूट गया, तब उसने अपने हाथ में शक्ति-अस्त्र पकड़ा; किन्तु ऐसा देखते ही देवी ने अपने चक्र से उसके हाथ में ही पकड़े शक्ति-अस्त्र के टुकड़े-टुकड़े उड़ा दिए ॥ ११ ॥

उसके बाद दैत्याधिराज शुम्भ ने अपनी चमचमाती तलवार निकाली और सैकड़ों चन्द्रबिम्बों से चिह्नित ढाल पकड़कर वह देवी को मारने दौड़ पड़ा ॥ १२ ॥

देवी चण्डिका ने, जैसे ही उसे अपनी ओर लपकते देखा, वैसे ही, उन्होंने अपने धनुष से छोड़े गए तीक्ष्ण बाणों से उसकी सूर्यकिरण-सी चमकती तलवार और वैसी ही चमकती ढाल—दोनों के टुकड़े-टुकड़े उड़ा दिए ॥ १३ ॥

इतना ही नहीं, उन्होंने उसके रथ के घोड़ों और सारथी के साथ रथ, सबको नष्ट कर दिया। उसके बाद भी वह दानव, जिसके रथ में जुते घोड़े मर चुके थे, जिसका धनुष टुकड़े-टुकड़े हो गया था और जिसका सारथी मारा जा चुका था, अम्बिका देवी को मारने के लिए उद्यत हुआ और हाथ में एक भयङ्कर मुद्गर ले लिया ॥ १४ ॥

मुद्गर उठाए जैसे ही वह दैत्य आगे बढ़ा, अम्बिका देवी ने अपने तीक्ष्ण बाणों से उसका मुद्गर दो टुकड़े कर दिया। तब भी वह मुक्के से उन्हें मारने बड़े वेग से उनकी ओर बढ़ा ॥ १५ ॥

और उस महादानव ने देवी के हृदय पर मुष्टिका प्रहार कर दिया; किन्तु देवी ने भी अपने एक करारे थप्पड़ से उसके वक्षःस्थल पर चोट किया ॥ १६ ॥

तलप्रहाराभिहतो निपपात महीतले ।
स दैत्यराजः सहसा पुनरेव तथोत्थितः ॥१७॥
उत्पत्य च प्रगृह्योच्चैर्देवीं गगनमास्थितः ।
तत्रापि सा निराधारा युयुधे तेन चण्डिका ॥१८॥
नियुद्धं खे तदा दैत्यश्चण्डिका च परस्परम् ।
चक्रतुः प्रथमं सिद्धमुनिविस्मयकारकम् ॥१९॥
ततो नियुद्धं सुचिरं कृत्वा तेनाम्बिका सह ।
उत्पात्य भ्रामयामास चिक्षेप धरणीतले ॥२०॥
स क्षिप्तो धरणीं प्राप्य मुष्टिमुद्यम्य वेगितः ।
अभ्यधावत दुष्टात्मा चण्डिकानिधनेच्छया ॥२१॥
तमायान्तं ततो देवी सर्वदैत्यजनेश्वरम् ।
जगत्यां पातयामास भित्त्वा शूलेन वक्षसि ॥२२॥

देवी के थप्पड़ की मार से वह दैत्यराज पृथिवी पर गिर कर लोटने लगा; किन्तु सहसा, मानों कुछ हुआ न हो, वह उठकर खड़ा भी हो गया ॥ १७ ॥

उठते ही वह, देवी को पकड़कर, बहुत ऊपर उछल पड़ा और आकाश में जाकर खड़ा हो गया; किन्तु वहाँ भी, चण्डिका देवी, अकेले दुष्ट का दमन कर दूँगी—यह निश्चय कर उससे युद्ध करने लगी ॥ १८ ॥

आकाश में पहुँच जाने पर, वह दैत्य और देवी चण्डिका—दोनों एक दूसरे के साथ ऐसे बाहुयुद्ध में भिड़ गये, जिसे देख-देखकर गगनचारी सिद्धगण तथा मुनिजन विस्मय से स्तब्ध हो गए ॥ १९ ॥

अम्बिका देवी ने उस दैत्यराज से बहुत देर तक बाहुयुद्ध किया और अन्त में उसे ऊपर उछाल कर उसकी एक टाँग पकड़ी और उसे घुमा-घुमाकर पटक दिया ॥ २० ॥

देवी के द्वारा घुमा-घुमाकर पटके गए उस दुरात्मा दैत्यराज ने जैसे ही पृथिवी पकड़ी, वैसे ही उसने मुक्का तान कर, चण्डिका देवी को मार डालने के लिए, बड़े वेग के साथ, उन पर आक्रमण किया ॥ २१ ॥

समस्त दैत्य जगत् के अधिपति उस शुम्भ को अपनी ओर बढ़ते देखते ही देवी ने उसकी छाती में अपना त्रिशूल गड़ा दिया और उसे मार कर जमीन पर नीचे फेंक दिया ॥ २२ ॥

स गतासुः पपातोर्व्यां देवीशूलाग्रविक्षतः ।
चालयन् सकलां पृथ्वीं साब्धिद्वीपां सपर्वताम् ॥२३॥
ततः प्रसन्नमखिलं हते तस्मिन् दुरात्मनि ।
जगत्स्वास्थ्यमतीवाप निर्मलं चाभवन्नभः ॥२४॥
उत्पातमेघाः सोल्का ये प्रागासंस्ते शमं ययुः ।
सरितो मार्गवाहिन्यस्तथासंस्तत्र पातिते ॥२५॥
ततो देवगणाः सर्वे हर्षनिर्भरमानसाः ।
बभूवुर्निहते तस्मिन् गन्धर्वा ललितं जगुः ॥२६॥
अवादयंस्तथैवान्ये ननृतुश्चाप्सरोगणाः ।
ववुः पुण्यास्तथा वाताः सुप्रभोऽभूद्दिवाकरः ॥२७॥
जज्वलुश्चाग्नयः शान्ताः शान्ता दिग्जनितस्वनाः ।

॥ इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे सार्वणिके मन्वन्तरे देवीमाहात्म्ये
शुम्भवधोनाम नवतितमोऽध्यायः ॥

देवी के त्रिशूल के अग्रभाग से छिदा वह दैत्य निष्प्राण होकर नीचे गिर पड़ा; किन्तु नीचे गिरते-गिरते भी, उसने समुद्रों, द्वीपों और पर्वतों से भरी समस्त पृथिवी को कंपा दिया ॥ २३ ॥

उस दुरात्मा दानवराज के मारे जाने पर समस्त जगत् में प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी, जगत् में व्याकुल जीव शान्त हो गये और व्योममण्डल में भी निर्मलता की छटा छा गयी ॥ २४ ॥

शुम्भ की मृत्यु के पहले, उत्पातसूचक उल्कापुञ्जवाले जो मेघ मड़राये थे, वे भी उसके मारे जाने पर छिन्न-भिन्न हो गए और नदियाँ अपनी तट-सीमा में प्रवाहित होने लगीं ॥ २५ ॥

शुम्भ की मृत्यु से समस्त देवगण के हृदय आनन्दोल्लास से भर गये और देवलोक के गायक गन्धर्ववृन्द मधुर स्वर में देवी के पराक्रम के गान गाने लगे ॥ २६ ॥

साथ ही साथ, देवगणों में से ही कुछ देवों ने मृदङ्ग प्रभृति वाद्य वजाना प्रारम्भ किया । देवाङ्गनाएँ नृत्य करने लगीं । शीतल, मन्द, सुगन्ध भरी वायु बहने लगी और सूर्य की किरणें देदीप्यमान हो उठीं ॥ २७ ॥

लुप्त यज्ञ-यागादि के पुनः प्रवर्तन के कारण आहवनीयादि अग्नियों से निर्मल ज्वालाएँ निकलने लगीं और चतुर्दिक् उत्पातसूचक चिह्न भी समाप्त हो गये ॥

पर्यालोचन

(क) ८९वें अध्याय में निशुम्भ तो राजस अहङ्कार के प्रतीक के रूप में प्रतिपादित है और ९०वें अध्याय में शुम्भ को तामस अहङ्कार के प्रतीक के रूप में निरूपित किया गया है। दोनों अहङ्कार परस्पर सङ्घटित होकर सात्त्विक अहङ्कार पर प्रहार करते हैं, किन्तु वह अविचलित रहकर दोनों को अपने सत्त्वबल से अभिभूत करने में समर्थ हो जाता है। तामस अहङ्कार राजस अहङ्कार के प्रति ममत्व के भाव से प्रेरित होता है। इसीलिए निशुम्भ के पराभव से शुम्भ का क्रोध भड़क उठता है और वह देवी से मरणान्तक युद्ध में उलझ पड़ता है। यह एक महारहस्य है, जो कि आत्मवान् योगीजन के लिए ही बुद्धिगम्य है, क्योंकि वही अपने सत्त्वबल से राजस और तामस अहंता की शक्ति पर विजय पाने में समर्थ है।

(ख) श्री देवीभागवत के पञ्चम-स्कन्ध के ३१वें अध्याय के नीचे लिखे श्लोकों (१५-६५) में देवी के साथ शुम्भ के युद्ध और देवी की कालिका शक्ति द्वारा शुम्भ के वध का बड़ा विस्तृत और विचित्र वर्णन है, जो कि मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय के वर्णन से भिन्न प्रतीत होता है—

'रथो मे कल्प्यतां शीघ्रं गमिष्यामि रणाजिरे।
जयो वा मरणं वापि भवत्वद्यैव दैवतः॥

इत्युक्त्वा सैनिकान् शुम्भो रथमास्थाय सत्त्वरः।
प्रययावम्बिका यत्र संस्थिता तु हिमाचले॥

सैन्यं प्रचलितं तस्य सङ्गे तत्र चतुर्विधम्।
हस्त्यश्वरथपादातसंयुतं सायुधं बहु॥

तत्र गत्वाचले शुम्भः संस्थितां जगदम्बिकाम्।
त्रैलोक्यमोहिनीं कान्तामपश्यत् सिंहवाहिनीम्॥

....

दृष्ट्वा तां मोहमगमच्छुम्भः कामविमोहितः।
पञ्चबाणाहतः कामं मनसा समचिन्तयत्॥

अहो रूपमिदं सम्यगहो चातुर्यमद्भुतम्।
सौकुमार्यं च धैर्यं च परस्परविरोधि यत्॥

....

उपायः कोऽत्र कर्तव्यो येन मे वशगा भवेत्।
न मन्त्रा वा मरालाक्षी साधने सन्निधौ मम॥

सर्वमन्त्रमयी ह्येषा मोहिनी मदगर्विता।
सुन्दरीयं कथं मे स्याद् वशगा वरवर्णिनी॥

....

प्राप्तेयं दैवरचिता नारी नरशतोत्तमा ।
नाशायाऽस्मत्कुलस्येह सर्वथाऽतिबलाऽबला ॥

....

तस्मात्तु मरणं श्रेयो न संग्रामे पलायनम् ।
जयो वा मरणं वाद्य भवत्येव यथाविधि ॥

इति सञ्चिन्त्य मनसा शुम्भः सत्त्वाश्रितोऽभवत् ।
युद्धाय सुस्थिरो भूत्वा तामुवाच पुरः स्थिताम् ॥

देवि युध्यस्व वान्तेऽद्य वृथाऽयं ते परिश्रमः ।
मूर्खासि किल नारीणां नायं धर्मः कदाचन ॥

नारीणां लोचने बाणा भ्रुवावेव शरासनम् ।
हावभावास्तु शस्त्राणि पुमांल्लक्ष्यं विचक्षणः ॥

सन्नोहश्चाङ्गरागोऽत्र रथश्चापि मनोरथः ।
मन्दप्रजल्पितं भेरीशब्दो नाऽन्यः कदाचन ॥

....

यदि ते सङ्गरेच्छाऽस्ति कुरूपा भव भामिनि ।
लम्बोष्ठी कुनखी क्रूरा ध्वांक्षवर्णा विलोचना ॥

लम्बपादा कुदन्ती च मार्जारनयनाकृतिः ।
ईदृशं रूपमास्थाय तिष्ठ युद्धे स्थिरा भव ॥

कर्कशं वचनं ब्रूहि ततो युद्धं करोम्यहम् ।
ईदृशीं सुदतीं दृष्ट्वा न मे पाणिः प्रसीदति ॥

....

प्रेक्षिकाऽहं स्थिता मूढ कुरु कालिकया मृधम् ।
चामुण्डया वा कुर्वेते तव योग्ये रणाङ्गणे ॥

प्रहरस्व यथाकामं नाऽहं त्वां योद्धुमुत्सहे ॥
इत्युक्त्वा कालिकां प्राह देवी मधुरया गिरा ॥

जह्येनं कालिका क्रूरे कुरूपप्रियमाहवे ।
इत्युक्ता कालिका कालप्रेरिता कालरूपिणी ॥

गदां प्रगृह्य तरसा तस्थावाजौ कृतोद्यमा ।
तयोः परस्परं युद्धं बभूवाऽतिभयानकम् ॥

....

काली चिच्छेद चरणौ खड्गेनास्य त्वरान्विता ।
स च्छिन्नकरपादोऽपि तिष्ठ तिष्ठेति च ब्रुवन् ॥

धावमानो ययावाशु कालिकां भीषयन्निव ।
तमागच्छन्तमालोक्य कालिका कमलोपमम् ॥
चकर्त मस्तकं कण्ठाद्रुधिरौघवहं भृशम् ।
छिन्नेऽसौ मस्तके भूमौ पपात गिरिसन्निभः ॥
प्राणा विनिर्ययुस्तस्य देहादुत्क्रम्य सत्वरम् ।
गतासुं पतितं दैत्यं दृष्ट्वा देवाः सवासवाः ॥
तुष्टुवुस्तां तदा देवीं चामुण्डां कालिकां तथा ।
ववुर्वाताः शिवास्तत्र दिशश्च विमला भृशम् ॥
बभूवुश्चाग्नयो होमे प्रदक्षिणशिखाः शुभाः ।
हतशेषाश्च ये दैत्याः प्रणम्य जगदम्बिकाम् ॥
त्यक्त्वाऽऽयुधानि ते सर्वे पातालं प्रययुर्नृप ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं देव्याश्चरितमुत्तमम् ॥'

मार्कण्डेयपुराण के शुम्भवध नामक इस अध्याय में अम्बिका के रूपमाधुर्य पर शुम्भ के काममोहित होने आदि का वर्णन नहीं है, क्योंकि यह अनावश्यक है। यहाँ यह भी नहीं प्रतिपादित किया गया है कि शुम्भ विश्वसुन्दरी अम्बिका के साथ युद्ध नहीं करना चाहता, अपितु भयङ्कर विकराल रूपधारिणी कालिका अथवा चण्डिका से लोहा लेना चाहता है। इस अध्याय में शुम्भ और अम्बिका का युद्ध वर्णित है। अम्बिका के साथ बाहुयुद्ध में शुम्भ जब परास्त होकर मृतप्राय हो जाता है, तब उसे स्वयं यह आभास होता है कि अम्बिका ही कालिका है और वही चण्डिका है, अन्यथा उसे परास्त करना असम्भव है। इस प्रकार मार्कण्डेयपुराण के इस अध्याय में जो प्रतीयमान अर्थ है, उसे श्री देवीभागवत में बढ़ा-चढ़ाकर शब्दों द्वारा प्रतिपादित किया गया है।

मार्कण्डेयपुराण में शुम्भ के लिए देवी एक रहस्य के रूप में निरूपित है, जो कि देवी के स्वभाव-वर्णन के सर्वथा अनुरूप है। श्री देवीभागवत में देवी के रहस्य को रहस्य नहीं रखा गया है, अपितु शब्दों द्वारा उसके उद्घाटन का प्रयत्न किया गया है, जिसमें औचित्य की मात्रा की अपेक्षा अनौचित्य की मात्रा अधिक हो गयी है।

श्री मार्कण्डेयपुराण के सावर्णिक-मन्वन्तर से सम्बद्ध 'देवी-माहात्म्य'-निरूपण के प्रसंग में 'शुम्भ-वध' नामक ९०वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त।

एकनवतितमोऽध्यायः

ऋषिरुवाच—

देव्या हते तत्र महासुरेन्द्रे
सेन्द्राः सुरा वह्निपुरोगमास्ताम् ।
कात्यायनीं तुष्टुवुरिष्टलाभाद्
विकाशिवक्त्राब्जविकाशिताशाः ॥१।

देवा ऊचुः—

देवि प्रपन्नार्तिहरे प्रसीद
प्रसीद मातर्जगतोऽखिलस्य ।
प्रसीद विश्वेश्वरि पाहि विश्वं
त्वमीश्वरी देवि चराचरस्य ॥२।
आधारभूता जगतस्त्वमेका
महीस्वरूपेण यतः स्थितासि ।
अपां स्वरूपस्थितया त्वयैत-
दाप्याय्यते कृत्स्नमलङ्घ्यवीर्ये ॥३।

ऋषि सुमेधा ने कहा—

संग्राम में चण्डिका देवी के द्वारा जब दैत्यराज शुम्भ मार डाला गया, तब देवराज इन्द्र के साथ अग्नि, वरुण प्रभृति देवगण के प्रसन्नता से खिले मुखकमलों से चारों दिशाएँ आलोकित हो गयीं और सभी देवों ने अपनी मनोरथ-पूर्ति के आनन्द में देवी कात्यायनी की स्तुति प्रारम्भ कर दी ॥ १ ॥

देवों की कात्यायनी स्तुति—

हे देवि ! हम पर कृपा करो, तुम ही हम सरीखे शरणागतों की पीड़ा दूर करनेवाली हो । हे देवि ! हम पर दया करो, तुम ही समस्त त्रैलोक्य की माता हो । हे देवि ! हम पर प्रसन्न हो, तुम ही समस्त विश्व में व्याप्त हो । हे देवि ! समस्त विश्व की रक्षा करो, तुम ही विष्णुमायारूप में समस्त चराचर जगत् की अधीश्वरी हो ॥ २ ॥

हे देवि ! एक मात्र तुम ही समस्त जगत् को अपने में आश्रय देने में समर्थ हो; क्योंकि पृथिवीरूप में तुम ही विराजमान हो । तुम्हारी शक्ति अप्रतिहत है; क्योंकि जल-रूप में भी तुम ही सर्वत्र अवस्थित हो और सबकी संतृप्ति करती हो ॥ ३ ॥

त्वं वैष्णवी शक्तिरनन्तवीर्या
विश्वस्य बीजं परमासि माया ।
सम्मोहितं देवि समस्तमेतत्
त्वं वै प्रसन्ना भुवि मुक्तिहेतुः ॥४।
विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु ।
त्वयैकया पूरितमम्बयैतत्
का ते स्तुतिः स्तव्यपरा परोक्तिः ॥५।
सर्वभूता यदा देवी स्वर्गमुक्तिप्रदायिनी ।
त्वं स्तुता स्तुतये का वा भवन्तु परमोक्तयः ॥६।
सर्वस्य बुद्धिरूपेण जनस्य हृदि संस्थिते ।
स्वर्गापवर्गदे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥७।

हे देवि ! तुम ही वैष्णवी शक्ति हो, जिसके बल-पराक्रम की कोई सीमा नहीं, तुम ही वह महामाया हो, जो इस विश्व का परम कारण है। तेरी ही माया से यह सारा विश्व मोह-ममता में मग्न है और तेरी ही कृपा से उसे पुनर्भव से छुटकारा मिल सकता है ॥ ४ ॥

हे देवि ! जितनी भी श्रुति-स्मृति प्रभृति विद्याएँ हैं, वे तेरे ही विविध रूप हैं, जितनी भी पातिव्रत्य धर्मपरायण नारियाँ अथवा जगत् की सृष्टि-स्थिति-संहृति की अधिष्ठात्री ब्रह्माणी प्रभृति देवियाँ हैं, वे भी वस्तुतः तेरे ही रूपभेद हैं। एक शब्द में यह समस्त जगत् तेरा ही वैश्वरूप है; क्योंकि तुम ही इसकी जनन-शक्ति हो। ऐसी स्थिति में हम तुम्हारी क्या स्तुति करें; क्योंकि स्तुति तो अपने से पृथक् जो स्तव्य अथवा स्तुति योग्य हो, उसकी की जाती है, जिसमें अपने से भिन्न के गुणों का अनुकीर्तन किया जाता है ॥ ५ ॥

हे देवि ! तुम ही सबको भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाली हो; क्योंकि तुम ही विश्वरूप होने के कारण सर्वात्मरूप में विराजमान हो, इतनी उक्ति ही तेरी स्तुति हो सकती है। तब तेरी स्तुति के लिये और क्या गुणवर्णन हो ? ॥ ६ ॥

हे देवि ! समस्त जीवमात्र के हृदय में जो बुद्धि है, वह तेरा ही रूप है; क्योंकि तुम ही क्या स्वर्ग और अपवर्ग—दोनों के देने का सामर्थ्य रखती हो। तुम ही नारायणी हो, साक्षात् विष्णुमाया ! हे देवि ! हमारी यह वन्दना स्वीकार करो ॥ ७ ॥

कलाकाष्ठादिरूपेण परिणामप्रदायिनी ।
विश्वस्योपरतौ शक्ते नारायणि नमोऽस्तु ते ॥८॥
सर्वमङ्गलमाङ्गल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके ।
शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥९॥
सृष्टिस्थितिविनाशानां शक्तिभूते सनातनि ।
गुणाश्रये गुणमये नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१०॥
शरणागतदीनार्तपरित्राणपरायणे ।
सर्वस्यार्त्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥११॥
हंसयुक्तविमानस्थे ब्रह्माणीरूपधारिणि ।
कौशाम्भःक्षरिके देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१२॥

हे देवि ! इस समस्त विश्व के बाल्य, यौवन प्रभृति परिवर्तनों से सम्बद्ध क्षण-मुहूर्त-अहोरात्र-पक्ष-मासादि काल-कलाओं में तेरा ही रूप झलकता है। इस विश्व के उपराम अथवा अवसान की शक्ति भी तेरी ही शक्ति है; क्योंकि तू ही विष्णुमाया है। तुझे हमारा नमन स्वीकार हो ॥ ८ ॥

हे देवि ! तुम सर्वमङ्गला हो और इसीलिए सर्वभूत के माङ्गल्य अथवा कल्याण में समर्थ हो। तुम ही शिवा, भवानी, रुद्राणी—सब कुछ हो; क्योंकि तुम ही समस्त जीवजात की मनःकामना को पूर्ण करती हो। तुम ही एकमात्र सबको शरण देनेवाली हो। तुम ही चन्द्र, सूर्य और अग्निरूप—तीन नेत्रों से सुशोभित त्र्यम्बका हो। तुम ही गौरी हो। हे नारायणि ! विष्णुमाये ! हमारे नमस्कार स्वीकार करो ॥ ९ ॥

हे देवि ! तुम ही जगत् की सृष्टि में ब्राह्मीशक्ति, स्थिति में वैष्णवीशक्ति और संहृति में रौद्रीशक्ति के रूप में शक्तिस्वरूपा हो। तेरी ही सत्ता शाश्वत है। सत्त्व-गुणात्मक ब्रह्मा, रजोगुणात्मक विष्णु एवं तमोगुणात्मक रुद्र—ये सब तुझ पर ही आश्रित हैं। तुम ही सत्त्वादिगुणत्रयरूप में भी विराजमान हो। हे नारायणि ! हमारे प्रणाम स्वीकार करो ॥ १० ॥

हे देवि विष्णुमाये ! तुम अपनी शरण में आये दीन और दुःखी जीवों के परित्राण में सदा तत्पर रहनेवाली हो, तुम ही सबकी पीड़ा हरण करनेवाली हो। तुम्हें हमारी वन्दना स्वीकार हो ॥ ११ ॥

हे देवि ! तुम हंस जुड़े विमान पर विहार करनेवाली ब्रह्माणी का रूप धरती हो और कुश से जल छिड़ककर दैत्यों का संहार करने में समर्थ होती हो। हे नारायणि ! हम तुम्हें नमस्कार करते हैं ॥ १२ ॥

त्रिशूलचन्द्राहिधरे महावृषभवाहिनि ।
माहेश्वरीस्वरूपेण नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१३॥

मयूरकुक्कुटवृते महाशक्तिधरेऽनघे ।
कौमारीरूपसंस्थाने नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१४॥

शङ्खचक्रगदाशार्ङ्गगृहीतपरमायुधे ।
प्रसीद वैष्णवीरूपे नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१५॥

गृहीतोग्रमहाचक्रे दंष्ट्रोद्धृतवसुन्धरे ।
वराहरूपिणि शिवे नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१६॥

नृसिंहरूपेणोग्रेण हन्तुं दैत्यान् कृतोद्यमे ।
त्रैलोक्यत्राणसहिते नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१७॥

किरीटिनि महावज्रे सहस्रनयनोज्ज्वले ।
वृत्रप्राणहरे चैन्द्रि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१८॥

हे देवि ! तुम हाथ में त्रिशूल, मस्तक पर एककलायुक्त चन्द्र और हाथों में वलयरूप से सर्प धारण करनेवाली हो। तुम महावृषभ नन्दी को अपने वाहन के रूप में प्रयुक्त करती हो—इस प्रकार माहेश्वरी शक्ति तेरा ही एक रूप है। हे नारायणि ! तुझे हमारे नमस्कार समर्पित हैं ॥ १३ ॥

हे देवि ! शक्तिधर कुमार कार्तिकेय भी कौमारी शक्ति की रूपरेखा में तेरी ही रूपरेखा है। इस प्रकार कौमारीरूप में तू ही मयूरवाहिनो है, कुक्कुट प्रभृति पक्षी तेरी ही क्रीडा के साधन हैं, महाशक्ति-अस्त्र धारण करनेवाले हाथ तेरे ही हाथ हैं और तेरी दया से ही सभी पाप-संताप दूर भाग जाते हैं। हे नारायणि। तुझे बारम्बार नमस्कार है ॥ १४ ॥

हे देवि ! शङ्ख, चक्र, गदा और धनुष के रूप में भयङ्कर अस्त्र-शस्त्र धारण करनेवाली तुम ही वैष्णवी शक्ति हो। हम पर तेरी दया बनी रहे। हे नारायणि ! तुझे बारम्बार नमस्कार है ॥ १५ ॥

हे देवि ! हाथ में विकराल चक्रास्त्र धारण करनेवाली और अपनी दंष्ट्रा से प्रलयपयोधि में निमग्न वसुन्धरा का उद्धार करनेवाली तुम ही वाराही शक्ति हो। हे जगत् की कल्याणकारिणि ! हे नारायणि ! तुझे हमारे प्रणाम स्वीकार हों ॥ १६ ॥

हे देवि ! भयङ्कर नृसिंहरूप में दैत्यों का संहार करने के लिए कटिबद्ध नारसिंही शक्ति तुम ही हो। तुम ही त्रैलोक्य की रक्षा करनेवाली और त्रैलोक्य का कल्याण करनेवाली विष्णुमाया हो। हे देवि नारायणि ! तुझे हमारे प्रणाम समर्पित हैं ॥ १७ ॥

हे देवि! तुम ही किरीटधारिणी, वज्रधारिणी, नेत्रसहस्रधारिणी, वृत्रासुरघातिनी ऐन्द्री शक्ति हो। हे नारायणि ! हम सब सदा तुम्हारे समक्ष नतमस्तक हैं ॥ १८ ॥

शिवदूतीस्वरूपेण हतदैत्यमहाबले ।
घोररूपे महारावे नारायणि नमोऽस्तु ते ।।१९।
दंष्ट्राकरालवदने शिरोमालाविभूषणे ।
चामुण्डे मुण्डमथने नारायणि नमोऽस्तु ते ।।२०।
लक्ष्मि लज्जे महाविद्ये श्रद्धे पुष्टे स्वधे ध्रुवे ।
महारात्रे महामाये नारायणि नमोऽस्तु ते ।।२१।
मेधे सरस्वति वरे भूति बाभ्रवि तामसि ।
नियते त्वं प्रसीदेशे नारायणि नमोऽस्तु ते ।।२२।
सर्वतः पाणिपादान्ते सर्वतोऽक्षिशिरोमुखे ।
सर्वतः श्रवणघ्राणे नारायणि नमोऽस्तु ते ।।२३।
सर्वस्वरूपे सर्वेशे सर्वशक्तिसमन्विते ।
भयेभ्यस्त्राहि नो देवि दुर्गे देवि नमोऽस्तु ते ।।२४।

हे देवि ! शिवदूती के रूप में दानवों के विशाल सैन्यबल का संहार करनेवाली विकरालरूपधारिणी और भीषण कण्ठनाद से शत्रुदल का हृदय-विदारण करनेवाली तुम ही हो । हे नारायणि ! हम तुम्हारे आगे भक्तिभाव से प्रणत हैं ।। १९ ।।

हे देवि ! विकट दन्तपङ्क्ति से विकराल मुखवाली, नरमुण्ड की माला से सुशोभित कण्ठवाली और मुण्डासुर का मर्दन करनेवाली चामुण्डा तुम ही हो । हे नारायणि ! विष्णुमाये ! हम तुम्हें प्रणाम करते हैं ।। २० ।।

हे देवि ! तू ही लक्ष्मी है, तू ही लज्जा है, तू ही भेदबुद्धिजननी अविद्या है, तू ही अभेदज्ञानजननी आत्मविद्या है, तू ही आस्तिक्यबुद्धि है, तू ही समस्त जगत् की पुष्टि है, तू ही पितृगण की संतृप्ति है, तू ही शाश्वतब्रह्मस्वरूपा है, तू ही प्राणिमात्र में मोह उत्पन्न करनेवाली महारात्रि है और तू ही समस्त जगत् की परम कारण महामाया है । हे नारायणि ! हम तुझे प्रणाम करते हैं ।। २१ ।।

हे देवि ! तू ही मेधा है, तू ही सरस्वती है, तू ही सर्वोपरि विराजमान है, तू ही वैष्णवी शक्ति है, तू ही रौद्री शक्ति है और तू ही नियति है । हम पर तू कृपा कर । हे नारायणि ! हम तुम्हारी वन्दना करते हैं ।। २२ ।।

हे देवि ! इस जगत् में तेरे ही पैर और तेरे ही हाथ सर्वत्र क्रियाशील हैं, तेरे ही नेत्र, सिर और मुँह इस जगत् में सर्वत्र दिखायी देते हैं, सर्वत्र तेरे ही कान और तेरे ही नाक व्याप्त हैं । हे नारायणि ! तुम्हें हमारे प्रणाम स्वीकार हों ।। २३ ।।

हे देवि ! यह समस्त त्रैलोक्य तेरा ही स्वरूप है, तुम ही समस्त देव-दानव-मानव-गण की स्वामिनी हो, तुम ही इच्छा-ज्ञान-क्रियादि समस्त शक्तियों से समन्वित हो और तुम ही दुर्गतिनाशिनी दुर्गा हो । दुष्ट दानवों के भय से छुटकारा दिलाओ । हे देवि ! हमारे प्रणाम स्वीकार करो ।। २४ ।।

एतत्ते वदनं सौम्यं लोचनत्रयभूषितम् ।
पातु नः सर्वभीतिभ्यः कात्यायनि नमोऽस्तु ते ॥२५।
ज्वालाकरालमत्युग्रमशेषासुरसूदनम् ।
त्रिशूलं पातु नो भीतेर्भद्रकालि नमोऽस्तु ते ॥२६।
हिनस्ति दैत्यतेजांसि स्वनेनापूर्य या जगत् ।
सा घण्टा पातु नो देवि पापेभ्यो नः सुतानिव ॥२७।
असुरासृग्वसापङ्कचर्चितस्ते करोज्ज्वलः ।
शुभाय खड्गो भवतु चण्डिके त्वां नता वयम् ॥२८।
रोगानशेषानपहंसि तुष्टा
रुष्टा तु कामान् सकलानभीष्टान् ।
त्वामाश्रितानां न विपन्नराणां
त्वामाश्रिता ह्याश्रयतां प्रयान्ति ॥२९।
एतत्कृतं यत्कदनं त्वयाद्य
धर्मद्विषां देवि महासुराणाम् ।
रूपैरनेकैर्बहुधाऽऽत्ममूर्तिं
कृत्वाम्बिके तत्प्रकरोति काऽन्या ॥३०।

हे देवि ! सोम-सूर्य तथा अग्निरूप नेत्रत्रय से विभूषित तेरे मुख का सांमुख्य हमारी समस्त भयात्मक विपत्तियों से रक्षा करे । हे देवि ! श्री और सरस्वती की परम-गति होने से तू ही कात्यायनी है । तुझे हमारे प्रणाम स्वीकार हों ॥ २५ ॥

हे देवि ! तू भद्रकाली है । ज्वालाओं से जाज्वल्यमान, अतिभयंकर असुरों का संहार करनेवाला तेरा त्रिशूल सर्वविध भय से हमारी रक्षा करे । हम तेरी वन्दना करते हैं ॥ २६ ॥

हे देवि ! तेरा घनघनाता घण्टा, जो अपने निनाद से समस्त जगत् को निनादित करता है और दैत्यों के बल-वीर्य का विनाशक है, समस्त पाप-सन्ताप से तुम्हारे पुत्रवत् उपस्थित हम सब की रक्षा करे ॥ २७ ॥

हे देवि चण्डिके ! असुरों के खून और चर्वी के पंक में सना; किन्तु तेरे हाथ में चमचमाता तेरा खड्ग हमारे लिए कल्याणकारक हो । हम तुम्हारे शरणागत हैं ॥२८॥

हे देवि ! प्रसन्न होने पर तुम समस्त रोग-शोक का विनाश करती हो । अप्रसन्न रहने पर सभी अभिवांछित कामनाओं को मार देती हो । जो लोग तेरी शरण में आते हैं, उन्हें कोई संकट नहीं सताते । सारा संसार तेरे शरणागत की ही शरण लिया करता है ॥ २९ ॥

हे देवि अम्बिके ! ब्राह्मी-वैष्णवी प्रभृति शक्तियों के विविध रूप धारण कर तू ने धर्मद्वेषी महाबली असुरों का जैसा आज सर्वनाश किया, वह और किसी देवी-देवता के सामर्थ्य के वश की बात नहीं ॥ ३० ॥

विद्यासु शास्त्रेषु विवेकदीपे-
ष्वाद्येषु वाक्येषु च का त्वदन्या ।
ममत्वगर्तेऽतिमहान्धकारे
विभ्रामयत्येतदतीव विश्वम् ।३१।

रक्षांसि यत्रोग्रविषाश्च नागा
यत्रारयो दस्युबलानि यत्र ।
दावानलो यत्र तथाब्धिमध्ये
तत्र स्थिता त्वं परिपासि विश्वम् ।।३२।

विश्वेश्वरि त्वं परिपासि विश्वं
विश्वात्मिका धारयसीति विश्वम् ।
विश्वेशवन्द्या भवती भवन्ति
विश्वाश्रया ये त्वयि भक्तिनम्राः ।।३३।

देवि प्रसीद परिपालय नोऽरिभीते-
र्नित्यं यथासुरवधादधुनैव सद्यः ।
पापानि सर्वजगतां प्रशमं नयाशु
उत्पातपाकजनितांश्च महोपसर्गान् ।।३४।

हे देवि ! जितनी भी आन्वीक्षिकी, त्रयी प्रभृति विद्याएँ हैं, जितने भी विवेक के प्रदीपवत् प्रकाशक शास्त्र हैं और जितने भी आदिम वैदिक किंवा पौराणिक वाक्य हैं, उन सबमें तू ही विराजमान है; किन्तु इस समस्त संसार को मोह-ममता के संतमसावृत गर्त में भटकानेवाली भी तुम ही हो ॥ ३१ ॥

हे देवि ! जहाँ राक्षस हों, विषैले सर्प हों, शत्रुगण हों, दस्युदल हों, समुद्र के भीतर दावानल हो, वहाँ भी तू विराजमान है और तुम ही उन सब विपदाओं से इस विश्व की रक्षा करती हो ॥ ३२ ॥

हे देवि । तुम समस्त विश्व में व्याप्त हो; क्योंकि तुम ही विश्व की रक्षा करती हो, तुम ही विश्व को धारण करती हो, क्योंकि विश्वात्मिका होने के नाते समस्त विश्व तेरा ही वैश्वरूप है । तुम ही ब्रह्मा-विष्णु प्रभृति विश्वेश्वरगण के द्वारा वन्दनीय हो, क्योंकि जो तेरे शरणागत भक्त होते हैं, उनका आश्रय लेने के सभी इच्छुक हुआ करते हैं ॥ ३३ ॥

हे देवि । हम भक्तजन पर प्रसन्न रहो, शत्रुओं के भय से हमारी उसी प्रकार सदा रक्षा करो, जिस प्रकार अभी तुमने असुरसंहार करके हमारी रक्षा की है। हे देवि ! तुम समस्त संसार के पाप-संताप का प्रशमन करो। साथ ही साथ अधर्म के परिणामस्वरूप जो आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक उपद्रव हों, उन सब को तुम शान्त कर दो ॥ ३४ ॥

प्रणतानां प्रसीद त्वं देवि विश्वार्तिहारिणी ।
त्रैलोक्यवासिनामीड्ये लोकानां वरदा भव ॥३५।

श्रीदेव्युवाच—

वरदाहं सुरगणा वरं यन्मनसेच्छथ ।
तं वृणुध्वं प्रयच्छामि जगतामुपकारकम् ॥३६।

देवा ऊचुः—

सर्वबाधाप्रशमनं त्रैलोक्यस्याखिलेश्वरि ।
एवमेव त्वया कार्यमस्मद्वैरिविनाशनम् ॥३७।

श्रीदेव्युवाच—

वैवस्वतेऽन्तरे प्राप्ते अष्टाविंशतिमे युगे ।
शुम्भो निशुम्भश्चैवान्यावुत्पत्स्येते महासुरौ ॥३८।
नन्दगोपगृहे जाता यशोदागर्भसम्भवा ।
ततस्तौ नाशयिष्यामि विन्ध्याचलनिवासिनी ॥३९।

हे देवि ! तुम विश्व की सर्वविध पीड़ा हरनेवाली हो। हम तेरे भक्त हैं, हम पर कृपा करो। हे देवि ! तुम ही इस त्रैलोक्य के निवासी प्राणिमात्र के द्वारा वन्दनीय हो। तुम इस त्रैलोक्य का अभीष्ट सम्पादन करती रहो ॥ ३५ ॥

देवी की उक्ति—

हे देवगण ! मैं आप सब पर प्रसन्न हूँ। मैं वर देती हूँ कि इस त्रैलोक्य का उपकार करने की जो भी कामना आप लोगों के मन में हो, वह सर्वथा पूर्ण होती रहे ॥ ३६ ॥

देवगण बोले—

हे देवि ! तू त्रैलोक्य की स्वामिनी है, इसलिए हमारे शत्रु दैत्य-दानवों के संहार रूप समस्त विकट सङ्कट के प्रशमन का त्रैलोक्य-कल्याणकारक कार्य तू ही सम्पन्न कर ॥ ३७ ॥

देवी की उक्ति—

हे देवगण ! वैवस्वत मन्वन्तर के अट्ठाईसवें युग में, अर्थात् भगवान् श्रीविष्णु के अष्टमावतार के समय, जब कि द्वापर युग का अन्त और कलियुग का आरम्भ होता है, दो दूसरे शुम्भ और निशुंभ नामक महाबली असुर उत्पन्न होंगे। उस समय मैं गोपराज नन्द के कुल में उनकी धर्मपत्नी यशोदा के गर्भ से प्रादुर्भूत होकर विन्ध्याचल पर निवास करूँगी और उन दोनों के प्राण लूँगी ॥ ३८-३९ ॥

पुनरप्यतिरौद्रेण रूपेण पृथिवीतले ।
अवतीर्य हनिष्यामि वैप्रचित्तांस्तु दानवान् ॥४०॥
भक्षयन्त्याश्च तानुग्रान् वैप्रचित्तान् सुदानवान् ।
रक्ता दन्ता भविष्यन्ति दाडिमीकुसुमोपमाः ॥४१॥
ततो मां देवताः स्वर्गे मर्त्यलोके च मानवाः ।
स्तुवन्तो व्याहरिष्यन्ति सततं रक्तदन्तिकाम् ॥४२॥
भूयश्च शतवार्षिक्यामनावृष्ट्यामनम्भसि ।
मुनिभिः संस्तुता भूमौ संभविष्याम्ययोनिजा ॥४३॥
ततः शतेन नेत्राणां निरीक्षिष्यामि यन्मुनीन् ।
कीर्तयिष्यन्ति मनुजाः शताक्षीमिति मां ततः ॥४४॥
ततोऽहमखिलं लोकमात्मदेहसमुद्भवैः ।
भरिष्यामि सुराः शाकैरावृष्टेः प्राणधारकैः ॥४५॥
शाकम्भरीति विख्यातिं तदा यास्याम्यहं भुवि ।
तत्रैव च वधिष्यामि दुर्गमाख्यं महासुरम् ।
दुर्गा देवीति विख्यातं तन्मे नाम भविष्यति ॥४६॥

और उसी कलियुग के प्रारम्भ में अत्यन्त रौद्ररूप धारणकर मैं पृथिवी पर अवतार लूंगी और लोकापकारी वैप्रचित्त नामक दानवों का वध करूँगी ॥ ४० ॥

उन वैप्रचित्त नामक उद्दण्ड असुरों का जब मैं भक्षण करूँगी, तब मेरे दांत अनार के फूल के समान लाल हो जायेंगे। इसीलिए स्वर्गलोक के देवगण और मर्त्यलोक के मानवगण जब मेरी स्तुति करेंगे, तो मुझे रक्तदन्तिका कहेंगे ॥ ४१-४२ ॥

और आगे चलकर जब एक सौ वर्ष तक निरन्तर चलने वाली अनावृष्टि की दुर्दशा का समय आयेगा और पृथिवी पर जल का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा, तब मुनिजन मेरा स्मरण करेंगे और मैं स्वयं भूलोक पर आविर्भूत होऊँगी ॥ ४३ ॥

उस समय जब मैं अपने सामने भक्तिभाव में प्रणत मुनिगण को अपने एक सौ नेत्रों से देखूंगी, तब मर्त्यलोक के निवासी शताक्षी नाम से मेरा गुणकीर्तन करेंगे ॥ ४४ ॥

उस भीषण अनावर्षण के काल में, हे देवगण! अपने शरीर से उत्पन्न पत्र-पुष्प-मूल प्रभृति दस प्रकार के प्राणरक्षक शाकों (साग-सब्जी) से समस्त लोक का भरण-पोषण करूंगी और तबतक करती रहूँगी, जबतक वृष्टि प्रारम्भ न हो जाय ॥ ४५ ॥

मेरे इस लोकोपकारी कार्य से, भूलोक में मैं 'शाकम्भरी' नाम से प्रसिद्ध हो जाऊँगी और उसी समय मैं 'दुर्गम' नामक महासुर का वध करूँगी ॥ ४६ ॥

पुनश्चाहं यदा भीमं रूपं कृत्वा हिमाचले ।
रक्षांसि भक्षयिष्यामि मुनीनां त्राणकारणात् ।।४७।

तदा मां मुनयः सर्वे स्तोष्यन्त्यानम्रमूर्तयः ।
भीमा देवीति विख्यातं तन्मे नाम भविष्यति ।।४८।

यदारुणाख्यस्त्रैलोक्ये महाबाधां करिष्यति ।
तदाहं भ्रामरं रूपं कृत्वाऽसंख्येयषट्पदम् ।।४९।

त्रैलोक्यस्य हितार्थाय वधिष्यामि महासुरम् ।
भ्रामरीति च मां लोकास्तदा स्तोष्यन्ति सर्वतः ।।५०।

इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति ।
तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम् ।।५१।

।। इति श्रीमार्कण्डेयमहापुराणे सावर्णिके मन्वन्तरे देवीमाहात्म्ये
देवैः कृता नारायणी स्तुतिर्नामैकनवतितमोऽध्यायः ।।

उसके बाद भी, मुनिजन के परित्राण के उद्देश्य से, जब मैं हिमालय पर रहूँगी और अत्यन्त भयङ्कर रूप धारण कर राक्षसों को मार-मार कर खाऊँगी, तब मुनिगण मेरे सम्मुख भक्तिभाव से नतमस्तक होकर भीमा देवी के रूप में मेरी स्तुति करेंगे और तब से मुझे भीमा देवी के नाम से स्मरण किया जायेगा और मेरा यह नाम सर्वत्र प्रसिद्ध हो जायगा ।। ४७-४८ ।।

इसी प्रकार जब 'अरुण' नाम का महासुर त्रैलोक्य के लिए सङ्कट बन जायेगा, तब मैं असंख्य भ्रमरों के रूप में अवतीर्ण होऊँगी और त्रैलोक्य के कल्याण के लिए उस महाबली असुर का वध करूँगी । उस समय त्रैलोक्य के निवासी मुझे 'भ्रामरी' कहा करेंगे और सर्वत्र इसी नाम से मेरा स्तुति-गान गायेंगे ।। ४९-५० ।।

इसलिए, हे देवगण ! जब-जब दैत्य-दानवों के द्वारा लोकपीड़ा होगी, तब-तब मैं अवतार लूँगी और शत्रुओं को सर्वनाश में मिला दूँगी ।। ५१ ।।

पर्यालोचन

(क) यह अध्याय देवी के 'कात्यायनी' रूप की स्तुति से प्रारम्भ होता है। देवी के 'कात्यायनी' रूप का आख्यान पद्मपुराण, वामनपुराण, महाभारत, श्रीमद्भागवत तथा देवीभागवत प्रभृति पुराण-वाङ्मय में बड़े विस्तार के साथ वर्णित है। यह आख्यान इस प्रकार का है—रंभ नामक एक असुर था, जो अग्निदेव का एकनिष्ठ उपासक था। अग्निदेव से उसने पुत्रोत्पत्ति का वर माँगा। साथ ही साथ उसने अग्निदेव से यह प्रार्थना की कि उसका पुत्र त्रैलोक्यविजयी हो। अग्निदेव के वरदान से रंभ का महिषासुर नामक महापराक्रमी पुत्र उत्पन्न हुआ। बड़े होने पर, अपने बलवीर्य के मद में उन्मत्त होकर, महिषासुर ने देवों पर आक्रमण किया और देवों को पराजित तथा भयभीत कर दिया। देवगण बड़े दुःखी हुए और ब्रह्मा की शरण में गये। ब्रह्मा के साथ विष्णु और शङ्कर भी महिषासुर की दुष्टता देखकर क्रोध से जल भुन गये। विष्णु सर्वाधिक क्रुद्ध हुए और उनका मुखमण्डल क्रोध की भीषणता से जाज्वल्यमान हो गया। अन्य देवों के मुखमण्डल भी क्रोध की अग्निज्वाला से आवृत हो गए। इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा इन्द्रादि देववृन्द का कालानल सदृश तेजःकूट तपोनिरत महर्षि कात्यायन के समक्ष प्रकट हुआ। योगबल से इस तेजःकूट का परमार्थ जानकर महर्षि कात्यायन का भी मुखमण्डल क्रोधाग्नि की ज्वाला से देदीप्यमान हो गया। सब देवों का और महर्षि कात्यायन का यह तेजःसङ्घ सहस्रसंख्यक सूर्य के तेज से भी अधिक तेजोमय बन गया। यह सङ्घीभूत तेज काली की देह में अनुप्रविष्ट हो गया, जिसके कारण काली, कात्यायनी के भयङ्कर रूप में परिवर्तित हो गयी। सिंह पर आरूढ़ होकर काली-कात्यायनी विन्ध्याचल के उच्च शिखर पर पहुँची, जहाँ इन्द्र और अग्नि दोनों देव उसकी उपासना में लग गये। त्रैलोक्यविजेता महिषासुर अचानक विन्ध्याचल पर आया और वहाँ उसने कात्यायनी को परमसुन्दरी नारी के रूप में देखा। कात्यायनी के रूपलावण्य पर मोहित होकर, महिषासुर ने दुन्दुभि नामक एक दैत्य को अपना दूत बनाकर कात्यायनी के पास भेजा और अपना प्रेम-निवेदन किया। महिषासुर के इस दुर्व्यवहार से क्रोधाकुल कात्यायनी ने दैत्यसेना का संहार कर महिषासुर का वध कर दिया।

यह पौराणिक-आख्यान वस्तुतः गौरी-काली-दुर्गा-कात्यायनी-चण्डिका-चामुण्डा-विन्ध्यवासिनी तथा अन्य विविध नामों से संकीर्तित भगवती विष्णुमाया को ही संकेतित करते हैं, जो निमित्त-भेद से नाना प्रकार के नाम-रूपों में अवभासित होती रहती है। भगवती की एकरूपता और बहुरूपता में कोई व्याघात नहीं है और न किसी प्रकार की विसङ्गति अथवा असङ्गति है।

(ख) इस अध्याय के ४थे श्लोक में देवी कात्यायनी-दुर्गा को 'वैष्णवी-शक्ति' कहने का तात्पर्य उसकी जगत्पालनशक्तिमत्ता का प्रकाशन है और 'विश्वबीज' कहने का अभिप्राय उसके जगत्कारण सामर्थ्य का उद्घोष है।

(ग) इस अध्याय के पाँचवें श्लोक में समस्त विद्याओं को देवी के ही विविध रूपों में प्रतिपादित किया गया है। ये विद्यायें निम्नलिखित हैं—

'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः ।
पुराणं धर्मशास्त्रञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥'

इन १४ विद्याओं के अतिरिक्त आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद (सङ्गीतशास्त्र) तथा अर्थशास्त्र—ये चार भी विद्यारूप हैं। इस प्रकार १८ विद्या और ६४ कला—सभी देवी के ही रूप हैं।

(घ) इस अध्याय के ७वें श्लोक से लेकर २३वें श्लोक तक देवी कात्यायनी-दुर्गा को 'नारायणी' नाम से अभिहित और प्रत्यभिज्ञापित किया गया है। देवी की 'नारायणी' संज्ञा का अभिप्राय ब्रह्मवैवर्तपुराण के प्रकृति खण्ड के ४१वें अध्याय के निम्नलिखित नवम श्लोक में बड़े सुन्दर ढंग से प्रतिपादित किया गया है—

'यशसा तेजसा रूपैर्नारायणसमा गुणैः ।
शक्तिर्नारायणस्येयं तेन नारायणी स्मृता ॥'

(ङ) इस अध्याय के ९वें श्लोक में कात्यायनी-नारायणी को 'सर्वमङ्गला' कहा गया है। ब्रह्मवैवर्तपुराण के प्रकृति-खण्ड के ही ४१वें अध्याय के निम्नलिखित १८वें और १९वें श्लोकों में 'सर्वमङ्गला' शब्द की बड़ी हो सारगर्भित निरुक्ति की गयी है—

'मङ्गलं मोक्षवचनं लाशब्दो दातृवाचकः ।
सर्वान् मोक्षान् या ददाति सा एव सर्वमङ्गला ॥

हर्षे सम्पदि कल्याणे मङ्गलं परिकीर्तितम् ।
तान् ददाति हि या देवी सा एव सर्वमङ्गला ॥'

(च) इस अध्याय के ४४वें श्लोक में देवी के 'शताक्षी' नाम और रूप का उल्लेख है। श्री देवीभागवत के सप्तम स्कन्ध के २८वें अध्याय के निम्नलिखित श्लोकों (१-४२) में 'शताक्षी' का विचित्र आख्यान वर्णित है—

(व्यास की जनमेजय के प्रति उक्ति)

'शृणु राजन् प्रवक्ष्यामि शताक्षीसंभवं शुभम् ।
तवाऽवाच्यं न मे किञ्चित् देवीभक्तस्य विद्यते ॥

दुर्गमाख्यः महादैत्यः पूर्वं परमदारुणः ।
हिरण्याक्षान्वये जातो रुरुपुत्रो महाबलः ॥

देवानां तु बलं वेदो नाशे तस्य सुरा अपि ।
नङ्क्ष्यन्त्येव न सन्देहो विधेयं तावदेव तत् ॥

विमृश्यैतत् तपश्चर्यां गतः कर्तुं हिमालये ।
ब्रह्माणं मनसा ध्यात्वा वायुभक्षो व्यतिष्ठत ॥

सहस्रवर्षपर्यन्तं चकार परमं तपः।
तेजसा तस्य लोकास्तु संतप्ताः ससुरासुराः॥

ततः प्रसन्नो भगवान् हंसारूढश्चतुर्मुखः।
ययौ तस्मै वरं दातुं प्रसन्नमुखपङ्कजः॥

समाधिस्थं मीलिताक्षं स्फुटमाह चतुर्मुखः।
वरं वरय भद्रं ते यस्ते मनसि वर्तते॥

तवाद्य तपसा तुष्टो वरदेवोऽहमागतः।
श्रुत्वा ब्रह्ममुखाद् वाणीं व्युत्थितः स समाहितः॥

पूजयित्वा वरं वव्रे वेदान् देहि सुरेश्वर।
त्रिषु लोकेषु ये मन्त्रा ब्राह्मणेषु सुरेष्वपि॥

विद्यन्ते ते तु सान्निध्ये मम सन्तु महेश्वर।
बलं च देहि येन स्याद्देवानां च पराजयः॥

इति तस्य वचः श्रुत्वा तथास्त्विति वचो वदन्।
जगाम सत्यलोकं तु चतुर्वेदेश्वरः परः॥

ततः प्रभृति विप्रैस्तु विस्मृता वेदराशयः।
स्नान-सन्ध्या-नित्यहोम-श्राद्ध-यज्ञ-जपादयः॥

विलुप्ता धरणीपृष्ठे हाहाकारो महानभूत्।
किमिदं किमिदं चेति विप्रा ऊचुः परस्परम्॥

वेदाभावात् तदस्माभिः कर्तव्यं किमतः परम्।
इति भूमौ महानर्थे जाते परमदारुणे॥

निर्जराः सजरा जाता हविर्भागाद्यभावतः।
रुरोध च तदा दैत्यो नगरीममरावतीम्॥

अशक्तास्तेन ते योद्धुं वज्रदेहासुरेण च।
पलायनं तदा कृत्वा निर्गताः निर्जराः क्वचित्॥

....

अग्नौ होमाद्यभावात्तु वृष्ट्यभावोऽप्यभून्नृप।
वृष्टेरभावे संशुष्कं निर्जलं चापि भूतलम्॥

कूप-वापी-तडागाश्च सरितः शुष्कतां गताः।
अनावृष्टिरियं राजन् अभूच्च शतवार्षिकी॥

मृताः प्रजाश्च बहुधा गोमहिष्यादयस्तथा।
गृहे गृहे मनुष्याणामभवच्छवसङ्ग्रहः॥

अनर्थे त्वेवमुद्भूते ब्राह्मणाः शान्तचेतसः ।
गत्वा हिमवतः पार्श्वे रिराधयिषवः शिवाम् ॥

समाधि-ध्यान-पूजाभिर्देवीं तुष्टुवुरन्वहम् ।
निराहारास्तदाशकास्तामेव शरणं ययुः ॥

....

इति सम्प्रार्थिता देवी भुवनेशी महेश्वरी ।
अनन्ताक्षिमयं रूपं दर्शयामास पार्वती ॥

नित्यतृप्ते निरुपमे भुवनेश्वरि ते नमः ।
अस्मच्छान्त्यर्थमतुलं लोचनानां सहस्रकम् ॥

त्वया यतो धृतं देवी **शताक्षी** त्वं ततो भव ।'

(छ) देवी का शाकम्भरी नाम भी इसी अध्याय के ४७वें श्लोक में आया है। देवी के 'शाकम्भरी' रूप के सम्बन्ध में श्री देवीभागवत के २८वें अध्याय के ही श्लोकों (४४-४७) में निम्नलिखित उल्लेख दर्शनीय है—

'क्षुधया पीडिता मातः स्तोतुं शक्तिर्न चाऽस्ति नः ।
कृपां कुरु महेशानि वेदानप्याहराम्बिके ॥
इति तेषां वचः श्रुत्वा शाकान् स्वकरसंस्थितान् ॥

स्वादूनि फलमूलानि भक्षणार्थं ददौ शिवा ।
नानाविधानि चान्नानि पशुभोज्यानि यानि च ॥

काम्यानन्तरसैर्युक्तान्यानवीनोद्भवं ददौ ।
शाकम्भरोति नामापि तद्दिनात् समभूत्नृप ॥'

'शाकम्भरी' शब्द में 'शाक' पद से मूल प्रभृति निम्नलिखित वनस्पति और वानस्पत्य परिगणित किए जाते हैं—

'पत्रमूलकरीराग्रमूलकाण्डाधिरूढकाः ।
त्वक् पुष्पं कवचं चेति शाकं दशविधं स्मृतम् ॥

(ज) इसी अध्याय के ४६वें श्लोक में 'दुर्गम' नामक महासुर के वध के कारण देवी के 'दुर्गा' नाम का जो निर्देश है, उसे श्री देवीभागवत के १८वें अध्याय के ही श्लोकों (४८-७९) में निम्नलिखित रूप से निरूपित किया गया है—

'ततः कोलाहले जाते दूतवाक्येन बोधितः ।
ससैन्यः सायुधो योद्धुं दुर्गमाख्योऽसुरो ययौ ॥

सहस्राक्षौहिणीयुक्तः शरान् मुञ्चंस्त्वरान्वितः ।
रुरोध देवसैन्यं तद्यद्देव्यग्रे स्थितं पुरा ॥

तथा विप्रगणं चैव रोधयामास सर्वतः।
ततः किलकिलाशब्दः समभूद् देवमण्डले ॥

त्राहि त्राहीति वाक्यानि प्रोचुः सर्वे द्विजामराः।
ततस्तेजोमयं चक्रं देवानां परितः शिवा ॥
चकार रक्षणार्थाय स्वयं तस्माद् बहिः स्थिता ॥

ततः समभवद् युद्धं देव्या दैत्यस्य चोभयोः।
शरवर्षसमाच्छन्नसूर्यमण्डलमद्भुतम् ॥

परस्परशरोद्घर्षसमुद्भूताग्निसुप्रभम् ।
....
ततो देवीशरीरात्तु निर्गतास्तीव्रशक्तयः ॥
....

असंख्यातास्ततो देव्यः समुद्भूतास्तु सायुधाः।
मृदङ्गशङ्खवीणादिनादितं सङ्गरस्थलम् ॥
शक्तिभिर्दैत्यसैन्ये तु नाशितेऽक्षौहिणीशते ॥

अग्रेसरः समभवद् **दुर्गमो** वाहिनीपतिः।
शक्तिभिः सह युद्धं च चकार प्रथमं रिपुः ॥
....

चतुर्भिश्चतुरो वाहान् बाणेनैकेन सारथिम्।
द्वाभ्यां नेत्रे भुजौ द्वाभ्यां ध्वजमेकेन पत्रिणा ॥

पञ्चभिर्हृदयं तस्य विव्याध जगदम्बिका।
ततो वमन् स रुधिरं ममार पुर ईशितुः ॥

तस्य तेजस्तु निर्गत्य देवीरूपे विवेश ह।
हते तस्मिन् महावीर्ये शान्तमासीज्जगत्त्रयम् ॥
....

पठनीयं ममैतद्धि माहात्म्यं सर्वदोत्तमम्।
तेन तुष्टा भविष्यामि हरिष्यामि तथाऽऽपदः ॥

दुर्गमासुरहन्त्रीत्वाद् दुर्गेति मम नाम यः।
गृह्णाति च शताक्षीति मायां भित्वा व्रजत्यसौ ॥'

(झ) इस अध्याय के ४८वें श्लोक में देवी को भीमा देवी कहा गया है। देवी के 'भीमा' रूप का निम्नलिखित वर्णन द्रष्टव्य है—

'भीमाऽपि नीलवर्णैव दंष्ट्रादशनभासुरा ।
चन्द्रहासं चण्डमेरुं शिरःपात्रं च बिभ्रती ॥
एकवीरा कालरात्रिर्निद्रा तृष्णा दुरत्यया ।'

इसके अनुसार भीमा काली का ही अंश है। इसी प्रकार भ्रामरी को भी काली का ही अंश माना जाता है—

'तेजोमण्डलदुर्धर्षा भ्रामरी चित्रकान्तिभृत् ।
चित्रभ्रमणपाणिः सा महामारीति गीयते ॥
महामाया महाकाली महामारी क्षुधा तृषा ।'

श्री मार्कण्डेयपुराण के सावर्णिक-मन्वन्तर से सम्बद्ध 'देवी-माहात्म्य' में 'देवगणकृत नारायणीस्तुति' नामक ९१वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त ॥

द्विनवतितमोऽध्यायः

देव्युवाच—

एभिः स्तवैश्च मां नित्यं स्तोष्यते यः समाहितः ।
तस्याहं सकलां बाधां नाशयिष्याम्यसंशयम् ॥१॥
मधुकैटभनाशं च महिषासुरघातनम् ।
कीर्तयिष्यन्ति ये तद्वद् वधं शुम्भनिशुम्भयोः ॥२॥
अष्टम्यां च चतुर्दश्यां नवम्यां चैकचेतसः ।
स्तोष्यन्ति चैव ये भक्त्या मम माहात्म्यमुत्तमम् ॥३॥
न तेषां दुष्कृतं किञ्चिद् दुष्कृतोत्था न चापदः ।
भविष्यति न दारिद्र्यं न चैवेष्टवियोजनम् ॥४॥
शत्रुतो न भयं तस्य दस्युतो वा न राजतः ।
न शस्त्रानलतोयौघात् कदाचित् सम्भविष्यति ॥५॥
तस्मान्ममैतन्माहात्म्यं पठितव्यं समाहितैः ।
श्रोतव्यं च सदा भक्त्या परं स्वस्त्ययनं महत् ॥६॥

देवगण के प्रति देवी की उक्ति—

श्रद्धाभक्ति समन्वित जो भी मनुष्य ब्रह्मा द्वारा अथवा इन्द्रादिदेवगण द्वारा किये गये देवी-स्तोत्रों के जप अथवा पाठ से मेरी (देवी की) स्तुति करता है, उसकी समस्त मोह-ममतारूप बाधाओं को निःसंदेह मैं नष्ट कर देती हूँ ॥ १ ॥

जो मनुष्य एकाग्र चित्त होकर कृष्ण और शुक्ल—दोनों पक्षों को अष्टमी, नवमी और चतुर्दशी की तिथियों में 'मधुकैटभ-विनाश', 'महिषासुर-मर्दन', तथा 'शुम्भ-निशुम्भ-वध' का जप अथवा पाठ करते हैं तथा मेरे माहात्म्य अथवा मेरे भिन्न-भिन्न अवतारों की स्तुति करते हैं, उनके समस्त पाप-संताप क्षीण हो जाते हैं। उनके दुष्कर्मों के परिणामस्वरूप आने वाले उनके सभी विकट सङ्कट कट जाते हैं, उन्हें दारिद्र्य का दुःख नहीं होता और न उन्हें इष्टजन-वियोग से शोकाकुल होना पड़ता है। उन्हें शत्रुओं से भय नहीं होता, दस्युओं से डर नहीं लगता और न राजदण्ड का कोई भय होता है। शस्त्र के आघात, अग्नि के उत्पात तथा जलपूर (बाढ़) के सङ्कट उन्हें कदापि कष्ट नहीं पहुँचाते ॥ २-५ ॥

इसलिए समाहितचित्त होकर मेरे माहात्म्य का स्वयं जप अथवा पाठ अवश्य करना चाहिए तथा दूसरे के द्वारा दिये गये पाठ का भी श्रद्धा-भक्ति के साथ श्रवण करना चाहिए। मेरे माहात्म्य का यह जप, पाठ अथवा श्रवण अत्यन्त कल्याणकारी होता है ॥ ६ ॥

उपसर्गानशेषांस्तु महामारीसमुद्भवान् ।
तथा त्रिविधमुत्पातं माहात्म्यं शमयेन्मम ॥७॥
यत्रैतत् पठ्यते सम्यङ्नित्यमायतने मम ।
सदा न तद्विमोक्ष्यामि सांनिध्यं तत्र मे स्थितम् ॥८॥
बलिप्रदाने पूजायामग्निकार्ये महोत्सवे ।
सर्वं ममैतच्चरितमुच्चार्यं श्राव्यमेव च ॥९॥
जानताऽजानता वापि बलिपूजां तथा कृताम् ।
प्रतीच्छिष्याम्यहं प्रीत्या वह्निहोमं तथा कृतम् ॥१०॥
शरत्काले महापूजा क्रियते या च वार्षिकी ।
तस्यां ममैतन्माहात्म्यं श्रुत्वा भक्तिसमन्वितः ॥११॥
सर्वबाधाविनिर्मुक्तो धनधान्यसमन्वितः ।
मनुष्यो मत्प्रसादेन भविष्यति न संशयः ॥१२॥

मेरा (देवी का) यह माहात्म्य उस मनुष्य के लिए, जो भक्तिपूर्वक उसका पाठ करता है अथवा भक्तिपूर्वक उसका श्रवण करता है, महामारी से उत्पन्न समस्त उपद्रवों का शमन करनेवाला है और आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक त्रिविध उत्पातों की भी शान्ति करता है ॥ ७ ॥

मेरा यह माहात्म्य-सन्दर्भ मेरी प्रतिमा के जिस आलय में प्रतिदिन, श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक समीचीन ढंग से पढ़ा जाया करता है, वहाँ मैं सदा विराजमान रहती हूँ और कभी उस मन्दिर को नहीं छोड़ती ॥ ८ ॥

महानवमी प्रभृति तिथियों में पशुबलि प्रदान, पुष्पोपहार, दीप-समर्पण, कुमारी-पूजन प्रभृति पूजाकार्य तथा फाल्गुन मास में अग्निज्वालार्चन-पुरश्चरणादि से सम्बद्ध होम-विधान के जो महोत्सव अथवा मन्त्रदीक्षायज्ञ सम्पादित किये जाते हैं, उन सब में मधु-कैटभ-वध प्रभृति मेरे चरित-ग्रन्थ का पाठ करना चाहिए अथवा दूसरे द्वारा किये गये पाठ का श्रवण करना चाहिए ॥ ९ ॥

गुरु के द्वारा उपदिष्ट मेरी आराधना-विधि से अभिज्ञ अथवा अनभिज्ञ भी मेरे भक्त के द्वारा किये गये बलि-प्रदान, अर्चन-पूजन एवं तिल-मधु प्रभृति होमद्रव्य-प्रक्षेप को मैं बड़े प्रेम से स्वीकार करती हूँ ॥ १० ॥

शरद् ऋतु में मेरी जो वार्षिकी महापूजा की जाती है, उसमें जो भी मनुष्य श्रद्धाभक्ति-समन्वित होकर मेरे माहात्म्य का श्रवण करता है, वह मेरी कृपा से निःसंदिग्धरूप से समस्त विकट सङ्कटों से छुटकारा पा जाता है और धन-धान्यादि सम्पदा से सम्पन्न हो जाता है ॥ ११-१२ ॥

श्रुत्वा ममैतन्माहात्म्यं तथोत्पत्तीः पृथक् शुभाः ।
पराक्रमं च युद्धेषु जायते निर्भयः पुमान् ।।१३।
रिपवः संक्षयं यान्ति कल्याणं चोपपद्यते ।
नन्दते च कुलं पुंसां माहात्म्यं मम शृण्वताम् ।।१४।
शान्तिकर्मणि सर्वत्र तथा दुःस्वप्नदर्शने ।
ग्रहपीडासु चोग्रासु माहात्म्यं शृणुयान्मम ।।१५।
उपसर्गाः शमं यान्ति ग्रहपीडाश्च दारुणाः ।
दुःस्वप्नं च नृभिर्दृष्टं सुस्वप्नमुपजायते ।।१६।
बालग्रहाभिभूतानां बालानां शान्तिकारकम् ।
संघातभेदे च नृणां मैत्रीकरणमुत्तमम् ।।१७।
दुर्वृत्तानामशेषाणां बलहानिकरं परम् ।
रक्षोभूतपिशाचानां पठनादेव नाशनम् ।।१८।

मेरे त्रिविध चरित्ररूपी माहात्म्य, ब्राह्मी-वैष्णवी प्रभृति शक्तियों के रूपों में मेरे लोकमंगलकारक अवतार तथा असुर संग्रामों में मेरे पराक्रम के वर्णन से सम्बद्ध सन्दर्भों का गुरुमुख से अर्थज्ञानपूर्वक श्रवण करनेवाला श्रद्धालु मनुष्य सदा निर्भय रहा करता है ॥ १३ ॥

श्रद्धा-भक्ति से जो भी मनुष्य मेरे माहात्म्य-ग्रन्थ का श्रवण करते हैं, उनके शत्रु स्वयं नष्ट हो जाते हैं, उनका आत्यन्तिक कल्याण होता है तथा उनके पुत्र-कलत्र एवं बन्धु-बान्धव प्रभृति परिवार-वर्ग में समृद्धि विराजती है ॥ १४ ॥

आध्यात्मिकादि त्रिविध उत्पातों के प्रशमन के लिए सम्पादित समस्त शान्ति-कर्म में, दुःखदायक फलवाले स्वप्न-दर्शन में तथा ग्रहजनित भयङ्कर सङ्कट में अवश्य मेरे माहात्म्य का श्रवण करना चाहिए ॥ १५ ॥

मेरे माहात्म्य-श्रवण से अतिवृष्टि प्रभृति दैवी बाधाएँ शान्त हो जाती हैं, शनि प्रभृति ग्रहों के कारण उत्पन्न समस्त सङ्कट कट जाते हैं तथा मनुष्यों के दुःस्वप्न सूचित दुःखदफल सुस्वप्नसूचित सुखदफल के रूप में बदल जाते हैं ॥ १६ ॥

मेरे माहात्म्य का श्रवण बालकों के बालग्रह अर्थात् दृष्टिबन्ध, गलबन्ध, रुधिर-शोषण प्रभृति कष्टों को शान्त कर देता है। साथ ही साथ उच्चाटनादि के द्वारा किये गये पारस्परिक वैमनस्य की दशा में, मनुष्यों में परस्पर मैत्री की भावना भी उत्पन्न करता है ॥ १७ ॥

मेरा माहात्म्य-श्रवण समस्त दुष्टों के बलवीर्य का एकमात्र विनाशक है तथा मेरे माहात्म्य का पठनमात्र ही अदृश्य भूत-प्रेतादि बाधाओं के प्रशमन में समर्थ है ॥ १८ ॥

सर्वं ममैतन्माहात्म्यं मम सन्निधिकारकम् ॥१९॥
पशुपुष्पार्घ्यधूपैश्च गन्धदीपैस्तथोत्तमैः ।
विप्राणां भोजनैर्होमैः प्रोक्षणीयैरहर्निशम् ॥२०॥
अन्यैश्च विविधैर्भोगैः प्रदानैर्वत्सरेण या ।
प्रीतिर्मे क्रियते सास्मिन् सकृत्सुचरिते श्रुते ॥२१॥
श्रुतं हरति पापानि तथाऽऽरोग्यं प्रयच्छति ।
रक्षां करोति भूतेभ्यो जन्मनां कीर्तनं मम ॥२२॥
युद्धेषु चरितं यन्मे दुष्टदैत्यनिबर्हणम् ।
तस्मिन् श्रुते वैरिकृतं भयं पुंसां न जायते ॥२३॥
युष्माभिः स्तुतयो याश्च याश्च ब्रह्मर्षिभिः कृताः ।
ब्रह्मणा च कृतास्तास्तु प्रयच्छन्ति शुभां गतिम् ॥२४॥
अरण्ये प्रान्तरे वापि दावाग्निपरिवारितः ।
दस्युभिर्वा वृतः शून्ये गृहीतो वापि शत्रुभिः ॥२५॥

एक शब्द में मेरा यह समस्त माहात्म्य मेरे भक्त से मेरा सान्निध्य स्थापित करा देता है ॥ १९ ॥

वर्षपर्यन्त पशुबलि, पुष्पोपहार, अर्घ्यसमर्पण, धूपदान, विविध सुगन्धित दीपदान, ब्राह्मण-भोजन, वह्निहोम, अहर्निश मेरे अर्चन-पूजनोपयुक्त नृत्य-गीत-वाद्य तथा अन्यान्य वस्त्रादिदान प्रभृति आराधना-प्रकारों से मुझे प्रसन्न करने का जो कार्य किया जाता है, वह मेरे माहात्म्य के कीर्तन और श्रवणमात्र से अनायास सिद्ध हो जाता है ॥ २०-२१ ॥

मेरे माहात्म्य का श्रवण पापों को नष्ट कर देता है तथा रोग-शोक दूर कर आरोग्य और आनन्द देनेवाला होता है। इसी प्रकार ब्राह्मी-वैष्णवी प्रभृति मेरे प्रादुर्भावों का कीर्तन समस्त भूत-प्रेतादि बाधाओं से मेरे भक्तों की रक्षा करता है ॥ २२ ॥

इसी प्रकार संग्रामों में दुष्टदैत्य-विनाश से सम्बद्ध मेरे चरित्र-श्रवण से मेरे भक्तजनों को शत्रुबाधा का भय नहीं हुआ करता ॥ २३ ॥

महामुनि मार्कण्डेय, ऋषिवर सुमेधा तथा उनके पूर्ववर्ती ब्रह्मर्षिवृन्द ने मेरी जो स्तुतियाँ की हैं, आप इन्द्रादि देवों ने मेरे जो स्तोत्रगान गाये हैं तथा मधुकैटभ से भयभीत ब्रह्मा ने मेरे जो स्तवन किये हैं, वह सब, उन सबके पठन और श्रवण करने वालों को सद्गति प्रदान करनेवाला है ॥ २४ ॥

मेरे माहात्म्य के पठन और श्रवण से गहन वन में भ्रान्त, निर्जन स्थान में भयाकुल, दावानल से भयभीत, दस्युदल से पीड़ित, निर्जन प्रदेश में शत्रुगण से संत्रस्त,

सिंहव्याघ्रानुयातो वा वने वा वनहस्तिभिः ।
राज्ञा क्रुद्धेन चाज्ञप्तो वध्यो बन्धगतोऽपि वा ॥२६।
आघूर्णितो वा वातेन स्थितः पोते महार्णवे ।
पतत्सु चापि शस्त्रेषु संग्रामे भृशदारुणे ॥२७।
सर्वाबाधासु घोरासु वेदनाभ्यर्दितोऽपि वा ।
स्मरन्ममैतच्चरितं नरो मुच्येत सङ्कटात् ॥२८।
मम प्रभावात्सिहाद्या दस्यवो वैरिणस्तथा ।
दूरादेव पलायन्ते स्मरतश्चरितं मम ॥२९।

ऋषिरुवाच—

इत्युक्त्वा सा भगवती चण्डिका चण्डविक्रमा ।
पश्यतामेव देवानां तत्रैवान्तरधीयत ॥३०।
तेऽपि देव्या निरातङ्काः स्वाधिकारान् यथा पुरा ।
यज्ञभागभुजः सर्वे चक्रुर्विनिहतारयः ॥३१।
दैत्याश्च देव्या निहते शुम्भे देवरिपौ युधि ।
जगद्विध्वंसके तस्मिन् महोग्रेऽतुलविक्रमे ।
निशुम्भे च महावीर्ये शेषाः पातालमाययुः ॥३२।

वनों में सिंह-व्याघ्र प्रभृति हिंस्र जीवों के संभाव्य आक्रमणों से व्याकुल, वन्यगजों से परित्रस्त, राजकोप के कारण वध्य घोषित होने से व्यथित, कारागार में निक्षिप्त, भयंकर समुद्र में बवण्डर से झकझोरे पोत पर आरूढ़, अत्यन्त दारुण संग्रामों में शस्त्र-पातों के मध्य अवस्थित तथा इसी प्रकार के अन्य अनेक विकट सङ्कटों से ग्रस्त किंवा शारीरिक मानसिक पीड़ाओं से पीड़ित जो भी मनुष्य मेरे माहात्म्य का स्मरण करता है, वह समस्त संकटों से छुटकारा पा जाता है ॥ २५-२८ ॥

जो मेरे माहात्म्य का श्रद्धा-भक्ति के साथ स्मरण करता है, उससे, मेरे प्रभाव के कारण सिंहादि हिंस्र पशु, दस्यु दल तथा शत्रुगण बहुत दूर भाग खड़े होते हैं ॥ २९ ॥

सुमेधा ऋषि ने कहा—

प्रचण्ड पराक्रमवाली भगवती चण्डिका ने देवों से यह सब कहा और कहते ही, उनकी आँखों के सामने अन्तर्हित हो गयीं ॥ ३० ॥

वे देवगण भी, जिनके शत्रु देवी के द्वारा मार डाले गये थे, निरातङ्क हो गये और पूर्ववत् यज्ञ-यागों में अपने-अपने अंशों का उपभोग करते हुए, अपने-अपने अधिकारों से सम्बद्ध कार्य-व्यापार में लग गये ॥ ३१ ॥

संग्राम में देवी द्वारा देवशत्रु दानवराज शुम्भ के तथा जगद्विध्वंसक, अत्यन्त उग्र एवं प्रचण्ड पराक्रमी, महाबलवीर्यशाली निशुम्भ के मार दिये जाने पर, अवशिष्ट दैत्यगण पाताल में शरण लेने चले गये ॥ ३२ ॥

एवं भगवती देवी सा नित्यापि पुनः पुनः ।
सम्भूय कुरुते भूप जगतः परिपालनम् ॥३३॥
तयैतन्मोह्यते विश्वं सैव विश्वं प्रसूयते ।
सा याचिता च विज्ञानं तुष्टा ऋद्धिं प्रयच्छति ॥३४॥
व्याप्तं तयैतत्सकलं ब्रह्माण्डं मनुजेश्वर ।
महाकाल्या महाकाले महामारीस्वरूपया ॥३५॥
सैव काले महामारी सैव सृष्टिर्भवत्यजा ।
स्थितिं करोति भूतानां सैव काले सनातनी ॥३६॥
भवकाले नृणां सैव लक्ष्मीर्वृद्धिप्रदा गृहे ।
सैवाभावे तथाऽलक्ष्मीर्विनाशायोपजायते ॥३७॥
स्तुता सम्पूजिता पुष्पैर्धूपगन्धादिभिस्तथा ।
ददाति वित्तं पुत्रांश्च मतिं धर्मे गतिं शुभाम् ॥३८॥

॥ इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे सावर्णिके मन्वन्तरे देवीमाहात्म्ये
देवीवाक्यं नाम द्विनवतितमोऽध्यायः ॥

महाराज ! वह भगवती विष्णुमाया नित्यशाश्वत सत्ता है; किन्तु (धर्म के ह्रास और अधर्म के विकास होने पर) बारम्बार अपने आपको आविर्भूत करती हैं और जगत् का परिपालन करती हैं ॥ ३३ ॥

वही देवी इस जगत् की जननी हैं, वही देवी इस जगत् के जीवों को मोह-ममता में डाला करती हैं, वही देवी प्रार्थना-आराधना से प्रसन्न होकर विज्ञान प्रदान करती हैं और वही देवी अपने भक्तों को ऋद्धि-सिद्धि से सम्पन्न बनाया करती हैं ॥ ३४ ॥

महाराज ! वही देवी इस समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं। प्रलयकाल में वही प्रलयाग्निज्वाला बनी महाकालीरूप में प्रकट होती हैं ॥ ३५ ॥

वही देवी, जो अनादिनिधन हैं, प्रलयकाल में तमोगुणमयी बनकर जगत्संहार-कारिणी महामारी हो जाती हैं, वही देवी रजोगुणमयी होने पर इस जगत् की सृष्टि करती हैं और वही देवी जो सनातनी हैं, इस जगत् की स्थिति का भी परमकारण हैं ॥ ३६ ॥

वही देवी अपने भक्तजनों के साथ सान्निध्य होने के समय उनके गृह की समृद्धि करनेवाली लक्ष्मी बन जाती हैं और सान्निध्य के अभाव में वही देवी अलक्ष्मी बनकर उनके विनाश का भी कारण हो जाती हैं ॥ ३७ ॥

वह देवी जब अपने भक्तजनों के द्वारा स्तोत्रों से सङ्कीर्तित की जाती हैं और उनके पुष्पोपहार-गंध-धूपोपहार प्रभृति पूजा-द्रव्यों से पूजित होती हैं तब उन्हें वित्त, पुत्र, आयु, आरोग्य, धर्मबुद्धि तथा अन्त में मोक्षलक्ष्मी—सब कुछ प्रदान किया करती हैं ॥ ३८ ॥

पर्यालोचन

(क) श्रीमार्कण्डेयपुराण का यह अध्याय 'देवी-माहात्म्य' के उपसंहार का प्रारम्भ है। इस अध्याय के 'तस्मान्ममैतन्माहात्म्यम्' आदि ६ठे श्लोक में देवी-माहात्म्य के भक्तिपूर्वक पठन और श्रवण में 'समाहित' होने की आवश्यकता पर बल दिया है। 'समाहित' होने का अभिप्राय 'अनन्यमनस्' होना है। जब साधक देवी के साथ तन्मयता में सिद्ध हो जाता है, तो वह स्वभावतः अनन्यमनस्क अथवा एकमात्र देवी में प्रणिहित-चित्त हो जाता है। देवी की आराधना-उपासना की परिणति अनन्यमनस्कता में होती है, जो कि अपने आप में एक पराकाष्ठाप्राप्त सिद्धि है।

(ख) इस अध्याय के 'उपसर्गानशेषान्' आदि ७वें श्लोक में 'त्रिविध-उत्पात' का उल्लेख है। यह त्रिविध-उत्पात आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक उत्पात हैं। आध्यात्मिक-उत्पात में काम-क्रोध, राग-द्वेष तथा आधि-व्याधि समन्वितहैं। आधिभौतिक उत्पात का अभिप्राय भूत-प्रेतादि बाधा तथा विविध प्रकार के भय और भ्रम आदि हैं। आधिदैविक-उत्पात में दुर्भाग्यवश दारिद्रय-दुःख तथा वज्रपात द्वारा विनाश प्रभृति परिगणित हैं।

'त्रिविध-उत्पात' की यह मान्यता बहुत पुरानी है। सांख्यदर्शन इसी त्रिविध-उत्पात के, जिसे सांख्य की परिभाषा में 'दुःखत्रयाभिघात' कहा जाता है, प्रशमन के लिए हुआ है। सांख्यकारिका के महान् व्याख्याकार श्री वाचस्पति मिश्र ने 'दुःखत्रयाभिघात' की नीचे लिखी बड़ी विशद व्याख्या की है—

'दुःखानां त्रयं दुःखत्रयम्। तत् खलु आध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, आधिदैविकञ्च। तत्राऽध्यात्मिकं द्विविधम्—शारीरं मानसं च। शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां वैपरीत्यनिमित्तम्। मानसं काम-क्रोध-लोभ-मोह-भयेर्ष्याविषादविषयविशेषादर्शन-निबन्धनम्। सर्वं चैतदान्तरोपायसाध्यत्वादाध्यात्मिकं दुःखम्। बाह्योपायसाध्यं दुःखं द्वेधा—आधिभौतिकमाधिदैविकञ्च। तत्राधिभौतिकम्—मानुषपशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावर-निमित्तम्। आधिदैविकं तु यक्षराक्षसविनायकग्रहाद्यावेशनिबन्धनम्। तदेतत्प्रत्यात्म-वेदनीयं दुःखं रजःपरिणामभेदो न शक्यते प्रत्याख्यातुम्। तदनेन दुःखत्रयेणान्तः-करणवर्तिना चेतनाशक्तेः प्रतिकूलवेदनीयतयाऽभिसम्बन्धोऽभिघात इति।'

श्री मार्कण्डेयपुराणकार को भी त्रिविध-उत्पात से यही दुःखत्रयाभिघात अभिप्रेत है।

(ग) इस अध्याय का ११वाँ श्लोक 'शारदीय-नवरात्र' तथा वासन्तिक-नवरात्र'—दोनों के विधिवत् अनुष्ठान का निर्देश करता है। शरत् काल में की जाने वाली दुर्गा देवी की पूजा-प्रतिष्ठा आश्विन शुक्ल प्रतिपदा से प्रारम्भ होती है और वार्षिकी पूजा का वास्तविक अभिप्राय चैत्र शुक्ल की प्रतिपदा से प्रारम्भ की जाने वाली दुर्गा-पूजा है, क्योंकि 'वर्ष' शब्द यहाँ वर्ष के आदि का लक्षक है, जो कि चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से प्रारम्भ होता है। आज भी भारत में दुर्गा-पूजा का अनुष्ठान-काल शरदारम्भ और वसन्तारम्भ

का ही काल है। इस श्लोक के अनुवाद में 'शरत्काल की वार्षिकी-पूजा' लिखा गया है, किन्तु वसन्तकाल की वार्षिकी-पूजा भी इसमें समन्वित समझनी चाहिये। वैदिककाल में शरदृतु के आरम्भ से वर्ष का आरम्भ माना जाता था, किन्तु कालान्तर में, संभवतः पौराणिक-युग में, वसन्त ऋतु के आरम्भ से, वर्ष का आरम्भ माना जाने लगा। इसीलिए दोनों ऋतुओं के आरम्भ में देवी-पूजा का विधान आजकल भी भारत भर में प्रचलित है।

(घ) इस अध्याय के 'सर्वं ममैतन्माहात्म्यम्' आदि १९वें श्लोक में 'पशुपुष्पार्घ-धूप' पद प्रत्युक्त हुआ है। इसमें अर्घ का अभिप्राय अष्टाङ्ग-अर्घ अथवा पूजा-द्रव्य है—

'आपः क्षीरं कुशाग्राणि दध्यक्षततिलानि च।
यवाः सिद्धार्थकाश्चैव अष्टाङ्गोऽर्घः प्रकीर्तितः॥'

अर्थात् १. जल, २. दूध, ३. कुश, ४. दही, ५. अक्षत, ६. तिल, ७. जौ और ८. सरसों के दाने—यह अष्टाङ्ग अर्घ कहा जाता है।

(ङ) इस अध्याय के 'तयैतन्मोह्यते विश्वम्' आदि ३४वें श्लोक में जो 'विज्ञान' पद प्रयुक्त है, उसका तात्पर्य आत्मतत्त्वज्ञान है।

(च) ३५वें श्लोक में 'महाकाली' शब्द का अभिप्राय 'महतो ब्रह्मादीनपि कलयति तत्तदधिकारेषु वर्तयति या सा महाकाली' है। अर्थात् चण्डिका को 'महाकाली' इसीलिए कहते हैं, क्योंकि वही देवी ब्रह्मा-विष्णु और महेश को सृष्टि-स्थिति और संहार के कार्यों में नियुक्त करने का सामर्थ्य रखती है।

(छ) 'सैव काली महामारी' आदि ३६वें श्लोक में भगवती को संहार काल में महामारी (सर्वसंहारिणी) सर्ग काल में अजन्मा तथा स्थिति काल में सनातनी अथवा नाशहीन प्रतिपादित किया गया है। इस प्रतिपादन में देवी को ही 'सर्वेश्वरेश्वरी' के रूप में ध्यातव्य मानने का तात्पर्य अन्तर्निगूढ रखा गया है।

॥ श्री मार्कण्डेयपुराण के 'सावर्णिक मन्वन्तर' से सम्बद्ध 'देवीमाहात्म्य' के प्रसंग में 'देवीवाक्य' नामक ९२वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त॥

❋

त्रिनवतितमोऽध्यायः

ऋषिरुवाच—

एतत्ते कथितं भूप देवीमाहात्म्यमुत्तमम् ।
एवंप्रभावा सा देवी ययेदं धार्यते जगत् ।।१।
विद्या तथैव क्रियते भगवद्विष्णुमायया ।
तथा त्वमेष वैश्यश्च तथैवान्ये विवेकिनः ।
मोह्यन्ते मोहिताश्चैव मोहमेष्यन्ति चापरे ।।२।
तामुपैहि महाराज शरणं परमेश्वरीम् ।
आराधिता सैव नृणां भोगस्वर्गापवर्गदा ।।३।

मार्कण्डेय उवाच—

इति तस्य वचः श्रुत्वा सुरथः स नराधिपः ।
प्रणिपत्य महाभागं तमृषिं शंसितव्रतम् ।।४।

भगवान् सुमेधा ऋषि ने राजा सुरथ से कहा—

राजन् ! मैंने देवीमाहात्म्य के विषय में आपको सब कुछ बता दिया। देवी का माहात्म्य सर्वार्थसाधक है। इस देवी का सामर्थ्य अद्भुत है; क्योंकि यही देवी जगज्जननी होकर विश्व की सृष्टि करती हैं, जगद्धात्री होकर विश्व का पोषण करती हैं और जगत्संहारिणी होकर विश्व का संहार भी करती हैं।। १ ।।

यही श्रीविष्णु भगवान् की माया चण्डिका देवी ब्रह्मज्ञान का साधन है और इसी के द्वारा आप, आपके मित्र ये वैश्य सज्जन और आप दोनों जैसे अन्य समस्त विवेकयुक्त मानव भी मोह-ममता के वशीभूत बनाये जाते हैं और पहले भी बनाए जा चुके हैं तथा आगे भी बनाए जायेंगे ।। २ ।।

महाराज ! आप उसी परमेश्वरी महामया चण्डिका का शरण-वरण करें। भक्त-जन के तपश्चरण से तुष्ट होने पर वही देवी उन्हें समस्त सांसारिक भोग, स्वर्गसुख किंवा मोक्षलक्ष्मी तक प्रदान करती हैं ।। ३ ।।

महामुनि मार्कण्डेय अपने शिष्य क्रौष्टुकि मुनि से बोले—

हे क्रौष्टुकि मुनिराज। इस प्रकार ब्रह्मर्षि सुमेधा की बात सुनकर महाराज सुरथ ने दिव्यैश्वर्यसम्पन्न तथा प्रयतनपूर्वक शास्त्रविहित व्रतानुष्ठान में परायण उन्हें प्रणाम किया ।। ४ ।।

निर्विण्णोऽतिममत्वेन राज्यापहरणेन च ।
जगाम सद्यस्तपसे स च वैश्यो महामुने ।।५।

संदर्शनार्थमम्बाया नदीपुलिनसंस्थितः ।
स च वैश्यस्तपस्तेपे देवीसूक्तं परं जपन् ।।६।

तौ तस्मिन् पुलिने देव्याः कृत्वा मूर्ति महीमयीम् ।
अर्हणां चक्रतुस्तस्याः पुष्पधूपाग्नितर्पणैः ।।७।

निराहारौ यतात्मानौ तन्मनस्कौ समाहितौ ।
ददतुस्तौ बलिं चैव निजगात्रासृगुक्षितम् ।।८।

एवं समाराधयतोस्त्रिभिर्वर्षैर्यतात्मनोः ।
परितुष्टा जगद्धात्री प्रत्यक्षं प्राह चण्डिका ।।९।

और अपने पुत्र-मित्र-कलत्रादि के प्रति मोह-ममता से भरे तथा अपने राज्य और वैभव के अपहरण से अत्यन्त दुःखित सुरथ महाराज और वे वैश्य सज्जन—दोनों देवी को प्रसन्न करने के निमित्त तपश्चरण के लिए चल पड़े ॥ ५ ॥

राजा सुरथ और समाधि नामक वैश्य सज्जन—दोनों उस जगज्जननी देवी के प्रत्यक्ष दर्शन के लिए नदी के पुलिन पर श्रद्धाभक्ति के साथ सर्वार्थसाधक देवीसूक्त का जप करते हुए तपश्चरण में लीन हो गये ॥ ६ ॥

उन दोनों ने उस नदीपुलीन पर देवी की मृण्मय (मिट्टी की बनी) मूर्ति बनायी तथा पुष्प, धूप, दीप, वह्निहोम तथा तर्पणप्रभृति पूजा-विधानों के द्वारा पृथक्-पृथक् उनकी आराधना की ॥ ७ ॥

वे दोनों कभी हविष्यादि के उपभोग मात्र के कारण अनिश्चित खान-पान से जीवनयात्रा चलाते रहे, कभी संयत आहार करते रहे तथा निर्जितेन्द्रिय एवं एकमात्र देवी के ध्यान में तत्पर हो अपने शरीर के रक्त से सिक्त अन्नमय बलि प्रदान करते रहे ॥ ८ ॥

इस प्रकार जब देवी में समाहितचित्त उन दोनों ने तीन वर्ष तक देवी की आराधना की, तब जगद्धात्री देवी चण्डिका उनपर प्रसन्न हुयीं और उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया तथा उनसे कहा ॥ ९ ॥

श्रीदेव्युवाच—

यत्प्रार्थ्यते त्वया भूप त्वया च कुलनन्दन ।
मत्तस्तत्प्राप्यतां सर्वं परितुष्टा ददामि तत् ॥१०।

मार्कण्डेय उवाच—

ततो वव्रे नृपो राज्यमविभ्रंशयन्यजन्मनि ।
अत्रैव च निजं राज्यं हतशत्रुबलं बलात् ॥११।
सोऽपि वैश्यस्ततो ज्ञानं वव्रे निर्विण्णमानसः ।
ममेत्यहमिति प्राज्ञः सङ्गविच्युतिकारकम् ॥१२।

श्रीदेव्युवाच—

स्वल्पैरहोभिर्नृपते स्वं राज्यं प्राप्स्यते भवान् ।
हत्वा रिपूनस्खलितं तव तत्र भविष्यति ॥१३।
मृतश्च भूयः सम्प्राप्य जन्म देवाद्विवस्वतः ।
सावर्णिको नाम मनुर्भवान् भुवि भविष्यति ॥१४।

देवी चण्डिका की राजा सुरथ और वैश्यवर समाधि के प्रति उक्ति—

महाराज ! आपकी जो अभिलाषा है और वैश्यकुलभूषण ! तुम्हारी जो अभिकामना है, वह सब मेरे द्वारा पूर्ण होगी । मैं तुम दोनों से बड़ी प्रसन्न हूँ और मैं तुम दोनों को तुम्हारी सभी अभिवाञ्छित वस्तु दे रही हूँ ॥ १० ॥

मार्कण्डेय महामुनि ने अपने प्रिय शिष्य क्रौष्टुकि मुनि से कहा—

देवी के ऐसा कहने पर राजा सुरथ ने अपने अग्रिम जन्म में अपने लिए अचल राज्य का वर माँगा और यह वर भी माँगा कि वर्तमान जन्म में भी उनका राज्य उनके शत्रुदल के नष्ट हो जाने से निष्कण्टक हो जाय ॥११ ॥

वैश्यवर समाधि ने भी, जिसका हृदय संसार के दुखः से उद्विग्न था और जो मोक्षाकांक्षी होने के कारण बड़ा बुद्धिमान् था, ऐसे ज्ञान का वर माँगा, जो कि अहंता-ममता की आसक्ति से उसे छुटकारा दिला सके ॥ १२ ॥

देवी चण्डिका की उक्ति—

राजन् ! थोड़े ही दिनों में आपको अपना अपहृत राज्य मिल जायेगा और आप अपने शत्रुदल का संहार करके अपने अचल राज्य के स्वामी बन जायेंगे ॥१३॥

आपकी जब मृत्यु होगी और उसके बाद जब आप सूर्यदेव से उनकी सवर्णा नामक धर्मपत्नी के गर्भ से दूसरा जन्म लेंगे, तब आप भूलोक में सावर्णिक नाम के मनुरूप में सम्राट् होंगे ॥ १४ ॥

वैश्यवर्य त्वया यश्च वरोऽस्मत्तोऽभिवाञ्छितः ।
तं प्रयच्छामि संसिद्ध्यै तव ज्ञानं भविष्यति ॥१५॥

मार्कण्डेय उवाच—

इति दत्त्वा तयोर्देवी यथाभिलषितं वरम् ।
बभूवान्तर्हिता सद्यो भक्त्या ताभ्यामभिष्टुता ॥१६॥
एवं देव्या वरं लब्ध्वा सुरथः क्षत्रियर्षभः ।
सूर्याज्जन्म समासाद्य सावर्णिर्भविता मनुः ॥१७॥

॥ इति श्रीमार्कण्डेयमहापुराणे सावर्णिके मन्वन्तरे देवीमाहात्म्ये वरप्रदानं नाम त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥

वरप्राप्ति के योग्य वैश्यवर ! तुमने मुझ से जो आत्मसाक्षात्कार के लिए वर माँगा है, उसे मैं तुम्हें दे रही हूँ। उससे तुम्हें मोक्षबुद्धि की प्राप्ति होगी ॥ १५ ॥

मार्कण्डेय महामुनि ने अपने प्रिय शिष्य क्रौष्टुकि ऋषि से कहा—

इस प्रकार उस देवी महामाया चण्डिका ने उन दोनों को उनकी अभिलाषाओं के अनुसार वर दिया और उन दोनों ने भक्तिभाव से देवी की स्तुति की। उसके बाद वह देवी तत्काल अन्तर्हित हो गयी ॥ १६ ॥

इस प्रकार देवी से वर पाकर क्षत्रियवंशावतंस महाराज सुरथ सूर्यदेव से उनकी धर्मपत्नी सवर्णा के गर्भ में जन्म लेकर सावर्णिक नामक मनु के रूप में सम्राट् होंगे ॥ १७ ॥

पर्यालोचन

(क) श्री मार्कण्डेयपुराण के 'देवी माहात्म्य' से संवद्ध तेरह अध्यायों में यह अन्तिम 'वरप्रदान' नामक अध्याय है। इस अध्याय के 'संदर्शनार्थमम्बायाः' आदि छठे श्लोक में 'देवीसूक्त' का उल्लेख है। यह 'देवीसूक्त' क्या है? क्या यह सम्पूर्ण देवी माहात्म्य-प्रकरण है, जिसका अत्यधिक प्रचलित नाम श्री दुर्गासप्तशती है? अथवा इसका अभिप्राय 'देवी-माहात्म्य' के प्रथम, पञ्चम तथा एकादश अध्यायों के अन्तर्गत देवीविषयक स्तवन-स्तोत्र हैं? इस विषय में देवीरहस्य के मर्मज्ञ देवीभक्त विचारकों में कुछ मतभेद है और अन्त में मतैक्य भी है। कुछ विचारक ऋग्वेदोक्त 'ॐ अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराभि' आदि आठ ऋचाओं वाले वाक्सूक्त को 'देवीसूक्त' मानते हैं। कुछ देवी भक्त विद्वानों की दृष्टि में देवीमाहात्म्य के प्रथमाध्याय में ब्रह्मा द्वारा की गयी 'त्वं स्वाहा त्वं स्वधा' आदि देवीस्तुति देवीसूक्त है। कुछ देवीतत्त्ववेत्ता पञ्चम अध्याय के देवगणकृत देवी-स्तवन को 'देवीसूक्त' की संज्ञा से सुशोभित देखते हैं। कुछ लोग ग्यारहवें अध्याय के देववृन्दकृत 'नारायणि नमोऽस्तु ते' आदि देवी-स्तवन को देवीसूक्त समझते हैं। किन्तु इनमें मतैक्य इस दृष्टि से है कि ये सभी सूक्त और वस्तुतः श्री दुर्गाशप्तशती, जिसमें ये सभी सूक्त समन्वित हैं, 'देवीसूक्त' के रूप में सर्व-मान्य हैं और आजकल देवीसूक्त का जो विधिवत् पाठ-पारायण प्रचलित है, उसमें सम्पूर्ण श्री दुर्गासप्तशती देवीसूक्त के रूप में मान्य है। श्री लक्ष्मीतन्त्र में देवीसूक्त का तात्पर्य और उसके पाठ-पारायण का माहात्म्य निम्नलिखित श्लोक में प्रतिपादित है—

'सम्यग् हृदि स्थिता सेयं जन्मकर्मावलिः स्तुतिः।
एतां द्विजमुखाज्ज्ञात्वा अधीयानो नरः सदा॥
विधूय निखिलां मायां सम्यग् ज्ञानं समश्नुते।
सर्वसम्पद आप्नोति धुनोति सकलापदः॥'

इसका अभिप्राय यही है कि देवीभक्ति सर्वेष्टसिद्धि का एकमात्र कारण है। इसी भावना से भावित भारतीय जनता शारदीय और वासन्तिक नवरात्र के अनुष्ठानों में श्री दुर्गा की पूजा-प्रतिष्ठा में आनन्द लाभ करती है।

(ख) कात्यायनी-तन्त्र में श्री दुर्गासप्तशती के ७०० वार होम मन्त्रों के उच्चारण-पूर्वक होम का विधान है। इसीलिये श्री मार्कण्डेयपुराण के 'देवी-माहात्म्य' के श्लोक 'श्री दुर्गासप्तशती' के ७०० मन्त्रों के रूप में सर्वमान्य हैं। पुराणवाङ्मय में मार्कण्डेय-पुराण के श्री देवी-माहात्म्य के ही श्लोक मन्त्र का माहात्म्य रखते हैं। ऐसा माहात्म्य किसी पुराण के किन्हीं स्तोत्र-स्तवनों का नहीं है।

(ग) श्री दुर्गासप्तशती के ७०० श्लोकों की मन्त्रात्मकता की भावना के कारण देवी के प्रथम-चरित्र के श्लोक-मन्त्रों के ऋषि ब्रह्मा हैं, छन्द गायत्री है, देवता महा-काली है, शक्ति नन्दा है, बीज रक्तदन्तिका है और तत्त्व अग्नि है। महाकाली की प्रीति के निमित्त इस चरित्र के जप का विनियोग मान्य है। श्रीदेवी के मध्यमचरित

के ऋषि विष्णु हैं, छन्द उष्णिक् है, देवता महालक्ष्मी हैं, शक्ति शाकम्भरी है, बीज दुर्गा है, तत्त्व वायु है और महालक्ष्मी की कृपा के लिये इसका जप विनियुक्त है। अन्तिम चरित्र के ऋषि शङ्कर हैं, छन्द अनुष्टुप् है, देवता महासरस्वती हैं, शक्ति भीमा है, बीज भ्रामरी है और तत्त्व रवि (सूर्य) है। इसके जप का विनियोग सरस्वती के अनुग्रह के निमित्त है। वाराही तन्त्र आदि तन्त्र-ग्रन्थों में कामना भेद से भिन्न-भिन्न विधि-विधानपूर्वक होमभेद का निरूपण किया गया है, जो वहीं द्रष्टव्य है।

(घ) श्री ब्रह्मवैवर्तपुराण के प्रकृति खण्ड के ४२वें अध्याय के निम्नोद्धृत श्लोकों (३८-४२) में महामाया विष्णुमाया (दुर्गाभगवती) की सुरथ और समाधि द्वारा पूजा-अर्हणा और देवी द्वारा दोनों के वरदान का प्रकारान्तर से निरूपण मिलता है—

'तुष्टाव राजा वैश्यश्च साश्रुनेत्रः पुटाञ्जलिः।
विससर्ज मृण्मयीं तां गम्भीरे निर्मले जले॥

मृण्मयीं तादृशी दृष्ट्वा जलधौतां नराधिपः।
रुरोद च तदा वैश्यस्ततः स्थानान्तरं ययौ॥

त्यक्त्वा देहं च वैश्यश्च पुष्करे दुष्करं तपः।
कृत्वा जगाम गोलोकं दुर्गादेवीवरेण सः।
राजा ययौ स्वराज्यं च प्ज्यो निष्कण्टकं बली॥
भोगं च बुभुजे भूपः षष्टिवर्षसहस्रकम्॥

भार्यां स्वराज्यं संन्यस्य पुत्रे च कालयोगतः।
मनुर्बभूव सावर्णिस्तप्त्वा च पुष्करे तपः॥'

इस उद्धरण के अनुसार ऋषि सुमेधा का तपोवन पुष्कर-क्षेत्र (आजकल अजमेर) में था और राजा सुरथ तथा वैश्यवर समाधि पुष्कर-क्षेत्र में ही भगवती के संदर्शन के लिये तपस्या में निरत थे। श्री मार्कण्डेयपुराण में ऐसा उल्लेख नहीं है। सम्भवतः पुष्कर-क्षेत्र के माहात्म्य-प्रदर्शन के लिए ब्रह्मवैवर्तपुराण के रचयिता ने यह उल्लेख किया है।

(ङ) ब्रह्मवैवर्तपुराण के प्रकृतिखण्ड के ४२वें अध्याय के निम्नलिखित श्लोकों (२-७) में ध्रुव के पौत्र परमभागवत नन्दी के द्वारा राजा सुरथ की पराजय और सुरथ के वैराग्य का वर्णन है, जो कि श्री मार्कण्डेयपुराण के वर्णन से सर्वथा भिन्न है। पौराणिकों के लिए दोनों पुराणों के इस भेद का समन्वय एक समस्या है, जो अपना समाधान खोजती है—

'ध्रुवस्य पौत्रो बलवान् नन्दिरुत्कलनन्दनः।
स्वायंभुवमनोवंशः सत्यवादी जितेन्द्रियः॥

अक्षौहिणीनां शतकं गृहीत्वा सैन्यमेव च।
लोकांश्च वेष्टयामास सुरथस्य महामतेः॥

युद्धं बभूव नियतं पूर्णमब्दञ्च नारद।
चिरजीवी वैष्णवश्च जिगाय सुरथं नृपः॥

एकाकी सुरथो भीतो नन्दिना च बहिष्कृतः।
निशायां हयमारुह्य जगाम गहनं वनम्॥

ददर्श तत्र वैश्यं च पुष्पभद्रानदीतटे।
तयोर्बभूव सम्प्रीतिः कृतबान्धवयोर्मुने।

वैश्येन सार्धं नृपतिर्जगाम मेधा साश्रमम्।
पुष्करे दुष्करे पुण्यक्षेत्रे च भारते सताम्॥'

श्री मार्कण्डेयपुराण के सावर्णिक-मन्वन्तर से सम्बद्ध 'देवी-माहात्म्य' के प्रसंग में 'वर-प्रदान' नामक ९३वें अध्याय का सपर्यालोचन हिन्दी-अनुवाद समाप्त॥